आधुनिक हिन्दी आलोचना
पर पाश्चात्य प्रभाव

आधुनिक हिन्दी आलोचना पर पाश्चात्य प्रभाव

रामचन्द्र प्रसाद
एम० ए० (पटना) पी-एच० डी० (एडिनबरा), डा० लिट्० (पटना)
स्नातकोत्तर अँगरेजी विभाग, पटना युनिवर्सिटी

लोकभारती प्रकाशन
१५-ए, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद-१

लोकभारती प्रकाशन
१५ ए, महात्मा गांधी मार्ग
इलाहाबाद १ द्वारा प्रकाशित
●
कॉपीराइट
श्री रामचन्द्र प्रसाद
●
प्रथम संस्करण
मई, १९७३
●
माया प्रेस (प्रा०) लिमिटेड
इलाहाबाद–३ द्वारा मुद्रित

मूल्य ३५.००

हिन्दी-आलोचना
के
आधार-स्तम्भ

पूज्य पितृकल्प
आचार्य डॉ० नगेन्द्र
को
सादर
'त्वदीय वस्तु हे देव तुभ्यमेव समर्पये'

रामचन्द्र प्रसाद

अंतर्वस्तु



आभार

आज तक हिन्दी समीक्षा पर पाश्चात्य प्रभाव को रूपायित करने का प्रयास कुछ स्फुट निबंधों तक ही सीमित रहा है। इस प्रभाव के विभिन्न पक्षों का एकत्र तथा समन्वित परिचय देनेवाली अद्यतन कृति का सर्वथा अभाव देखकर मैंने इस शोध-प्रबंध द्वारा इसकी पूर्ति का विनम्र प्रयास किया है। इस महत्कार्य के प्रेरक और प्रोत्साहक परमादरणीय विद्वद्वर आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्माजी हैं। उन्हीं के प्रकांड वैदुष्य से प्रभावित होकर मैं हिन्दी साहित्य की ओर आकृष्ट हुआ तथा उन्हीं का स्नेह और आशीर्वाद मेरा सम्बल रहा है। अतः यह जो कुछ भी है, सब गुरुवर का ही है।

हिन्दी के जिन महान् आचार्यों की कृतियों से मैं अतिशय लाभान्वित हुआ हूँ वे हैं डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० नगेन्द्र, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी और आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र। अतः इन शास्त्रदर्शियों के प्रति मैं अपनी सश्रद्ध प्रणति निवेदन करता हूँ। हिंदी समीक्षा पर पाश्चात्य प्रभाव का विवेचन करनेवाले अनुसंधित्सु पर भी एडिनबरा विश्वविद्यालय के अंग्रेजी विभाग के एमेरिटस प्रोफेसर डब्ल्यू० एल० रेनिक, इतिहास विभाग के प्रोफेसर जार्ज शेपसन, ब्रिटिश म्यूजियम के मुद्रित-ग्रंथ-विभाग के डाक्टर डा० ई० राइस आदि पाश्चात्य विद्वानों का प्रभाव पड़ा है। प्रस्तुत शोध के रचना-काल में इन महानुभावों ने मुझे जो प्रोत्साहन दिया है उसका मूल्य शब्दों में आंका नहीं जा सकता। इन सबके प्रति मैं श्रद्धावनत हूँ।

डा० कुमार विमल, डा० गोपाल राय, डा० सियाराम तिवारी और डा० वचनदेव कुमार जैसे मित्रों का मुझे पग-पग पर स्नेह-सद्भावपूर्ण साहाय्य मिला है और ये मेरे लिए अनन्त प्रेरणा तथा अटल आत्म विश्वास के अजस्र स्रोत रहे हैं। एतदर्थ, इनके प्रति हृदय से आभार स्वीकार करता हूँ।

इस अनुष्ठान के सर्वाधिक महत्त्वभागी मेरे पूज्य पिताजी हैं, जिनके स्नेहाश्रय में यह श्रम भी अत्यंत सुखद रहा। उनके वात्सल्य ने मुझे दैनंदिन चिंताओं से तो मुक्त रखा ही, अपनी विद्याव्यसनिता के फलस्वरूप उन्होंने ग्रंथों का जो विशाल संग्रह किया है उसने सामग्री के लिए मुझे भटकने भी नहीं दिया। और, इस प्रकार यह दुर्गम शोध-पथ भी सहज-सुगम हो गया। इससे अधिक

और क्या कह सकता हूँ कि उनका स्नेह मुझे उसी तरह प्राप्त है जिस तरह उन्हें मेरी श्रद्धा।

पटना यूनिवर्सिटी पुस्तकालय, सिन्हा लाइब्रेरी, [illegible] पुस्तकालय, पटना कालेज लाइब्रेरी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पुस्तकालय, ब्रिटिश काउंसिल लाइब्रेरी आदि के व्यवस्थापकों ने समय-समय पर पुस्तकों के उपयोग की जो सुविधा दी है उसके लिए मैं इन संस्थाओं और उनके अधिकारियों का आभारी हूँ।

इस अवसर पर उन लोगों को भी धन्यवादपूर्वक स्मरण करता हूँ जिनके सहयोग से मेरी प्रेरणा उद्दीप्ततर हुई है।

अँगरेजी विभाग,
पटना विश्वविद्यालय। —रामचन्द्र प्रसाद

भूमिका

अँगरेजी और हिन्दी के समभ्यस्त लेखक डा० रामचन्द्र प्रसाद का यह ग्रन्थ आधुनिक हिन्दी आलोचना के स्वतन्त्र व्यक्तित्व को निगौण किये बिना, उसे प्रेरित और प्रभावित करने वाले पाश्चात्य प्रभाव का विद्वत्तापूर्ण विश्लेषण उपस्थित करता है। आधुनिक हिन्दी साहित्य पर पाश्चात्य प्रभाव के विभिन्न पक्षों को आलोचित करने वाले अनेक निबन्ध और ग्रन्थ गत दो दशकों के अन्तर्गत प्रकाशित हुए हैं। किन्तु डा० प्रसाद के इस विचार-गम्य ग्रन्थ में विवेच्य विषय का जो गहन और अनाविल उपस्थापन हुआ है वह इसे एक व्यावर्तक वैशिष्ट्य देता है।

लेखक केवल परिश्रमी या विद्वान ही नहीं, ममज्ञ भी है। इसलिए उसे उन स्थलों की सहज परख है, जहाँ रचना या कृति का चमत्कार अथवा कृतिकार की रसदीप्त अनुभूति का प्रकम्प छिपा रहता है। यद्यपि यह पुस्तक किसी 'रचना' की आलोचना न हो कर आलोचना की आलोचना है, तथापि इसमें अनेक स्थलों पर वह परख और सहज प्रसन्न शैली की चमक है, जो ममज्ञता की सही पहचान है।

इस ग्रन्थ के अन्तर्गत पाश्चात्य प्रभाव के विवेचन में किसी पूर्वाग्रह से काम नहीं लिया गया है। लेखक ने अपनी आधारभूत धारणा को बड़े ही निर्भ्रान्त शब्दों में उपस्थित करते हुए लिखा है—"यद्यपि हिन्दी-आलोचना-साहित्य की श्रीवृद्धि में पश्चिम का महत्त्वपूर्ण योगदान है, तथापि उसने इसकी स्वीय चेतना निधि को निःशेष नहीं किया, इसकी सत्ता नहीं मिटायी। भारतीय काव्यालोचन की निजी, स्वदेशी परम्परा 'अपरीक्षितवाद-ग्रहण मात्र न होकर आप ही आप अत्यन्त प्राणवान, प्रौढ़ तथा सशक्त है, जो युग-युग से भारतीय वाङ्मय को प्रभावित करती रही है। हिन्दी-समीक्षा की जड़ स्वदेश की सबल, सपोषित परम्पराओं में ही न्याविष्ट होनी चाहिए, यद्यपि पश्चिम से गृहीत उर्वरक इसके संवर्द्धन के लिए आवश्यक है, फिर भी हिन्दी भारतीय भूमि से ही अनिवार्य प्राण-शक्ति लेकर पल्लवित-पुष्पित हो सकती है।" (पृ० २४) लेखक का यह सन्तुलित दृष्टिकोण प्रशंसनीय है, क्योंकि हिन्दी साहित्य पर पाश्चात्य प्रभाव के सन्दर्भ में अधिकतर असन्तुलित या अतिवादी दृष्टिकोण ही निरूपित होते रहे हैं। लार्ड मेकॉले की शिक्षा-नीति के फलस्वरूप

बहुत दिनों तक भारतीय विद्वत्-मंडली दो वर्गों (Orientalist और Occidentalist) में बँटी रह गई। अँग्रेजी के माध्यम से शिक्षितों की अनुकरणप्रियता या सामयिक महत्त्वाकांक्षा 'ऑक्सिडेन्टलिस्ट' वर्ग के बुद्धिजीवियों को ही मिली रही और यही वर्ग राजकीय संरक्षण के कारण अधिक [illegible] उनमें पाया गया। अब अँग्रेजी उपनिवेशवाद तो नहीं रहा, उसके प्रभाव हैं। आज भी इस देश के बुद्धिजीवियों में पश्चिम के प्रति अंधानुकरण भाव बना हुआ है और भारतीय साहित्य पर पाश्चात्य प्रभाव की अतिरंजित भावना प्रकट होती जा रही है। इसी दिशा में डॉ० प्रभाकर का उपरि-लिखित अध्ययन आधुनिक भारतीय चिंतन के लिए एक महत्त्वपूर्ण प्रकाश-स्तंभ का काम करता है।

प्रचार-साधनों और आवागमन के साधनों की सुविधा के इस युग में पूरब और पश्चिम के बीच प्रभावों का स्वरूप अत्यंत जटिल बनता ही जाएगा। सभी आर्थिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक स्तरों पर एक विश्व की कल्पना चरितार्थ हो सकती तथा एक सार्वभौम सांस्कृतिक धरातल (कॉस्मोपॉलिटन कल्चर) का निर्माण हो सकता। अन्तर्राष्ट्रीय संचार-सुविधा एवं व्यापारोन्मुखी संस्कृति के इस प्रसार-युग में किसी व्यक्ति, जाति और आधुनिक प्रतियोगिता की दौड़ में सम्मिलित हुए देश के लिए अन्य देशों के स्वस्थ प्रभाव से बचना या अपने देशवासियों के बीच किसी जुगुप्सा अथवा विरक्ति भाव (जेनोफोबिया) को उभार कर बाह्य प्रभावों से एकदम अप्रभावित रहना बड़ा ही कठिन अनुचित और कठिन है। किन्तु प्रभाव विश्लेषण के इस सन्दर्भ में विचार का दूसरा पहलू अक्सर प्रायः उपेक्षित ही रह गया है। अर्थात् हमने पाश्चात्य साहित्य पर भारतीय प्रभाव का अध्ययन विश्लेषण नहीं के बराबर किया है। वास्तविकता यह है कि नये-नये नाम और प्रकृप धारण कर यूरोप तथा अमरिका के साहित्य एवं ललित कला की नई प्रवृत्तियाँ आज उन्हीं दिशाओं में नई दौड़ लगा रही है जो दिशाएँ पूरब की, विशेषकर भारत की पुरातत्त्वीकृत और स्वायत्त दिशाएँ हैं। केवल बीते हुए युगों में ही नहीं, आज भी प्राच्य प्रवृत्तियाँ पाश्चात्य साहित्य को बारीक ढंग से प्रभावित कर रही हैं। यीटस और टी० एस० एलियट की बात कौन कहे अभी-अभी बीट जेनरेशन के कवियों ने कुछ ऐसी दार्शनिक कविताएँ लिखी है, जिन पर भारतीय तंत्र, ध्यान और बोधिसत्व की धारणा का गहरा प्रभाव है। आशय यह कि पश्चिम में अनेक कवि और कलाकार आज वैसी रचनाएँ प्रस्तुत कर रहे हैं, जैसी रचनाएँ कभी तब भारत, ईरान

या चीन जसे प्राच्य प्रवृत्तिया के प्रतिनिधि देशो के कलाकारो द्वारा ही सम्भव थी। अचरज यह है कि जब तक एशिया या अफ्रीका के कवि-कलाकार किसी बात को कहते रहते, हैं तब तक हम उसे आधुनिक नही कहत, किन्तु, जब उसी बात को पश्चिम के कठ, कलम या कूची से अभिव्यक्ति मिल जाती है तब हम उस, सम्भवत अपनी निधिया से अपरिचित रहने के कारण, 'आधुनिक' और 'नवीन' कहने लगते है। पश्चिम के स्पर्श का जादू यह है कि पुरानी अफ्रिकन मूर्तिकला के प्रभाव को स्वीकार करने वाला 'क्यूबिज्म' हमारे लिए अतिआधुनिक बन गया है और चौथी शताब्दी के चीनी कवि Lu Chi के गद्यगीत (Fu) से प्रेरणाएँ पाकर लिखने वाला अमरिकन कवि (Archibald Maceish) हमारे लिए आधुनिक प्रवृत्तियो का साहित्यकार बन गया है। अत पाश्चात्य साहित्य पर भारतीय या प्राच्य प्रभाव का भी उद्घाटन होना चाहिए। चूकि डा० रामचन्द्र प्रसाद केवल अँगरजी साहित्य के ही शास्त्र निष्णात विद्वान नही बल्कि हिन्दी साहित्य और भारतीय अध्यात्म के भी अच्छे ज्ञाता हैं इसलिए इस ग्रन्थ के पूरक रूप मे वे ही पाश्चात्य साहित्य पर प्राच्य प्रभाव का मानक अध्ययन उपस्थित कर द तो समकालीन भारतीय मनीषा म पुन आत्मविश्वास की एक तरग फल जायगी।

आशा है प्रबुद्ध पाठक-वग डॉ० प्रसाद के इस ग्रन्थ का हार्दिक स्वागत करेगा।

४ नवम्बर, '७२

—कुमार विमल
निर्देशक,
बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद
पटना—४



आधुनिक हिन्दी आलोचना पर पाश्चात्य प्रभाव

प्रास्ताविक

प्रस्तुत विषय का सीमा निर्धारण एवं उपलब्ध सामग्री का परीक्षण

> "आजकल पाश्चात्य वाद-वृक्षों के बहुत से पत्ते यहाँ पारिजात पत्र की तरह प्रदर्शित किए जाने लगे हैं।"
>
> —रामचन्द्र शुक्ल (चिंतामणि, २, पृ० १६५)

विज्ञान, यन्त्रनिष्ठ बुद्धिवाद तथा औद्योगिक सक्रियता से प्रभावित अनेक-रूपात्मक परिस्थितियों का यह युग जहाँ एक ओर राष्ट्रीय चेतना एवं राष्ट्रीय शक्तियों के एकीकरण को महत्त्व दे रहा है, वहीं दूसरी ओर स्थान एवं दूरत्व के व्यवधान को क्षिप्र गति से विघटित होते देख, अन्तरराष्ट्रीयता और सार्वभौम संस्कृति का सशक्त पोषण कर रहा है। विज्ञान के चतुर्दिक् प्रभाव के कारण संसार की विभिन्न सभ्यताएँ प्राणतन्तुओं से अनुस्यूत होकर न्यूनाधिक भौतिक, औद्योगिक एवं यान्त्रिक होती जा रही हैं। वैज्ञानिक आविष्कारों से जीवन कर्म-व्यस्त और गत्यात्मक हो गया है, संसार में पारस्परिक निर्भरता, सांस्कृतिक आदान-प्रदान, सम्पर्क, योग और मिश्रण की कड़ियाँ अत्यन्त सशक्त तथा समन्वित होती जा रही हैं। ऐसी दशा में साहित्यिक सिद्धान्त और आलोचना के प्रतिमान बड़े वेग से भ्रमण करते हुए देश-देशान्तर के पाठकों और लेखकों को प्रभावित करते हैं। चूँकि नव्यतम प्रवृत्तियाँ स्वतः आकर्षक होती हैं, युग-युग से प्रचलित रूढ़-जर्जर संस्कारों तथा साहित्यिक परंपराओं से ऊबे हुए लेखक इनसे सहज

ही प्रभावित हो, साहित्य को एक नई दिशा देते हैं और नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा से युक्त लेखक उनमें अपनी भाषा की रुचि तथा परम्परा के अनुकूल परिवर्तन लाते हुए अभिनव रचना शैली और सिद्धान्तों की सृष्टि करते हैं। यदि नये विचारों का उद्भव किसी सबल राष्ट्र की उर्वरा साहित्यिक भूमि में होता है और उन विचारों के जनक विश्वविख्यात साहित्यकार होते हैं तो ऐसे विचार और सिद्धान्त स्वभावतः ही अधिक ग्राह्य हो जाते हैं। मेधावी तथा परिष्कृत रुचि लेखक और नीर-क्षीर विवेकी हंसोपम आलोचक, जो आप ही कम भाव प्रवण नहीं होते, मनोनुकूल उपयोगी विचारों को शीघ्र ही आत्मसात् कर लेते हैं।

आधुनिक हिन्दी समालोचना साहित्य में सामान्यतः दो विभिन्न प्रकार के प्रभाव एकत्र देखे जाते हैं। कुछ समीक्षकों ने भारतीय काव्यशास्त्र के परंपरा पोषित आदर्शों को अपनाया है और कुछ ने पाश्चात्य आलोचना तथा इसके मूलभूत सिद्धान्तों को अपनी विचार धारा का अविच्छिन्न अंग बना लिया है। कई भारतीय समीक्षकों ने अपने तर्कों और विचारों की पुष्टि मात्र के लिए पाश्चात्य आलोचना के मानदंडों को अपनाया है तथा पाश्चात्य लेखकों के अंगरेजी उद्धरणों से अपने तर्कों की पुष्टि की है—'उनका नाम जपकर उनके सहारे वैतरणी पार करना चाहा है।'[1] इतना ही नहीं, कई आलोचकों ने स्वदेशी परंपरा तथा समीक्षा की विशिष्ट प्रवृत्तियों को सर्वथा विस्मृत करते हुए पाश्चात्य प्रतिमानों से हिन्दी की कला-कृतियों की समीक्षा की है। तीसरे प्रकार के आलोचक सुविधानुसार आलोचना को कभी पाश्चात्य, कभी पौरस्त्य परंपरा को स्वीकार करते हुए आलोचना का वह सुष्ठु समन्वय प्रस्तुत करते हैं, जिसका सूत्रपात आचार्य शुक्ल ने किया था। हिंदी में ऐसे निबंधों का भी अभाव नहीं जो पश्चिम के मूर्धन्य साहित्यकारों तथा साहित्य से सम्बद्ध कतिपय विचारों पर लिखे गए हैं और न ऐसे निबंध ही कम हैं जिनमें पाश्चात्य एवं भारतीय साहित्यकारों, सिद्धान्तों और मानदंडों की तुलनात्मक समीक्षाएँ प्रस्तुत की गई हैं। इनके लेखक प्रायः ऐसे अंतर्दृष्टि सम्पन्न समीक्षक हैं, जिन्होंने भारतीय तथा पाश्चात्य काव्य शास्त्र का और समालोचना की विभिन्न परंपराओं एवं अंग उपांगों का सूक्ष्म अध्ययन किया है और इनसे एक साथ ही प्रभावित हुए हैं।

काव्यशास्त्र के जिन अगाध पाश्चात्य जलयिष्णुओं तथा प्रभावकों ने हमारी

---

१ माध्यम, सितम्बर १९६५, पृ० ९५ साहित्य पर बाह्य एवं स्थायी प्रभावों के कारणों, प्रकारों और माध्यमों के लिए देखें *माध्यम* अगस्त १९६५, पृ० २४–२७।

पुरातन साहित्यिक मीमांसा में नये अन्तःस्रोत उद्भासित किए हैं, उनमें अँगरेज साहित्याचार्यों का स्थान सर्वोपरि है। उनका प्रभाव 'उन्नीसवीं शती के तृतीय चरण से आरम्भ होकर अद्यावधि अनेक रूपों और प्रकारों में प्रतिफलित होता हुआ चला आ रहा है।[1] उनके ग्रन्थों के हिंदी अनुवाद हुए हैं और उनकी साहित्यिक मान्यताएँ तथा सिद्धान्तोपपत्तियों ने आधुनिक हिन्दी-समीक्षा के अन्दर में प्रवेश कर उन पर पश्चिमी रंग चढ़ाया है। उनके ग्रंथों के माध्यम से हमारे समीक्षकों ने अन्य पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों के विचार अपनाये हैं और इस प्रकार हिन्दी-समालोचना की अपनी स्वतन्त्र सैद्धान्तिक निधि में अनेक अन्य देशीय तत्त्वों का अन्तर्भाव किया है जिसके फलस्वरूप आज का हिन्दी-समालोचना-साहित्य पर्याप्त समृद्ध एवं संतुलित हो सका है। अतएव प्रस्तुत ग्रंथ में उन अँगरेज साहित्यालोचकों का ही अधिक विवेचन है जिन्होंने हमारी समीक्षा की गतिविधि को संचालित करते हुए इस पर अपने प्रभाव एवं विभुत्व के अमिट चिह्न अंकित किए हैं। किंतु अँगरेजी समीक्षा समग्र यूरोपीय वाङ्मय से—मुख्यतः यूरोपीय समीक्षा-शास्त्र की वरिष्ठ परंपरा से—अनुप्राणित एवं संपोषित विभिन्न प्रवृत्तियों का समवाय है। इस पर यूरोपीय विचार-सरणियों तथा आलोचना सिद्धान्तों का उतना ही प्रभाव है, जितना आधुनिक भारतीय वाङ्मय पर पश्चिम का है। भारतीय काव्य एवं साहित्यालोचन पर पाश्चात्य साहित्यिक मान्यताओं के इस प्रत्यक्ष सुनिश्चित प्रभाव के मूल में अँगरेजी साहित्यिक परंपराओं की सम्पन्नता तथा प्रभविष्णुता के साथ ही अँगरेजी साम्राज्य की वह व्यापक परिधि था जिसमें भारत भी समाविष्ट था। अँगरेजों के शासन-काल से ही उनकी भाषा और साहित्य का प्रभाव सघन होता गया और सम्प्रति स्वतन्त्र भारत में भी इसका महत्त्व अक्षुण्ण दीखता है।

---

२ डॉ० वेंकट शर्मा, आधुनिक हिंदी-साहित्य में समालोचना का विकास, (दिल्ली, १९६२), पृ० ११६, द्रष्टव्य "अपने साहित्य की इस हीनता की प्रतीति ने कुछ लोगों को अतीत की ओर तथा कुछ को पश्चिम के अंधानुसरण की ओर आकृष्ट किया। इन दोनों प्रवृत्तियों में सामंजस्य भी स्थापित हुआ, जो भारतीय साहित्य चिंतन और जीवन के लिए श्रेयस्कर सिद्ध हुआ। आज भी इसी में भारत का कल्याण है। पश्चिम के अनुकरण पर उसमें साहित्य और कला की नवीन शैलियों और विधान की नवीन सरणियों का अवलम्बन प्रारम्भ हो गया।" डॉ० भगवत्स्वरूप मिश्र, हिंदी आलोचना : उद्भव और विकास (देहरादून, १९६१), पृ० २२७।

अँगरेजी साहित्य पर इटली, फ्रास, जमनी तथा रूस आदि देशा के साहित्य का जो गहरा प्रभाव देखा जाता है, उसका कारण इन देशा के सम्पन्न साहित्य की प्रभेपणीयता, अँगरेजा की श्लाघ्य ग्रहणशीलता और उनके दृष्टिकोण की स्वस्थ-मूल उदात्तता है जिसके फलस्वरूप, आनल्ड तथा एलियट जसे आलोचका ने कहा है कि साहित्य की श्रीवद्धि के लिए जीवन्त विचारा का अनवरत प्रवाह परमावश्यक है और कुछ हद तक आलोचक का यह कत्तव्य है कि वह इस विचार-धारा को प्रवहमान बनाए रखे साथ ही सर्वोत्तम विचारधारा के लिए लेखका को स्वदेशी आदर्शा के प्रति आस्थावान् तो होना ही चाहिए विदेश के दशन चिंतन से भी लाभान्वित होने का प्रयत्न करना चाहिए। यूनान तथा रोम की महान साहित्यिक कृतियाँ अँगरेजा के लिए अमूल्य सारभूत आदश उपस्थित करती हैं। फ्रास की ऐतिहासिक तथा युगातरकारी राज्यक्रान्ति से उन्नीसवी शती के अँगरेज स्वच्छ दतावादी कवि ही अत्यधिक प्रभावित नही हुए थे १७८८ की इस महान् घटना-सकुल क्रांति के बाद फ्रास समस्त यूरोप का राजनीतिक एव साहित्यिक प्रयोगशाला भी हो गया। इस क्रान्ति के पहले इगलैण्ड पर नामन विजय से ही फ्रास के प्रभुत्व (डामिनेशन) का श्रीगणेश होता है जिसके कारण इगलैंड म चौदहवी शती तक फ्रासीसी भाषा का वही स्थान रहता है जो मध्ययुगीन गिरजा घरो तथा मठा मे लटिन का। इस विजय के पूव यूरोप म सभी पढे लिखे व्यक्ति लटिन बोलते थे और इगलैण्ड म भी पूजाचना के लिए इसी भाषा का प्रयोग होता था। नामन विजय के साथ ही एक नई भाषा—नामन फ्रासीसी—का उपस्थापन होता है, जिसने जनपदीय भाषा अँगरेजी को अत्यधिक प्रभावित किया। हिग्डन विरचित 'पालिक्रानिकन म लिखा है

(इगलड के) स्कूला मे पढनेवाले विद्यार्थी अय राष्ट्रा म प्रचलित शिक्षण प्रणाली के विपरीत अपनी देश भाषा को त्यागने के लिए सम्बाधित किए जाते हैं और उन्हे अपने पाठा की व्याख्या फ्रासीसी भाषा म करनी पडती है। जब नामना ने पहली बार इगलैंड म पदापण किया था तब से आज तक वे ऐसा ही करते आ रहे हैं। उच्चकुलोत्पन्न शिशुआ को उस समय से ही फ्रासीसी भाषा बोलने की शिक्षा दी जाती है जब वे पालने मे झूलते होते हैं और ग्रामीण लोग जो अपनी तुलना भद्र पुरुषा से करने के लिए लालायित रहते हैं बडे परिश्रम से फ्रासीसी भाषा बोलने की चेष्टा करते है।[1]

१ एड्रिय रोस्ट, चॉसम वल्ड (न्यूयार्क, १९६२), पृ ११९।

चौदहवी शती म इग्लण्ड की जनपदीय भाषा की यही अवस्था थी। वस्तुत सन् १०६६ ई० से ही लटिन तथा फ्रासीसी भाषाओ ने विभिन्न प्रकार से जन-सेवादि के तथा व्यक्तिगत कार्यक्रमो से प्राचीन अँगरेजी को अपदस्थ कर अपना स्थान बना लिया था। यहा तक कि चॉसर, गावर तथा चौदहवी शती के अन्य सभी ख्यात कवियो की रचनाओ पर फ्रासीसी कविता और इसकी परपराओ का प्रभूत प्रभाव देखने को मिलता है। फ्रासीसी भाषा मे प्रणीत 'द रामास आव द रोज' सरीखी अन्योक्तिपरक कविताओ ने तथा इसी भाषा मे सर्वप्रथम उद्भूत शालीन, दरबारी साहित्य ने—'कोर्टली' परपरा ने—सामयिक अँगरेजी काव्य को अत्यधिक प्रभावित किया, जिससे स्वजगत अन्योक्तिपरक कविताओ की उस लम्बी शृखला का सूत्रपात हुआ जिसमे 'पर्ल', 'द बुक आव द डचेस', 'पियर्स द प्लाउमन' आदि कविताएँ अनिवार्य कडी-सी लगती है। इसी समय इटली के उस समृद्ध साहित्य की प्रभुता यूरोप के अन्य देशो के साहित्य पर पडने लगी, जिसे 'नवजागरण' का महान् अवदान समझना चाहिए। इटली ही वह सौभाग्यशाली देश था जहा इस सर्वतोमुखी सास्कृतिक महाक्राति के आत्मिक-मानसिक आदोलन का महारम्भ हुआ। पन्द्रहवी शती के इतालवी मानववादी लेखको ने मध्ययुगीन परपराओ से सम्बन्ध-विच्छेद करते हुए अपने शिक्षण तथा प्रेरणा के द्वारा साहित्यिक विमर्शों का बीजवपन किया। उन्होंने साहित्य के प्रति एक नए दृष्टिकोण का उद्घाटन किया और पुरातन आभिजात्यवाद की परपरा एव रुचि का जयगान करते हुए आनेवाली पीढियो को यूनानी तथा रोमी ग्रन्थो और सिद्धान्तो से परिचित ही नहीं कराया, अपितु उनमे साहित्यिक मूल्यो एव मान्यताओ के प्रति एक अभिनव चेतना का सचार भी किया। सोलहवी तथा सत्रहवी शती के सिडनी, एसकम बेन जानसन पटनम आदि आलोचक इनके विचारो से अतिशय अनुप्राणित हुए और उनके समसामयिक कवि इतालवी काव्य से—शात, पटगक, बुकशियो, टैसो प्रभृति काव्यधारा से—उत्प्रेरित हुए। उनके महाकाव्यो ने इग्लण्ड मे रोमाटिक तथा धार्मिक प्रबन्ध-काव्यो को, स्पेन्सर तथा मिल्टन को, प्रभावित किया, अँगरेज कवियो मे अपनी जनपदीय भाषा और इसकी सम्भावनाओ के प्रति चेतनता का उन्मेष किया और उनमे प्रतिस्पर्धा की वह भावना जाग्रत की, जिसके कारण इग्लण्ड के कवियो ने अपनी भाषा की समृद्धि के लिए अथक चेष्टा की। इसी समय वर्जिल ओविड आदि कवियो ने भी अँगरेजी काव्य को प्रभावित किया, प्लुटार्क, ओविद और क्विन्टिलियन की रचनाओ के अनुवाद हुए और बाइबिल का 'प्राधिकृत' सस्करण प्रकाशित हुआ। सत्रहवी शती के अँगरेजी

गद्य पर लटिन का, जान डन की कविता पर ओविड का (मध्ययुगीन नैतिकता, विज्ञान तथा प्लेटोनिज्म का भी), बेन जानसन की आलोचनाओं पर अरस्तू, मिण्टुर्नो, सेलिगर तथा डेनियल हेंसियस का प्रभाव अंकित है। नव्य-अभिजातवादी युग में प्राचीन अभिजात साहित्य की आत्मा पुनः प्रतिष्ठित हुई और ड्राइडन पोप प्रभृति व्यंग्य-लेखकों के ऊपर होरेस, जुवेनल, वेरो आदि के प्रभाव पड़े। उन्नीसवीं शती में कालरिज ने जर्मनी के दार्शनिकों और चिन्तकों से प्रभावित होकर ललित कल्पना और कल्पना के भेद भावों को स्पष्ट करते हुए साहित्यिक समीक्षा तथा समीक्षक के लिए उपादेय मनोविज्ञान, दर्शन आदि में अटूट संबंध स्थापित किया और यह प्रमाणित कर दिखाया कि आलोचक के लिए घोर अध्यवसाय, रहस्योन्मेषिणी प्रतिभा, व्यापक अध्ययन तथा अभिरुचि की नम्रता आदि तो आवश्यक है ही साथ ही उसके लिए शिक्षा की विभिन्न शाखाओं (डिसिप्लिन्ज) के प्रति अनुराग भी अपरिहार्य है। आधुनिक युग में एलियट तथा लीविस जैसे समीक्षकों ने निरपेक्ष उत्कृष्ट एवं अविनश्वर साहित्यालोचन के लिए साहित्य से परे विभिन्न विषयों का—मनोविज्ञान, भाषा-विज्ञान, नृविज्ञान, दर्शन, साहित्यगत स्वराष्ट्रीय रूढ़ियों एवं परंपराओं का—ज्ञान अपेक्षित बनाया है। कालरिज ने यह सिद्ध कर दिखाया है कि समीक्षा के लिए यदि दर्शन तथा मनोविज्ञान का समुचित ज्ञान हो तो उसमें प्रभावित एवं निर्मित समीक्षा का महत्त्व उस समीक्षा से कई गुना अधिक हो जाता है जिसकी रचना कोरे साहित्यिक मानों के आधार पर हुई है।

उन्नीसवीं शती के अँगरेजी साहित्य पर पौरस्त्य संस्कृति, कला एवं साहित्य का कम प्रभाव नहीं पड़ा। वह स्वयं और शेली जैसे कवियों की रचनाओं में प्राच्य रहस्यवाद का स्निग्ध अंतःस्नान मिलता है। सर विलियम जोन्स, चार्ल्स विल्किन्स, मनियर विलियम्स, मैक्स म्यूलर सरीखे अनेक विद्वानों की रचनाओं का इस प्रभाव के सम्यक प्रसार में जो योगदान है वह सर्वथा वंद्य है परन्तु अँगरेजी विचार धारा एवं दर्शन चिन्तन पर इसी समय कांट तथा हीगल का अमिट प्रभाव पड़ा जिससे अँगरेजी समीक्षा को नई आधारभूमि और पाठ्य सामग्री मिली। मैथ्यू आर्नल्ड की रचनाओं में भी प्राचीन अभिजात तथा तत्कालीन यूरोपीय समीक्षा-सम्प्रदायों का, वर्तमान युग में एलियट की समीक्षा एवं काव्य में फ्रांसीसी प्रतीकवाद का प्रभाव तथा रेमि द गुर्मो तथा इर्विंग बैबिट का अन्तःप्रवाह देखने को मिलता है।

अतएव पाश्चात्य प्रभावों को चाहकर भी हम अँगरेजी साहित्य विशेषतः अँगरेजी समीक्षा के प्रभाव तक ही सीमित नहीं रख सकते। इसलिए

हम आधुनिक हिन्दी-समीक्षा के उन प्रवाहों और अन्तःप्रवाहों का परिशीलन करेंगे जिनसे स्वयं अँगरेजी समीक्षा प्रभावित है। तात्पर्य यह कि जहाँ हम अँगरेजी समीक्षा पर जोर देंगे, वहाँ पश्चिम के अन्यान्य देशों की उन समीक्षा-परंपराओं को भी परिवेष्टित करेंगे, जिन्होंने पहले अँगरेजी को और तत्पश्चात् उसके माध्यम से हिन्दी-समीक्षा को प्रभावित किया है।

आधुनिक अँगरेजी समीक्षकों का बहुलांश अब ऐसी आलोचना लिखने में व्यस्त है जिसमें पांडित्य अधिक होता है, विशुद्ध साहित्यालोचन कम। पंडितोचित आलोचना माइन, रैले, रोजमंड ट्यूव सदृश अध्यापकों की रचनाओं में तथा थियमन, बेटसन आदि सम्पादकों की टीका-टिप्पणियों में स्थापित है। ऐसी आलोचना प्रायः सृजनात्मक कृतियों के मूलस्रोतों का अन्वेषण और मंथन करती हुई व्याख्यात्मक आलोचना का स्वरूप ग्रहण करती है। ऐसे आलोचक कवि तथा लेखक द्वारा प्रयुक्त बिम्बों या वाक्यांशों के उन उद्गम-सूत्रों की छानबीन करते हैं, जिनसे बिम्ब या वाक्यांश निष्पन्न होते हैं। जॉन लिविंग्स्टन लोज की ख्यात पुस्तक 'द रोड टु ज़ेनाडु' ऐसी ही उपलब्धि, जासूसी रचना है, जिसमें विद्वान लेखक ने उन सभी ग्रंथों को ढूँढ निकाला है, जिन्हें कालरिज ने पढ़ा था और जिनसे अपनी कविताओं के लिए बिम्बादि लिये थे। प्रभावों के परीक्षण तथा रचनाओं के उत्स के परिशीलन पर आधृत समीक्षात्मक कृतियाँ सामान्यतः लेखक की जिज्ञासु बुद्धि की परिचायिका या जासूसी ही होगी। प्रस्तुत प्रबंध में अद्यतन हिन्दी-समीक्षा पर पड़नेवाले पाश्चात्य प्रभावों का निरूपण ऐसा ही प्रतीत हो सकता है। जिस प्रकार कभी-कभी जासूसी जाँच-पड़ताल के परिणामों में प्रामाण्य नहीं होता उसी प्रकार प्रभावों के प्रदर्शन भी पर्याप्त विश्वसनीय आधारों के अभाव तथा अपनाने, विमर्शशून्यता और शीघ्रता आदि के कारण वहाँ प्रभाव देखने लगते हैं, जहाँ उसका लेश भी नहीं होता अथवा ऐसे सूत्रों की ओर संकेत करते हैं जिनसे विवेचित व्यक्ति का कभी परिचय ही न था। वस्तुतः आधुनिक हिन्दी-समीक्षा पर प्रभाव दिखानेवाले आलोचक ऐसी भूल जिस शीघ्रता से कर बैठते हैं वैसी शीघ्रता से अन्य भाषाओं की समीक्षा पर पड़नेवाले प्रभावों के अनुसंधाता एवं समीक्षक नहीं करते।[1] इसका कारण

---

१ सत्यदेव परिव्राजक ने कुछ ऐसी ही बातें हिंदी समीक्षकों के संबंध में आज से वर्षों पूर्व कही थीं। दे० 'साहित्य-सेवियों से नम्र निवेदन', सरस्वती, १९२९, पृ० ४८३। इसी संदर्भ में द्रष्टव्य—डॉ० देवराज, चिंतन-प्रसंग : प्रभावित होने की बात, कल्पना, अगस्त, ६१, पृ० ९९–१०१। पुनश्च

२ भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्यकारो का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करनेवाले निबध अथवा ग्रथ,

३ भारतीय कवियो और लेखको पर लिखी जानेवाली ऐसी आलोचनाएँ जिनके आधार पाश्चात्य मानक हैं। इन आलोचनाओ के तीन प्रकार हैं —

(क) पाश्चात्य आलोचको द्वारा लिखी गई भारतीय विषयो पर समीक्षा (हिन्दी के अपेक्षाकृत प्राचीन कवियो, ग्रथो अथवा उनमे वर्णित घटनाओ और पात्रो के काल निर्धारण मे पाश्चात्य ऐतिहासिक एव साहित्यिक रचनाएँ उपयोगी सिद्ध हुई है।[1])

(ख) अहिन्दी, किन्तु भारतीय लेखको द्वारा प्रस्तुत हिन्दी साहित्य-सबधी विषयो पर लिखी गई समीक्षा, और

(ग) हिन्दी के निजी समीक्षको की कृतियाँ,

४ विभिन्न विषयो पर लिखी जानेवाली आलोचनाएँ, जिनके प्रतिमानो मे भारतीय तथा पाश्चात्य सिद्धान्तो का समिश्रण है और जो किसी परपरा विशेष का अनुसरण नही करती, ऐसे आलोचक अपने सस्कारो की दृढ पीठिका पर ही अपने पश्चिमी विचार स्थापित करते हैं,

५ कुछ ऐसी समीक्षाए, जिनमे पाश्चात्य आलोचना अथवा साहित्य का प्रभाव नाममात्र का ही है एक ही विषय, एक ही समस्या पर विचार करनेवाले आलोचक—प्राच्य एव प्रतीच्य—कभी-कभी समानान्तर तर्क वितर्क, विश्लेषण आदि प्रस्तुत करते है,

६ पाश्चात्य आलोचना-ग्रथो के आधार पर लिखी गई हिदी समीक्षाएँ अनुवाद आदि।

इनके अतिरिक्त यह भी निर्विवाद है कि अनेकानेक पाश्चात्य सृजनात्मक कृतियो ने आधुनिक हिन्दी-काव्य तथा गद्य-साहित्य को प्रभावित किया है। ऐसे काव्य और गद्य की समीक्षा मे पाश्चात्य तत्त्वो का समाहार देखा जा सकता

---

१ द्रष्टव्य कोशोत्सव-स्मारक-सग्रह मे महामहोपाध्याय रायबहादुर श्री गौरीशकर ओझा का 'पृथ्वीराज रासो का निर्माण-काल' शीर्षक निबन्ध (पृ० २९–६६) और मई १९५५ मे अवन्तिका मे प्रकाशित 'कालिदास का समय' (पृ० ४६८-४७०)।

है। स्पष्ट है कि इस प्रबंध में 'प्रभाव' शब्द का अत्यन्त व्यापक अर्थ में प्रयोग हुआ है। नमनशील मानकर कभी-कभी 'छाया' के अर्थ में इसका प्रयोग हुआ है। शोध-कर्त्ता ने कहीं भी इसके संकुचित अर्थ में इसे प्रयुक्त नहीं किया, जिसके फलस्वरूप उन स्थलों पर भी उसने प्रभाव देखा है जहाँ पाश्चात्य विचार-सरणियों का केवल समर्थन या उल्लेख ही हुआ है।

पाश्चात्य विद्वानों ने भी प्रभावों के निरूपण में जहाँ एक ओर बड़ी तत्परता दिखाई है, गौण से गौण रचनाओं पर भी पड़नेवाले विभिन्न प्रभावों की छान-बीन में वे सन्नद्ध रहे हैं वहीं दूसरी ओर उनकी भूलों ने आधुनिक समीक्षा में अनेक वाद-विवादों को जन्म देने वाले भ्रमजालों का प्रजनन किया है। निम्नलिखित उद्धरण जहाँ मनोरंजक हैं वहाँ हम इस बात की चेतावनी भी देते हैं कि साहित्यिक प्रभावों के समीक्षण में वैसी ही सतर्कता एवं सम्यक्-प्रयुक्त वैज्ञानिक विश्लेषण की अपेक्षा होती है जैसी सतर्कता आधार सामग्री की भित्ति पर वैज्ञानिक तथ्यनिरूपण के लिए आवश्यक है। साथ ही इनसे 'प्रभाव' के सच्चे अर्थ की व्यंजना होती है और इस बात का ज्ञान होता है कि प्रभावों की खोज और सफलता के लिए समीक्षक को बड़ा ही सतर्क रहना चाहिए—उसमें हंसोपम सारग्राहिता होनी चाहिए।

(१) शेक्सपियर ने जिन पुस्तकों और नाटकों का अध्ययन किया था उनमें इतने अधिक अप्राप्य हैं कि यदि हम १६१६ के पूर्व प्रकाशित सभी उपलब्ध पुस्तकों को पढ़ डालें तब भी हमें निस्सन्देह यह स्वीकार कर लेना होगा कि हमने वे सारी पुस्तकें नहीं पढ़ीं, जिनसे शेक्सपियर परिचित था। हम जिन भावों या वाक्यांशों को अपनी समधीत तथा जानी-पहचानी पुस्तकों से उद्धृत हुआ समझते हैं, वे सम्भवतः उन पुस्तकों से लिए गए हैं जो आज दुर्लभ हैं। इसके अतिरिक्त सादृश्य का कारण कभी-कभी संयोग-मात्र भी हो सकता है,[१] शेक्सपियर ने अपने शब्द, वाक्यांश या भाव कई स्रोतों से अनुप्राणित किए होंगे[२]—जैसे वार्तालाप से, हस्तलिखित पांडुलिपियों तथा पत्रों से। मूल-स्रोतों के अनुसंधान में

१ Some resemblances may be coincidental

२ Shakespeare may have derived the word, the phrase, the image or the idea from a variety of sources

तत्पर समीक्षक जिस प्रकार की भूलें प्राय कर बठते हैं उसका एक रोचक उदाहरण क्लियोपेट्रा की मृत्यु पर होनेवाले विवचन स मिलता है। एक समीक्षक ने शेक्सपियर के इस दृश्य म तथा पील-रचित 'प्रथम एडवड' के एक ऐसे स्थल म साम्य देखा है, जिसम एक काले साँप को इन शब्दा म सबाधित किया गया है "लो प्यार बच्चे, स्तनपान करो।"[1] क्लियोपट्रा साप के सबध म कहती है

> क्या तुम मेरे बच्चे को मेरे स्तना पर नही देखते,
> जो दूध पीकर स्वय पालिका को सुला देता है![2]

किन्तु इस प्रकार की तुलना जनसाधारण म प्रचलित तुलना ही थी। नैश की एक रचना 'ईसा मसीह के आसू (क्राइस्टस टीयर्ज)' म और कूपर विरचित 'थेसारस' म यह वतमान है। हो सकता है, शेक्सपियर ने चार्मियान के एक सबोधन ('प्राची के ऐ सितारे!') स यह बिंब लिया हो। इससे पूरब के उस सितारे का भान हुआ होगा जिसने बाइबिल म वर्णित पूरब के तीन चतुर व्यक्तिया को बथलेहम पहुँचाया था जहाँ उन्होने शिशु (जीजस) को अपनी माँ की गोद म पाया।[3]

(२) हिंदी मे पिछले कुछ वर्षो से नये-नये वादा का नामकरण हो रहा है। अँगरेजी रोमटिसिज्म के स्थान पर हम 'स्वच्छदतावाद' शब्द का प्रयाग करते हैं। मार्क्सवादी साहित्य-दृष्टि को हम प्रगतिवाद म समाहित करते हैं। पश्चिमी प्रतीकवादी काव्य-साहित्य के अनुरूप हमने हिंदी म प्रयोगवादी काव्य शैली का निर्माण किया। यहा भी हमने पश्चिम के वादा को हिंदी म ज्यो-का-त्यो रूपातरित नही किया है, केवल प्रवृत्तिया के आधार पर समान से नाम दे

---

१ Suck on, sweet babe'

२ 'Dost thou not see my Baby at my breast,
That suckes the Nurse asleepe'

३ केनेथ म्यूर की अँगरेजी पुस्तक 'शेक्सपियस सोर्सेज' की कुछ पक्तियो के अनुवाद, दे० शेक्सपियस सोर्सेज (लदन, १९५७), पृ० १३।

दिये हैं। स्वच्छन्दतावादी कवियों में हम 'प्रसाद', 'निराला' आदि की गणना करते हैं, परन्तु इनके काव्य में विदेशी प्रभाव का अनुसंधान बहुत कुछ व्यर्थ श्रम होगा। 'प्रसाद' उपनिषदों और शैवागमों के दर्शन को हिन्दी में लाये हैं। निराला भारतीय अद्वैतवाद की प्रतिष्ठा अपने काव्य में कर सके हैं। अतएव वस्तु-पक्ष में तो किसी प्रकार का विदेशी प्रभाव घटित हुआ ही नहीं, शैली और रूप-रचना में इन कवियों की स्वतन्त्रता और मौलिकता स्पष्ट देखी जा सकती है। इसी प्रकार सुमित्रानन्दन पंत और महादेवी की काव्यसृष्टि में विशुद्ध भारतीय चिंताधारा का विकास है।[1]

इन उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि प्रभाव के अनुसंधान में निरत समीक्षक को जहां बहुज्ञ होना चाहिए वहां अत्यन्त विवेकशील, तार्किक एवं व्यवस्थित प्रयास के लिए कृत-संकल्प भी। किसी निष्कर्ष विशेष पर पहुँचने के पहले उसे सभी ज्ञात-अज्ञात सूत्रों का विश्लेषण और अनुसंधान करना होगा, उसे अपने आलोच्य कवि, लेखक या समीक्षक द्वारा अधीत उन सभी ग्रन्थों की खोज करनी होगी जिनसे वह प्रभावित हुआ है। उसे यह भी स्मरण रखना होगा कि समीक्षकों के विचार, सिद्धांत आदि कई सूत्रों से उत्पन्न होते हैं। उनके लिए यदि बहुत आलोचना-ग्रन्थ उपादेय है तो साथ ही वार्तालाप, शब्दकोश, पाण्डुलिपि और पत्र-व्यवहार भी। इतनी विस्तृत, प्रचुर एवं अगाध सामग्री का एकत्रण यावज्जीवन अविरत अनुसंधान से भी संभव नहीं हो सकता, और यदि संभव हो भी तो सामग्री के संचयन में ही शोध-कार्य निष्पन्न नहीं हो सकता। उपलब्ध आधार-सामग्री के निस्तुषीकरण की आवश्यकता होती है और इस प्रक्रिया के बाद उपयोगी तथा प्रसंगोचित सामग्री को पुनः निस्यंदित करना—छानना—पड़ता है। यह भी बड़ा ही दुःसाध्य कार्य है। इन कारणों से हमने इस प्रबंध में छोटे-छोटे वाक्यों, साधारण मान्यताओं और गौण सिद्धांतों की व्युत्पत्ति पर विचार न कर आधुनिक समीक्षकों के कृतित्व के उन स्रोतों का सामान्य वर्णन किया है जिनसे वे असंदिग्ध रूप से प्रभावित हुए हैं। वस्तुतः ऐसा प्रतीत होता है कि आज का हिन्दी-समीक्षक—द्वितीय महायुद्ध के बाद का हिन्दी समीक्षक—जितना ग्रहणशील तथा प्रभाव्य हो गया है उतना वह पहले कभी न था। नये-नये

---

१ नन्ददुलारे वाजपेयी, प्रकीर्णिका (कानपुर, १९६५), पृ० ५५–५६।

प्रभावों के लिए उसका हृदय प्रकाशित है, उसमें अपने नये दायित्व के प्रति चेतना है और वह समृद्ध पाश्चात्य समीक्षा-साहित्य एवं सृजनात्मक साहित्य से सजीवन तत्त्वों का चयन कर अपनी भाषा को अभिनव गौरव-गरिमा से विभूषित करने का अभिलाषी है।[1] इसलिए स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-समीक्षक शास्त्रीय सिद्धान्तों की परिधि तक ही अपने को सीमित रखने में असमर्थ हैं। पाश्चात्य समीक्षा-शास्त्र से प्रभावित हिन्दी-समीक्षकों की संख्या अपरिमेय हो चुकी है।[2] अतः प्रभावों के समंजन और एकत्रीकरण में हम इतस्ततः 'कुसुम चयन प्रवृत्ति' का ही आश्रय लेना पड़ा है और उन लेखकों को ही अपने विवेचन का आधार बनाना पड़ा है जिनसे हिन्दी-समीक्षा-जगत् में नयी मान्यताओं की स्थापना हुई है और जिनका समीक्षागत अवदान हमारी दृष्टि में कुछ महत्त्व रखता है। ग्रहण एवं त्याग के मध्य में इसी सुनिश्चित नीति के फलस्वरूप न तो एक ही समीक्षक की समस्त रचनाओं का मूल्यांकन किया जा सकता है और न समस्त हिन्दी-समीक्षकों का ही। इस तरह के आलोचक स्वभावतः ही विवेचित नहीं हो पाये हैं, जिनकी

---

१ पन्द्रहवीं-सोलहवीं शती के अँगरेज समीक्षकों की कुछ ऐसी ही अवस्था थी। नवजागरण व राष्ट्रीय चेतना की जो लहर फैलायी, उसमें साहित्य के बहुमुखी विकास के लिए सयत्न प्रयास की लहर भी समाहित थी।

२ 'हिन्दी-कविता की कसौटी' शीर्षक निबंध में आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने लिखा है "नयी कविता, नयी कसौटी, नयी वस्तु, नयी तुला की पुकार असामयिक है। नयी कविता को प्रसारित हुए शती हो चुकी। नयी कसौटी और नयी तुला का घोष होते भी (द्विवेदी-युग-संवत् १९५० से) हो चुकी, पर न कोई नया निकष बना, न कोई नया बटखरा। जो भी सामने रखा जाता है, वह विदेशी माल है। अपनी विवेक-बुद्धि, ऊहापोह और चिंतन से शास्त्र-मंथन करनेवाला प्राचीनों की भाँति कोई नूतन विद्वान कहीं नहीं।' ३० पाटल, मई १९५४, पृ० ११। इसी प्रकार 'समीक्षा में सन्तुलन का प्रश्न' शीर्षक लेख के अंत में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कहा है "पुरानी परम्परा को एकदम भुलाना अत्यंत भयंकर गलती है। मुझे यह समझ में नहीं आता कि आधुनिक समालोचना-पद्धति क्यों नहीं पुराने अनुभवों से अपने को समृद्ध कर सकती। नवीन परिस्थितियों के अनुसार पुराने अनुभवों का प्रयोग सदा हितकर होगा—जीवन में भी और साहित्य में भी।" पाटल, जून १९५४, पृ० ११।

[illegible] पुरातनवाद प्रकाश में नहीं आ पाती है। कभी कभी हमारे समीक्षक जान-बूझकर बिना पाश्चात्य समीक्षा-पद्धति का अनुशीलन किये ही प्रभावित [illegible] हो। [illegible] गंभीर अध्ययन के क्रम में [illegible] [illegible] है [illegible] [illegible] में भिन्नता का प्रकार [illegible] हो जाता है कि उनका [illegible] [illegible] हो जाता है [illegible] [illegible] हो जाते हैं। [illegible]—[illegible] में [illegible]—[illegible] हो [illegible] है।

[illegible] सिद्धांतों के [illegible] क्रम में [illegible] में [illegible] हो जाते हैं और समीक्षा की प्रवृत्ति [illegible] हो जाती है। हिन्दी-समीक्षा और हिन्दी का [illegible] साहित्य भी [illegible] की विभिन्न [illegible] में होकर आज विकासोन्मुख तथा उत्तरोत्तर समृद्ध हो रहे हैं। आज से तीस-चालीस वर्ष पूर्व द्विवेदी-युग के आलोचकों के लिए जो कल्पित था वह अब मूर्त हो उठा है और स्वातंत्र्योत्तर साहित्य-समीक्षा (जिसकी मौलिक उपलब्धियाँ संप्रति पर्याप्त ही नहीं प्रचुर भी हैं) तेजी से उच्चतर भूमिकाओं की ओर अग्रसर हुई है।[1] अपनी विकास-प्रक्रिया में उसे पश्चिम से प्रभूत सहायता मिली है जो आधुनिक हिन्दी-आलोचना की एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण विशेषता है। यहाँ 'आधुनिक' शब्द का प्रयोग उस युग के लिए हुआ है जिसमें शुक्लजी की समीक्षा-कृतियों का अवतरण हुआ और जिसकी परिणति डॉ० नगेन्द्र के 'रस सिद्धांत' में हुई। हिन्दी समीक्षा में आधुनिकता की प्रतिष्ठा आचार्य शुक्ल ने ही की है वे ही हिन्दी-समीक्षा की आधुनिक परंपरा के प्रवर्त्तक हैं और आलोचना की स्वस्थ-गूढ़ एवं परिपक्व प्रवृत्तियों का विचार करते हुए उन्होंने ही समीक्षा के लिए अब तक दुर्लभ साहित्यिक पदावलियों का समुचित निर्माण किया है। उनके पूर्व रीतिकाल में उद्भूत हिन्दी की समीक्षात्मक कृतियाँ संस्कृत-साहित्य की गौरव परंपरा से अनुस्यूत हैं और उनमें मौलिक उद्भावनाओं के स्थान पर पूर्वोद्भासित सिद्धांतों एवं प्रवृत्तियों का ही समर्थन देखा जाता है। इसी प्रकार भारतेन्दु-युग में नवीन विचारों के साथ हिन्दी समीक्षा का सूत्रपात तो होता है परन्तु उसमें समुचित परिपक्वता नहीं आ पाती। आचार्य शुक्ल की समीक्षा में ही यह कुछ हद तक स्थापित हो सकी है और उसी में हम स्वदेशी विदेशी, प्राचीन-नवीन, प्राच्य प्रतीच्य का समुचित एकीकरण मिलता है। शुक्लजी ने

---

१ डा० देवराज, हिंदी आलोचना की अर्वाचीन प्रवृत्तियाँ (बम्बई), भूमिका पृ० १०।

आधुनिक समीक्षा पर पाश्चात्य प्रभाव का जो पुनरुद्धार होता है, उससे ही पश्चिमी समीक्षात्मक प्रतिमानों, पदावलियों एवं वादों की बाढ़ आ जाती है। यहाँ तक कि हिन्दी-आलोचना में आधुनिकता और नवीनता का जो द्वंद्व-संघर्ष चल रहा है उसके मूल में अँगरेजी के ही 'माडर्न' तथा 'न्यू' शब्द हैं जिनसे 'माडर्न क्रिटिसिज्म', 'माडर्न पोयट्री' तथा 'न्यू क्रिटिसिज्म', 'न्यू पोयट्री' जैसे प्रचलित साहित्यिक नाम बने हैं। निम्न है "कुछ कवि और लेखक आधुनिकता के नाम पर विदेशी विचार धाराओं तथा रचना-शैलियों को हिन्दी में रूपांतरित"[1] किए जा रहे हैं। समीक्षा-सम्बन्धी अनेकानेक पारिभाषिक तथा शास्त्रीय शब्द अँगरेजी से ले लिए गये हैं और परंपरागत भारतीय शब्दावली से हमारा सम्पर्क छूटता जा रहा है।[2] इन्हीं कारणों से इस प्रबंध में शुक्लजी तथा शुक्लोत्तर समीक्षा पर पड़नेवाले पाश्चात्य प्रभाव के विभिन्न महत्त्वपूर्ण पक्षों का आकलन का प्रयास किया गया है और शुक्लजी को ही आधुनिक हिन्दी-समीक्षा का युगप्रवर्तक माना गया है।

यों तो प्रस्तुत विषय तथा उससे संबद्ध विषयों पर अनेकानेक छोटे-मोटे स्फुट निबंध उपलब्ध हैं, किन्तु विषय को जिस प्रकार के सांगोपांग विवेचन की अपेक्षा है, वैसा सर्वांगपूर्ण और प्रामाणिक विवेचन अभी तक नहीं हुआ। हिन्दी उपन्यास, हिन्दी-काव्य, हिन्दी-नाटक पाश्चात्य प्रभावों के संदर्भ में आलोड़ित हो चुके हैं और हिन्दी भाषा तथा साहित्य पर पड़नेवाले अँगरेजी प्रभाव का भी सूक्ष्म पर्यवेक्षण हो चुका है।[3] परन्तु अधुनातन हिन्दी-समीक्षा जो पाश्चात्य तत्त्वों से संवलित एवं संपोषित है ऐसे वर्णवीक्षणीय विश्लेषण के लिए प्रयोगशाला में लायी नहीं गई और न इस पर शल्यकारों एवं चिकित्सा-अधिकारियों के तेज चाकू ही चले। आधुनिक हिन्दी-समीक्षा की वर्णसंकरता तथा अपमिश्रण का

---

१ नन्ददुलारे वाजपेयी, प्रकीर्णिका, पृ० ४२।

२ उपरिवत्, पृ० ५७।

३ द० डॉ० श्रीपति शर्मा, हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव (आगरा, १९६१), डा० रवीन्द्रसहाय वर्मा, हिन्दी काव्य पर आंग्ल प्रभाव (कानपुर, १९५४), डा० विश्वनाथ मिश्र, हिन्दी भाषा और साहित्य पर अँगरेजी प्रभाव (देहरादून, १९६३), डॉ० घमकिशोर लाल, अँगरेजी नाटकों का हिन्दी नाटकों पर प्रभाव (शोध-प्रबंध)।

[illegible] हो गया है। प्रस्तुत प्रबन्ध [illegible] की पूर्ति [illegible] है।

डॉ० [illegible] 'पाश्चात्य [illegible] और [illegible] उसका प्रभाव' [illegible] है जो [illegible] वर्माजी [illegible] अंग्रेजी [illegible] हिन्दी [illegible] प्रभावित हुआ है। [illegible] हिन्दी [illegible] पाश्चात्य [illegible] और हिन्दी पर उसका प्रभाव [illegible] हिन्दी आलोचना पर पाश्चात्य प्रभाव का अध्ययन है तब [illegible] उपर्युक्त शीर्षक बदल दिया गया। इससे यह स्पष्ट है कि वर्माजी और हमारे दृष्टिकोण में मौलिक अंतर है और हमने दो विभिन्न प्रकार से हिन्दी-आलोचना पर पाश्चात्य प्रभाव का आकलन किया है। प्रस्तुत प्रबन्ध में अध्ययन अपेक्षाकृत अधिक सर्वांगीण है और सब उपलब्ध सामग्री को अपने विवेचन में समाहित करता है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि वर्माजी का प्रबन्ध १९५२ में ही लिखा जा चुकी थी परंतु आलोचना अपना यथेष्ट नहीं लिया है और वह उपलब्ध साहित्यिक कृतियों से तुरत ही प्रभावित हो जाती है। अंग्रेजी और हिन्दी दोनों साहित्यों में इन दस वर्षों में नई-नई प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होने लगी हैं और विश्व-साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान बनानेवाले नये-नये ग्रंथ प्रणीत हुए हैं। अतएव डॉ० वर्मा के प्रबन्ध की अपनी सीमाएँ तो हैं ही आज वह अलग्राह्य भी हो गया है। प्रस्तुत प्रबन्ध में इस पूर्व स्थापित मान्यताओं पर पुनर्विचार तो हुआ ही है, अद्याधुनिक कृतियों के आधार पर नवीन स्थापनाएँ भी हुई हैं।

जिन अन्य समीक्षकों ने हिन्दी-समालोचना के विकास की विस्तृत प्रक्रिया में इस महत्त्वपूर्ण दिशा पर पड़नेवाले पाश्चात्य-पौरस्त्य प्रभावों का सम्यक् वर्णन और विश्लेषण किया है उनमें डॉ० भगवत्स्वरूप मिश्र, डॉ० रामदरश मिश्र, डॉ० वेंकट शर्मा, डॉ० शम्भुनाथ सिंह, एस० पी० खत्री, शिवदान सिंह चौहान, डॉ० प्रतापनारायण टंडन प्रभृति लेखक अग्रगण्य हैं। हिन्दी-समीक्षा के इतिहास ग्रन्थों ने कभी-कभी शोध-पथ को कुछ क्षणिक भाव-स्फुलिंगों से आलोकित अवश्य किया है, समुचित पथ-प्रदर्शन नहीं किया। अनेकानेक अधीत ग्रन्थों में डॉ० भगवत्स्वरूप मिश्र-कृत 'हिन्दी-आलोचना : उद्भव और विकास' (१९५२) एक महत्वपूर्ण अनुशीलन सिद्ध हुआ है, जिसमें शुक्लोत्तर समीक्षा और प्रगतिवादी समीक्षा पर अलग-अलग अध्याय समाहित हैं। आचार्य नन्ददुलारे

वाजपेयी द्वारा प्रशमित इस ग्रन्थ के प्राक्कथन में पाश्चात्य साहित्यालोचन की परंपरा तथा वैशिष्ट्य का वर्णन है,[1] इसमें पाश्चात्य तथा पौरस्त्य समीक्षा-परंपरा अत्यंत प्राचीन कही गई है, उन पाश्चात्य साहित्यालोचकों की अभ्यर्थना हुई है जिन्होंने अपनी समीक्षा-परंपरा का सुस्पष्ट विवरण प्रस्तुत किया है और अन्ततोगत्वा इस बात पर खेद प्रकट किया गया है कि भारतीय साहित्यालोचन की परंपरा का आधुनिक विद्वानों ने इतना सुंदर विवेचन नहीं किया। पाश्चात्य एवं प्राच्य परंपराओं के परस्पर भेद विभेद से अवगत प्रबुद्ध प्राक्कथन लेखक ने यह स्वीकार किया है कि पाश्चात्य समीक्षा ठीक उसी मार्ग पर नहीं चली, जिस पर भारतीय साहित्यालोचन चला है। फिर भी आज जब दोनों हमारे समक्ष हैं तब सहसा हम यह निर्णय नहीं कर पाते कि इन दोनों समीक्षा-परंपराओं में क्या अंतर है। इसके अभिज्ञान के लिए हम चाहिए कि हम पाश्चात्य तथा भारतीय साहित्य शास्त्र के संपूर्ण क्रम विकास को देखें। "तभी हम उनके संपूर्ण स्वरूप से अवगत हो सकेंगे और तभी भारतीय साहित्यालोचन के साथ पश्चिमी सिद्धांतों की समानता और असमानता का भी परिचय प्राप्त कर सकेंगे। आज के साहित्यिक विद्यार्थी के लिए यह आवश्यक है कि भारत और पश्चिम की साहित्य-समीक्षा का सर्वांग स्वरूप उसके समक्ष रहे।"[2]

"हिन्दी-आलोचना उद्भव और विकास" के विषयानुक्रम में जिन शीर्षकों का उल्लेख है उनमें यद्यपि ऐसा बोध नहीं होता कि मिश्रजी को भारतीय साहित्यालोचन के साथ पश्चिमी सिद्धांतों की समानता और असमानता का परिचय कराना भी अभीष्ट था। वस्तुतः हिन्दी-समीक्षा के उद्भव और विकास के विभिन्न पक्षों का वैज्ञानिक अनुशीलन विवेचन ही उनका ध्येय है और इसी कारण उन्होंने हिन्दी समीक्षा की उपलब्धियों पर जोर देते हुए भारतीय परंपरा के परिप्रेक्ष्य में उनकी मौलिकता का निदर्शन किया है। परन्तु उनकी पुस्तक में जहाँ-तहाँ हिंदी समीक्षा पर पड़नेवाले पाश्चात्य प्रभावों का भी बड़ा ही विशद विवेचन मिलता है। (स्वयं मिश्रजी के इस समीक्षा-ग्रंथ पर आंग्ल-समीक्षा का प्रभाव परिलक्षित होता है।) द्विवेदी काल में समीक्षा के स्वरूप-मुकुल के विकास में पश्चिम का जो योगदान है[3], उसका सामान्य वर्णन प्रस्तुत किया गया है। इसी

---

१ इसी प्राक्कथन का एक प्रमुख अंश १९६५ ई० में प्रकाशित 'प्रकीर्णिका' में 'भारतीय समीक्षा एवं सुझाव' नाम से अभिहित हुआ है।

२ हिंदी-आलोचना उद्भव और विकास, (देहरादून, १९६१), पृ० ९।

३ उपरिवत्, पृ० २६१।

प्रकार हिन्दी की गुणात्मक, सौष्ठववादी, सौन्दर्यान्वेषिणी, मनोविश्लेषणात्मक, मार्क्सवादी, परिस्थितिमूलक, ऐतिहासिक तथा अभिव्यंजनावादी आलोचना के विकास में योगदान[1] एवं अँगरेजी समीक्षा की जो देन है उसका भी उल्लेख है।[2] परन्तु मिश्रजी ने हिन्दी-समीक्षा की उपलब्धियों के आधार पर जितना बल दिया है, उतना उन पर पड़नेवाले बाह्य प्रभावों के आकलन अथवा विश्लेषण पर नहीं दिया। यद्यपि उनकी पुस्तक के उत्तरार्द्ध में दिये गए विषय विवेचन का इस प्रबंध से सीधा संबंध है, फिर भी मिश्रजी के और हमारे दृष्टिकोणों में अन्तर है, उनका मन्तव्य वह नहीं जो हमारा है। इसलिए एक ही विषय पर लिखते समय भी हमने दो विभिन्न प्रकार से विवेच्य सामग्री को उपस्थित किया है। जहाँ उनका ध्यान समीक्षा के इतिहास और विकास पर केन्द्रित रहा है वहाँ हमारा इस पर दृष्टिगत प्रभावों के ऊपर रहा है। जहाँ उन्होंने समीक्षा की विभिन्न शाखाओं और उपशाखाओं के उद्भव एवं विकास को ध्यान में रखते हुए तथ्य चयन किया है, वहाँ हमने हिन्दी-समीक्षा के विभिन्न रूपों और प्रकारों पर पाश्चात्य प्रभाव का विवेचन किया है। उनकी कार्य-पद्धति तत्त्वतः विवरणात्मक है हमारी अधिकाधिक तुलनात्मक। उनकी पद्धति है : 'आगे सौष्ठववादी समीक्षा के तत्त्वों का कुछ विशद विश्लेषण करेंगे,'[3] किंतु हम लिखते हैं : "आगे सौष्ठववादी समीक्षा के तत्त्वों पर पड़नेवाले पाश्चात्य प्रभावों का हम कुछ विशद विश्लेषण करेंगे।" उनके द्वारा किया गया वस्तु का प्रस्तुतीकरण परिचयात्मक अधिक है, जब कि प्रस्तुत प्रबंध अपेक्षया विश्लेषणात्मक अधिक है।

डा० वेंकट शर्मा का बृहत् शोध प्रबंध "आधुनिक हिन्दी साहित्य में समालोचना का विकास" (१९६२) निस्संदेह एक अत्यंत गंभीर, विद्वत्तापूर्ण और प्रामाणिक ग्रंथ है, जो डा० भगीरथ मिश्र के "काव्यशास्त्र का इतिहास" और डा० भगवत्स्वरूप मिश्र के 'हिन्दी आलोचना : उद्भव और विकास' आदि ग्रंथों से सर्वथा भिन्न और कई दृष्टियों से हिन्दी समालोचनागत विकास का विशद, सुशृंखल एवं सर्वोत्कृष्ट इतिहास है। शर्माजी ने युग की सामान्य प्रवृत्तियों के सर्वांगीण विवेचन के अतिरिक्त समालोचना की विशेष पद्धतियों का आकलन भी प्रस्तुत किया है। "समालोचना का विकास" में समीक्षित

१ हिन्दी आलोचना : उद्भव और विकास, पृ० ३२५–३२७।

२ उपरिवत्, पृ० ४२३, ४२८–४२९, ४३२–४३३, ४४६, ४७५–४७६, ४८५–५२०।

३ उपरिवत्, पृ० ४२३।

आलोचक प्राय ऐसे व्यक्ति हैं, जिनका युग निर्माता तथा पथ निर्देशक के रूप मे विशेष महत्त्व रहा है। "समालोचना के विकास-पथ की समस्याएँ" तथा 'उपलब्धियां और आवश्यकताएँ' शीर्षक अध्यायो मे मौलिकता और प्रगाढ वैदुष्य का सुंदर संयोग हुआ है। लेखक की यह मौलिक कृति हिन्दी-साहित्य के लिए कुछ ऐसी ही है, जैसी अँगरेजी मे क्लिन्थ ब्रुक्स तथा ऐटकिन्स की कृतियाँ। वस्तुत जहा ऐटकिन्स मे मूल आलोचनात्मक रचनाओ के सम्प्रेषण तथा उनमे अनुमान विचार-सामग्री के संकलन की अपूर्व क्षमता देखी जाती है, वहा शर्माजी मे आत्मोद्भूत निष्कर्षो तथा सर्वग्राह्य सिद्धान्तो के आधार पर साहित्य-समीक्षा करने की मौलिक प्रवृत्ति पायी जाती है। यह सर्वविदित है कि समसामयिक कवियो लेखको तथा समीक्षको की उपलब्धियो का यथोचित मूल्यांकन सभी नही कर सकते। सामयिको की कृतियो का मूल्याकन करते समय जब हम स्वभावत तरह-तरह के पूर्वाग्रहो एव प्रभावो से आक्रान्त रहते हैं, तब हमारी तथ्य-ग्राहिणी प्रज्ञा का लोप हो जाता है। शर्माजी ने अपने प्रतिमानो के औचित्य मे विश्वास रखकर डा० रामविलास शर्मा डा० लक्ष्मीनारायण सुधांशु, डा० रामकुमार वर्मा सरीखे कतिपय स्वप्रतिष्ठ एव सम्मान्य आलोचको की सारगर्भ समीक्षा प्रस्तुत की है। उनमे सत्समालोचक तथा समालोचना-साहित्य के वस्तुनिष्ठ इतिहासकार के लिए अपेक्षित गभीर जीवनानुभूति रस-ग्राहिता, व्यापक अध्ययन आदि गुण एक साथ ही समाहित हैं। परतु जहा शर्माजी का ध्यान समालोचना के विकास-पथ पर विशेष रूप से केन्द्रित है, वहा हमारा ध्यान विकास क्रम मे इस विधा पर पडनेवाले पश्चिमी विचारो और शैलियो के प्रभाव के अनुसधान पर अधिक है। जहाँ शर्माजी ने बडी ही परिपक्व और परिमार्जित शैली मे आलोचना के विकास एव प्रसार-काल का तत्त्वपूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया है, वहाँ हमने इस विकास एव प्रसार क्रम मे पाश्चात्य-साहित्य के महत्वपूर्ण योगदान का रूपाकन किया है। शर्माजी की तरह हमारी भी मूल धारणा यही रही है कि "आज की नव्यतम हिन्दी-समालोचना पश्चिमी वादो से प्रभावित होकर अपना बहुमुखी प्रसार कर सकी है।[१]

---

१ आधुनिक हिन्दी साहित्य मे समालोचना का विकास (दिल्ली, १९६२), प० (आत्मनिवेदन)। इसी ग्रथ के पृष्ठ "ठ" पर देखिए "आधुनिक हिन्दी साहित्य मे समालोचना का विकास जिन रूपो और प्रकारों मे हुआ है, उन पर भारतीय साहित्य शास्त्र की अपेक्षा पाश्चात्य साहित्य (विशेषत आंग्ल साहित्य) का प्रभाव अधिक है।" पुनश्च "आधुनिक युग-चेतना

किन्तु जहाँ शर्माजी का सम्बन्ध समालोचना के प्रवर्तन तथा संवर्धन काल से ही रहा है, वहाँ हमारा ध्यान सामान्यत इसके विकास तथा प्रसार-काल—शुक्ल तथा शुक्लोत्तर-युग पर केन्द्रित रहा है। इस प्रकार जहाँ शर्माजी ने विशिष्ट समीक्षकों पर अत्यन्त गंभीर, तथ्यपरक तथा अनुसंधानात्मक विवेचन प्रस्तुत किया है और जहाँ उन्होंने उनकी समीक्षा-पद्धति तथा आलोचनात्मक विचार बिन्दुओं पर ही अधिक जोर देते हुए उनका समुचित मूल्यांकन उपस्थित किया है वहाँ हमने हिन्दी-समीक्षकों के उसी पक्ष पर समीक्षात्मक दृष्टि डाली है जिस पर पाश्चात्य मान्यताओं के गंभीर और व्यापक प्रभाव दृष्टिगत होते हैं। इस प्रभाव के साहित्यिक महत्त्व एवं व्यापकता का सम्यक बोध केवल समीक्षा शास्त्र के मुख्य प्रतिनिधि लेखकों की रचनाओं के विश्लेषण से नहीं हो सकता। इसके लिए कतिपय ऐसे साहित्यकार भी परीक्षित होने चाहिए जिनमें भावयित्री और कारयित्री प्रतिभाओं का विलक्षण समाहार रहा है, परन्तु जिन्होंने अभी तक हिन्दी के सरस्वती का पद नहीं प्राप्त किया। इसी कारण नव्यतम साहित्यिक वादों के विवेचन के अन्तर्गत उन समीक्षकों के कृतित्व का विश्लेषण सर्वतोभावेन समीचीन जान पड़ता है, जिन पर पाश्चात्य प्रभाव के गंभीर और अमिट चिह्न दृष्टिगोचर होते हैं। डा० शर्मा के लिए 'सर्वज्ञता का दुंदुभि-नाद करनेवाले नवीन समालोचकों' का समीक्षा-क्षेत्र में भले ही कोई स्थान नहीं हो,[1] परन्तु प्रस्तुत शोध विषय से इन समीक्षकों का संबंध स्पष्ट है। फिर, शिवदानसिंह चौहान, अमृतराय, प्रभाकर माचवे, धर्मवीर भारती सरीखे समालोचकों का हिन्दी-समीक्षा की नव्यतम प्रवृत्तियों के उन्मेष में जो प्रामुख्य तथा योगदान है, वह सर्वथा स्मरणीय हो चुका है। अतः इन लेखकों का ऐसा शुष्क निरसन—ऐसा "कर्ट डिसमिसल"—और उनके प्रति ऐसा दृष्टिकोण शर्माजी की कृति को प्रस्तुत शोध प्रबंध से भिन्नता प्रदान करता है —

> साहित्यकार बनने की धुन में हमारे समालोचक बड़े उत्साहपूर्ण शब्दों में अपनी सर्वज्ञता का दुंदुभि-नाद भी करते हैं किन्तु उनकी

के निर्माण में पश्चिमी साहित्य और यूरोपीय सम्पर्क का भी बहुत हाथ है, अतः उनका हमारे साहित्यालोचन पर प्रभाव न पड़े, यह कदाचित असम्भव-सा है।" (पृ० ८०) पुनरपि "आधुनिक हिंदी-समालोचना के विकास-क्रम में अंग्रेजी भाषा-साहित्य के माध्यम से उपलब्ध पाश्चात्य साहित्यालोचन एक प्रमुख स्रोत के रूप में अधिष्ठित है।" (पृ० ११६)।

१ आधुनिक हिंदी साहित्य में समालोचना का विकास, पृ० ४६४।

समीक्षा-क्षेत्र में विशेष उपलब्धि न होने के कारण उनको मैंने विशेष महत्त्व नहीं दिया है। वैसे शिवदानसिंह चौहान, अमृतराय, अचल, प्रभाकर माचवे, धर्मवीर भारती, प्रेमनारायण टंडन आदि नवीन समालोचक पत्र-पत्रिकाओं में यदा-कदा अपनी विचार धाराओं में अभिनव उन्मेष करने का प्रयास भी करते रहते हैं, किंतु जब तक उनमें कोई विशेष परिपक्वता न मिले, उनका विवेचन सम्मानार्ह नहीं कहा जा सकता। डा० विनयमोहन शर्मा, नलिन विलोचन शर्मा और डा० देवराज के समीक्षात्मक निबंध प्रसार-काल के इतर समालोचकों की समता में अधिक संयमित और विवेकपूर्ण हैं।[1]

ध्यातव्य है कि न तो परिपक्वता की कसौटी पर प्रकाश डाला गया है, न उपर्युक्त कथन का स्पष्टीकरण ही हुआ और न निष्कर्ष को प्रामाणिकता प्रदान करने के लिए तर्क वितर्क ही प्रस्तुत किए गए हैं। नवीन समालोचक—नवलेखन के प्रतिनिधि समीक्षक—'पत्र-पत्रिकाओं में यदा-कदा अपनी विचार-धाराओं में अभिनव उन्मेष करने का प्रयास" ही नहीं करते, उन्होंने अभिनव मान्यताओं की उद्भावना भी की है।[2] ऐसा जान पड़ता है कि "अन्यान्य आलोचक" तक आते-आते शर्माजी का अनुसंधानगत उत्साह परिप्लवित हो चुका है और वे पुस्तक के समापन के लिए अधीर हो उठे हैं, अन्यथा वे नलिन जी तथा डा० देवराज जैसे समीक्षकों का इस प्रकार कुछ शब्दों में ही मूल्यांकित नहीं कर लेते। और फिर, "अभिनव" के प्रति नैराश्यपूर्ण दृष्टिकोण क्यों ? नवीन साहित्य चेतना से आंदोलित नये आलोचक प्राचीन परंपराओं से प्रभावित होकर ही संतुष्ट नहीं हो सकते। इस कारण उनकी नव्यतर समीक्षा प्रणालियाँ, नए दृष्टिकोण और उनकी नव्य अनुभूतियाँ कुछ समीक्षकों के लिए विस्मय का

---

१ आधुनिक हिंदी-साहित्य में समालोचना का विकास (दिल्ली, १९६२), पृ० ४६४।

२ नवलेखन का "बुनियादी दर्शन" है "अनुभववाद"। "अनुभवशीलता से कई मान्यताओं की स्वाभाविक रूप से उद्भावना हुई है। अब उदात्त की बात नहीं रही, भव्य और दिव्य का जादू टूट गया और सौंदर्य की लोकोत्तर कल्पना निष्प्रभ हो गयी। जो कुछ छुआ और पकड़ा जा सकता है, जो चुभ सकता है और गुदगुदी पैदा कर सकता है, वह रंगीन हो या मटमैला, गोरा या काला, साहित्य के लिए विषय हो गया। अनुभव के विषय का यथावत चित्रण क्रांतिकारी महत्त्व की घटना है।" माध्यम, मार्च १९६५, पृ० ५।

जाता रहा है। बदलती हुई परिस्थितियों और जीवन की नई उभरती हुई मान्यताओं की अभिव्यक्ति करने के लिए "नई-नई साहित्यिक विधाओं की सृष्टि हुई है" और इन अभिनव विधाओं के समीक्षण के लिए समीक्षा के नये सिद्धान्त नई प्रणालियाँ उद्भूत हुई हैं।

'आलोचना : इतिहास तथा सिद्धान्त' (द्वि० सं० १९५४) अंग्रेजी भाषा में प्रकाशित एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक है जिसमें विभिन्न आलोचना प्रणालियों तथा समीक्षा-शास्त्र के मूल तत्त्वों का अत्यन्त सूक्ष्म और विशद विवेचन किया गया है। इसमें हिन्दी समालोचना-सम्प्रदायों और उनके प्रभावों का भी क्रमानुसार ज्ञान प्रस्तुत किया गया है पर हिन्दी समीक्षा पर पड़े पाश्चात्य प्रभाव के संबंध में नहीं लिखा गया है। प्रबुद्ध लेखक-द्वय[2] ने इसमें पाश्चात्य आलोचना के इतिहास तथा उसके सिद्धान्तों का विशद विवरण प्रस्तुत करते हुए हिन्दी-आलोचकों के आगे विभिन्न विषयों से सम्बद्ध सिद्धान्तादि वर्णित किए हैं। इस पुस्तक का संबंध सिद्धांत तथा इतिहास से है न कि प्रभावों के आकलन और अनुसंधान से। सर्वप्रथम इसमें प्राचीन पाश्चात्य आलोचना-शास्त्र का विभाजन करते हुए पश्चात् यूनानियों की आलोचनात्मक प्रतिभा, यूनानी साहित्यालोचन के उन्मेष और कालान्तर से उसके ह्रास तथा रोमीय साहित्य-रचना की प्रवृत्तियों का संक्षिप्त किन्तु तथ्यपरक वर्णन उपस्थित किया गया है। तदुपरान्त प्राचीन पाश्चात्य आलोचना सिद्धांतों के उद्भव का वर्णन किया गया है जिसके बाद पाश्चात्य समीक्षा की पृष्ठभूमि में काव्य के प्रेरणा के महत्त्व, कवि धर्म तथा काव्यादर्श, मूल-तत्त्वों के अनुसंधान आदि का सम्यक् निरूपण प्रस्तुत है। प्रथम खंड के तीसरे अध्याय में अफलातून और अरस्तू द्वारा वर्णित आलोचना सिद्धांतों का विवरण और चौथे में भाषण-कला के तत्त्वादि तथा गद्य-शैली के विकास की विवेचना उपस्थित है। इसी प्रकार पाँचवें अध्याय में विवेचित विषय पाश्चात्य भाषण-शास्त्र, आलोचना-शैली, काव्य के विभिन्न तत्त्व, लांगिनुस (लांजाइनस या लोंजाइनस) के सिद्धांत, आलोचना के नवोत्थान आदि से सम्बद्ध हैं। छठे अध्याय में भारतीय रस-शास्त्र, नाटय-शास्त्र, गुण तथा रीति-सम्प्रदायों की स्थापना इत्यादि का उल्लेख है। इस अध्याय के अंत में—उपसंहार में—ढाई पृष्ठों की एक तुलनात्मक समीक्षा प्रस्तुत की गई है जिसमें कहा गया है —

---

१ आलोचना, अप्रल १९५२, पृ० २७, माध्यम, मई १९६५, पृ० १२८–१३२।
२ एस० पी० खत्री और शिवदानसिंह चौहान।

संस्कृत-साहित्य के एक हजार वर्ष के अन्तर्गत निर्मित साहित्य सिद्धांतों तथा आलोचनात्मक अनुसंधानों की तुलनात्मक समीक्षा यदि अंग्रेजी साहित्य सिद्धांतों तथा आलोचनात्मक विचारों से की जाय तो बहुत कुछ अंशों में दोनों साहित्यों के अनुसंधान में अपूर्व साम्य दिखलाई देगा। जिन जिन प्रश्नों के हल ढूढने में संस्कृत-साहित्यकार संलग्न हुए, प्रायः वैसे ही प्रश्न अंग्रेजी साहित्यकारों ने भी उठाये और उनका हल ढूढने का प्रयत्न किया। इस अनुसंधान में जिस विवेचनात्मक शक्ति का परिचय संस्कृत-साहित्यकारों ने दिया, उतनी ही विश्लेषणात्मक शक्ति तथा साहित्यिक सूझ का प्रयोग अंग्रेजी साहित्यकारों ने भी किया। हाँ, अंतर केवल इतना है कि जहाँ अंग्रेजी साहित्य का आलोचनात्मक अनुसंधान बीसवीं शती तक अविरल गति से होता आया, संस्कृत का आलोचनात्मक प्रवाह प्रायः एक हजार वर्ष के अन्तर्गत ही समाप्त हुआ और तत्पश्चात् उसका स्रोत सूखता चला गया।[१]

स्पष्ट है कि अँगरेजी समीक्षा तथा भारतीय काव्य शास्त्र में यद्यपि "अपूर्व साम्य" दिखलाई देता है फिर भी इनके सिद्धांतों के तुलनात्मक अनुशीलन में प्रभाव का प्रश्न ही नहीं उठता। "आलोचना : इतिहास तथा सिद्धांत" के लेखक-द्वय ने भारतीय तथा यूनानी साहित्यकारों एवं दार्शनिकों की चिंतनधाराओं में अंतर दिखलाते हुए कहा है —

> जहाँ वाल्मीकि काव्य के मूल स्रोत को पहचानने में संलग्न हुए, वहाँ यूनानी महाकाव्यकार आलोचनात्मक विचारों की नींव डालने लगे और काव्य की रूप्य-संबंधी समस्याओं पर यथाशक्ति विचार प्रदर्शन करने लगे। इन्हीं दोनों कवियों ने काव्य के ध्येय के विषय में चिंतन करते हुए आनन्द प्रदान तथा शिक्षा प्रदान, दो विभिन्न विचार-धाराओं को प्रवाहित किया। जहाँ संस्कृत के कवि ने काव्य की आत्मा में कारुण्य का प्रकाश देखा, वहाँ पश्चिमी साहित्यकार ने काव्य के प्रभाव तथा उस प्रभाव के कारण को ही अपने सम्मुख विचारार्थ रखा।[२]

---

१ आलोचना : इतिहास तथा सिद्धांत (राजकमल प्रकाशन १९६४) पृ० १५०।

२ उपरिवत्, पृ० १५१।

एम० पी० शर्मा और निरुपनीय दीक्षित की इस पुस्तक में भारतीय
भारतीय समीक्षा के इतिहास तथा सिद्धान्तों का स्पष्टात्मक मुख्य अनुशासन
है। इसलिए प्रथम खण्ड में शास्त्र अध्याय में संस्कृत की इतिहास-कथा फिर
पश्चिम में ग्रीक पुनर्जागरण में आरम्भ होकर नव शास्त्रीय तक विकास चलता
रहा है। लेखक का पश्चिम विश्व और व्यापक है पुस्तक में विविध समीक्षा
का स्वरूप समूह यूरोपीय भूमिका को समाहित करता है और यहाँ-वहाँ
इसके अनुशीलन में ऐसा प्रतीत होता है कि इसके लेखकों का ध्यान कुछ ऐसा
भी रहा है जैसा कि यत्र- तत्र कुछ प्रमाणित पाश्चात्य आलोचकों का।
वस्तुतः आलोचना के इस इतिहास में पाश्चात्य तत्त्वों का ही आधिक्य है और
इससे पाश्चात्य समीक्षा के सिद्धान्तों का बस ही संख्यामूली तथ्य विस्तार निरूपण
उपलब्ध हो सकता है। ऐसा मूल्यांकन-युक्त समीक्षा के बाद इतिहास से। जब
इस प्रकार की उक्तियाँ हमारे सामने आती हैं—

'उस समय की सबसे अधिक प्रचलित और लोकप्रिय आलोचना-
प्रणाली को हम शास्त्रीय आलोचना प्रणाली कह सकते हैं (पृ० ६५)
शब्द-चयन तथा वाक्य विन्यास में भी ध्यान तथा यत्न का संतुलन
रखना चाहिए (पृ० ७३)
श्रेष्ठ शैली साधारण शब्दों में नवीनता ला देगी (पृ० ८५)
शैली का वर्गीकरण भी प्राचीन पद्धति के अनुसार ही हुआ ,
(पृ० ८७)
सामान्य शैली का प्रमुख ध्येय है स्पष्टता तथा सरलता
(पृ० १०७)
'उच्च विचारों के लिए तो यों भी उदात्त शैली की आवश्यकता है
(पृ० ११०)
सत्रहवीं शती के प्रथम चरण में नवस्फूर्ति के दर्शन हुए
(पृ० १७६)
नाटक क्षेत्र में प्राचीन नियमों की अपेक्षा नवीन कला का आश्रय
लिया गया (पृ० १८०)
कवि-धर्म तथा काव्यालोचन के अतिरिक्त निर्णयात्मक आलोचना-
क्षेत्र में अनेक विशिष्ट विचार प्रस्तुत किए गए । (पृ० २२८)
तब मन में सहसा यह प्रश्न उठता है कि क्या इनका संबंध भारतीय समीक्षा
से है अथवा पाश्चात्य समीक्षा से। उत्तर स्पष्ट है ये सारे के सारे विवेचन
पाश्चात्य समीक्षा से संबद्ध हैं न कि भारतीय साहित्यालोचन से। पुस्तक के

"सिद्धांत' शीर्षक द्वितीय खंड में भी पाश्चात्य सिद्धांत ही विशद रूप से परीक्षित हुए हैं। इसमें भी ग्रहण के प्रति अत्यधिक उदार हिंदी के आधुनिक समीक्षकों पर पाश्चात्य प्रभाव का विवेचन नहीं है।

प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा द्वारा संपादित "छायावाद और प्रगतिवाद' (१८५०), डा० गोविंद त्रिगुणायत-विरचित "शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धांत", डा० देवीशंकर अवस्थी की सैद्धान्तिक और व्यावहारिक समीक्षाओं का संकलन "आलोचना और आलोचना" (१८६१'), श्री रामप्रसाद द्विवेदी रचित "प्रगतिवादी समीक्षा' (१९६४), डा० प्रतापनारायण टंडन का शोध प्रबंध "समीक्षा के मान और हिन्दी-समीक्षा की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ" (१८६५), आदि ग्रंथों में प्रचुर उपयोगी सामग्री सन्निहित है, परन्तु इन सब ग्रंथों के स्रष्टा तथा प्रस्तुत प्रबंध के लेखक के दृष्टिकोण और गंतव्य में सादृश्य न होने के कारण इन ग्रंथों से यह प्रबंध सर्वथा भिन्न है। डा० आनंदप्रकाश दीक्षित लिखित "रस सिद्धांत स्वरूप-विश्लेषण" (१८६०), डा० सुरेंद्र बारलिंगे की "सौंदर्य-तत्त्व और काव्य-सिद्धांत १८६३), डा० राममूर्ति त्रिपाठी की "रस-विमर्श' (१८६५) डा० कृष्ण देवझारी-कृत 'रसशास्त्र और साहित्य-समीक्षा" (१८६५) तथा डा० सच्चिदानंद चौधरी-विरचित 'हिंदी काव्य शास्त्र में रस सिद्धांत" (१८६५) जैसी पुस्तकों और इस प्रबंध में कोई साम्य नहीं है। प्रबंधान्त में संकलित सहायक ग्रन्थों की अनुक्रमणी तथा आद्यंत प्रयुक्त पाद-टिप्पणियों से उन अन्यान्य ग्रंथों और निबंधों का परिचय मिलेगा, जिनसे हमने समुचित संकेत या अपने विचारों के स्पष्टीकरण के लिए उद्धरण लिये हैं। इनमें 'आलोचना, "माध्यम "कल्पना' पारूल" "अवंतिका', "दृष्टिकोण, "साहित्य', 'प्रतीक" आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित कितने ही निबंधों का हमारे विषय से सीधा संबंध है और उन्होंने यदा-कदा मेरी चिंतन शक्ति का प्रोत्तेजन भी किया है। इस कारण छोटे घने निबंधों के वाक्यों का हमने सूत्रवत प्रयोग और उनके पल्लवन का प्रयास किया है। डा० नगेन्द्र तथा आचार्य नंददुलारे बाजपेयी की कतिपय रचनाओं में आधुनिक हिन्दी-समीक्षा पर पाश्चात्य प्रभाव का बड़ा ही सूक्ष्म रोचक और विद्वत्तापूर्ण विश्लेषण मिलता है। बाजपेयी जी की लोकप्रिय पुस्तकों 'आधुनिक साहित्य" तथा "नया साहित्य नए प्रश्न' में मेरे विषय से संबद्ध कई ऐसे महत्त्वपूर्ण संकेतों का विनियोग मिलता है जिनकी व्याख्या की अपेक्षा थी। उनकी अन्यान्य कृतियों में 'प्रकीर्णिका" भी अत्यंत उपयोगी सिद्ध हुई है परंतु इसमें इस प्रबंध के विषय का वैसा विस्तीर्ण और सर्वांगीण प्रतिपादन नहीं हुआ जैसा इस शोध-ग्रंथ में हुआ है। 'प्रकीर्णिका'

के दो निबंध, "भारतीय और पश्चिमी समीक्षा समानता और भिन्नता" तथा "हिन्दी-साहित्य पाश्चात्य प्रभाव', उपयोगी किंतु अत्यंत संक्षिप्त तथा सुसहृत है। डा० नगेन्द्र के "भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र" शीर्षक निबंध[1] के संबंध में कुछ ऐसी ही बात कही जा सकती है यद्यपि डा० नगेन्द्र का विवेचन अपेक्षया अधिक प्राजल समीक्षात्मक और रसोत्सिक्त है।

अन्य समीक्षकों में जिन्होंने हमारे विषय पर, या इससे संबद्ध विषयों पर उपयोगी तत्वों और उपकरणों का संकलन किया है शचीरानी गुर्टू ("हिंदी के आलोचक'[2], 'वचारिकी"), डा० रघुवंश (साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य"), डा० लक्ष्मीकांत वर्मा ('नये प्रतिमान पुराने निकष), डा० देवराज ("प्रतिक्रियाएँ') आदि उल्लेखनीय हैं। इनकी रचनाओं में या इनके द्वारा संपादित ग्रन्थों में छिट-पुट ऐसे अनेक निबंध मिलते हैं जो प्रस्तुत प्रबंध के विषय पर कुछ प्रकाश तो डालते हैं पर उसे केन्द्रित नहीं करते थोड़ा बहुत लिखकर अन्य विषयों पर उतर आते हैं। इसी प्रकार साहित्य के अधुनातन इतिहासकारों ने इस विषय का विवेचन तो किया है, परंतु लक्ष्यांतर के कारण उनकी रचनाएँ मौलिक एवं प्रयोज्य होकर भी इस प्रबंध से सर्वथा भिन्न हैं। डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय विरचित "आधुनिक हिंदी साहित्य" (१८४१), आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का सूक्ष्म सिंहावलोकन हिन्दी का सामयिक साहित्य" (१८५१) डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी-कृत "हिंदी साहित्य' (१८५२) शीर्षक ग्रन्थ जिसमें स्वतंत्र व्यक्तित्व स्वकीय दृष्टिकोण एवं प्रकांड वदुष्य पर आधृत विवेचन का स्तर बहुत ऊंचा है और डा० रामरतन भटनागर के आलोचनात्मक अध्ययन हिंदी साहित्य" (१८४८) और अध्ययन और आलोचना (१८५७) प्रस्तुत शोध के संदर्भ में इन्हीं रचनाओं में परिगणित होंगे। श्री लीलाधर गुप्त-रचित 'पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धांत (१८५२) डा० प्रभाकर माचवे-कृत 'समीक्षा की समीक्षा" (१८५३), नारायणप्रसाद चौबे द्वारा प्रणीत डा० नगेन्द्र के आलोचना सिद्धांत" (१८६२) डा० रामअवध द्विवेदी-रचित 'साहित्य-सिद्धांत' (१८६३) भगीरथ दीक्षित रचित समीक्षालोक' (१८६४) डा० रणवीर रांग्रा द्वारा संपादित डा० नगेन्द्र व्यक्तित्व और कृतित्व' (१८६५), डा० कुमार विमल द्वारा लिखित शोध-

---

१ विचार और विवेचन (दिल्ली, १९६४), पृ० १-१७।
२ 'नाम और कलेवर से आलोचित होते हुए भी सामग्री की दृष्टि से, यह ग्रंथ "निराशाजनक" है। साहित्य, मई-जून १९५५, पृ० ५।

प्रबंध "काव्य एवं अन्य ललित कलाओं के प्रमुख तत्वों का सौंदयशास्त्रीय अध्ययन छायावादी कविता के संदर्भ में", तथा आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित "काव्यशास्त्र भारतीय और पाश्चात्य काव्य सिद्धांतों का विवेचन" (पंडित जगन्नाथ तिवारी अभिनंदन-ग्रंथ, १९६६), तथा अन्यान्य प्रकाशित-अप्रकाशित ग्रंथ भी अत्यंत उपादेय सिद्ध हुए हैं परंतु उनमें इस शोध-विषय का यत्र-तत्र अनियमित प्रतिपादन हुआ है और जहाँ उनमें विवेचन परोक्ष और आकस्मिक है, वहाँ इस प्रबंध में प्रत्यक्ष तथा नियमित। शिवदान सिंह चौहान की 'आलोचना के सिद्धांत" (१९६०) नामक पुस्तक के द्वितीय खंड में पाश्चात्य आलोचना के विकास का परिपक्व विश्लेषण है परंतु इस आलोचना के प्रभाव का नहीं। इसी लेखक की एक अन्य कृति 'हिंदी-साहित्य के अस्सी वर्ष', जिसमें कुछ नव्यतर तथा अत्यन्त भावोद्बोधक विचार-धाराओं का उल्लेख है 'आलोचना का विकास' शीर्षक अध्याय प्रस्तुत करती है जिसका संबंध हमारे इस प्रबंध के विषय से कदापि नहीं। राजकमल प्रकाशन द्वारा एकनीहन और संगहीन मूल्यांकन माला की दो अन्यतम कड़ियाँ "हिन्दी आलोचना की अर्वाचीन प्रवत्तियाँ" तथा "पाश्चात्य आलोचना की अर्वाचीन प्रवत्तियाँ" नाम से अभिहित हैं। इन दोनों में प्रचुर आलोचनात्मक सामग्री का समाहरण है परंतु पाश्चात्य — पौरस्त्य प्रवत्तियों के आदान प्रदान से इनका संबंध नहीं। "हिंदी साहित्य का वृहत् इतिहास" (त्रयोदश भाग) के चतुर्थ और पंचम खंड में हिंदी-समीक्षा के अद्यतन प्रतिमानों, नव्यतर प्रणालियों और विचार-सरणियों तथा इसमें अन्तर्व्याप्त पाश्चात्य प्रभावों का क्रमबद्ध विवेचन प्रस्तुत किया गया है। किंतु जहाँ इतिहासकारों ने आधुनिक समालोचना के बहुपथीन विकास पर ध्यान दिया है और जहाँ उनकी भूमिका अत्यंत व्यापक एवं परिस्तृत है, वहाँ हमारा ध्यान हिन्दी-समीक्षा पर पड़नेवाले पाश्चात्य प्रभावों पर ही एकत्रीभूत है।

बलदेव उपाध्याय-विरचित "भारतीय-साहित्यशास्त्र (१९५०) में पाश्चात्य एवं प्राच्य काव्यशास्त्रों का न तो संश्लिष्ट विवेचन मिलता है और न एक-दूसरे के प्रभावों का वर्णन ही। डा० भगीरथ मिश्र के 'काव्यशास्त्र (द्वितीय संस्करण १९६३) के संबंध में भी यही बात कही जा सकती है किंतु उसमें भी उपयोगी एवं प्रामाणिक तथ्यों का निरूपण हुआ है। इसी प्रकार यद्यपि डा० रामाधार शर्मा विरचित 'हिंदी की सैद्धान्तिक समीक्षा' (१९६२) समग्रतः एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शोधग्रंथ है जिससे प्रस्तुत प्रबंध के प्रणयन में प्रभूत सहायता मिली है फिर भी शर्माजी के ग्रंथ में, जैसा उसके नाम से ही

स्पष्ट है, न तो व्यावहारिक समीक्षा का विवेचन हुआ है न हिंदी की सैद्धांतिक समीक्षा पर पाश्चात्य प्रभावों का ही। शर्माजी का ग्रन्थ एटकिन्स की पद्धति पर प्रस्तुत किया गया हिन्दी के गणनीय समीक्षकों के आलोचनात्मक सिद्धांतों का सुष्ठु संकलन है, जिसे डा० सुरेशचन्द्र-विरचित "आधुनिक हिंदी-कवियों के काव्य सिद्धांत" (१९६०) के पूरक-ग्रंथ के रूप में सत्कृत होना चाहिए। गुप्तजी और शर्माजी के ग्रंथ मिलकर हिंदी-कवियों और समीक्षकों के समस्त काव्य एवं आलोचना सिद्धांतों का संग्रह तथा विवेचन उपस्थित कर देते हैं।

हिंदी-आलोचना पर पाश्चात्य प्रभाव के निदर्शन से संबद्ध अनेकानेक ग्रंथों के इस संक्षिप्त विवेचन से स्पष्ट है कि इस विषय पर एक प्रामाणिक एवं अद्यतन प्रबंध की अपेक्षा बनी रह गई थी। इसी की पूर्ति के निमित्त यह ग्रंथ प्रस्तुत किया जा रहा है। इसमें आधुनिक हिंदी-आलोचकों पर पाश्चात्य प्रभाव का निदर्शन तो हुआ ही है, उनकी समीक्षागत उपलब्धियों के वस्तुनिष्ठ एवं तटस्थ मूल्यांकन का प्रयास भी किया गया है।

यद्यपि प्रस्तुत प्रबंध का मूल केंद्र है समीक्षा पर विभिन्न पाश्चात्य प्रभावों का आकलन एवं प्रस्तुतीकरण, फिर भी हिंदी-समीक्षा का ऐतिहासिक सर्वेक्षण प्रस्तुत किए बिना प्रभावों का वर्णन असंगत प्रतीत हुआ। इसलिए प्रथम अध्याय में हिंदी समीक्षा साहित्य का संक्षिप्त ऐतिहासिक सर्वेक्षण उपस्थित किया गया है। इसी प्रकार द्वितीय अध्याय में पाश्चात्य समीक्षा का क्रमबद्ध विवरण इस उद्देश्य से उपस्थित किया गया है कि जब तक इस समीक्षा की परंपराओं और वादों की आधारभूमि का ठीक-ठीक परिचय न होगा, तब तक हम उनके प्रभावों के सम्यक् आकलन एवं विश्लेषण में असमर्थ होंगे। भारतीय एवं पाश्चात्य सिद्धांतों और वादों पर विचार करते समय इस बात की चेष्टा की गई है कि केवल उन्हीं विचारधाराओं का विवेचन किया जाय जिनके अनुशीलन से प्रमाता को वह व्यापक परिप्रेक्ष्य प्राप्त हो सके जो प्रस्तुत प्रबंध में विवेचित समीक्षकों के मूल्यांकन के लिए अपेक्षित है। तृतीय और चतुर्थ अध्यायों में हिंदी के मूर्द्धन्य आलोचकों की सैद्धांतिक आलोचना पर पाश्चात्य प्रभाव का सांगोपांग विवेचन और विश्लेषण प्रस्तुत है। पंचम अध्याय में हिंदी के छायावादी, प्रगतिवादी एवं प्रयोगवादी कवियों की समीक्षात्मक रचनाओं पर पाश्चात्य प्रभाव का आकलन है। प्रबंध के अंतिम दो अध्यायों में क्रमशः हिंदी की व्यावहारिक आलोचना और हिंदी-नाट्यालोचन पर पाश्चात्य प्रभाव का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। प्रस्तुत प्रबंध में विवेच्य समीक्षकों की कृतियों से पुष्कल उद्धरण लेकर उनकी प्रच्छन्न और अन्तर्भूत 'पाश्चात्यता' का विवेचन भी हुआ है। विषय के प्रति

सम्यक् न्याय की दृष्टि से हर प्रकार की कृतियों को लिया गया है और यथास्थान उनकी यथाम्प आलोचना भी की गई है।

पाश्चात्य लेखकों के लम्बे-लम्बे उद्धरण रोमन लिपि में और छोटे-छोटे वाक्यादि नागरी अक्षरों में दिए गए हैं। विवेच्य आलोचकों का पौर्वापर्य, सामान्यत, अवस्था क्रम से रखा गया है। इसमें सुविधा तो है ही, इससे उनके आपेक्षिक महत्त्व पर कुछ आघात भी नहीं होता।

१

हिन्दी-आलोचना-साहित्य का ऐतिहासिक सर्वेक्षण

"साहित्य शास्त्र की मौलिकता का अर्थ नवीन सिद्धांतों अथवा तथ्यों की उद्भावना या आविष्कार नहीं है। यहां मौलिकता से अभिप्राय विवेचन की मौलिकता का ही है।"

—डा० नगेन्द्र, विचार और विवेचन, पृ० ८२

विश्व के सभी साहित्यों के समान हिन्दी में भी समालोचना का उद्भव सृजनात्मक कृतियों के साथ ही मानना चाहिए। प्रायः देखा जाता है कि आरम्भिक सृजनात्मक लेखक अपनी कृतियों में शास्त्र की भी चर्चा करते हैं, जो बिल्कुल स्वाभाविक है क्योंकि साहित्यकार की चेतना में जब साहित्य का जन्म होता रहता है तब शास्त्र भी वहां विद्यमान रहता है। इतना ही नहीं, विश्व के प्रत्येक महान और निष्णात कवि में काव्यांगों के प्रति गम्भीर रुचि और काव्य शास्त्र का प्रभूत ज्ञान देखा जाता है। उसकी काव्य-संबंधी निश्चित धारणाएँ होती हैं, जिनका प्रतिबिंबन उसकी सृजनात्मक रचनाओं में होता है। छंद, अलंकार आदि को वह भावों के उत्कर्ष में सहायक मात्र भले ही समझे,[1] पर पिंगल और अलंकार का ज्ञान उसकी कवित्व-सम्पदा के लिए आवश्यक माना

---

१ उदाहरणार्थ—सूफी कवियों को "भावों और विचारों को व्यक्त करने का सबसे अधिक ध्यान था और छंद, अलंकार आदि भावों के उत्कर्ष में सहायक मात्र समझे गए थे ।। प्रेममार्गी कवियों ने शब्दालंकारों पर बहुत ही कम ध्यान दिया है—प्रायः कुछ भी नहीं। उनकी यह निरपेक्षता खटकने की सीमा तक पहुँच जाती है। परंतु इसकी कमी अर्थालंकारों में पूरी करने की चेष्टा की गई है, जो सफल भी हुई है। इन कवियों ने सादृश्यमूलक

गया है। और उसकी अन्तर्भेदिनी दृष्टि यह जानती है कि उसके श्रोता और प्रमाता किस प्रकार रसमग्न किए जा सकते हैं। आनुन्दवि भी इस सिद्धान्त के अपवाद नहा होते उनके भी व काव्य विषयक मत उनकी रसदीप्त कविताओं में स्थापित होते हैं जो या तो कवि की निजी अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षम प्रतिभा पर आधृत होते हैं, या प्राग्भूत और सामयिक कृतियों के अनुशीलन पर अथवा कभी-कभी प्रतिभा और अध्ययन दोनों पर।

आलोचना साहित्य की एक स्वतन्त्र विधा भी है जिसकी रचना काव्य-स्रष्टा ही नहीं, काव्य के सुधी ममज्ञ अध्येता भी करते हैं। कवि और प्रमाता जब साहित्य-सबधी अपने विचारों की यथावत अभिव्यजना करते हैं तभी सच्चा समालोचना' का अवतरण होता है। हिन्दी म एसी आलोचना का प्रणयन सवप्रथम कब हुआ यह विश्वस्त रूप से नहा कहा जा सकता परन्तु शिवसिंह सरोज मिश्रबधु विनोद' तथा हिन्दी-साहित्य का इतिहास' म पुड अथवा पुष्प का नाम लिया गया है। सामग्री की अनुपलब्धता के कारण हम इसके सबध म कुछ नहीं कह सकते किन्तु इतना जानते हैं कि तद्युगीन कवियों न अपनी रचनाओं म ही प्रसगानुकूल अपने काव्य विषयक विविध मत समाविष्ट किये और काव्य-स्वरूप तथा काव्य प्रयोजन आदि के सबध म कतिपय सक्षिप्त एव साकेतिक उक्तियाँ उपस्थित की। भक्तिकालीन साहित्यकारों ने सवप्रथम आलोचना को सामान्य स्तर पर उतारते हुए इसके सद्धान्तिक एव व्यावहारिक दोनों क्षेत्रों म काय किया। सवत १५९८ म प्रणीत कृपाराम विरचित हिततरगिणी' म एक ओर तो भरत मुनि के नाट्य शास्त्र के आधार पर रस निरूपण मिलता है और दूसरी ओर "नाट्य शास्त्र तथा भानुदत्त की रस-मजरी' के आधार पर नायिका भेद की चर्चा की गई है। इसम पूववर्ती काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों की रचना के कुछ सकेत अवश्य प्राप्त होते है किन्तु इनम एक भी ग्रन्थ प्रकाश म नहा आया। कृपाराम के पश्चात भक्तिकाल म ही सवत १६०७ म सूरदास द्वारा साहित्य लहरी' नामक रस रीति विषयक ग्रन्थ का प्रणयन हुआ। सत्रहवी शती के प्रारम्भ म नन्ददास ने भानुदत्त की रस-मजरी' के आधार पर अपनी नायिका भेद विषयक रस-मजरी' की रचना की। इस युग की अन्य उपलब्ध कृतियों म मोहनलाल मिश्र कृत "शृगार सागर' (स० १६१६ वि०) गोपा

उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलकारों का अधिक प्रयोग किया है।'
श्यामसुदर दास, हिंदी भाषा और साहित्य (प्रयाग, स० १९८७), पृ० ३६७-३६९।

अथवा गोप कृत "रामभूषण" और "अलंकारचंद्रिका", करनस कृत "करणाभरण", "श्रुतिभूषण" तथा "भूपभूषण" आदि उल्लेखनीय हैं।" न सभी ग्रन्थों में या तो संस्कृत के ग्रंथों से या हिन्दी के ही पूववर्ती ग्रन्थों से पर्याप्त प्रभाव ग्रहण किया गया प्रतीत होता है। साहित्यिक उच्चता, विचारगत मौलिकता तथा उच्च स्तरीयता का इनमें पर्याप्त सीमा तक अभाव है। परंतु इन सीमाओं के होते हुए भी इन कृतियों का विशिष्ट महत्त्व इस कारण से है, क्योंकि ये हिन्दी साहित्य शास्त्र के विकास की मुख्य कड़ियाँ हैं। साथ ही ये हिन्दी साहित्य शास्त्र की परंपरा की स्पष्टता भी आभासित करती हैं।"[1]

भक्तियुग में भक्ति भावना को ही काव्य विषयक समस्त विवेचन का आधार बनाया गया, जिसके फलस्वरूप भक्ति रस एक स्वतंत्र रस के रूप में प्रतिष्ठित हुआ और भक्तिकालीन कवियों ने वात्सल्य, माधुर्य, दास्य और सख्य आदि को भक्ति रस का ही अभिन्न अंगभूत रस माना। गोस्वामी तुलसीदास और महात्मा कबीर सरीखे कवियों ने काव्यशास्त्र की पृथक् और स्वतंत्र रचना में तो रुचि नहीं दिखलायी, पर तुलसीदास एवं इनके जैसे अनेक कवियों ने कवि, काव्य, अलंकार प्रयोग छंद-योजना आदि विषयों के संबंध में अनेकानेक प्रसंगानुकूल काव्योक्तियाँ प्रस्तुत कीं। गोस्वामी तुलसीदास ने कई स्थलों पर यह भी निर्देश किया कि उन्होंने काव्य रचना के लिए काव्य रचना नहीं की और महात्मा कबीर ने जतलाया कि वे काव्यशास्त्र के नियमों, छंदों तथा अलंकारों से अनभिज्ञ थे। काव्यकृति के आरम्भ और अंत में कवि द्वारा रचना के उद्देश्य और उसके अभिप्राय आदि के विषय में उपस्थित किए गए स्पष्टीकरण में तथा अनेकानेक सूत्रबद्ध प्रतिक्रियाओं में तद्युगीन समीक्षा का स्वरूप देखा जा सकता है।

रीति-आचार्यों की हिंदी-समीक्षा

इसमें सन्देह नहीं कि हिंदी-आलोचना शास्त्र अपने शैशव में संस्कृत काव्यशास्त्र का उपजीवी एवं नवजागरणयुगीन अँगरेजी समीक्षा के समान ही, पराश्रयी था। रीतिकाल (सन् १६४८-१८५७ ई०) में जब प्राचीन काव्यशास्त्र का हिंदी में सरस अवतरण हुआ, तब इसके कवि-आचार्य ऐसे राजाश्रित व्यक्ति थे,

---

१ डा० प्रतापनारायण टंडन, समीक्षा के मान और हिंदी समीक्षा की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ (लखनऊ, १९६५), प्रथम खंड, पृ० ४०८। द्रष्टव्य श्री विश्वनाथप्रसाद, "शृंगारकाल की सीमा", हिमालय, अप्रैल १९४६, पृ० १७-२३।

जिनमें न काव्यशास्त्र विषयक अन्वेषण में गहरी रुचि थी और न संस्कृत काव्य शास्त्र का सम्यक् ज्ञान ही था। यद्यपि काव्य और इसके अवयवों के वर्णन में इन्होंने इतस्तत नवीनता का प्रदर्शन किया है, फिर भी ये रीति कवि परंपरागत काव्यशास्त्र में स्थापित मान मूल्यों को दुहराने और प्राचीन लक्षण-ग्रन्थों का अनुवाद कर उनकी सिद्धि के लिए नये-नये सरस उदाहरण रचने में ही लीन रहे।[1] संस्कृत में लक्ष्य काव्य और लक्षण ग्रन्थ एक जीवन्त संबंध सूत्र में ग्रथित थे[2] उसमें रचा गया काव्य विद्वज्जनों का कण्ठहार था और हिंदी में काव्य रचना "संस्कृत का सम्पर्क रखनेवाले कवियों के हृदय में कुछ हेयता की भावना भर देता था।"[3] कवियशोलिप्सा के कारण नौसिखुओं ने भी रीत्याचार्यों का अलंकार छंद, रस आदि के नियमों के स्पष्टीकरण के लिए आश्रय लिया, परन्तु इन कवि-आचार्यों ने संस्कृत काव्यशास्त्र के आधार पर ही अपने उस काव्यशास्त्र का निर्माण किया, जिसमें प्राचीन सिद्धांतों की उपयुक्त वैज्ञानिक व्याख्या तक नहीं मिलती। संस्कृत के आचार्यों ने अपने काव्यशास्त्र का आधार उपलब्ध काव्य को ही बनाया था, जिसके फलस्वरूप उनके लक्षण और लक्ष्य के बीच प्रत्यक्ष तथा जीवन्त सम्पर्क आद्यन्त बना रहा।[4] इनके विपरीत हिंदी के रीतिकारों ने लक्षणों के लिए "संस्कृत काव्यशास्त्र का अवलम्ब लिया और उदाहरणों का स्वयं ही नूतन निर्माण किया, इस प्रकार हिन्दी के समृद्ध काव्य का इनके लिए जैसे कोई अस्तित्व ही नहीं रहा।[5] इनमें दो विशिष्ट समीक्षा शैलियाँ[6] प्रचलित थीं जिनके मूल में दो विभिन्न प्रकार के प्रेरणा स्रोत थे। इनमें कुछ तो अलंकारवादी थे और कुछ रसवादी।[7] केशव तथा उनके कुछ अन्य समकालीन कवियों ने भरत भामह, दंडी, उद्भट केशव मिश्र तथा अमरदेव को अपना आदर्श बनाया और कुछ ने केशव द्वारा गृहीत आधार को अस्वीकृत करते हुए जयदेव और अप्पय

---

१ डा० नगेन्द्र, विचार और विवेचन (दिल्ली, १९६१), पृ० ६।
२ उपरिवत।
३ डा० भगीरथ मिश्र, हिंदी काव्यशास्त्र का इतिहास (लखनऊ विश्व विद्यालय, सं० २००५), पृ० ३७।
४ डा० नगेन्द्र, विचार और विश्लेषण, पृ० ६
५ डा० नगेन्द्र, अनुसंधान और आलोचना (दिल्ली, १९६१), पृ० २९।
६ नन्ददुलारे वाजपेयी, नया साहित्य नये प्रश्न (वाराणसी, १९६२), पृ० २३।
७ उपरिवत।

दीभित को। मम्मट के "काव्यप्रकाश" को, विश्वनाथ के "साहित्यदर्पण" को तथा आनन्दवर्द्धन के "ध्वन्यालोक" को बहुत कम कवि-आचार्यों ने अपनाया।

रीतिकारों में मौलिक सिद्धांत-प्रतिपादन नहीं मिलता, फिर भी उन्होंने शृंगाररस की ऐसी मधुर प्रसर पयस्विनी प्रवाहित की जिससे समस्त हिन्दी-साहित्य आन प्रोन हो उठा और रस की सार्वभौम सत्ता के सामने ध्वनि अलंकार आदि गौण हो गए।[1] उनके प्रयत्न से हिन्दी-साहित्यकारों की काव्यशास्त्रीय अभिरुचि सुरक्षित रह सकी और काव्य रचना तथा काव्यास्वादन के लिए शास्त्रीय पृष्ठभूमि का निर्माण हो सका। "उन्होंने प्रेम को अलौकिक धरातल से उतारकर, शुद्ध मानवीय लौकिक धरातल पर स्थापित किया। भक्तिकाल में प्रेम को जन-जीवन के व्यावहारिक धर्म से अलग कर दिया रीतिकाल ने मानव की मूल भावना उसे वापस दी। प्रेम के इस उच्छलित रूप ने आचार्य प्रणीत उदाहरणों में समाज युग रुचि का सामान्यतः तथा राज रुचि का विशेषतया परिष्कार किया। बौद्धिक ह्रास के उस अंधकार युग में काव्य के बुद्धि पक्ष को जाने-अनजाने पोषण देकर इन्होंने अपने ढंग से बड़ा काम किया।[2]

हिन्दी-गद्य का विकास और भारतेन्दु-युगीन पत्र-पत्रिकाएँ

तात्त्विक विवेचन खंडन-मंडन वैज्ञानिक ढंग से विषय का प्रतिपादन, शास्त्रीय

---

१ डा० नगेन्द्र की ये स्थापनाएँ द्रष्टव्य हैं " इन्होंने रस को ध्वनि के प्रभुत्व से मुक्त कर रसवाद की पूर्ण प्रतिष्ठा की। घोर पराभव के उस युग में समाज के अभिशप्त जीवन में सरसता का संचार कर इन कवियों ने अपने ढंग से समाज का उपकार किया था। वास्तव में हिन्दी साहित्य के इतिहास में सर्वप्रथम रीति-कवियों ने ही काव्य को शुद्ध कला के रूप में ग्रहण किया।" दे० अनुसंधान और आलोचना में "रीतिकाल के कवि-आचार्यों का योगदान" (पृ० २८ ३६), विचार और विश्लेषण में "हिंदी का अपना आलोचनाशास्त्र" (प० ५-७) हिंदी साहित्य का बृहत इतिहास, षष्ठ भाग, पृ० ४९४ ४९८। डा० नगेन्द्र की विचार धारा से मिलते-जुलते दृष्टिकोण के लिए देखिए रामधारी सिंह दिनकर, "रीति-काल का नया मूल्यांकन", अवन्तिका काव्यालोचनांक, जनवरी १९५४, प० १४३ १५५।

२ आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी (संपा०), काव्यशास्त्र (दिल्ली, १९६६), पृ० ३४१ ३४४।

साथ, विचार-शक्ति, तर्क-पुष्ट [illegible] विश्लेषण-क्षमता [illegible] उसके साथ [illegible] है। ऐसी मुक्तता [illegible] गद्य में नहीं। वस्तुतः हिन्दी-आलोचना की जो विधा 'समालोचना' के नाम से अभिहित है [illegible] उसका विकास 'सद्धर्म' [illegible] के उन्नत [illegible] विकास में मानता है। इसलिए भारतेन्दु-युग के हिन्दी-गद्य-साहित्य का [illegible] प्रासंगिक [illegible] जाता है।[1] [illegible] भारतेन्दु के [illegible] हिन्दी गद्य के 'अभ्युत्थान' का युग है।[2] उनके प्रयत्नों से एक नया अपूर्व परिमार्जित एवं व्यवस्थित गद्य का निर्माण हुआ, जिसमें न उर्दू के तद्भव शब्दों का बाहुल्य है और न संस्कृत के तत्सम शब्दों का और जो शिक्षित पाठक-वर्ग के सर्वथा उपयुक्त तथा सम्मानित हो गया। इन्होंने गद्य में हिन्दी भाषा एवं व्यावहारिकता को स्थान में रखकर उर्दू। संस्कृत शब्दों के तद्भव रूपों का प्रयोग किया अथवा व्यवहार में प्रचलित हुए" शब्दों को अपनाया और शिष्ट तथा परिमार्जित लोकोक्तियों एवं मुहावरों के प्रयोग से भाषा में व्यंजकता और प्रभावोत्पादकता का संचार किया। गद्य की भाषा में हास्य एवं व्यंग्य के पुट से भाषा-साहित्य में रोचकता के एक विशिष्ट तत्त्व का संयोग हुआ, मनोरंजक साहित्य का निर्माण तथा आलंकारिक वाक्य-सज्जा से युक्त गद्य-शैली का आविर्भाव हुआ। रमाकान्त त्रिपाठी ने भारतेन्दु के गद्य को डिमॉक्रेटिक कहा है।[3] एक ओर इसमें शब्द [illegible] तथा राजा लक्ष्मणसिंह के गद्य से है तो दूसरी ओर इसमें आधुनिकता तथा अपूर्व वैचित्र्य है। इसके कारण हिन्दी-गद्य अनिश्चितता के पंक से निकलकर एक निश्चित दिशा में आ गया।[4]

पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित भारतेन्दुयुगीन निबंधों में देश की समसामयिक राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक और नैतिक परिस्थितियों का यथातथ्य चेतना दृग्धर वर्णन मिलता है पर साथ ही इस युगीन साहित्य पर अँगरेजी भाषा

---

१ आलोचना, जनवरी १९५९, पृ० २९२ ।

२ जगन्नाथप्रसाद शर्मा, हिन्दी का गद्य शैली का विकास (प्रयाग, सं० १९८७), पृ० ३३ ।
डिवेदी-अभिनंदन-ग्रंथ में संकलित एक निबंध में "खड़ी बोली की प्राचीनता" दिखलाई गई है और इसका आरम्भ सातवीं शती से माना गया है। दे० पृ० ४१८-४२१।

३ हिन्दी गद्य मीमांसा (कानपुर, १९३२), पृ० ५१ ।

४ उपरिवत ।

साहित्य के व्यापक प्रभाव के भी अनेकानेक चिह्न दृष्टिगत होने लगते हैं। लेखकों की भाषा मे अँगरेजी शब्दों के प्रचुर समावेश और साथ ही पारिभाषिक हिन्दी शब्दों के निर्माण का शुभारम्भ होता है।[1] लेखक अँगरेज कवियों की रचनाओं की ओर सकेत कर और उनसे प्रसगानुकूल पक्तियाँ उद्धृत कर अपने पाश्चात्य साहित्य ज्ञान का सम्यक् परिचय देते है। उदाहरणार्थ—'हिन्दी प्रदीप" के अप्रल १८७६ वाले अक मे "बाल्य अवस्था" शीर्षक निबंध मे निम्नलिखित पक्तियाँ उद्धृत हैं —

A man severe he was and stern to view,
I knew him well and all the truent (*sic*) knew,
Well had the boding tremblers learn'd to trace
The days disasters in his morning face,
Full well they laugh'd with counterfieted glee
At all his jokes, for many a jokes (*sic*) had he

इसी वर्ष इसके जूनवाले अक में हृषीकेश भट्टाचार्य-कृत "कवितावली" के प्रकाशन पर हर्ष प्रकट किया गया है "यह ग्रथ बहुत ही मनोरजक है इसकी बहुत-सी कविता अँगरेजी कविता से अनुवाद की गई है हम को इस बात का विशेष हर्ष है जो नूतन प्रणाली मे सस्कृतज्ञ विद्वानो ने इस बात की ओर मन दिया कि विदेशी भाषाओ मे जो कुछ चातुरी हो उसका भी रसाकर्षण कर सस्कृत मे कर रहे"।[2] नवम्बरवाले अक मे सुकरात का जीवनवृत्त प्रकाशित हुआ जो 'मिरातुल हिन्द से सगृहीत' था। इसी प्रकार 'सारसुधानिधि" के २६ मई सन १८७६ वाले अक मे "बगविजेता" का प्रथम परिच्छेद मिल्टन की इन पक्तियो से शुरू होता है —

---

१ सन १८५७ से १९०० तक के साहित्य मे राष्ट्रीय भावना के लिए देखिए डा० सुषमा नारायण, भारतीय राष्ट्रवाद के विकास की हिन्दी साहित्य में अभिव्यक्ति (१९६६), पृ० ४२–६३। पारिभाषिक शब्दो की निर्माण-योजना किस प्रकार कार्यान्वित हो चली थी, इसके लिए द्रष्टव्य हिंदी प्रदीप, १जून १८७८ मे "भोजन-पदार्थ", जनवरी १८०० वाले अक मे पृ० १४ १५ पर "मनोविज्ञान", सत्यसिन्धु (मासिक पत्रिका), १५ जुलाई १८९७ वाले अक मे "सृष्टि-तत्त्व" (दूसरा अध्याय), इत्यादि।

२ हिंदी प्रदीप, १ जून १८७९, पृ० १६।

While the ploughman near at hand
Whistles o'er the furrowed land
And the milkmaid singeth blithe
And the mower whets his sithe
And every shepherd tells his tale
Under the hawthorn in the dale [1]

अप्रैल १८८० में प्रकाशित [illegible] में एक [illegible] में इसका भी यह उचित उद्धरण है 'कोकिला अर्थात् गुण'—अर्थात् [illegible] आई एम । जुलाई १८८० के अंक में प्रथम पृष्ठ पर [illegible] में अंकित [illegible] है— [illegible] । [illegible] [illegible] गया। इसी अंक में [illegible] उद्योग पर [illegible] गया है कि [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] के गुणों का [illegible] किया है।

जहाँ तक हिन्दी-समालोचना का संबंध है, उन्नीसवीं शती के अंतिम तीन दशक अपने ही युगान्तरकारी सिद्ध हुए। भारतेन्दु की मनस्वी प्रतिभा से आलोकित इन दशकों में समीक्षा की एक नई धारा का जन्म हुआ। रीतिकालीन शास्त्रीय समीक्षा—रीतिग्रंथों द्वारा प्रणीत लक्षणपरक समीक्षा—के स्थान पर नयी धारा में विकसित उस समीक्षा का उद्भव हुआ जिसमें आधुनिकता के बीजांकुर मिलते हैं। भारतेन्दु-युगीन समीक्षा अधिकांशतः पुस्तक-परिचय-मात्र थी, परन्तु अपने उद्भव-काल से ही यह पाश्चात्य आलोचना में पली। उस पर नानाविध रूपों में विदेशी प्रभाव पड़े जिनके चिह्न आज भी हमारी रचना-पद्धतियों में वर्तमान हैं और जो इसके स्वरूप-निर्माण तथा इसे वैशिष्ट्य प्रदान करने में सहायक हुए हैं।

पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित "पुस्तक-परिचय"

हिन्दी में समीक्षा का वास्तविक आरम्भ बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' की रचनाओं से नहीं होता।[2] इसका वास्तविक आरम्भ 'प्रेमघन' की रचनाओं

---

१ L' Allegro, lines 63 68

२ "हिन्दी साहित्य कोश" (भाग १, पृ० १२३) के अनुसार हिन्दी में आलोचना का वास्तविक प्रारम्भ बदरीनारायण चौधरी "प्रेमघन" की उन रचनाओं से होता है जिनमें उन्होंने "आनन्दकादम्बिनी" में लाला श्रीनिवासदास रचित "संयोगितास्वयम्वर" का नाट्य दोष और गदाधर सिंह द्वारा अनूदित "बंग विजेता" के भाषा शिल्प संबंधी दोष दिखलाये थे।

के पहले "सारसुधानिधि" के "साहित्य"[1] और "हिन्दी भाषा"[2] जैसे निबंधों से होता है। "साहित्य" शीर्षक निबंध के रचयिता की भाषा संबंधी मनोवृत्ति आधुनिक तो है ही, साथ ही वह ऐतिहासिक महत्त्व रखती है। इसके द्वारा पाठकों को अपनी भाषा के उत्तरोत्तर संवर्धन के लिए जागरूक और प्रयत्नशील करने का प्रयास किया गया है। 'सारसुधानिधि' में ही सन् १८७६ ई० के मई १८ वाले अंक में "बाबू हरिश्चंद्र" नामक परिचयात्मक निबंध प्रकाशित हुआ था, जिसमें एक मूर्धन्य साहित्यकार के प्रकांड वदुष्य एवं उपलब्धियों का स्तवन हुआ है और जिसके अंत में यह अभ्यर्थना की गई है कि हिन्दी भाषा के हितैषी हरिश्चंद्र की यथावश्यक सहायता करें। १८७८ ई० के ४ अगस्तवाले अंक में 'धात्रीशिक्षा' शीर्षक अनूदित ग्रंथ की समालोचना प्रकाशित है, जिसे केवल पुस्तक-परिचय मात्र कहा जा सकता है। वस्तुतः इस प्रकार की समीक्षा जिसमें पुस्तकों का परिचय-मात्र और विज्ञापन छपा हो भारतेंदुयुग के अधिकांश पत्रों में देखी जा सकती है। "हिन्दी प्रदीप" में १८८० के १ अप्रैल को निम्नलिखित समीक्षा प्रकाशित हुई —

> हमारे चिरस्नेही केशवराम भट्ट प्रेषित शमशाद सौसन नाम नाटक हम वस्तुतः बहुत धन्यवादपूर्वक स्वीकार करते हैं यह नाटक कबीर के इस दोहे को लक्ष्य कर लिखा गया है ॥
>
> दुर्बल को न सताइए जाकी मोटी हाय ।
> मुई खाल की सांस से सार भस्म होइ जाय ॥
>
> भाषा इसकी जैसा कि ग्रंथ के नाम ही से प्रकट होता है ठेठ उरदू नागरी अक्षरों में है इसमें उत्तम पात्रों की बोली सरल उरदू और नौकर आदि हीन पात्रों की भाषा पटने की या भोजपुर की पूरबी रक्खी गई है नाटक यह उत्तम रीति पर बांधा गया है ।[3]

इस युग के पुस्तक-परिचय का सामान्य स्तर यही है। परंतु ऐसे भी समीक्षक मिलते हैं जिनके मानदंड 'आधुनिक' थे और जो स्वाभाविकता एवं उपयोगिता की कसौटी पर इदयुगीन नाटकों और उपन्यासों को आंकना चाहते थे। जुलाई सन १८८१ ई० में 'विद्यार्थी सम्मिलित हरिश्चंद्र चंद्रिका और मोहन चंद्रिका'[4]

---

१ सारसुधानिधि, १३ जनवरी सन १८७९ (भाग १, अंक १)।
२ सारसुधानिधि, २०जनवरी, २७जनवरी, १०फरवरी, १४ अप्रैल, १८७९ ई०।
३ हिंदी प्रदीप, जि० ३, संख्या ८(१ अप्रैल १८८०), पृ० १२।
४ दे० कला ८, किरण ४, पृ० ८७।

मे "नाटक या उपन्यास" शीर्षक एक विचारोत्तेजक टिप्पणी प्रकाशित हुई थी जिसमे तद्युगीन साहित्यकारो की रचनाओ से असतोष प्रकट करते हुए कहा गया है कि वे अपनी रचनाओ को अधिकाधिक मारगम तथा स्वाभाविक बनायें। १८८५ ई० मे "हिन्दी प्रदीप" मे भी भाषा विषयक एक निबध प्रकाशित हुआ जिसका शीर्षक था "भाषाओं का परिवर्तन"।[१] यहाँ तक आते-आते कुछ ही वर्षों म, इस पत्रिका के निबध अत्यधिक मात्रा म आलोचनात्मक हो जाते हैं। इसी उत्तरोत्तर विकास और प्रौढ़ता के फलस्वरूप सन् १८८६ म बालकृष्ण भट्ट का वह निबध प्रकाशित हुआ जिसका शीर्षक है 'सच्ची समालोचना' और जिसम दिल्ली निवासी लाला श्रीनिवासदास क 'सयोगिता स्वयवर' नाटक की समीक्षा है। इसे हम पुस्तक परिचय मात्र नहीं कह सकते। यद्यपि इसम खडन-पक्ष की ही प्रधानता है, फिर भी इसम समीक्षित पुस्तक को विभिन्न विचार बिन्दुओ स परखा गया है और इसके विभिन्न सघटक अवयवो को विवेचित करने का चेष्टा की गई है। लेखक क मानदड पाश्चात्य समीक्षा स अपहृत जान पडते है और वह नाटककार को अपने पात्रो क 'आभ्यन्तरिक भाव' तथा 'स्पिरिट आव द टाइम्स" को जानने की सलाह देता है। समीक्षक क प्रतिमान व ही ह जो शेक्सपियर की आलोचना म डाक्टर जानसन हैजलिट लम्ब इत्यादि क थ। लेखक नाटक के पात्रो का स्वाभाविक एव इतिहास-सम्मत होना पसद करता ह और चाहता है कि हिन्दी-नाटको क पात्र व्यक्ति हो वर्ग नही "हमने जहाँ तक नाटक देखे उनम पात्रो की "चरित्र (Characterization) क भिन्न २ होने ही से नाटक की शोभा दशा पर आपके पात्र सब क सब एक ही रग मे सन उपदेश देने की हवस मे त्यार-पथर पाये गय।"[२] वह पाश्चात्य प्रतिमानो क साथ ही भारतीय नाट्यशास्त्र का भी प्रयोग करता है और भवभूति की चर्चा करते हुए श्रीनिवासदास को सलाह देता है कि नाटक म पाडित्य नहीं बल्कि मानव हृदय से नाटक का 'कितना गाढा परिचय है यह दरसाना चाहिए।'[३] समाभा की भाषा म कई स्थलो पर अँगरेजी शब्दो का प्रयोग हुआ है।

१ मई १८८६ को बालकृष्ण भट्ट का एक पत्र प्रकाशित हुआ जिसम उन्होने "सारसुधानिधि" के सपादक का 'भ्रम निवारण' करते हुए अपनी पूर्वोक्त आलोचना क आधारभूत दृष्टिकोणो का समर्थन किया है और बताया है कि

---

१ हिन्दी प्रदीप, १ जून १८८५, पृ० ३६।
२ हिन्दी प्रदीप, १ अप्रैल, सन १८८६, पृ० १७।
३ उपरिवत पृ० १८।

उन्होंने श्रीनिवासदास की आलोचना किसी संकीर्ण तथा अन्यायपूर्ण पूर्वग्रह के कारण नहीं की थी। उन्होंने नाटककार के दोषों पर ही प्रकाश डाला था, क्योंकि उन्हें "वाह-वाह" वाली शैली गृहीत न थी : "गुण गा कर हाँ में हाँ मिलाने वाले बहुत से लोग पड़े हैं यह क्या आवश्यकता है कि हम उन्हीं के समान हाँ में हाँ मिलानेवाले हों।"[1] भट्टजी का आलोचनादर्श उस युग के अधिकांश समीक्षकों का आदर्श है। उनके अनुसार "समालोचना तो उसी का नाम है कि उत्तम से उत्तम लेख का भी दोष निरूपण कर आइना कर दे।" इसमें, जैसा भट्ट जी ने स्वयं कहा है उनका आदर्श परम्परानुमोदित है, क्योंकि मम्मट ने "काव्यप्रकाश" के अष्टम उल्लास में "वेणीसंहार" आदि "परमोत्तम रचना" के दोषों का बड़ी निर्ममता से उद्घाटन किया है। भट्टजी की यह खंडनात्मक प्रवृत्ति उनकी सहज आधुनिकता के अनुकूल नहीं दीखती और न ऐसी असहिष्णुता राइमर-सरीखे पाश्चात्य शास्त्रवादी आलोचकों के बाहर ही पायी जाती है। किंतु जहाँ यह अनुपेक्षणीय सत्य है कि वे सामयिकों के प्रति यत्किंचित् अनुदार हैं, वहाँ यह भी निर्विवाद है कि उनके कतिपय प्रतिमानों की सार्वभौमता एवं शाश्वतता के कारण उनमें आधुनिकता का आभास होता है। भट्टजी ने कहा है :

> हम लोग ग्रन्थों की समालोचना करने में केवल उपस्थित ग्रन्थ ही पर ध्यान नहीं देते किन्तु उस प्रणाली के परम उत्कृष्ट ग्रन्थ पर दृष्टि रखते हैं और जो (Standard of excellence) उत्कृष्टता की माप प्राचीन और नवीन बुद्धिमानों के विचार के अनुसार अपनी बुद्धि में उत्तम जँचते हैं उनको बुद्धि के चित्रपट में रखकर उससे उपस्थित ग्रन्थ को तुलते हैं और उस तुलन में जो कुछ गुण दोष समझ में आता है उसको ग्रन्थकर्ता के मित्र जन अपने मित्र तथा और इतर लोगों की प्रसन्नता वा रुष्टता पर नेक भी ध्यान न दे प्रकाशित करते हैं ।[2]

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि (१) हिन्दी की प्रौढ़ आधुनिक समीक्षा के लिए उपयुक्त सशक्त शब्दावली का निर्माण हो चला है (यदि भारतेन्दुयुगीन समीक्षा का एकमात्र यही योगदान होता तो भी वह समीक्षा आधुनिक पाठकों द्वारा अभिनंदनीय होती) और कि (२) भारतेन्दुकालीन व्यावहारिक समीक्षा में भी सैद्धांतिक सूत्रों का पर्याप्त समाहार मिलता है। नव जागरणयुगीन अँगरेजी

---

१ उपरिवत्, १ मई सन १८८६, पृ० ९ ।

२ उपरिवत्, पृ० १० ।

समीक्षा प्रधानतः सैद्धांतिक एवं वैधानिक (theoretical and legislative) है परन्तु भारतेन्दुयुग की हिन्दी-समीक्षा मुख्यतः व्यावहारिक।[1] (३) उपर्युक्त उद्धरण से भट्टजी की तथा उनके जैसे अन्य समीक्षकों की आलोचना-प्रक्रिया (critical process) पर भी यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। साहित्य की चिरन्तन परम्परा का बोध समीक्षात्मक अनुशासन के लिए अनिवार्य है। इससे व्याख्या और तुलना में सहायता मिलती है। इस कारण एलियट इत्यादि आदि ने इस परंपरा चेतना पर इतना बल दिया है। भट्टजी में तद्युगीन राष्ट्रीयता कूट-कूटकर भरी थी इसलिए उन्होंने एक ओर तो श्रीधर पाठक द्वारा प्रस्तुत गोल्डस्मिथ की 'हरमिट' शीर्षक कविता के अनुवाद की प्रशंसा की है और दूसरी ओर कहा है कि अँगरेजी में पहले तो इतने अनूठे कोई काव्य हैं नहीं जो अनुवाद के योग्य हों हैं भी तो हमारी भाषा में उनका शब्दार्थ अनुवाद कदापि चोखा रसीला सब सम्मत और सब ग्राह्य न होगा।[2] इस कथन के पहले वाक्य में समीक्षक का पूर्वग्रह व्यंजित होता है न कि उसका निष्पक्ष दृष्टिकोण। फिर भी देश में अनगिनत ऐसे पाठक थे जिनमें अँगरेजी भाषा-साहित्य के प्रति गहरी रुचि थी, जिसका प्रतिबिम्ब सामयिक पत्रिकाओं में प्रकाशित तद्विषयक निबंधों में हुआ है। "सारसुधानिधि" में सन १८७८ ई० के १४ जुलाई का एक निबंध प्रकाशित हुआ था जिसमें अंगरेजी भाषा पर शासन विजय के परिणामों का तथा इस भाषा के क्रमिक विकास का वर्णन मिलता है। आश्चर्य ऐसे निबंधों के प्रकाशन पर नहीं होता, आश्चर्य इस बात पर होता है कि इनमें वर्णित घटना-क्रम अधुनातन गवेषणा से प्राप्त तथ्यों एवं प्रामाणिक इतिहासों में उल्लिखित घटनाओं के आलोक में अत्यन्त विश्वसनीय हैं। इसी युग में एक अन्य प्रकार के निबंध मिलते हैं, जो न आद्यन्त समीक्षात्मक हैं न केवल परिचयात्मक। इनमें मर्मस्पर्शी तीखा व्यंग्य उपहास और शाब्दिक विडम्बना पायी जाती है। श्री राधाचरण गोस्वामी द्वारा संपादित 'भारतेन्दु' में ऐसे ही निबंधों का प्राचुर्य है जिनमें प्रभावाभिव्यंजन और व्यंग्य अधिक होते हैं सूक्ष्म शोध पर आधारित समीक्षा कम।

(१) राजा शिवप्रसाद कौन हैं ?[3]

---

१ इस युग की सैद्धांतिक समीक्षाओं में भारतेन्दु के "नाटक" का स्थान सर्वोपरि है। इसका उल्लेख अन्यत्र हुआ है।

२ हिन्दी प्रदीप, १ मई १८८६, पृ० १६ १७।

३ भारतेन्दु, २२ अप्रैल १८८३, पृ० ४५।

कई समाचारपत्रों ने राजा साहब से पूछा है, आप कौन हैं? हम राजा साहब की ओर से जवाब देते हैं। राजा साहब कन्नौज के राजा जयचंद हैं। राजा साहब मुर्शिदाबाद नाशकारी अमीचन्द हैं। राजा साहब लंकाधिप के भाई विभीषण हैं। राजा साहब इंगलिश मैन और पार्टनियर वा सिविल मिलिटरी गजट के जीव योग हैं। राजा साहब ब्रामन फिट्ज जेम्स आदि के गुरु हैं। राजा साहब हिंदू धर्म के नाश करने के लिए साक्षात् जन मुनि हैं। विशेष क्या, राजा साहब यथार्थ ही शिव हैं, जैसे शिव के कंठ में विष है, उसी प्रकार उनके कंठ में विष है। राजा साहब हिंदुस्तान की उन्नति की प्रलय करने के लिये त्रिनेत्र, त्रिशूलधारी, महाकाल, विकराल, मुण्डमाल, सर्वांग पूरित व्याल श्मशानवासी, अविनाशी, शिव हैं।[1]

(२) हिंदी

सरकार कचहरियों में हिंदी क्यों नहीं जारी करती? सुना है कि सरकार हिंदी को असभ्य भाषा समझती है। क्या न हो? जिसमें व्याकरण, काव्य, कोश न्याय वेदांत, सांख्य पातंजल वेद उपवेद, पुराण, इतिहास वैद्यक ज्योतिष, चतुष्षष्ठि कला, आदि की पुस्तकें एक हजार वर्ष से भी प्राचीन हों वह परम असभ्य है। जो हिंदी आधे से अधिक भारतवर्ष भर में व्याप्त हो, जिसे दस बारह कोटि मनुष्य बोलते हों वह महान महान् असभ्य है।। वर्तमान रीति के अनुसार भी जिसमें सब विषय के दो तीन हजार ग्रन्थ हों चालीस से अधिक सम्वादपत्र छपते हों, प्रतिवर्ष सैकड़ों विद्यार्थी पास होते हों, वह असभ्य चूडामणि भाषा है।।

'भारतेन्दु' में प्रकाशित 'संक्षिप्त समालोचनाओं' में सस्ते तुलनात्मक भावोद्गारों का प्रचुर समावेश हुआ है। समीक्षक की दृष्टि पाश्चात्य साहित्य की ओर भी जाती है परंतु तुलना सूत्रबद्ध, संक्षिप्त एवं प्रभावाभिव्यंजनात्मक ही रह जाती है उसका यथोचित विश्लेषण एवं पल्लवन नहीं होता।[2] भारतेन्दु के निधन पर इसमें कोई संतुलित 'एलेजी' और 'इन मेमोरियम' का प्रकाशन नहीं हुआ इनके स्थान पर भावुकतापूर्ण भावार्द्र एवं अश्रुसिक्त सस्ते उद्गार

---

१ भारतेंदु, १० मई सन १८८४ ई०, पृ० २०।
२ उदाहरणार्थ—दे० भारतेन्दु, पुस्तक २, अंक ९-१२, सन १८८४-८५, पृ० १२९ (संक्षिप्त समालोचना)।

प्रस्तुत किए गए 'हाय! आज ग्रन्थ ही गया! पृथ्वी पर गर्द! आराम सात- को चला गया! पाताल धसक गया! नाम का नाम न रहा! ब्रह्माड सून हो गया! वाणी विधवा हो गई! हिन्दी भाषा पितृहीन अनाथ बालिका रह गई! कविता का क्षीर समुद्र सून गया! सन्मुखता का सुमरु खण्ड खण्ड हो गया! सत्य का कल्पतरु निर्मूल हो गया! धर्म धर्म का ध्वजा गिर पड़ी!'[1]

भारतेन्दुकालीन समालोचकों, संपादकों एवं कवियों में हिन्दी भाषा के बहुमुखी विकास के प्रति जो आग्रह और उत्कंठा पायी जाती है यह भारतीयों के इतिहास में कोई अनसुनी अनोखी घटना नहीं है। नवजागरणयुगीन अंगरेजों में भी अपनी भाषा के प्रति ऐसी ही जागरूकता पायी जाती है। जिस प्रकार भारतेन्दु तथा अन्य पत्रिकाओं में बार-बार हिन्दी भाषा-साहित्य की गौरव गरिमा का गान होता है उसी प्रकार नवजागरणयुगीन अँगरेज समीक्षकों और कवियों में अपनी भाषा की श्रेष्ठता का सतर्क पोषण मिलता है। और जिस प्रकार सोलहवीं शती के अन्त अँगरेज कवियों और आलोचकों ने अपने शब्दभाडार के संवर्धन के लिए विदेशी शब्दों को अँगरेजी नागरिकता प्रदान करने और उन्हें इस प्रकार आत्मसात करने की युक्ति प्रस्तावित की थी उसी प्रकार श्रीधर पाठक जैसे हिन्दी कवियों तथा लेखकों ने विदेशी शब्दों को अंगीकृत करने की सलाह दी है। वे अँगरेजी शब्दों को वैसे ही नागरिक अधिकार देना चाहते हैं जैसे बंगला मराठी आदि भाषाओं के शब्दों को।[2] उनकी यह उदारता पाठकजी के अनुवादों और उन अँगरेजी उद्धरणों में दृष्टांतीकृत है जो अपने मत की संपुष्टि में पाठकजी ने 'पायनियर' से लिये हैं।[3] भारतेन्दु और महावीरप्रसाद द्विवेदी की तरह उन्हें भी हिन्दी के भाषा-साहित्य-संबंधी अभावों का कटु वैयक्तिक अनुभव था तथा वे तद्युगीन साहित्यिक समस्याओं से पूर्णतया अवगत थे। उन समस्याओं में सर्वाधिक जटिल समस्या शब्द भाडार के संवर्धन की थी। सम्पन्न शब्द भाडार के बिना इसमें उपयोगी साहित्य की सृष्टि न होती और बिना उत्तमोत्तम ग्रन्थों के इसका सम्यक प्रचार न होता। इस कारण 'सरस्वती' के सर्वप्रथम अंक की भूमिका में कहा गया था कि इसके नव जीवन धारण करने का केवल यही मुख्य उद्देश्य है कि 'हिन्दी रसिकों के मनोरंजन के साथ ही साथ भाषा के सरस्वती

---

१ उपरिवत, पृ० १५९।

२ दे० मर्यादा, भाग १, संख्या १, नवम्बर १९१०, पृ० २६।

३ उपरिवत, पृ० २४।

भण्डार की अंगपुष्टि, वृद्धि और यथातथ्य पूर्ति हो, तथा भाषा सुलेखकों की ललित लेखनी उत्साहित और उत्तेजित होकर "विविध भावभरित" ग्रन्थों की रचना करे।[1] स्पष्टतः इस भूमिका में यह नहीं कहा गया कि हिन्दी भाषा के शब्द भांडार के संवर्धन एवं दृढ़ीकरण के लिए अँगरेजी शब्दों को अंगीकृत किया जाय, परन्तु सम्पादक-समिति[2] का मंतव्य गुप्त न था। ('सरस्वती' ने अपने प्रकाशन के प्रथम वर्ष में ही शेक्सपियर के नाटकों की कई आख्यायिकाओं के "मर्मानुवाद" प्रकाशित किए थे।)[3] अँगरेजी साहित्य विभववान था, अँगरेजी भाषा ऐश्वर्यशालिनी एवं संवर्धनशीला थी और इसके बोलनेवाले लोग—प्रयोगकर्ता—भारतवासियों के शासक थे। अँगरेजी शिक्षा में एक स्वाभाविक आकर्षण था, उसमें अध्यात्म अत्यल्प, ऐहिक तत्त्व सर्वाधिक थे। उसमें बहिर पर अधिक बल था, अंतर की उपेक्षा थी। इसके अतिरिक्त नई शिक्षा आधुनिक थी, देशी शिक्षा पुरातन एवं रूढ़। जहाँ ज्ञान विज्ञान पर आश्रित नई शिक्षा ने अलीबाबा के 'खुल समसम' की तरह पश्चिम को धन-ऐश्वर्य से परिपूर्ण कर दिया था वहीं गतानुगतिक और संकीर्णता पर आश्रित देशी शिक्षा भारतवासियों को दिन प्रतिदिन जर्जर तथा दरिद्र बनाती जा रही थी। जिस स्वर्ग की ओर इनकी आँख टकटकी लगाए रहती, उससे इनके चिरपूजित देवगण स्वर्ण-रजत की वर्षा नहीं करते और न अपने बुभुक्षित पिपासित भक्तों के लिए शीतल-मधुर सुधा-स्वाति बरसाते। उल्टे दुर्भिक्ष, दारिद्र्य, अज्ञान और अंधविश्वास ने इनके जीवन को नानाविध संकटों से आक्रांत कर रखा था। नई शिक्षा विज्ञान पर आधृत थी,[4] उसमें नया जाज्वल्यमान ज्ञानालोक था और उसमें पार्थिव

---

१ सरस्वती, भाग १, संख्या १, जनवरी १९०० ई०, पृ० १ २।

२ इसके सदस्य थे बाबू जगन्नाथदास (रत्नाकर), बी०ए०, बाबू श्यामसुन्दरदास, बी०ए०, बाबू राधाकृष्णदास, पं० किशोरीलाल गोस्वामी और बाबू कार्तिकप्रसाद खत्री।

३ भाग १, संख्या १, पृ० ८ (सिम्बेलिन), भाग १, संख्या २, पृ० ४४ (एथेंसवासी टाइमन), भाग १, संख्या ३, पृ० ८१ (पेरिक्लिस), भाग १, संख्या ४ (पेरिक्लिस का शेषांश)। इनके अनुवादक बा० राधाकृष्ण दास थे।

४ इन्हीं कारणों से पाण्डेय रामावतार शर्मा, महावीरप्रसाद द्विवेदी, रामचन्द्र शुक्ल जैसे विद्वान् अँगरेजी विज्ञान के प्रभाव ग्रहण करने और हिन्दी के अधिकाधिक संवर्धन के प्रस्तोता हैं। शर्माजी ने शिक्षा के तीन अंग बतलाये

युग की आशाप्रदायक संभावनाएँ थीं। उत्तराधिकारी नवयुवकों के लिए उसमें नौकरी थी तो इसमें—देशी शिक्षा में—बेकारी। अँगरेजी भाषा में ही हिन्दी की सर्वाधिक उपेक्षा हो जाती थी। देशी भाषाओं में अभी वह ओज और बल न था जिससे वे हिन्दी के पोषण-संवर्धन में योगदान कर सकें।

'आनन्दकादम्बिनी' में प्रकाशित कतिपय समीक्षाएँ, समग्र समीक्षा की कोटि में ही परिगणित होंगी, इसलिए उनका महत्त्व आज भी अक्षुण्ण है और कई साहित्येतिहासों में यह लिखा मिलता है कि उनसे ही हिन्दी-आलोचना का वास्तविक सूत्रपात होता है। 'बंगविजेता'' की व्यावहारिक आलोचना, निस्सन्देह, उस युग की समीक्षात्मक उपलब्धियों के आधार में प्रथम श्रेणी की है। उसमें न केवल खंडन पक्ष का प्राधान्य है न मंडन पक्ष का ही। अनूदित उपन्यास के विभिन्न परिच्छेदों की पृथक्-पृथक् आलोचना प्रस्तुत करते हुए लेखक ने कहीं-कहीं अतिरंजनापूर्ण विशेषणों का प्रयोग किया है, जो इस समीक्षा को प्रभावाभिव्यंजनवादी परंपरा से अनुस्यूत करते हैं। बालकृष्ण भट्ट और 'प्रेमघन' ने जिस शैली का प्रवर्तन किया था, वह आज भी पत्र-पत्रिकाओं की

हैं—संग्रहांग, घटनांग और कार्यांग और कहा है कि "अँगरेजी विज्ञान के जो भोज्य पदार्थ भारतवासियों के यहाँ आते भी हैं वे कहीं बाहर ही पड़े पड़े बासी हो जाते हैं। भारत-सरस्वती का मुख संस्कृत है। इस मुख तक तो यह विज्ञान अभी पहुँचा ही नहीं।" (मर्यादा, भाग २, संख्या ५, सितम्बर १९११, पृ० २०२) हिन्दी साहित्य प्रेमियों को चाहिए कि अपनी भाषा में ही वैज्ञानिक शब्दों की रचना करें। समस्त भारतवर्ष की एक भाषा होनी चाहिए और यदि इतना न हो सके तो कम से कम उनकी विज्ञान विषयक भाषा अवश्य ही एक होनी चाहिए। "सन् १८५४ ई० की शिक्षा संबंधी राजकीय आज्ञा में जिसे हम भारतवर्ष में शिक्षा का मैगनाकार्टा कह सकते हैं, भारतवासियों को एक बड़ी आशा दिलाई गई थी कि इस देश के सर्वसाधारण के मध्य यूरोपीय विद्या तथा विज्ञान का प्रचार उनकी मातृभाषा ही द्वारा किया जायगा, किंतु ५० वर्षों के बाद यह वचन अन्य वचनों की तरह, जो गवर्मेंट ने प्रजावर्ग को दिये, अभाग्यवश अपूर्ण ही रह गया। इस समय सारे भारतवर्ष के सम्मुख एक बड़ा प्रश्न यह है कि योरप का विज्ञान किस प्रकार गरीबों को उनकी ही भाषा में प्राप्त हो सके।" नागरीप्रचारिणी पत्रिका, जून १९०६ (सं० ४, भाग १०), पृ० १७८-१७९।

पुस्तक समीक्षाओं में देखी जा सकती है। दोनों ही अपने युग के अच्छे विद्वान् थे। पं० बालकृष्ण भट्ट को संस्कृत-साहित्य का मूर्तिमान दूसरा "व्यास" ही कहा गया है। भट्टजी को व्याकरण ज्योतिष और कर्मकांड पर पूरा अधिकार था और वे वेदान्त साख्य तथा दर्शन के आचार्य थे। निरुक्त शास्त्र का विशिष्ट अध्ययन करने के कारण वे नये-नये शब्दों और नये मुहावरों का संकलन बड़ी तत्परता से करते थे। उनके निबंधों से उनकी परिमार्जित परिष्कृत तथा संयत लेखन-शैली का बोध होता है—उनकी भाषा गम्भीरतम भावों एवं उत्कृष्ट विचारों का वहन करने में सक्षम है। वे रसज्ञता के महान् प्रस्तोता थे। उनके अनुसार अरसिकों को शब्दों की मोहिनी शक्ति का—उनमें निहित रस का—बोध होता ही नहीं 'अरसिकेषु कवित्वनिवेदनं शिरसि मा लिख मा लिख मा लिख।' शब्दों की आकर्षण-शक्ति के प्रबोध के लिए सरल-हृदय होना रसज्ञ होना आवश्यक है। इसका मर्म तब प्रकट होता है, जब अरसज्ञ की गोष्ठी में कोई रसज्ञ आ फँसता है। काकः कृष्णः पिकः कृष्णः को भेदः पिककाकयोः। वसन्तसमयेप्राप्ते काकः काकः पिकः पिकः।

सैद्धांतिक आलोचना : भारतेंदु कृत "नाटक"

सन् १८८३ ई० में मेडिकल हॉल प्रेस से भारतेंदु का "नाटक" शीर्षक आलोचनात्मक निबंध प्रकाशित हुआ जो सैद्धांतिक समीक्षा की सर्वप्रथम महत्वपूर्ण रचना है और जिसे लेखक ने 'मायाजवनिकाच्छन्न' "जगन्नाटक-सूत्रधार" 'मदनगगननायक' नटनागर को समर्पित किया है। इसके 'उपक्रम" में भारतेंदु ने इसके स्रोत पर यह कहकर प्रकाश डाला है कि "इसके लिखित विषय दशरूपक, भारतीय नाट्यशास्त्र साहित्यदर्पण काव्यप्रकाश विलसन्स हिन्दू थिएटर्स, लाइफ आव दि एमिनेंट परसन्स, डोमेस्टिक एँड ट्रावेलिंग्स हिस्टरी डि इटालिक थिएटर्स और अन्य ग्रन्थों से लिए गए हैं।"[1] इसी निबंध से हिन्दी-नाट्य-समीक्षा में पाश्चात्य प्रभाव के अनेक गवाक्ष खुलने हैं, पाश्चात्य प्रभाव का सच्चा सूत्रपात होता है और आधुनिक समीक्षा के इस आरम्भिक स्वरूप को पाश्चात्य समीक्षा से प्रेरणा मिलती है। नव प्रबुद्ध भारत में उत्पन्न भारतेंदु से यह बात छिपी नहीं रहती कि "नवशिक्षित तरुण-समाज में पाश्चात्य साहित्य भाव प्रवणता या नवा-नेपथ्य एवं नव भूषा के प्रति जिज्ञासा भर रहा है। उन्होंने इस साहित्य की उपेक्षा न की, वरन् यथासम्भव इसका उपयोग किया। 'नाटक" के कितने ही सिद्धांत

१ भारतेंदु-ग्रन्थावली (सं० २००७), भाग १, पृ० ७१३।

और इसमें उल्लिखित जितनी भी मान्यताएँ इस बात को भलीभाँति प्रमाणित करती हैं।

निबंध का आरम्भ "नाटक" शब्द की व्याख्या और कई महत्त्वपूर्ण परिभाषाओं से होता है। नाटक में पात्र अपना स्वरूप-परिवर्तन करके नृपादि का "स्वरूप धारण करते हैं अथवा वेषविन्यास के पश्चात् रंगभूमि में स्वकीय कार्य-साधन के हेतु फिरते हैं।" दृश्यकाव्य की संज्ञा रूपक है और रूपकों में नाटक ही प्रमुख है जिसके कारण रूपक मात्र को नाटक कहते हैं।[1] इसी विद्या का नाम कुशीलव-शास्त्र भी है। ब्रह्मा, शिव, भरत, नारद, हनुमान, व्यास, वाल्मीकि, लव-कुश, श्रीकृष्ण, अर्जुन, पार्वती आदि इसके आचार्य हैं और इनमें भरत मुनि इसके मुख्य प्रवर्तक हैं। काव्य के उस सर्वगुणसंयुक्त खेल को नाटक कहते हैं जिसमें नायक कोई महाराज (जैसे दुष्यंत) या ईश्वरांश (जैसे श्रीराम) या प्रत्यक्ष परमेश्वर (जैसे श्रीकृष्ण) हो, रस शृंगार या वीर हो, अंक पाँच से ऊपर और दस के भीतर हों, आख्यान मनोहर और परमोज्ज्वल हो। नाटक रूपक के दस भेदों में पहला महत्त्वपूर्ण भेद है इस कारण इसके वैशिष्ट्य निरूपण के पश्चात् भारतेंदु ने प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, डिम, ईहामृग, अंक, वीथी और प्रहसन की विशेषताओं का उल्लेख किया है। तदनंतर महानाटक की व्याख्या और उपरूपक के भेदों का वर्णन प्रस्तुत है। भारतेंदु ने प्राचीन और नवीन नाटकों की परस्पर विभिन्नता को स्पष्ट करते हुए ईषत् अत्याधुनिक मत प्रस्तुत किए हैं जो पाश्चात्य डेकोरम के सिद्धांत की याद दिलाते हैं। प्राचीन की अपेक्षा नवीन की परम मुख्यता बारंबार दृश्यों के बदलने में है और इसी कारण एक-एक अंक में अनेकानेक गर्भांक समाविष्ट होते हैं। यदि नाटकादि दृश्यकाव्य का प्रणयन अभीष्ट हो, तो भारतेंदु के अनुसार समस्त प्राचीन रीति का परित्याग आवश्यक नहीं होगा। इसके अतिरिक्त 'ग्रंथकर्त्ता ऐसी चातुरी और नैपुण्य से पात्रों की बातचीत रचना करे कि जिस पात्र का जो स्वभाव हो वैसी ही उसकी बात भी विरचित हो। नाटक में वाचाल पात्र की मितभाषिता, मितभाषी की वाचालता, मूर्ख की वाक्पटुता और पंडित का मौनीभाव विडंबना मात्र है। पात्र की बात सुनकर उसके स्वभाव का परिचय ही नाटक का प्रधान अंग है।[2] इसके बाद रसों का उल्लेख है और "अभिनय विषयक अन्यान्य स्फुट नियम" वर्णित हैं। निबंध के उत्तरार्द्ध में नाटकों का संक्षिप्त इतिहास और

---

१ भारतेंदु ग्रन्थावली (सं० २००७) भाग १, पृ० ७१५।

२ उपरिवत्, पृ० ७३४।

संस्कृत हिन्दी के नाटकों की तालिका दी गई है। "अथ भाषानाटक" और "योरोप में नाटकों का प्रचार" शीर्षक प्रकरण के अन्तर्गत विवेचित विषयों से लेखक की विद्वत्ता तथा व्यापक अध्ययन का परिचय मिलता है और इन विषयों के विवेचन से ही ग्रन्थ का अंत होता है।

काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित एवं व्रजरत्नदास द्वारा संकलित एवं संपादित 'भारतेन्दु ग्रन्थावली' के तीसरे खंड में 'भारतेन्दु बा० हरिश्चन्द्र की समग्र प्राप्त गद्य रचनाओं का संग्रह' है। इसमें संगृहीत निबन्धों में एक भी ऐसा नहीं है जिसका कुछ विशिष्ट आलोचनात्मक महत्त्व हो, परन्तु 'चरितावली' में यत्र-तत्र महत्त्वपूर्ण समीक्षात्मक सूत्र भरे पड़े हैं और 'पुरावृत्त संग्रह' के अन्तर्गत संकलित निबंधों से लेखक की विश्लेषणात्मक, शोधक प्रतिभा और खड़ी बोली की परिष्कृत एवं परिमार्जित गद्य-शैली का सम्यक् परिचय मिलता है। भारतेन्दु में अन्तर्हित समालोचक संपादक के रूप में भी प्रकट हुआ, व्रजभाषा के उन्नायक कवि ने खड़ी बोली के भव्य राजभवन का शिलान्यास किया। अपने मासिक पत्र 'कविवचनसुधा' में, जिसका उद्देश्य 'प्राचीन कवियों की कविताओं को प्रकाशित करना था' उन्होंने समस्त गद्य-लेखन को प्रोत्साहित करते हुए खड़ी बोली की नींव डाली की। सन् १८७० ई० में फ्रांस के प्रसिद्ध पत्र 'ली लैंगआ डेस हिन्दुस्तानिस' ने मुक्तकंठ से उस पत्र की प्रशंसा की,[1] परन्तु बाबू साहब को इससे संतोष न हुआ। सन् १८७३ ई० में 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' का जन्म हुआ जो आठवीं संख्या के बाद 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' के रूप में प्रकाशित होने लगा। सन् १८७३ ई० में ही 'हिन्दी का पुनर्जन्म' हुआ—हिन्दी नये चाल में ढली (हरिश्चन्द्री हिन्दी) सन् १८७३ ई०।

खड़ीबोली-आंदोलन

आधुनिक युग के आविर्भाव-काल में ही साहित्येतिहास की दृष्टि से उस युगान्तरकारी आन्दोलन का आरम्भ हुआ, जिसका नेतृत्व मुख्यतः अयोध्याप्रसाद खत्री ने किया। मुजफ्फरपुर के इस युगद्रष्टा तथा मार्ग-दर्शक ने 'नागरी' अथवा खड़ी बोली के प्रचार के लिए जो अथक प्रयास किया उसके फलस्वरूप हिन्दी-भाषा श्रृंखला-मुक्त हुई।[2] फिर अभी आ गया चन्द्रिका भारतेन्दु की शैली उसका

---

१ सरस्वती, भाग १, संख्या १, जनवरी १९००, पृ० ७।

२ आचार्य शिवपूजनसहाय और श्री नलिनविलोचन शर्मा (सम्पा०), अयोध्याप्रसाद खत्री-स्मारक ग्रंथ (पटना, १९६०), पृ० २२०, २२१।

अल्पांश भी 'आधुनिक पद्य के इस जन्मदाता' एवं 'हिन्दी साहित्य के इस भगीरथ' को मिलने न पाई। नलिन विलोचन शर्मा ने खत्रीजी की उपेक्षा पर ये सटीक भावोद्गार व्यक्त किए हैं —

> अयोध्याप्रसाद खत्री ने खड़ी बोली, यानी आधुनिक हिन्दी, में साहित्य के प्रमुख अंग काव्य, को उसका उचित स्थान दिलाने में—उनसे जो इसके विरोध में किए कटिबद्ध थे—जो कार्य किया था वह अब, जब हम सारी चीज को सही परिप्रेक्ष्य में देखने की स्थिति में हैं, इतना महत्त्वपूर्ण सिद्ध होता है कि हम समझ नहीं पाते कि उनके समसामयिकों ने या उनके तुरत बाद के लोगों ने, उनकी दूरदर्शिता, निष्ठा एवं प्रचेष्टा की उपेक्षा क्या की! सच कहा जाय तो खत्रीजी के समसामयिक उतने दोषी नहीं हैं जितने तुरत बाद की पीढ़ी के वे विद्वान जिन पर यह दायित्व था कि वे आधुनिक युग के आविर्भाव-काल की अंतर्धाराओं का सम्यक् विश्लेषण करते। खत्रीजी के समसामयिकों ने उनका विरोध करके उन्हें निषेधमूलक ही सही, एक प्रकार की मान्यता तो दी ...।[1]

खत्रीजी को अपने जीवन-काल में राधाचरण गोस्वामी और प्रतापनारायण मिश्र जैसे ब्रजभाषा पद्य के समर्थकों के घोर विरोध का सामना करना पड़ा। अकेले इस युग-सचेतक, सात्त्विक-कर्मठ महापुरुष ने भारतेन्दु, काशी नागरी प्रचारिणी सभा और 'हिंदोस्थान' सरीखे तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं तथा विभिन्न साहित्य महारथियों का सामना किया। खड़ी बोली आंदोलन में श्रीधर पाठक ने उनके पक्ष का जोरदार समर्थन किया, अपनी सशक्त भाषा और भावोद्दीपक तर्कों से यह सिद्ध करना चाहा कि 'नवीन हिन्दी' में भी कविता बन सकती है, बनायी जा सकती है। उनका यह विश्वास सदृढ़ था कि 'यदि इस प्रकार की हिंदी जिसमें आजकल गद्य ग्रंथ और समाचारपत्र आदि लिखे जाते हैं सूरदास तुलसीदास आदि के समय में प्रचलित होती तो सन्देह नहीं सूरसागर रामायण आदि काव्य इसी भाषा में लिखे गए होते।'[2] उनके इस विश्वास के मूल में खड़ी-बोली के ज्योतिर्मय भविष्य के प्रति अविकल आस्था रही होगी, परन्तु उनके विपक्षी प्रतापनारायण मिश्र ने कहा —

---

१ उपरिवत्, पृ० (भूमिका) ङ

२ उपरिवत्, पृ० ७६।

यह तो और भी हमारे लिए अहंकार का विषय है कि दूसरे देशवाले केवल एक ही भाषा से गद्य-पद्य दोनों में काम चलाते हैं हमारे यहां एक गद्य की भाषा है, एक पद्य की ! । क्या व्रजभाषा भी हिंदी नहीं है ? अरबी है ? फिर उसका 'परित्याग' क्यों न किया जाय ? हमारे प्यारे पाठकजी इसका कोई पुष्ट प्रमाण दे सकते हैं कि सूरदास, तुलसीदासादि के समय में खड़ी-बोली प्रचलित न थी ?[1]

वस्तुतः मिश्रजी जिसे अहंकार का विषय समझते हैं, उसमें तथ्य कम, निपट अहंवाद और वैदग्ध्य अधिक है। विस्मयादिबोधक और प्रश्नसूचक चिह्नों के अतिशय उन्मुक्त प्रयोग से लेखक का मंतव्य स्पष्ट हो जाता है। वह हमारे आवेगों को उद्दीप्त करना चाहता है, वैज्ञानिक तर्कों से आश्वस्त करना नहीं। उसकी नीति कोरे खंडन की नीति है 'गाली-गलौज की ओर झुकी है,' उसका मंडन-पक्ष अत्यंत दुर्बल है। "गद्य और पद्य की भाषा पृथक्-पृथक् न होनी चाहिए। सभ्य-समाज की जो भाषा हो उसी भाषा में गद्यपद्यात्मक साहित्य होना चाहिए।"[2]

इंगलैंड में आंग्ल भाषा-आंदोलन

पंद्रहवीं और सोलहवीं शती में अँगरेजी भाषा के प्रचार और अभिस्वीकरण के लिए उसके समर्थकों को कुछ ऐसा ही संघर्ष करना पड़ा था। इंगलैंड में लैटिन और फ्रांसीसी भाषाओं के विरुद्ध 'वर्नाक्यूलर' के पक्षपोषकों ने तरह-तरह के तर्क वितर्क उपस्थित किए। उनका कार्य चौदहवीं शती में किए गए कुछ प्रयासों के कारण सरल-सुगम हो गया। नार्मन विजय के बाद पहली बार सन् १३९९ ई० में इंगलैंड में एक ऐसा शासक हुआ जिसकी मातृभाषा अँगरेजी थी। चतुर्थ हेनरी ने राजसिंहासन के लिए जो चुनौती दी, सिंहासनारूढ़ होने के बाद उसने पार्लमेंट को जो धन्यवाद ज्ञापित किए और इंगलैंड के सर्वोच्च न्यायाधीश ने द्वितीय रिचर्ड को राज्याधिकार से च्युत करते हुए जो भाषण किए, वे सब के सब अँगरेजी में ही थे। अँगरेजी शासन की उत्तरोत्तर वर्धमान शक्ति के कारण यह अनिवार्य हो गया कि राजधानी की भाषा ही राष्ट्रीय साहित्यिक भाषा बने। इन अनुकूल परिस्थितियों के अतिरिक्त अँगरेजी भाषा के संस्थापन एवं प्रचार में धर्म-सुधार के आंदोलन ने भी महत्त्वपूर्ण योगदान किया। चौदहवीं शती में

---

१ उपरिवत्, पृ० ८० ।

२ महावीरप्रसाद द्विवेदी, रसज्ञ रंजन (आगरा, सं० २००६), पृ० १९ ।

गिरजे और पोप के सत्ताधिकार पर विभिन्न और उग्र आपत्तियाँ—लोलार्डों—ने जो आरम्भ हुए उनके फलस्वरूप सम्पूर्ण बाइबिल का अँगरेजी भाषानुवाद हुआ। पार्लमेंट में इस अनुवाद का उन्मूलन—उस युग की अँगरेजी में 'एडनल'¹—करने के लिए एक विधेयक उपस्थित किया गया परन्तु जॉन आव गॉंट ने इन ओजस्वी शब्दों में घोषणा की कि हम अन्य लोगों का तलछट और कचरा बनकर जीना नहीं चाहते। इन लोगों ने उपासना-विधान को—बाइबिल को—अपनी ही भाषा में अपनाया है जिस विधान में हम विश्वास करते हैं अतः हम भी अँगरेजी में ही इस विधान को अपनायेंगे।²

पन्द्रहवीं शती में अँगरेजी बाइबिल का आन्दोलन दमित रहा परन्तु धर्म सुधार के आन्दोलन का जब-जब प्रसरण हुआ धर्मशास्त्र या बाइबिल का जन साधारण की भाषा में रूपान्तरित करने की आवश्यकता सर्वोपरि रही। इसलिए टिण्डेल ने अँगरेजी में अपने धर्मग्रन्थ का अनुवाद किया जिस पर अधिकांश परवर्ती अनुवाद आधृत हैं और अपने विरोधियों के विरोध का प्रत्युत्तर देते हुए कहा 'यदि ईश्वर ने मुझे सद्भाग्य दिया तो कुछ ही वर्षों में मैं हलवाहे को भी धर्मशास्त्र का उतना ज्ञान करवा दूँगा जितना तुम लोगों में भी नहीं है।'³ उसने अँगरेजी भाषा की समर्थता का वर्णन करते हुए 'दि ओबीडियन्स आव अ क्रिश्चियन मैन' (१५२८) में कहा कि देवदूतों (apostles) ने अपनी मातृभाषा में ही धर्म प्रचार के कार्य किए थे और संत जेरम ने धर्मशास्त्र को अपनी भाषा में रूपान्तरित कर लिया था। 'तब हम ऐसा क्यों नहीं कर सकते? इसके उत्तर में वे कहेंगे कि हम अपनी भाषा में इसका अनुवाद नहीं कर सकते हमारी भाषा अधकचरी है, अपक्व है। यह उतनी अपक्व नहीं है जितना इसे अपक्व कहने वाले झूठे हैं।"⁴

---

१ Adnulle
२ 'We will not be refuse of all other nacions, for sythen they have Goddes law whiche is the lawe of oure belefe in there owne langage, we will have oures in Englishe whosoever say naye ,
३ If God spare my life, ere many years I will cause a boy that draweth the plowe shall know more of the scriptures than thou dost'
४ 'Why maye we not also ? They will saye it can not be translated into our tongue, it is so rude It is not so rude as they are false lyers'

इन बातों का प्रभाव बड़ा ही गम्भीर रहा। छठे एडवर्ड (१५४७-१५५३) के अल्पकालिक शासन-काल में ही संपूर्ण बाइबिल के तरह संस्करण और केवल 'न्यु टेस्टामेंट' के इससे तिगुने संस्करण प्रकाशित हुए। प्राटस्टेंट अनुवादों से प्रेरित होकर सन् १५६२ में कैथोलिकों ने भी 'न्यु टेस्टामेंट' का अँगरेजी अनुवाद प्रकाशित किया। भारतवर्ष में अयोध्याप्रसाद खत्री के समर्थक इने गिने व्यक्ति थे।[1] इंग्लैंड में स्वदेशी भाषा के समर्थक अनेकानेक निष्णात लेखक और कवि। मल्कास्टर लैटिन का सबसे प्रचंड शत्रु और अँग्रेजी का बड़ा ही कट्टर समर्थक निकला। इसी प्रकार रोजर ऐस्कम ने 'टेक्सोफिलस' (१५४५) के 'समर्पण' में अपनी रचना की मूल प्रेरणा देशभक्ति बतलायी और कहा कि पुस्तक में अँगरेजी के लिए अँगरेजी भाषा में जाग्रत अँगरेजी विषय का ही वर्णन करूँगा।[2] विल्यिम केक, फिलिप सिडनी प्रभृति विद्वानों ने भी राष्ट्रभाषा के पक्ष का जोरदार शब्दों में समर्थन किया। स्पेंसर के आचार्य मल्कास्टर की इन पंक्तियों से उस युग के प्रायः सभी समीक्षकों के दृष्टिकोण का परिचय मिल जाता है 'मैं रोम को प्यार करता हूँ परन्तु लन्दन को अपेक्षया अधिक, मैं इटली को चाहता हूँ परन्तु इंगलैंड को उससे भी अधिक, मैं लैटिन का सम्मान करता हूँ, परन्तु अँगरेजी की अभ्यर्चना।[3]

रीतिकाल के सीमान्त पर खड़े भारतेन्दु-युग के समीक्षकों की दुनिया में

---

१ विदेशी विद्वानों में फ्रेडरिक पिंकाट ने खड़ी बोली के पक्ष का समर्थन और ग्रियर्सन ने खड़ी बोली का विरोध किया।

२ He would write 'English matter in English tongue for English men'

३ 'I love Rome but London better, I favour Italie, but England more, I honour the Latin, but I worship the English'

डेक्कर की निम्नलिखित पंक्तियाँ इस संदर्भ में कितनी सटीक हैं —

Fantastic compliment stalks up and down
Trickt in outlandish feathers, all his words
His looks his oaths, are all ridiculous
All Apish, childish, and Italianate

इसी प्रकार "सिंथिया रिवेल्स" में बेन जॉनसन

You must not hunt for wild, outlandish termes,
To stuffe out a peculiar dialect

दो परस्परविरोधी विचार धाराएँ दीख पड़ती हैं।[1] एक ओर वे अँगरेजी शिक्षा-संस्कृति पर अपनी व्यंग्योक्तियों में विभिन्न प्रहार करते हैं तो दूसरी ओर अँगरेजी भाषा-साहित्य से यथाशक्य प्रेरणा और प्रभाव भी ग्रहण करते हैं। इसी प्रकार उन पर रीतिकालीन मान्यताओं का प्रभाव तो है ही, साथ ही वे अनेक नवीनतापरक प्रवृत्तियों का भी परिचय देते हैं। भारतेन्दु प्रभृति और ठाकुर जगमोहनसिंह सरीखे लेखक एक ओर तो रीतिकालीन शृंगारमूलक रचनाओं को काव्य की आत्मा के रूप में अंगीकार करते हैं तो दूसरी ओर नयी देश राष्ट्रीयता से प्रभावित होने के कारण वे लोककल्याण को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं। रसवादी होकर भी उन्होंने आदर्श चरित्रों की सृष्टि तथा चारित्रिक उत्कर्ष पर बल दिया है और लोक-कल्याण को काव्य का प्रयोजन माना है। इन्हीं विचारों का अनुमोदन पं० प्रतापनारायण मिश्र पं० अम्बिकादत्त व्यास आदि करते हैं परन्तु बालकृष्ण भट्ट और बालमुकुन्द गुप्त अपेक्षाकृत अधिक नवीनता-प्रेमी हैं, तथा रीतिबद्धता का सतत विरोध करते हुए देशानुराग की अभिव्यक्ति, लोक रुचि का परिष्कार एवं सुरुचि-सम्पन्न ही काव्य सृष्टि का प्रयोजन मानते हैं।[2] जहाँ तक हिन्दी-गद्य का संबंध है बालमुकुन्द गुप्त जैसे लेखक इसकी छिपी हुई शक्ति को उद्भासित करते हुए भाषा का परिष्कार और व्याकरण की अशुद्धियों को दूर करते हैं उसमें वह 'रवानी' भी पैदा करते हैं जो द्विवेदीजी के यहाँ कम मिलती है। फिर भी भारतेन्दु-युग कई दृष्टियों

---

१ दो युगों के अंतराल में अवस्थित कवियों, भावकों और रसज्ञों में ऐसा ही संकल्प विकल्प तथा संशय पाया जाता है। इनकी रचनाओं में पूर्ववर्ती युग और उसके परिचित संस्कारों के प्रति आग्रह तथा अपरिचित नवीनता के प्रति आकर्षण का प्रतिफलन होता है। शेक्सपियर के समकालिकों में इटली, यूनान और परंपरा के प्रति ऐसी ही द्वयमूलक अभिवृत्ति पायी जाती है। ऐस्कम इटली से प्रभावित अँगरेजों की तीव्र आलोचना करता है, परन्तु उसके युग के समीक्षक और कवि इटली से बहुश: प्रभावित हैं, बेकन और ब्राउन अंध-परम्परानुसरण का उपहास करते हुए नवीनता का यथाशक्य समर्थन करते हैं, परन्तु साथ ही यह भूल जाते हैं कि उनका युग द्विमुख (double faced) था।

२ दे० डा० सत्यन सिंह, "भारतेंदु युग का काव्य शास्त्र"। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी (सम्पा०), काव्य शास्त्र (पं० जगन्नाथ तिवारी अभिनंदन-ग्रंथ), पृ० ३८४–३९४।

से अपूर्ण है। रीतिकालीन रसवादी मान्यताओं से उसका पिंड नहीं छूटता; उपन्यास और कहानी का बीजवपन-मात्र होता है विकास नहीं, नाटक और उपन्यास के क्षेत्र में निकृष्ट अनुवाद एवं तिलस्मी तथा ऐय्यारी की रचनाएँ होती हैं और हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में सर्वत्र अराजकता दीख पड़ती है।[1] यहाँ तक कि 'हिन्दोस्थान' में प्रकाशित महावीरप्रसाद द्विवेदी लिखित "हिन्दी कालिदास की समालोचना" भी खंडन-पद्धति पर ही आश्रित है और इसमें लाला सीताराम-कृत कालिदास की रचनाओं के अनुवादों में भाषा भाव-संबंधी दोष सविस्तर वर्णित हैं। बालकृष्ण भट्ट तथा "प्रेमघन" की तरह द्विवेदीजी ने भी इस पुस्तक में दोष ही दोष निकाले हैं, गुणों की ओर ध्यान नहीं दिया है।[2]

भारतेन्दु की मृत्यु के नौ वर्ष बाद १६ जुलाई, १८९३ ई०, को "निज भाषा उन्नति" के लिए काशी नागरी प्रचारिणी सभा की संस्थापना हुई।[3] आरम्भ में इसके कई अधिवेशनों के लिए उच्च कोटि के निबंध लिखे गए जिनमें राधाकृष्णदास का "नागरीदास" भी एक था। श्यामसुंदरदास के नेतृत्व में सभा ने हिन्दी-साहित्य की अनेकानेक प्राचीन पांडुलिपियों की खोज की, जिसके लिए डा० ग्रियर्सन, डा० हार्नली, प्रो० वाथ प्रभृति पाश्चात्य विद्वानों ने इसकी भूरिभूरि प्रशंसा की है। पीछे श्यामबिहारी मिश्र और रायबहादुर बाबू हीरालाल के तत्त्वावधान में अज्ञात कवियों और अप्रकाशित ग्रन्थों की खोज का काम चलता रहा। सभा-द्वारा सम्पन्न अनेकानेक उल्लेखनीय कार्यों में हिन्दी भाषा और साहित्य का वह संक्षिप्त इतिहास भी है, जिसे सभा की ओर से श्यामसुंदरदास ने सन् १८९९ में प्राच्य विद्याविदों के ऐतिहासिक अधिवेशन में उपस्थित किया था। इस रचना के फलस्वरूप पाश्चात्य विद्वान् हिंदी की ओर आकृष्ट हुए और इसके समर्थकों का उत्साह बढ़ा। सभा की उपलब्धियों में हम उसके उन अभूत प्रकाशनों को भूल नहीं सकते, जो हिन्दी-साहित्य भांडार के अन्यतम भूषण बन चुके हैं। 'पृथ्वीराज रासो' जैसी अनेक प्राचीन दुर्लभ और अप्रकाशित पुस्तकों

---

१ डा० उदयभानु सिंह, महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग (लखनऊ, सं० २००८), पृ० २६५।

२ डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, आधुनिक हिन्दी साहित्य (इलाहाबाद, १९४८), पृ० १८१।

३ नागरी प्रचारिणी-सभा-संबंधी यह अनुच्छेद वासुदेव मिश्र के एक निबंध पर आश्रित है। निबंध के लिए देखिए सरस्वती, जनवरी १९२७, पृ० ३३-४२।

का सम्पादन प्रकाशन तो हुआ ही, सभा ने अनेक पदक और पुरस्कार देकर विभिन्न उपयोगी विषयों पर उत्तमोत्तम ज्ञानवर्द्धक पुस्तकें लिखवाई। पण्डित कामताप्रसाद गुरु से हिन्दी का एक 'सर्वांगसुन्दर व्याकरण" लिखवाया, पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, पं० लज्जाशंकर झा, बा० जगन्नाथदास रत्नाकर पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, बा० श्यामसुन्दरदास, पं० रामचन्द्र शुक्ल आदि के निर्देशानुसार उसका संशोधित रूप प्रकाशित करवाया और एक वैज्ञानिक कोश का निर्माण करवाया, जिससे हिन्दी में वैज्ञानिक शब्दों का दैन्य अंशतः दूर हुआ। सन् १९०८ में सभा ने 'हिन्दी-शब्दसागर' के सम्पादन का कार्य भार स्वीकार किया, जो हिन्दी-साहित्येतिहास में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना है। इन निर्माण कार्यों के अतिरिक्त 'एशियाटिक सोसाइटी' की पत्रिका के समतुल्य सन् १८९७ से ही सभा ने अपनी पत्रिका— नागरी प्रचारिणी-पत्रिका —का प्रकाशन आरम्भ किया, जो पहले त्रैमासिक थी फिर मासिक बनी और १९२० से फिर त्रैमासिक हो गई। इसमें मुख्यतः गवेषणामूलक, शोध-सम्बन्धी लेख ही प्रकाशित होते थे। इसके सम्पादकों में पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा आदि उद्भट विद्वान् रहे हैं।

हिन्दी समीक्षा का विकास

जिस समीक्षा को आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने 'रचनात्मक साहित्य की प्रिय सखी, शुभचिंतिणी सेविका और सहृदय स्वामिनी' कहा है उसके स्रष्टा को बच्चन ने "जन्मना परासाइट" के नाम से अभिहित किया है। इस 'जन्तु' को आजीविका के लिए पराश्रयी होना पड़ता है वह लक्ष्य ग्रन्थ पर जीता है आधार खोजता है। उसके सौभाग्य से आधार की सृष्टि पहले होती है पीछे आधेय की लक्ष्य ग्रन्थ पहले बनते हैं लक्षण ग्रन्थ पीछे। वस्तुतः जब तक सर्जनात्मक कृतियाँ उपलब्ध नहीं होतीं और जब तक श्रेष्ठ साहित्य का प्राचुर्य नहीं होता तब तक समीक्षक न तो क्रियाशील होता है न उसके उपद्रव बढ़ते हैं।[1] हिन्दी साहित्य क्षेत्र में भी यही बात हुई। यहाँ भी शनैः शनैः इन 'जन्तुओं' के उपद्रव बढ़ चले।

---

१ बच्चन : कुछ चिट्ठियाँ : "तुम नये आलोचकों से बहुत क्षुब्ध लगते हो —मैंने समालोचक नामक जन्तु का कभी अस्तित्व ही स्वीकार नहीं किया —चाहे वह नया हो, चाहे पुराना। ... वह जन्मना परासाइट (परजीवी) होता है, उसे दूसरों का कुछ खाने चबाने को चाहिए। ..." माध्यम, सितम्बर १९६५, पृ० ४।

हैं, जिनका कारण स्पष्ट है। जहा भारतेन्दु-युग मे साहित्य की कुछ ही विधाओ की उद्भावना हुई थी, द्विवेदीयुगीन साहित्य म क्रमश नई-नई विधाओ की सर्जना तथा सर्जनात्मक साहित्य की अभिवृद्धि होती है। इसके फलस्वरूप हिन्दी-समीक्षा भी आश्वस्त भाव से अपने विकास-पथ पर अग्रसर हो चली है।

द्विवेदी-युगीन हिन्दी-समालोचना की उपलब्धियो को आकने के लिए भारतेन्दुकालीन समीक्षा की निम्नलिखित विशेषताएँ ध्यातव्य हैं

(क) इस युग म रचनात्मक साहित्य के प्रणयन पर जितना बल दिया गया उतना समीक्षा पर नहीं। भारतेन्दु-युग नवीनता के बहुपथीन उन्मेष और हिन्दी-गद्य साहित्य—खडीबोली म प्रणीत साहित्य—के उद्भव का युग है। इस कारण इस युग का 'रचनात्मक कृतियो' की आवश्यकता अपेक्षया अधिक थी। फिर भी इस युग के लेखको ने हिन्दी-समीक्षा के रूप निर्माण मे जो योगदान किया उसका ऐतिहासिक महत्त्व है।

(ख) भारतेन्दुयुगीन हिन्दी-समीक्षा का प्रारम्भ नवीनता एव गतानुगतिकता की द्वित्वमूलक स्थितियो म होता है। अँगरेजी साहित्य के अनुशीलन ने हिन्दी-समीक्षको को नये-नये प्रतिमान मिलते हैं नई समीक्षा-पद्धतियो का अभिज्ञान होता है।[1] शास्त्रीय रीतिकालीन परपरा के विपरीत पाश्चात्य समीक्षा की व्यावहारिक पद्धति के अनुसार कुछ समीक्षक विशिष्ट लेखको की रचनाओ की समीक्षा करते हैं परन्तु रीति-साहित्य के समर्थक कुछ लेखक—रघुविराम कविराज मुरारिदान प्रतापनारायण सिंह प्रभृति काव्यशास्त्री—प्राचीन रीति-परपरा का ही अनुसरण करते हैं।

(ग) बालकृष्ण भट्ट द्वारा 'हिन्दी प्रदीप' म प्रकाशित कुछ निबधो म तुलनात्मक समीक्षा का बीजवपन होता है किंतु विवेच्य युग की अधिकाश समीक्षाएँ रचनात्मक कृतियो की आधारभूत प्रवृत्तियो अथवा अन्तप्रेरक पृष्ठाधारो का विश्लेषण न कर उनका परिचय मात्र प्रस्तुत करती हैं। उनमे उस अकाट्य

---

१ "आधुनिक काल के भारतेन्दु-युग मे नवीन पद्धति की समीक्षा नवीन विचारो के साथ आरम्भ-मात्र हुई, मगर उसकी परपरा चल नहीं पाई और न इस क्षेत्र मे विशेष कार्य ही हुआ। भारतेन्दु-युग प्रधानत पूरबी-पश्चिमी, स्वदेशी विदेशी के समन्वय का विवेकी युग था। ऐसे युग मे यदि समीक्षा के क्षेत्र मे प्रभूत कार्य होता तो आचार्य शुक्ल को समीक्षा की एक व्यापक पृष्ठभूमि मिलती, मगर ऐसा हुआ नहीं।" दे० आलोचना (त्रैमासिक), ३, १, अक्टूबर १९५३।

तर्कनाशक्ति का परिचय नहीं मिलता, जो शुक्लजी सरीखे सम्मान्य समीक्षक की परिपक्व रचनाओं से होना है।

द्विवेदी-युग "भाव से अधिक भाव विन्यास को और उससे भी अधिक भाषा की शुद्धता को महत्त्व देनेवाला उत्थानसंयुक्त युग था। खड़ी बोली के इस 'उन्नयन-युग" में भाषा की शब्द सम्पत्ति की अभिवृद्धि हुई और साहित्य में शिव की प्रतिष्ठा। हिन्दी-समीक्षा-क्षेत्र में नई-नई आलोचनात्मक पद्धतियों का सूत्रपात हुआ, नये-नये आलोचक अवतीर्ण हुए और नये प्रतिमान बने, जिनसे शुक्लजी एवं शुक्लोत्तर समीक्षकों के लिए एक बलिष्ठ पीठिका का निर्माण हुआ। तत्युगीन आलोचकों ने—विशेषतः मिश्र-बंधुओं और प० पद्मसिंह शर्मा ने—सर्वप्रथम तुलनात्मक समीक्षा का वास्तविक सूत्रपात किया और प्राचीन कवियों के साथ ही हिन्दी-काव्यों के काव्यगत सौंदर्य पर ऐसे निबंध लिखे जिनकी प्रभविष्णुता आज भी स्पृहणीय है। शर्माजी ने देव की अपेक्षा बिहारी को श्रेष्ठ सिद्ध किया जिसके परिणामस्वरूप १९२० के लगभग प० कृष्णबिहारी मिश्र ने "देव और बिहारी" की रचना की और कहा कि "देवजी बिहारीलालजी की अपेक्षा अच्छे कवि हैं।"[1] कई दृष्टियों से "बिहारी की सतसई"[2] और "देव और बिहारी" बड़े महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। 'देव और बिहारी' की भूमिका में विद्वत्ता एवं सहानुभूति का मणिकांचन संयोग तो हुआ ही है साथ ही इसमें बड़े ही महत्त्वपूर्ण तथ्यों का उद्घाटन हुआ है। पुस्तक में "व्रजभाषा दुर्बोधता" की अभिवृद्धि के कारणों का वर्णन और कविता पर भाषा माधुर्य के प्रभाव का विशद तथा मनोवैज्ञानिक

---

१ देव और बिहारी (लखनऊ, स० २००६), द्वितीय संस्करण की भूमिका, पृ० ६

२ पद्मसिंह शर्मा विरचित "बिहारी की सतसई" बिहारी सतसई के भाष्य की भूमिका है। जुलाई १९०७ की "सरस्वती" में उन्होंने बिहारी और फारसी कवि सादी की तुलनात्मक आलोचना प्रकाशित कराया। इस अंक में शर्माजी का एक और लेख छपा था—"भिन्न भाषाओं के समनार्थी पद्य"। यह निबंध "सरस्वती" के अनेक अंकों में क्रमशः निकलता रहा और १९११ ई० में जाकर समाप्त हुआ। इसी प्रकार जुलाई १९०८ की "सरस्वती" में उनका "संस्कृत और हिंदी कविता का बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव" निकलना शुरू हुआ और १९१२ ई० में जाकर समाप्त हुआ। स्पष्ट है कि तुलनात्मक पद्धति पर आधारित समीक्षा में ही शर्माजी की प्रतिभा का समुचित व्यंजन हो पाता था।

विवेचन है। तदुपरि लेखक अपने समालोचना-संबंधी विचारों का आकलन एवं स्पष्टीकरण प्रस्तुत करता है। तुलनात्मक समीक्षा पर मिश्रजी का "वक्तव्य" जैसा सारगर्भ है वैसा ही प्रामाणिक भी। "परिशिष्ट" का 'सारांश' डा० जानसन की उन पंक्तियों की याद दिलाता है, जिनमें इस अँगरेज समीक्षक ने ड्राइडन और पोप का तुलनात्मक मूल्यांकन किया था। मिश्रजी के निष्कर्षों से असहमत होने के कारण तथा "मिश्रबंधुओं की धींगा धींगी" से उत्प्रेरित होकर उनका खंडन करते हुए लाला भगवानदीन ने "बिहारी-बोधिनी" की भूमिका (टीकाकार का वक्तव्य) में कहा

> हमारा निश्चय है कि जिस प्रकार शान्त रस में तुलसीदासजी और वीर रस में भूषण मुख्य माने जाते हैं, उसी प्रकार शृंगार-रस के वर्णन में बिहारी का नम्बर प्रथम है। मिश्रबंधुओं ने बिहारी को "देव" से मध्यम ठहराने की चेष्टा की है सही, पर यह उनकी धींगा धींगी है। हम मिश्र-बंधुओं की 'नवरत्न' नाम की पुस्तक से ही प्रमाणित कर सकते हैं कि उन्होंने बिहारी के अनेक दोहों का अर्थ ही नहीं समझा। उलटा ही लिख मारा है कि बिहारी ने देव के भावों का (मूलतः) अपहरण किया है। प्रत्युत सत्य बात यह है कि देव ने ही बिहारी के भाव लेकर अपनी कविता का अधिक भाग शृंगारित किया है।[1]

तुलनात्मक समीक्षा की यह शैली द्विवेदी-युग में पूर्णतः विकसित न हो पाई —उसे 'सही दिशा की ओर मोड़ा' न गया। द्विवेदी-युग के अधिकांश समीक्षक जिन्होंने तुलनात्मक पद्धति अपनायी, आलोच्य कवियों के काव्य-सौंदर्य को उद्भासित करने का प्रयास कम, अपने-अपने कवि को अतिरेकपूर्ण शब्दावली में श्रेष्ठ प्रमाणित करने का यत्न अधिक करते रहे। परन्तु इनमें बहुत से ऐसे टीकाकार भी हुए, जिनकी टीका टिप्पणियाँ और भूमिकाएँ हिन्दी-समीक्षा का अविच्छिन्न अंग बन चुकी हैं और इसके विकास में अन्यतम स्थान रखती हैं।[2]

---

१ बिहारी-बोधिनी (बनारस, सं० २००७), पृ० ४-५।

२ उदाहरणार्थ—दे० कविता-कलाप (प्रयाग, १९०९) की भूमिका ले० महावीरप्रसाद द्विवेदी, भूषण-ग्रंथावली (नागरीप्रचारिणी सभा, १९०७) भूमिका-लेखक श्यामबिहारी मिश्र और शुकदेवबिहारी मिश्र, सूरसुधा (ना० प्र० स०, १९२२) भूमिका लेखक गणेशबिहारी मिश्र, श्यामबिहारी मिश्र और शुकदेवबिहारी मिश्र, बिहारी-रत्नाकर (बनारस,

इसी प्रकार द्विवेदी युग में हिन्दी भाषा साहित्य के सरक्षक एव सम्पादक के जितने भी काम हुए उनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण काम युग निर्माता पत्रिका 'सरस्वती' का प्रकाशन है। इसमें (और अन्यत्र भी) द्विवेदी जी ने ही कवि और उनके काव्य का स्तर समीक्षा करने का प्रयास तो आरम्भ हुआ परन्तु समालोचक न तो निर्वि-कार तथा वस्तुनिष्ठ निर्णय कर ही उस समय कवि और न उनके काव्य का समुचित मूल्यांकन विश्लेषण करने में उन्हें सफलता हो पाई।

जिस प्रकार अँगरेजी-समीक्षा में आधुनिक युग का आरम्भ स्वच्छन्दतावादी एव प्रभाववादी आलोचकों के युग के समारम्भ के साथ हुआ है उसी प्रकार हिन्दी समीक्षा में आधुनिकता की प्रतिष्ठा तब होती है जब समालोचकों का एक वर्ग पूरब और पश्चिम के सम्भार शास्त्रीय आलोचकों के सिद्धान्तों पर शंका करते हुए रीति आश्रित भावुकतापूर्ण समालोचना का बहिष्कार करता है। बालकृष्ण भट्ट प्रभृति और महावीरप्रसाद द्विवेदी की आलोचनाएँ परिचयात्मक प्रणाली पर आधारित हैं यहाँ तक कि स्वयं द्विवेदीजी की प्रणाली में दूर तक प्रभाव डालने वाला बोध नहीं है।[1] मिश्रबन्धुओं ने दोष-दर्शन को छोड़कर आलोचना को सराहना और अभिरुचि के पथ पर अवश्य बढ़ाया किन्तु उनके निर्णयों के मूल में प्रभावात्मक समीक्षा ही अधिक परिलक्षित एवं उभरा है।[2] इसी प्रकार देव की भाषा रचना का विवेचन करते हुए प० कृष्णबिहारी मिश्र ने एक स्थल पर लिखा है

> प्रिय पाठक, आइए अब आपको देवजी की भाषा रचना

१९२५) प्राक्कथन-लेखक जगन्नाथदास (रत्नाकर), बाबा दीन दयाल गिरि-कृत अन्योक्ति-कल्पद्रुम (इलाहाबाद, १९२८) "भक्तदर्शन" के लेखक लाला भगवानदीन और मोहनवल्लभ पंत, कबीर-ग्रंथावली (प्रयाग, १९२८) भूमिका-लेखक श्यामसुन्दरदास।

१ हिन्दी साहित्य कोश, २, पृ० ४२०–४२१।

२ "मिश्रबन्धुओं ने साहित्यिक समीक्षा का पहला रेखा चित्र हिंदी को प्रदान किया। यद्यपि इस रेखा चित्र में अनेक नवीनताएँ थीं, पर साहित्य का आधार और पुष्ट विवेचन कम ही था। रीतिकाल के साहित्यिक निर्देशों से वे पूरी तरह निकल नहीं सके थे। पद्मसिंह शर्माजी ने साहित्य के शब्द और अर्थ चमत्कार के साथ साथ मुक्तक कवियों की तुलनात्मक समीक्षा का नया मार्ग प्रदर्शित किया।" नन्ददुलारे वाजपेयी, आधुनिक साहित्य (इलाहाबाद, स० २००७) पृ० १९।

और उसकी अनोखी योजना के फलस्वरूप वर्षा में हिंडोले पर झूलते हुए प्रेमी-युगल का दर्शन करा दें। भाव ढूँढने के लिए मस्तिष्क को कष्ट न उठाना पड़ेगा शब्द आप-से-आप, वायु की हरहराहट, बादलों की घरघराहट, परस्पर शब्द करनेवाली घड़ी, छोटी छोटी बूँदियों का छिहरना सुकुमार अंगों का हिंडोले पर थर्राना और कपड़ों का फरफराना और फहराना सामने आकर उपस्थित कर देंगे। शब्दाडंबर नहीं है, पर शब्दों का निर्वाचन निस्संदेह ला-जवाब है ।[1]

देव की वात्सल्य प्रेम संबंधी कुछ पंक्तियों को उद्धृत करने के पश्चात् उन्होंने उन पर अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किए हैं—

> कितना स्वाभाविक, सरस वर्णन है। अनिष्ट भय से माता पुत्र को जाने से कैसे स्वाभाविक ढंग से रोकती है। गोपियों की सौहार्द भक्ति के उदाहरण भी देवजी ने परम मनोहर दिये हैं।

इसी तरह करुण विरह का एक उदाहरण देकर उन्होंने देव की कला की प्रशंसा की है 'कैसा करुण है कितनी हृदय द्राविनी है! काली-दह का कैसा रोमांचकारी वर्णन है! अनुप्रास और माधुर्य कैसे खिल उठे हैं! कितना मनोग्राहक है!'[3] वियोगी हरि का एक निबंध 'अहो! तुलसी का दास्य भाव!" से आरम्भ होकर विस्मयादिबोधक चिह्नों का एक अद्भुत अम्बार खड़ा कर देता है। सर्वत्र 'अहो अनुपमेय, 'अतुलनीय "धन्य", "ला" इत्यादि शब्द भरे पड़े हैं।[4] सन १८०५ में प्रकाशित शिवनन्दन सहाय का "सचित्र हरिश्चन्द्र" नामक ग्रंथ भी सर्वत्र ऐसे आवेगोद्गारों से आपूरित है।[5] रामचंद्र द्विवेदी की तुलसी-साहित्य "लाकर" नामक पुस्तक में असंख्य आलोचनात्मक तथ्यों का निरूपण है, परंतु यह भी समालोचना की प्रभाववादी पद्धति का ही एक विराट उदाहरण प्रस्तुत करती है। इस पुस्तक की व्यावहारिक आलोचना "अहो" तथा 'अहह, प्रश्नसूचक तथा विस्मय-बोधक चिह्नों के निम्न वैयक्तिक स्तर से ऊपर न उठ सकी।[6]

---

१ देव और बिहारी (लखनऊ), १९२५, पृ० ११७।
२ उपरिवत, पृ० १६०।
३ उपरिवत, पृ० २१२।
४ प्रेम-योग (गोरखपुर), पृ० २६५–२९१।
५ देखिए पृ० १२२, १५० इत्यादि।
६ दे० पृ० ४४३, ४४४ इत्यादि।

इन लेखकों के विपरीत शुक्लजी ने परिष्कृत, वैज्ञानिक तथा विश्लेषणात्मक पद्धति अपनायी और हिन्दी-समीक्षा की सम्भावनाओं का उद्घाटन किया। प्रभाववादी समीक्षा का परित्याग करते हुए उन्होंने यह भी दिखा दिया कि केवल पाश्चात्य लेखकों से भिन्न भिन्न विस्तृत उद्धरण लेकर ही हिन्दी-समीक्षा का समुचित विकास नहीं किया जा सकता। उनके समकालीन लेखकों की रचनाओं में अँगरेजी शब्द अँगरेजी के विस्तृत उदाहरण मिल सकते हैं किन्तु आधुनिकता के लिए केवल भावनाशीलता चित्रशिल्पिता और वक्तव्य संग्राम करना ही नहीं है और न समीक्षा को अँगरेजी से भाराक्रान्त करने की ही आवश्यकता है। आधुनिक समीक्षक देशी विदेशी समीक्षा की जीवन्त परंपराओं को समन्वित कर वैज्ञानिक विश्लेषण को ही महत्त्व देगा। उसके लिए समीक्षक के, उदाहरणार्थ निम्नलिखित भावोद्गार अपरिष्कृत समीक्षा के ही ज्वलंत दृष्टान्त हो सकते हैं

> सबसे अधिक उच्छवास श्री महादेवी की कविताओं में सबसे अधिक निराश आँसू श्री रामकुमार की कविताओं में। भगवती चरण की रचनाओं में तडित तीक्ष्णता है महादेवी की रचनाओं में मन्द जलन — क्रन्दन, रामकुमार की रचनाओं में सलिल बिन्दुओं की लघु लघु फुहर। जीवन की नश्वरता के प्रति तीनों कवियों की रुझान है।[1]

उनमें सूक्ष्मतम विवेचन के लक्षण नहीं पाये जा सकते। शुक्लजी ने रुचि परिष्कार" किया और यह दिखाया कि अच्छे आलोचक के लिए किन किन गुणों की अपेक्षा है। हिन्दी के वे ही पहले समीक्षक हैं जिनमें एक साथ ही साहित्यशास्त्र का ज्ञान, सौंदर्यशास्त्र में गति, सहज सहानुभूति, विश्लेषणात्मक बुद्धि तथा मनोविज्ञान का सुचिंतित अध्ययन प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में पाया जाता है।

वस्तुतः अँगरेजी उद्धरणों से समीक्षा को भाराक्रांत करनेवाले अधिकांश समीक्षकों ने अँगरेजी प्रभाव का दुरुपयोग ही अधिक किया है। उन्होंने पाश्चात्य समीक्षा को 'बिना विश्लेषण" स्वीकार ही नहीं किया, उसका अंधानुकरण भी किया है।[2] आचार्य शुक्ल ने पाश्चात्य समीक्षा से प्रभावित होकर भी, प्रभाव-

---

१ श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी, कवि और काव्य (प्रयाग, १९३६), पृ० ११६

२ इस श्रेणी में वे विद्वान भी हैं जिन्होंने अपनी रचनाओं में हिन्दी साहित्य पर पड़नेवाले विदेशी प्रभावों का निरूपण किया है। डा० रवीन्द्र सहाय वर्मा ने अपने शोध प्रबंध में—"हिन्दी-काव्य पर आंग्ल प्रभाव" नामक पुस्तक में—कई पाश्चात्य मत "बिना किसी विश्लेषण के स्वीकार कर लिये

ग्रहण की प्रक्रिया में भी, कभी अपना वैयक्तिक दृष्टिकोण विस्मृत होने नहीं दिया। डा० नगेन्द्र के अनुसार "आधुनिक आलोचना का युग वहाँ से प्रारम्भ होता है जहाँ आचार्य शुक्ल ने उसे ले जाकर स्थिर कर दिया था।"[1] शास्त्रीय आलोचना-पद्धति के सभी प्रतिनिधि लेखक—प० कृष्णशंकर शुक्ल, प० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, बाबू गुलाबराय, डा० रामकुमार वर्मा, डा० सत्येन्द्र, प्रो० शिलीमुख—आदि 'शुक्लजी की रस-पद्धति के अनुसार रस, भाव विभाव अनुभाव आदि की विवेचना पाश्चात्य शैली से करते है।'[2] विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने शुक्लजी को हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ आलोचक तथा भारतीय काव्य-समीक्षा-क्षेत्र में नूतन चिंतन-दृष्टि का प्रतिष्ठापक कहा है।[3] उनके कथनानुसार "भारतीय पक्ष को अपने ढंग से प्रस्तुत करनेवाले और उसके मानदंड से देशी विदेशी सभी प्रकार की विचार-सरणियों को माप लेनेवाले सबसे पहले भारतीय समीक्षक शुक्लजी ही है।"[4] उन्होंने ही द्विवेदी-युग से आगे बढ़कर संस्कृत काव्य शास्त्र को अँगरेजी से अनुस्यूत करते हुए नवीन शब्दों एवं सिद्धांतों का अपने ढंग से व्यवस्थित रूप दिया और 'अपने पूर्ववर्ती आलोचकों की निन्दा-स्तुति-पूर्ण तथा गंभीर तत्त्व-चिंतन से हीन रूढ़िवादी काव्यशास्त्रीय शब्दावली से बोझिल, उथली समीक्षा-प्रणाली से ऊपर उठकर हिन्दी-समीक्षा को पहली बार गहन एवं मौलिक तात्त्विक विवेचन से युक्त तथा रसग्राहिता से समन्वित व्यापक धरातल पर प्रतिष्ठित किया।"[5]

महावीरप्रसाद द्विवेदी पर आंग्ल प्रभाव

द्विवेदीजी के कतिपय काव्य शास्त्रीय निबंध बड़े ही रोचक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। उन्होंने वर्ण्य विषय के अनुकूल वृत्त प्रयोग एवं

हैं। लेखक हिन्दी के प्रत्येक लेखक पर किसी-न किसी रूप में अँगरेजी का प्रभाव बताने पर तुला हुआ है।" दे० आलोचना, ४, ४, १९५५, पृ० ९९।

१ विचार और अनुभूति (दिल्ली, सं० १९९१), पृ० ८९।
२ उपरिवत्।
३ हिंदी का सामयिक साहित्य (काशी, वि० २००८), पृ० ३९।
४ उपरिवत, पृ० ४३।
५ डा० जगदीश गुप्त, "शुक्लोत्तर समीक्षा", दे० हिंदी आलोचना की अर्वाचीन प्रवृत्तियाँ (बम्बई), पृ० १०।

छन्द-योजना की चर्चा भी की और कहा कि दोहा, चौपाई, सोरठा, घनाक्षरी, छप्पय और सवैया के अतिरिक्त और भी छन्द प्रयुक्त होने चाहिए। पाश्चात्य में अनुप्रास-हीन छंद भी हिन्दी में लिए जा सकते हैं। अनुप्रास और यमकादि शब्दाडम्बर कविता के एक आधार नहीं हैं जिनके अभाव में कविता निर्जीव हो जाती है अथवा उससे कोई अपरिमेय हानि पहुँचती है। द्विवेदीजी के मतानुसार गद्य और पद्य की भाषा पृथक्-पृथक् न होनी चाहिए। उन्होंने गद्य-पद्यात्मक साहित्य के लिए सभ्य-समाज की भाषा को ही ग्राह्य घोषित किया और इस बात पर सन्तोष व्यक्त किया कि आधुनिक कवियों पर बोलचाल की हिन्दी भाषा ने अपना प्रभाव डालना आरम्भ कर दिया है। अर्थ-सौरस्य का विवेचन करते हुए उन्होंने कहा है कि 'विलाप वर्णन करने में कवि के मन में यह भावना होनी चाहिए कि वह स्वयं विलाप कर रहा है और वर्णित दुःख का स्वयं अनुभव कर रहा है। प्राकृतिक वर्णन लिखने के समय उसके अन्तःकरण में यह दृढ़ संस्कार होना चाहिए कि वर्ण्यमान नदी पर्वत अथवा वन के सम्मुख वह स्वयं उपस्थित होकर उनकी शोभा देख रहा है। जब कवि की आत्मा का वर्ण्य विषयों से इस प्रकार निकट का संबंध हो जाता है, तभी उसका किया हुआ वर्णन यथार्थ होता है और तभी उसकी कविता पढ़कर पढ़नेवालों के हृदय पर तद्वत् भावनाएँ उत्पन्न होती हैं।'[1] कवि के लिए कल्पना शक्ति-सम्पन्न तथा सहृदय होना अनिवार्य है।[2] अपनी कल्पना शक्ति से ही कवि अनजाने पदार्थों और दृश्यों का ऐसा मनोहारी चित्र अंकित करता है कि पढ़ने या सुननेवाले एकाग्रचित्त हो उसकी बातों पर चिंतन मनन करते हैं। वह अपने अवलोकन तथा कल्पना शक्ति से ही ऐसी शिक्षा देता है कि वह न तो आज्ञा का रूप धारण करती है और न अपनी स्वाभाविक शुष्कता ही प्रकट करती है। वस्तुतः शास्त्रोक्त गुणों के अतिरिक्त कविता में पाँच और गुण होने चाहिए

(क) उसमें साधारण लोगों की अवस्था, विचार और मनोविकारों का वर्णन हो,
(ख) उसमें धीरज साहस प्रेम और दया आदि के उदाहरण रहें,
(ग) कल्पना सूक्ष्म और उपमादिक अलंकार गूढ़ न हों
(घ) भाषा सहज स्वाभाविक और मनोहर हो
(ङ) छंद सीधा, परिचित सुहावना और वर्णन के अनुकूल हो।[3]

---

१ रसज्ञ-रंजन (आगरा, सं० २००६), पृ० २०।
२ उपरिवत, पृ० २८।
३ उपरिवत, पृ० ३१।

रोमांटिक कला के मूलभूत प्रतिमानों पर आधृत इन सिद्धांतों में वड्‌स्वर्थ की उस भूमिका की कितनी ही पंक्तियाँ प्रतिबिंबित हो रही हैं जिसमें उसके काव्य-संबंधी विचार निरूपित हैं। "लिरिकल बैलेड्स" के द्वितीय संस्करण की भूमिका में वड्‌स्वर्थ ने ऐसे अनेक मत व्यक्त किए हैं जिनसे द्विवेदीजी के ये सिद्धांत मिलते-जुलते हैं और, ऐसा जान पड़ता है, प्रभावित हैं। जब द्विवेदीजी कहते हैं कि "भाषा बोलचाल की हो, क्योंकि कविता की भाषा बोलचाल से जितनी ही दूर जा पड़ती है, उतनी ही उसकी सादगी कम हो जाती है" तब हमें वड्‌स्वर्थ का स्मरण हो आता है जिसने कहा था कि "जिस कविता का मैं यहाँ स्तवन कर रहा हूँ उसकी भाषा यथासंभव उसी भाषा से ग्रहण की जाती है जिसका प्रयोग मनुष्य, वास्तव में बोलचाल में करता है।[1] जब द्विवेदीजी कहते हैं कि "गद्य और पद्य की भाषा पृथक्-पृथक् न होनी चाहिए"[2] तब हमें इसी अँगरेज कवि के इस कथन की भी याद आती है कि 'प्रत्येक सुन्दर कविता की भाषा अधिकांश में सुष्ठु गद्य की भाषा से किसी प्रकार भी भिन्न नहीं हो सकती। इससे भी आगे बढ़कर हम निस्संकोच यह कह सकते हैं कि गद्य भाषा और छन्दोबद्ध रचना की भाषा में न तो कोई तात्त्विक अंतर है न हो सकता है।'[3] द्विवेदीजी ने 'स्वाभाविक' कवि को एक प्रकार का अवतार कहा है, जो 'धर्म-संस्थापनार्थाय' उत्पन्न होता है, जो लोक-कल्याण का लक्ष्य बनाकर साहित्य-साधना करता है। उसकी कल्पना शक्ति तीव्र होती है। पद्य के नियम कवि के लिए एक प्रकार की बेड़ियाँ हैं जिनसे जकड़ जाने पर "कवियों को अपनी स्वाभाविक उड़ान में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। कवि का काम है कि वह अपने मनोभावों को स्वाधीनतापूर्वक प्रकट करे।[4] उसके लिए कल्पना शक्ति अत्यंत उपयोगी और अनिवार्य है और साथ ही ईश्वर प्रदत्त प्रतिभा भी जो अभ्यास-मात्र से प्राप्त होने की नहीं। इसी प्रतिभा तथा कल्पना शक्ति के कारण कवि भूत और भविष्य को हस्तामलकवत् देखता है वर्तमान की कोई बात ही नहीं। उसका कार्य है

१ वड्‌स्वर्थ, "कविता और काव्य-भाषा", दे० डा० (श्रीमती) सावित्री सिन्हा (सम्पा०), पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परंपरा (दिल्ली, प्र० ति० र०), पृ० १४३–१४४।

२ रसज्ञ-रंजन, पृ० १९।

३ वड्‌स्वर्थ, उ० ग्र०, पृ० १४३।

४ रसज्ञ-रंजन, पृ० ५०–५१।

प्रकृति विशेषों का अनुशीलन, अपनी सूक्ष्मातिसूक्ष्म दृष्टि से प्रकृति के विभिन्न रूपों का अवलोकन तथा काव्य में उनका सम्यक् प्रतिबिंबन।

कितने ही आलोचकों ने[1] इन मान्यताओं के मूल में वर्ड्सवर्थ का प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव देखा है। इसमें संदेह नहीं कि वर्ड्सवर्थ की पूर्वोक्त भूमिका ने द्विवेदीजी के समीक्षात्मक निबंधों और उनके सौन्दर्यशास्त्रीय चिंतन को प्रभावित किया था किन्तु प्रभावों की समस्या का इतना सरल-सुगम समाधान न्यायसंगत नहीं जँचता। जहाँ यह सत्य है कि द्विवेदीजी के लिए 'लिरिकल बैलड्स' की भूमिका में ऐसे काव्यशास्त्रीय तथ्य प्रतिपादित थे जिनका रीतिकालीन काव्य-परम्पराओं के दुष्प्रभाव तथा ब्रजभाषा-काव्य की अतिवृद्धि से सन्त्रस्त हिन्दी-काव्य के लिए प्रचुर महत्त्व था वहाँ यह भी स्मरणीय है कि इस भूमिका की कितनी ही मान्यताएँ अन्यान्य रोमांटिक कवि आलोचकों में भी पायी जाती हैं। वर्ड्सवर्थ ने काव्य को उद्दाम आवेगों का सहज उच्छलन तो कहा ही है साथ ही यह भी कहा है कि कविता कल्पना की उस ऐसी प्रक्रिया से आविर्भूत होती है जिसमें आत्मा की अन्तःस्फूर्ति और उससे प्रेरित भावों का स्थान अन्यतम रहता है। ये मत उस युग के प्रायः सभी रोमांटिक समीक्षकों की रचनाओं में स्थापित होते हैं। कॉलरिज ने आवेगों की गहनता तथा अन्तर्विस्तार को नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा का एक अविच्छिन्न अंग माना है (यद्यपि उसने यह भी स्वीकार किया है कि इस गुण के विपरीत विचारों की ऊर्जस्विता तथा निर्वैयक्तिकता भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं)। शेली ने भी कवि की संवेदनशीलता पर जोर दिया है और जान स्टुअर्ट मिल ने कवि का जो चित्र रूपायित किया है, उसके अनुसार कवि अत्यन्त भावप्रवण तथा सहज प्रभावग्राही व्यक्ति होता है।

रोमांटिक भावधारा का अवतरण

ऐतिहासिक दृष्टि से कला विषयक इस विचार धारा का सूत्रपात उन्नीसवीं शती की रोमांटिक "क्रांति" से नहीं होता। वस्तुतः ऐसे विचार प्लेटो की रचनाओं में भी वर्तमान हैं जहाँ कला को मनोवेगों का अभिसेचक कहा गया है।[2] ये अरस्तू

---

१ उदाहरणार्थ—दे० हिन्दी काव्य पर आंग्ल प्रभाव (कानपुर, २०११), पृ० ९७–९८, डा० विश्वनाथ मिश्र हिंदी भाषा और साहित्य पर अंग्रेजी प्रभाव (देहरादून, १९६३), पृ० ११५–११८।

२ It can be found as far back as Plato who describes art as 'watering the passion' Jerome Stolnitz, *Aesthetics and Philosophy of Art Criticism* (Cambridge, 1960) p 159

तथा लॉगिनुस की रचनाओं में भी देखे जा सकते हैं और अभिजात चिंतन में अन्यत्र भी। फिर भी, सर्वप्रथम उन्नीसवीं शती में ही यह धारणा अत्यंत बलवती हो उठती है कि काव्य मनुष्य के सहज आवेगों का आलेख तथा इनकी अभिव्यक्ति का एक उपकरण है। काव्य के सभी क्षेत्रों में कलाकार इस मत से प्रभावित हुआ है और तदनुसार काव्य-सृष्टि की है। नव्यशास्त्रवादी परंपरा ने कलाकार पर जो नियंत्रण आरोपित किए थे, उनके विरुद्ध ही इस क्रांति का उद्भेद हुआ था। नव्यशास्त्रवाद काव्य में आवेगपूर्ण भावात्मकता एवं भावनाओं के सहज उन्मरण का विरोधी था। आवेगों का अतिशय प्रदर्शन औचित्य और मर्यादा के आदर्शों का अतिक्रमण समझा जाता था। इसके अतिरिक्त नव्यशास्त्रवादी चिंतक जिनके लिए काव्य परिष्कृत अभिरुचिवाले सभी मनुष्यों के सामान्य अनुभवों की अभिव्यक्ति था, आवेगों को ही स्वभावतः व्यक्तिपरक तथा आत्मनिष्ठ समझते थे।

“रसज्ञ रंजन” में संकलित निबंध उस समय लिखे गए थे जब इंगलैंड में बिम्बवाद की सत्ता से अभिन्न एक नव्य प्रयोग का उन्मेष हो चुका था जिसके मूल में उन्नीसवीं शती की ह्रासोन्मुख तथा दुर्बोध कविता के प्रति विद्रोह की भावना थी। बिम्बवादी कवियों ने अपने घोषणा-पत्र में कहा है कि हम काव्य के लिए जन-साधारण की भाषा का प्रयोग करेंगे और हमारे शब्द उपयुक्त तथा सटीक होंगे, न कि केवल प्रसाधक अथवा आलंकारिक। ध्यातव्य है कि यह घोषणा-पत्र १९१५ ई० में ही प्रकाशित हो चुका था। टी० एस० एलियट के कितने ही निबंध, जो बाद में 'द सैक्रेड वुड' में एकत्रीकृत हुए, सन १९१७ और १८२० के अंतराल में ही लिखे जा चुके थे। एलियट उन अधुनातन लेखकों में हैं जिन्होंने बार-बार यह घोषित किया है कि काव्य-जगत में होनेवाली समस्त क्रांतियों का एक ही उद्देश्य होता है—कविता को जन-साधारण की भाषा की ओर प्रत्यागमन के लिए बाध्य करना।[1] वर्ड्सवर्थ ने अपनी भूमिकाओं में ऐसी ही क्रांति की घोषणा की थी। वॉलर, डेनहम, ड्राइडन प्रभृति कवियों ने भी यही किया था। कॉलरिज की 'बायोग्राफिया लिटरेरिया' में काव्य संबंधी विचार भी ऐसे ही हैं।

द्विवेदीजी के विचारों पर वर्ड्सवर्थ की पूर्वोक्त भूमिका का प्रभाव स्पष्ट

---

1 'Every revolution in poetry is apt to be, and sometimes to announce itself as, a return to common speech.' T. S. Eliot, *The Music of Poetry* 1942

है परन्तु हो सकता है कि रोमांटिक काव्यधारा के अन्य समाचारों से विचार भी उनके लिए उपलब्ध रहे हों और वे उन विचारों से परिचित हों। उन्होंने एक स्थल पर मिल्टन की यह उक्ति उद्धृत की है कि "कविता सादी हो, जोश से भरी हुई हो और असलियत से गिरी हुई न हो।"[1] उन्होंने सर विलियम जोन्स पर भी एक निबन्ध लिखा है जिसमें जोन्स के संस्कृत-अध्ययन का बड़ा ही रोचक वर्णन प्रस्तुत है।[2] जोन्स ने रोमांटिक कवियों को भारतीय संस्कृति एवं चिन्तन से परिचित कराया था और उनके कई ऐसे अनूदित ग्रन्थ लिखे थे जिनसे उन्हें भारतीय संस्कृति की गौरव-गरिमा का यत्किंचित आभास मिला था। परन्तु द्विवेदीजी के किसी भी निबन्ध से ऐसा भान नहीं होता कि अंगरेजी साहित्य में जो नानाविध नव्य प्रयोग तथा प्रगतिशील परिवर्तन उपस्थित हो रहे थे, उनसे वे परिचित थे। उनके काव्य सम्बन्धी विचारों पर उस बिम्बवादी प्रतिक्रिया के प्रभाव का लेश भी नहीं मिलता जिसमें ह्यूम, पाउंड, फ्लिण्ट, आल्डिंगटन आदि ने सक्रिय भाग लिया था। अंगरेजी साहित्य में होनेवाले नवीनतम परिवर्तनों से उनकी रचनाएँ हमारा परिचय नहीं करातीं और न कदाचित् सम्भावित यह उनके लिए सम्भव ही था। भारतीय विश्वविद्यालयों में उन्नीसवीं शती तक का या अधिक-से-अधिक जाजियन कवियों की रचनाएँ ही प्रविष्ट और लोकप्रिय थीं।[3] जब नये मतवादों में अभी स्थायित्व का अभाव था और जब उन्नीसवीं

---

१ रसज्ञ-रंजन, पृ० ५७।

२ साहित्य-सीकर (कानपुर, सं० २०००), पृ० ४५-५२। इस पुस्तक के तीन और निबंध द्रष्टव्य हैं: 'पुराने अँगरेज अधिकारियों के संस्कृत पढ़ने का फल' (पृ० ५३-६४), "योरप के विद्वानों के संस्कृत लेख और देवनागरी लिपि" (पृ० ६४-७४), "अंगरेजों का साहित्य-प्रेम" (पृ० ७५-७८)।

३ वर्तमान शती के चौथे दशक तक हमारे विश्वविद्यालयों में रोमांटिक और विक्टोरियन कवियों का ही सर्वाधिक अध्ययन-अध्यापन होता था। एक लेखक के एतद्विषयक अनुभवों का सजीव रूपांकन इन शब्दों में प्रस्तुत मिलता है —

'Let me try to make my position clear I said I hadn't heard of Leavis until 1947 and I must add that T S Eliot was no more than a name when I left the University in '42 with moderate success in the English School at

शती की रोमानी भावगत परंपराएँ बन चुकी थीं, द्विवेदीजी का अँगरेजी काव्य-विषयक अध्ययन उन्नीसवीं शती तक ही सीमित रहा होगा। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि स्वच्छन्दतावाद का अभ्युदय आभिजात्यवादी काव्य के ह्रास से हुआ था, आधुनिक हिन्दी-साहित्य का अभ्युदय खड़ीबोली के उन्नयन से। द्विवेदी-युग को ऐसे ही नेतृत्व की आवश्यकता थी जो खड़ीबोली के प्रभाव को पहचानकर उसे युग के कवित्व में संचरित कर सके। जब वर्ड्सवर्थ ने देखा कि आभिजात्यवादी काव्य युग के अभिव्यक्ति का वरेण्य नहीं है तब उसने स्वच्छन्दतावाद का आवाहन किया। जब द्विवेदीजी ने देखा कि ब्रजभाषा की सुकुमारता एवं एकान्तिकता युग की नानाविध चिन्ताओं की व्याख्या करने में असमर्थ है तब उन्होंने वर्ड्सवर्थ के काव्य प्रतिपादित मतवाद से प्रेरणा ली और हिन्दी वाङ्मय के अनन्त किरीट को खड़ीबोली पर रखा।[1]

द्विवेदीजी पर प्राय: भारतीय सांस्कृतिक परंपराओं का भी सघन प्रभाव था और उनमें स्वस्थात्मक परंपराओं के प्रति अटूट श्रद्धा थी। इसलिए उनके समीक्षात्मक निबंधों में रस सिद्धान्त को ही महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है। डा० बलवन्त लक्ष्मण कोतमिरे ने उनके कर्तृत्व एवं उपलब्धियों का इस प्रकार मूल्यांकन किया है

> द्विवेदीजी के समय में अँगरेजी साहित्य में विक्टोरिया-युगीन आलोचना की शास्त्रीय पद्धति का प्रवेश हो चुका था जो आदर्श एवं

Mysore I must hasten to add that this wasn t peculiar to Mysore such was the literary and academic milieu that the Indian youth of those days were brought up much too much on the Romantics and the eminent Victorians both of whom we had been taught to admire—from afar For one thing it must have suited the Indian mind of those days which was it will not be wrong to say, obsessed with the national struggle for the liberation of the country from the foreign domination " (Vide C D Narasimhaiah(ed) *F R Leavis Some Aspects of His work* (Mysore, 1963), p 12

१ केसरी कुमार, 'द्विवेदीकाल की प्रतिनिधि शैली', साहित्य और समीक्षा (पटना, १९५१) पृ० ४१।

> प्रभावशाली था। परन्तु अँगरेजी समालोचना का प्रभाव द्विवेदीजी के काल में नहीं दिखाई पड़ता। उनकी अन्तिम कृतियों में रामानन्दिक भावधारा का भी कुछ प्रभाव लक्षित होता है। वे एक सनातनी हिन्दू एवं पुरातन सिद्धान्तवादी भी थे अतः कवियों या कलाकारों के प्रति उनकी भावना ईश्वरवादी थी अर्थात् वे कलाकार को साहित्य के क्षेत्र में ईश्वर का ही अवतार मानते थे। वे नवीनता के ग्राहक थे परन्तु अपनी पुरानी परंपरा की रक्षा करके उन्होंने नवीनता को ग्रहण किया। शास्त्रीय संयम से युक्त स्वच्छन्दतावादी परंपरा का स्वरूप उनकी आलोचनात्मक कृतियों में मिलता है।[1]

जहाँ तक कलाकार को ईश्वर या अवतार मानने का संबंध है, ऐसी विचारधारा में नवीनता नहीं दीखती। रोमीय साहित्य में कवियों को युगद्रष्टा और पैगम्बर तक कह डाला गया है और शेली ने काव्य को दिव्यशक्ति-सम्पन्न माना है।[2] इसी प्रकार यह कथन कि 'अँगरेजी समालोचना का प्रभाव द्विवेदीजी के काल में नहीं दिखाई पड़ता' अत्यन्त भ्रामक है। वर्ड्सवर्थ की वह उपर्युक्त भूमिका अँगरेजी समीक्षा का ही अविच्छिन्न महत्त्वपूर्ण अंग है जिसने द्विवेदीजी को प्रभावित किया था। मैक्समूलर और डा० ग्रियर्सन सरीखे समर्थ पाश्चात्य विद्वानों ने भी हिन्दी के द्विवेदी-कालीन आलोचकों एवं साहित्येतिहासकारों को प्रभावित किया है। फिर भी डा० श्रोत्रिय का यह कथन स्वीकार है कि डा० श्यामसुन्दरदास ने जिस सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक आलोचना में भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यसिद्धान्तों को समन्वित करने की चेष्टा की थी उसको समुचित सुदृढ़ पीठिका पर स्थापित करने का कार्य आचार्य शुक्ल की समीक्षात्मक कृतियों द्वारा ही सम्पन्न हुआ है।[3]

---

१ हिन्दी गद्य के विविध साहित्य-रूपों का उद्भव और विकास (प्रयाग १९५८), पृ० २९८।

२ 'Among the Romans a poet was called Vates which is as much as a diviner foreseer or prophet' दे० सिडनी, एन एपोलजी फार पोयट्री (द वर्ल्ड्स क्लासिक्स, १९४३), पृ० ५। इसी प्रकार शेली का यह कथन ज्ञातव्य है

'Poetry is indeed something divine It is at once the centre and circumference of knowledge

दे० अ डिफेन्स आव पोयट्री (द वर्ल्ड्स क्लासिक्स, १९४५), पृ० १५५।

३ हि० ग० वि०, पृ० ३०३।

द्विवेदीजी के अँगरेजी भाषा-साहित्य विषयक परिज्ञान का अनुमान उनके विषय अनुवादों से किया जा सकता है। उनकी "स्वाधीनता" और 'शिक्षा' नामक पुस्तक जान स्टुअर्ट मिल का "लिबर्टी" तथा हर्बर्ट स्पेंसर की 'एडुकेशन' का ही अनुवाद हैं। "बेकन विचार-रत्नावली" में लार्ड बेकन के मुख्य-मुख्य निबंधों के अनुवाद संकलित हैं।

पद्मसिंह शर्मा ने अपनी समीक्षाओं में काव्य के शिल्प और रचना-कौशल पर—भाषा चमत्कार तथा उक्ति-वैचित्र्य पर—अधिक बल दिया है। उनके प्रतिमान देव और बिहारी के मुक्तकों तथा काव्य प्रतिमानों से प्रभावित हैं।[1] इस कारण उनके विचार नवीन काव्य धारा का स्पर्श न कर पाए। मिश्रबंधुओं के 'मिश्रबंधु विनोद' को 'कवि-वृत्त-संग्रह' मान कहा गया है परंतु साहित्य-इतिहास के प्रणयन के इस प्रयास का ऐतिहासिक महत्व है जिसे हम अस्वीकृत नहीं कर सकते। सरकार की आर्थिक सहायता से नागरी प्रचारिणी सभा ने सन् १९०० से पुस्तकों की खोज का काम हाथ में लिया था और सन् १९११ तक अपनी खोज की आठ रिपोर्टों में सैकड़ों अज्ञात कवियों तथा ज्ञात कवियों के अज्ञात ग्रंथों का पता लगाया था। 'मिश्रबंधु विनोद' इस सारी सामग्री पर आधृत एक "बड़ा भारी कवि-वृत्त-संग्रह" है।[2] रीतिकालीन कवियों के परिचय लिखने में शुक्लजी ने इसी विनोद से विवरण लिए हैं[3] और ऐतिहासिक आलोचना-पद्धति का वास्तविक सूत्रपात इसी ग्रंथ में होता है। शुक्लजी के साहित्येतिहास में काल-विभाग की जो योजना है उस पर भी उनके प्राग्भूत इतिहासकारों का प्रभाव है उस पर 'स्पष्टतः न केवल ग्रियर्सन, बल्कि मिश्र-बंधुओं की योजना की भी छाप है यद्यपि शुक्लजी ने प्रथम का तो केवल नामोल्लेख किया है और दूसरे की अनावश्यक कटुता के साथ आलोचना ही की है।'[4]

मिश्रबंधुओं ने कवियों की जाँच करते समय मुख्यतः दो बातों पर सर्वाधिक ध्यान दिया। अँगरेजी या वर्तमान विचारों से कवियों की जाँच में दो मुख्य प्रश्न उठते हैं—"कवि को कुछ कहना था या नहीं, और उसने उसे कैसा कहा है?"

---

१ नंददुलारे वाजपेयी, आधुनिक साहित्य (इलाहाबाद सं० २००७), पृ० २७९।

२ "प्रथम संस्करण का वक्तव्य"। दे० रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास (बनारस), १९९९), पृ० १।

३ उपरिवत्, पृ० ९।

४ नलिनविलोचन शर्मा, साहित्य का इतिहास-दर्शन, (पटना), १९६०], पृ० ८०।

'हिंदी नवरत्न' के कवियों की समीक्षा इन्हीं दो प्रश्नों को ध्यान में रखकर की गई है। अयत्र भी मिश्रबंधुओं की समीक्षात्मक रचनाएँ डाक्टर जानसन के 'लाइव्ज आव द पोयट्स' नामक ग्रंथ में संकलित समीक्षाओं के सदृश हैं। डाक्टर जानसन ने कवियों की कृतियों की समीक्षा करने के पूर्व उनमें प्रत्येक का जीवन वृत्त लिखा है। समीक्षा की इस प्रणाली का निस्सन्देह अपना महत्त्व है। जानसन ने अपनी समीक्षा का आधार कवि के जीवन को न बनाकर उसकी कृतियों को बनाया है—कवि के जीवन और उसकी कृतियों को पृथक्-पृथक् रखकर दोनों का परिचय और समीक्षा प्रस्तुत की है। समीक्षा की यह प्रणाली उस अद्यतन प्रणाली से सर्वथा भिन्न है जिसमें कवि का जीवन वृत्त और उसकी कलाकृतियों की व्याख्या परस्पर संयुक्त हो जाती है जिसे हम जीवालोचनात्मक (bio critical) समीक्षा कहते हैं। इस परवर्ती प्रणाली का उद्भव इंगलैंड में उन्नीसवीं शती में हुआ। जानसन की समीक्षा-पद्धति से यह इस कारण भिन्न है कि जीवन वृत्त और कलाकृति के पार्थक्य को यह स्वीकृत नहीं करती वरन् एक का उपयोग दूसरे के अर्थ निर्णय अथवा स्पष्टीकरण के लिए करती है।

मिश्रबंधुओं की समीक्षा में सुलझे हुए विचार मिलते हैं विचार-स्वातन्त्र्य एवं आलोच्य ग्रंथों का गंभीर व्यापक अध्ययन मिलता है। प्रत्येक निष्कर्ष का आधार कवि की कलाकृति ही रहती है निराधार अनुमान या पूर्वग्रह नहीं। प्रमुख विचार बिंदुओं का क्रमानुसार वर्णन और मत पुष्टि के लिए अनेकानेक प्रसंगोचित उद्धरण प्रस्तुत मिलते हैं। मिश्रबंधुओं की मानसिक दृढ़ता और सत्यपरता उनकी उन रचनाओं में भलीभाँति देखी जा सकती है जिनमें उन्होंने महाकवियों के दोषों का भी निस्संकोच उद्घाटन किया है। द्विवेदीजी ने 'हिन्दी नवरत्न' के अनेक दोषों की ओर सरस्वती के पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया था जिसके परिणाम स्वरूप मिश्रबंधुओं ने लिखा

> पुस्तक के रचयिता जैसे अल्पज्ञ हैं वह पुस्तक दर्शन से ही प्रकट हो जाता है परन्तु उन लोगों के बड़े सौभाग्य की बात है कि सरस्वती के सम्पादक पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के समान विज्ञ पुरुष ने उस पर भारी समालोचना लिखने का श्रम उठाया। संपादक महाशय ने जनवरी एवं फरवरी की सरस्वती के ४२ कालमों में इस 'समालोचना' को प्रकाशित किया है। ऐसे अल्पज्ञों के तुच्छ ग्रंथों पर धुरंधर पंडितों के भारी श्रम उठाने से ही उनका महत्त्व प्रकट है।[1]

---

१ मर्यादा, भाग ३, संख्या ५, मार्च १९१२, पृ० २६४।

मिश्रबंधु न तो "अल्पज्ञ थे और न उनका 'हिंदी नवरत्न' एक तुच्छ ग्रथ ही। उनकी शालीनता के मूल म सत्समालोचक का व्यापक अध्ययन पाया जाता है वह आत्मविश्वास मिलता है जिसकी सिद्धि से इन्होंने द्विवेदीजी के प्रत्येक तर्क को निराधार प्रमाणित किया और 'हिंदी नवरत्न' म प्रयुक्त मूल्य प्रतिमानो का पुष्टीकरण भी। इस ग्रथ की समालोचना मे द्विवेदीजी ने कहा था कि मिश्रबधुओ ने आचार्य और महाकवि की पदविया बडी उदारता से बाटी हैं। द्विवेदीजी के अनुसार देव महाकवि नही हैं, क्योकि उन्होने उत्कृष्ट भावो का उद्बोधन नही किया, समाज, देश या धर्म को कविता द्वारा लाभान्वित नही किया। मिश्रबधुओ को ऐसे विचार ग्राह्य नही हैं। उन्होने उन व्यक्तियो को आचार्य कहा है जिन्होने 'एक या अधिक अच्छे ग्रन्थो की रचना की है। रीति-ग्रन्थ उन्हे कहते हैं जिनमे पाठक को काव्याग सिखलाए गए हो।"[1] गद्य पद्य और सगीत के वास्तविक अतर का विवेचन करते हुए उन्होने जिस तथ्य का प्रतिपादन किया है, वह ज्ञातव्य है

> गद्य, पद्य और सगीत म वास्तविक अतर यही है कि गद्य म विचारो का प्रयोग हर्ष वा शोकोत्पादक हृदयान्तरिक भावो की अपेक्षा विशेष अधिक, पद्य म प्राय समभाव स और सगीत म अति अल्प होता है। अत जिस पद्य ग्रन्थ म विचारो का प्रयोग बहुतायत स किया गया हो, वह पद्य गद्यवत् हो जाता है और इसी हेतु न्याय सांख्य वेदान्त, वैशेषिक मीमासा, कोश, चिकित्सा गणित आदि शास्त्रो का पद्य म लिखना मे वर्णन उत्तम कदापि नही हो सकता —एव ही जिस गद्य ग्रन्थ मे हर्ष वा शोकोत्पादक भावो का बडा समावेश होता है (जैस प० अयोध्यासिंह उपाध्याय कृत 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' म), वह गद्य पद्यवत हो जाता है।[2]

"हिन्दी काव्य' शीर्षक निबध म उन्होने हिन्दी भाषा म जिन ग्रन्थो की आवश्यकता थी उनका 'दिग्दर्शन' कराया और एक वृहत सूचीपत्र उपस्थित किया जो उन पर पडनेवाले अँगरेजी प्रभाव का द्योतन करता है

(ट) हिन्दी भाषा (इस या ऐसे नाम का भाषा साइस के लेक्चर्स आन दि इंग्लिश लैंग्वेज की तरह नागरी पर एक वृहत् ग्रन्थ)।

(ध) हिन्दी रसविनाश गण (इस या ऐसे ही नाम से "नाम मैनुअल आफ

---

१ उपरिवत्, पृ० २७१।

२ सरस्वती, भाग १, सख्या १२, दिसबर १९०० ई०, पृ० ४०५।

"गलिश लिटरेचर" तथा वाड्स इंग्लिश पोयट्स" की भांति हिंदी म एक बहुत बडा सग्रह) । इस ग्रन्थ म भाषा के प्राय सभी गद्य पद्य और नाटक लेखको की रचनाओ के मनोहर भाग प्रत्येक लेखक पर एक समालोचनागर्भित भूमिका तथा समग्र सग्रह पर एक बडी उपक्रमणिका आदि विषय रहने चाहिए और इसका विस्तार लगभग दो ढाई सहस्र पृष्ठ का हो । पर यह एक मनुष्य का काम नहा है । [1]

स्पष्टत मिश्रबधु भी समीक्षा लेखन म उसी उद्देश्य से प्रेरित हुए थे, जिसम डाक्टर जानसन और डाक्टर जानसन की तरह वे भी नीतिमूलक कलाकृतिया के पक्षपाती थे । वे चाहते थे कि हिंदी म प्राकृतिक तथा हृदयान्तरिक भाव-प्रदर्शक साहित्य का नितना हो सके निर्माण हो और नाटक तथा गद्य ग्रथ बन जिनमे प्रसगानुसार स्थान-स्थान पर कुरीतियो के सुधार तथा सुरीतियो क प्रचार का अनुरोध हो। ग्रथो के पात्रो के शील स्वभाव का भी एकरस निर्वाह होना चाहिए।

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' के समीक्षात्मक सिद्धात "रसकलस 'बोलचाल', "रस-साहित्य और समीक्षाए" आदि ग्रथो म मिलते है । वदेही वनवास" के वक्तव्य और 'प्रियप्रवास" की भूमिका म भी भाषा-समुन्नयन म शब्द चयन का योग छद की बाधक स्थिति अन्त्यानुप्रास जसे महत्त्वपूर्ण विषयो पर लेखक के विचारो का प्रस्तुतीकरण है । हरिऔध के अनुसार 'नाटक आदि म भले-बुरे सभी प्रकार के पात्र होते हैं। भले की भलाई और बुरे की बुराई दिखला कर एक का उत्कर्ष और दूसरे का पतन दिखलाया जाता है ।' (शक्सपियर के नाटको म 'किंग लियर', आर्थेलो" जस दुखात नाटको म ऐसी बात नहीं होती। जीवन मे भले की भलाई की जगह भले की बुराई देखी गई है । इस दृष्टि म शेक्सपियर के नाटक उन नाटको की अपेक्षा अधिक यथार्थमूलक है जिनम भले की भलाई और बुरे की बुराई दिखायी जाती है ।) हरिऔध के नाट्यसिद्धान्त स डा० जॉनसन पूर्णतया सहमत होते । दोनो ही लेखक नाटको म काव्यगत न्याय (पोयटिक जस्टिस) का समर्थन करते हैं यथार्थमूलक चरित्र चित्रण नहा। हरिऔध के मतानुसार 'काव्य और नाटक आनद के ही साधन हैं और उनम आनन्द की ही प्राप्ति होती है ।' (रसकलस भूमिका ३३) कहा जा सकता है कि हरिऔध का गद्य भी आनन्द का ही एक कमनीय साधन है—रस-

---

१ उपरिवत पृ० ४०६।

दीप्त एव वाग्मय है। "रसकलस" में शृंगार रस-संबंधी उनके भावोद्गार (भूमिका, पृ० १७०-१७१) गद्यकाव्य के ही सरस उदाहरण हैं। परंतु अध्येता की भावनाओं का उदबोधित करना सत्समालोचक का लक्ष्य नहीं होता। हरिऔधजी की उक्त भूमिका हमारे मनोभावों को ही सबसे अधिक प्रोद्दीप्त करती है, बुद्धि को नहीं।

यह ऐतिहासिक सर्वेक्षण हरिऔध तक आकर ही समाप्त किया जाता है। इनके बाद की हिंदी आलोचना इस प्रबंध का प्रतिपाद्य है।

२

पाश्चात्य समीक्षा का ऐतिहासिक सर्वेक्षण

"आज अरस्तू कोलरिज और क्रोचे हमारे प्राय उतने ही निकट हैं, जितने भरत, अभिनवगुप्त और पण्डितराज जगन्नाथ ।"

—डा० रामअवध द्विवेदी, साहित्य सिद्धात (दो शब्द)

(क) उद्भव

पाश्चात्य समीक्षा परपरा का प्रारम्भ होमर और हीसिग्राड की रचनाओ मे पाए जानेवाले कतिपय ऐसे समीक्षात्मक सूत्रो से होता है जिनके अनुसार काव्य का सृष्टि दैवी प्रेरणा से होती है ।[1] होमर के अनुसार काव्य का एकमात्र उद्देश्य रस-सचरण और पाठको श्रोताओ मे आनद आह्लाद का प्ररोचन है परतु हीसिग्रोड के अनुसार इसका एकमात्र लक्ष्य उस सदेश को सप्रेषित करना

---

१ "कवियो मे अपनी कला के सबध मे धारणाएँ बनाने की सशक्त प्रवृत्ति पायी जाती है । वे अपनी इन धारणाओ को अपने काव्य द्वारा सप्रेषित सदेश का ही अविच्छिन्न अग बनाकर इनका उपयोग करते हैं। इस कारण एक प्रकार का काव्य सिद्धात उस समय से ही मिलने लगता है, जबसे कविताएँ रची जा रही हैं । जब होमर अपने महाकाव्यो के मगलाचरण मे कविता की अधिष्ठात्री देवी का आवाहन करता है, उस समय वस्तुत उसके काव्य विषयक एक महत्त्वपूर्ण विचार सिद्धात की ही अभिव्यक्ति होती है—वह यह कि कवि के महाकाव्य दैवी प्रेरणा से ही लिखे गए हैं या लिखे जाने चाहिए। यह उन विचारो मे एक है जिनका साहित्य शास्त्र के इतिहास मे स्थायी महत्त्व है ।' विलियम के० विमसैट (जूनि०) और क्लिन्थ ब्रुक्स, लिटररी क्रिटिसिज्म अ शार्ट हिस्ट्री (१९६४), पृ० ३४।

है जिसे कवि काव्य की अधिष्ठात्री देवियों से प्राप्त करता है। पिण्डार की सम्बोधन-गीतियों में, जेनफनीज और हिरक्लिटस के तत्त्व-दर्शनों में, इतस्ततः बिखरे हुए विविध साहित्यिक मतों और मान्यताओं का समाहार मिलता है। यद्यपि परिमाण में ये अत्यल्प हैं फिर भी ऐसा जान पड़ता है कि प्लेटो के काव्यगत सिद्धान्त यूनान की एक वरिष्ठ समीक्षा-परंपरा के सर्वोपरि विकास का प्रतिनिधित्व करते हैं न कि इस परंपरा के सूत्रपात का। ऐरिस्टोफेनीज के अधिकांश उपलब्ध नाटकों में, जिनका अभिनय ईसा के पूर्व पाँचवीं शती के अंतिम चतुर्थांश तथा चौथी शती के प्रारंभिक वर्षों में हुआ था, सामयिक तथा विगत युग के लेखकों-विचारकों का—विशेषतः विश्व विश्रुत नामनी-लेखक यूरिपीडीज का—व्यंग्यात्मक चित्रण मिलता है। उदाहरणार्थ, 'द फ्रौग्ज' में इस नाटककार ने दिखलाया है कि किस प्रकार रंगमंच के महोत्सवों के संरक्षक और देवता डाइअनाइसस प्रेतलोक से यूरिपीडीज को पुनः लौटा लाने के लिए जाते हैं, किंतु अन्ततोगत्वा ईस्किलस को ही पुरस्कृत करते हैं। आलोचना के जिन प्रतिमानों से ऐसा निर्णय किया जाता है, वे हैं कला-नैपुण्य और स्वदेश अथवा राज्य के लिए समुचित पथ-निर्देश। नाटककार ने कवियों में पाये जानेवाले कतिपय अवगुणों की गर्हणा भी की है। उसे ईस्किलस की अबाध अदम्य प्रगल्भता और यूरिपीडीज का पशुओं-भिखमंगों के प्रति भावुकताजन्य स्नेह अरुचिकर लगता है।

यूनानियों की यह धारणा कि काव्य अलौकिक आध्यात्मिक प्रेरणा से स्वतः उच्छलित एक लोकोत्तर कला है, अत्यन्त प्राचीन है। प्लेटो तक इस विचार का सम्यक् प्रवर्तन दीख पड़ता है। स्वयं प्लेटो ने भी काव्य को दैवी प्रेरणा से अभिभूत कवि के मन विशेष का परिणाम स्वीकार किया है। 'आयन' में सुकरात से कहलाया है कि कविता की अधिष्ठात्री देवी स्वयं अंतःप्रेरणा को—कवियों को—प्रेरित करती है, प्रेरणा के वशीभूत हुए ... ये व्यक्ति अतिप्रेरित हो उठते हैं और इस प्रकार ... प्रेरणा की एक अपूर्व शृंखला बनती जाती है। प्लेटो के अनुसार महाकाव्यों में ... सुन्दर एवं गीतों तक के रचयिता अपने कला-कौशल से सुन्दर अमर काव्य की सृष्टि नहीं करते, अपितु इस कारण करते हैं कि वे प्रेरित तथा दैवी शक्ति द्वारा अभिभूत होते हैं। जिस प्रकार कारिबांटियन उत्सवों में भाग लेनेवाले नर्तक उन्मत्तता और बोधहीनता की अवस्था में नृत्य करते हैं, उसी प्रकार गीतिकाव्य के स्रष्टा भी अपने मनोहारी गीतों की रचना करते समय, ईश्वरीय प्रेरणा के वशीभूत होने के कारण, अपने मन की स्वाभाविक अवस्था में नहीं रहते। कवि उन (वक्कि) कुमारियों के समान होते हैं, जो डाइअनाइसस के प्रभाव के कारण

नदियों से मधु और दूध ग्रहण करती हैं। गीतिकाव्य के रचयिताओं के हृदय भी ऐसा ही करते हैं। उन्होंने कहा भी है कि उनके गान मधु के झरनों से निःसृत होते हैं, वाग्देवी के उपवनों से निःसृत हैं, वे राग की माधुरी ग्रहण करते और कल्पना के परों से सज धजकर अपने भावोद्गारों की अभिव्यक्ति करते हैं। कवि एक अत्यंत हल्का कोमल, पंखयुक्त एवं पवित्र दैवाविष्ट प्राणी होता है, उसकी उद्भावना-शक्ति तब तक सुप्त रहती है जब तक वह इन्द्रिय शक्तियों से पराभूत नहीं हो जाता। प्रेरणा और प्रमाद के वश में ही वह देव वाणी के प्रकाशन का समुचित माध्यम बनता है। वह बड़े ही उन्नत शब्द-स्वर में मनुष्यों के क्रिया कलाप का गान करता है परन्तु वह कला के सिद्धांतों और नियमों के आधार पर ऐसा नहीं करता वह तो वही कहने के लिए उत्प्रेरित होता है जो कविता की अधिष्ठात्री देवी को पसंद होती है।[१]

इस प्रकार प्लेटो ने दैवी प्रेरणा पर आवश्यकता से अधिक बल दिया है और बार-बार कहा है कि कवि अपनी कला से नहीं अपितु दैवी शक्ति से सम्पन्न होने

---

१ 'For all good poets epic as well as lyric compose their beautiful poems not by art but because they are inspired and possessed And as the Corybantian revellers when they dance are not in their right mind, so the lyric poets are not in their right mind when they are composing their beautiful strains but when falling under the power of music and metre they are inspired and poss ssed like Bacchic maidens who draw milk and honey from the rivers when they are under the influence of Dionysus but not when they are in their right mind And the soul of the lyric poet does the same, as they themselves say for they tell us that they bring songs from honeyed fountains, culling them out of the gardens and dells of the Muses they like the bees winging their way from flower to flower And this is true For the poet is a light and winged and holy thing and there is no invention in him until he has been inspired and is out of his senses, and the mind is no longer in him when he has not attained to this state, he is powerless and is unable to utter his oracles they ary simply in pired to utter that to which the Muse impels them, and that only for not by art does the poet sing, but by dower divine *The Ion*

के कारण गाना और गीतो की रचना करता है। काव्योत्पत्ति उन्माद की निक्षिप्ता-वस्था से होती है, अत उससे जनहित सम्भव नहीं हो सकता। इस प्रकार जब दैवी प्रेरणा ही काव्य-सृष्टि का एकमात्र साधन है, तब कलाओं के अनुशीलन-मनन तथा अभ्यास से कुछ होने का नहीं है। भामह ने कहा है कि शब्दार्थों से परिचित होकर, विद्वानों के समीप रहकर तथा दूसरों के निबंधों को देखकर काव्य रचना में प्रवृत्त होना चाहिए। प्लेटो के अनुसार ऐसे प्रयास की कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि काव्यशास्त्र अलकार, पिंगल आदि के अध्ययन से ही कोई कवि नहीं बन सकता। दण्डी ने काव्य-हेतु का उल्लेख करते हुए उन व्यक्तियों की चर्चा की है जिनमें काव्य निर्माण की सामर्थ्य कम है परंतु जो आलस्य-रहित होकर श्रमपूर्वक सरस्वती की निरंतर उपासना करते हैं। प्लेटो कहता है कि ऐसा श्रम निरर्थक है दण्डी कहते हैं कि काव्यानुशीलन तथा अभ्यास से वाग्देवी सरस्वती निश्चय ही कोई अलभ्य अनुग्रह करती हैं।

अरस्तू ने अपने आचार्य प्लेटो की उन भ्रांतिमूलक मान्यताओं का खडन किया है जिनके अनुसार काव्य-सृजन दैवी प्रेरणा का परिणाम-मात्र हो जाता है। वस्तुत अरस्तू के काव्यशास्त्र में तथा राजशेखर की काव्यमीमासा में प्लेटो के तर्कों के पर्याप्त और संतोषजनक उत्तर मिल जाते हैं। राजशेखर पर या अन्य परवर्ती भारतीय आचार्यों पर प्लेटो या अरस्तू का भी प्रभाव रहा होगा, यह वैज्ञानिक प्रमाणों के अभाव में कैसे कहा जा सकता है ? परंतु संयोग से यायावरीय राजशेखर ने कुछ ऐसे ही तर्क वितर्क उपस्थित किए हैं जिनके पृष्ठाधार उन आचार्यों के काव्य-संबंधी विचार रहे होंगे जिन्होंने प्लेटो के समान कवि का वैज्ञानिक सत्य एव नैतिकता की तुला पर रखकर उसकी विगर्हणा की होगी।

कुछ लोगों का मत है कि काव्यों में असत्य (आलकारिक बातों) का उल्लेख रहता है। अत यह उपदेश करने योग्य नहीं है। इन कुछ लोगों में" प्लेटो का भी नाम सम्मिलित है, बल्कि सर्वोपरि है। राजशेखर और अरस्तू ने ऐसे आरोप का निरसन करते हुए प्रतिभा को सर्वोपरि महत्त्व नहीं दिया। राजशेखर ने कहा कि काव्य अतिशयोक्तिपूर्ण होने तथा असत्य वर्णनामय होने से त्याज्य है, यह बात नहीं। काव्यों में वर्णनीय व्यक्ति या विषय के प्रति जो अर्थवाद या अतिशयोक्ति की जाती है, वह असत्य या असगत नहीं है।[1] अरस्तू ने प्लेटो के इस कथन को सर्वथा समीचीन कहा है कि कवि चित्रकार तथा अन्य कलाकारों के सदृश अनुकरणशील होता है। वह ऐतिहासिक घटनाओं का—

१ डा० नगेंद्र, भारतीय काव्यशास्त्र की परपरा (१९६४), पृ० १४०।

सत्य का—अनुकरण करना है, परन्तु यदि वह चाहे तो जनश्रुति पर आधृत घटनाओं का भी अनुकरण कर सकता है। कवि को उन घटनाओं के प्रतिबिम्बन का पूर्णाधिकार है जो न कभी घटित हुई हैं न होंगी पर जिनमें कवि का कोई आदर्श अन्तर्निहित है। इस तरह कवि वर्तमान अथवा अतीत का, जनसाधारण में घटित और गृहीत घटनाओं का ही अनुकरण तथा रूपायन करता है। प्लेटो के समान अरस्तू भी यह मानता था कि अनुकरण में एक नैसर्गिक आनन्द है और अनुकरण मनुष्य की सहज जन्मजात प्रवृत्ति है जो उसके शैशव में भी क्रियाशील रहती है। कवि अथवा कलाकार भी एक ऐसा ही शिशु है जिसे अनुकरण से भरपूर आनन्द मिलता है। मानव मन की एक और निसर्गजात प्रवृत्ति है जिसे ताल लय और सामंजस्य की प्रवृत्ति कहते हैं। इसी प्रवृत्ति के कारण—न कि प्रमाद की बोधशून्य मनःस्थिति में—कवि सुमधुर तथा संगीतमय काव्य की सृष्टि करता है। प्लेटो के अनुसार कवियों की अनुकृति उनके चित्त सत्य की अभिव्यक्ति नहीं करते, वरन सत्य से दुगुना दूर होते हैं। मूल सत्य एक और अखंड है तथा यह वस्तु जगत—यह भौतिक जीवन—उस परम सत्य का अनुसरण है आप ही वह परम सत्य नहीं। इसलिए कलाकार वस्तु जगत का अनुकर्ता होने के कारण परम सत्य से दुगुना दूर जा पड़ता है। अरस्तू ने इस मतवाद का खंडन करते हुए कहा कि काव्य में वर्णित सत्य सार्वभौम एवं शाश्वत होते हैं और अनुकरण यथावत प्रतिकृति-मात्र नहीं है। कवि उन घटनाओं अथवा परिस्थितियों का केवल अनुकरण अथवा प्रतिरूपण ही नहीं करता जिन्हें वह देखता या जिनकी परिकल्पना करता है वह इस प्रकार उनका वर्णन करता है कि उनमें सार्वभौम और विशिष्ट तत्त्व उद्भासित हो उठते हैं। अनिवार्यता या सम्भाविता के नियम का पालन और अनुमोदन करता हुआ वह काव्य रचना करता है। 'कवि और इतिहासकार में भेद यह नहीं है कि एक पद्य में लिखता है दूसरा गद्य में। वास्तविक भेद यह है कि एक तो उसका वर्णन करता है जो घटित हो चुका है और दूसरा उसका जो घटित हो सकता है। परिणामतः काव्य में दर्शन-तत्त्व अधिक होता है उसका स्वरूप इतिहास से भव्यतर है क्योंकि काव्य सामान्य (सार्वभौम) की अभिव्यक्ति है और इतिहास विशेष की।'[1] दोनों में यही अन्तर है और इसी कारण काव्य का सत्य इतिहास के सत्य की अपेक्षा विस्तृत-व्यापक और उसका लक्ष्य भी उच्चतर होता है। जहाँ इतिहास केवल विशिष्ट सत्य की ओर

१ डॉ० नगेन्द्र (सम्पा०) पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा (दिल्ली, प्र० नि० ६०), पृ० ३३।

लक्ष्य करता है वहीं दूसरी ओर काव्य विश्वव्यापी सार्वजनीन सत्य का प्रतिफलन करता है।

अरस्तू के काव्यहेतु-सिद्धान्त उन पौरस्त्य आचार्यों के विचारों से बहुश मिलते-जुलते हैं, जिन्होंने व्युत्पत्ति तथा अभ्यास पर यथेष्ट बल दिया है। काव्य-शास्त्रानुशीलन, अध्ययन-मनन से साधक चाहे तो, काव्य-सृष्टि की अपूर्व शक्ति अर्जित कर सकता है। तभी तो अरस्तू ने अपने काव्यशास्त्र तथा भाषण शास्त्र की रचना की। दण्डी, वामन रुद्रट मम्मट आदि आचार्यों के समान उसने निपुणता और अभ्यास पर बल दिया और साथ ही अपने ग्रन्थों में प्रतिभा की अनिवार्य अपेक्षा की घोषणा की।[1]

महत्त्व की दृष्टि से अरस्तू के बाद डेमेट्रियस का नाम आता है। इस निष्णात रीतिकार ने गद्य शैली पर एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पुस्तक की रचना की, जिसमें चार प्रकार की शैलियों का विवेचन किया। डेमेट्रियस जहाँ प्राजलता को शैली का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण गुण मानता है, वहीं उदात्त और सरल शैलियाँ, उसके अनुसार परस्परविरोधी हैं। इनके अतिरिक्त बाकी सभी गद्य शैलियाँ एक-दूसरे में समाहित हो सकती हैं जैसे होमर के काव्य तथा प्लेटो के गद्य में उदात्तता और ओजस्विता का बड़ा ही सुन्दर-सुष्ठु संयोग पाया जाता है। डेमेट्रियस ने ही सर्वप्रथम समर्थ प्रभावपूर्ण रीति को एक पृथक् शैली के रूप में प्रस्तुत किया। (कहा जाता है कि इस वर्गीकरण के मूल में लेखक का उद्देश्य डेमास्थनीज के महत्त्व को प्रतिष्ठित करना था।) उसने बार-बार कहा है कि गद्य में कवियों का अनुकरण अशोभन होता है। वक्ता को चाहिए कि वह अपने भाषण में सभी प्रमुख विचार बिन्दुओं का विस्तार न करे, उनमें कुछ को श्रोता की सहृदयता तथा अनुमान के लिए छोड़ दे। इसी प्रकार अध्येता की निजी कल्पना और ज्ञान-ग्रहण के लिए कुछ छोड़ देना कुशल शैलीकार के लिए अनिवार्य होता है। अरस्तू के पत्रों के सम्पादक आर्टेमन ने कहा था कि पत्र उसी प्रकार लिखे जाने चाहिए जिस प्रकार संलापण या कथोपकथन लिखे जाते हैं। डेमेट्रियस के अनुसार पत्रों की भाषा कथोपकथन की भाषा की अपेक्षा अधिक व्यवस्थित एवं कलात्मक होती है। जहाँ कथोपकथन सद्यःस्फूर्त अभिव्यक्ति है, वहाँ पत्र लिपि-जन्य होने के कारण एक प्रकार के उपहार के रूप में भेजे जाते हैं। पत्र में लेखक के चरित्र का स्थापन होना चाहिए पत्र-लेखक अपने पत्रों में अपनी आत्मा का ही प्रकाशित करता है।

---

१ डॉ० नगेन्द्र, अरस्तू का काव्यशास्त्र (इलाहाबाद, सं० २०१४), पृ०५६-५७।

तदुपरांत डेमेट्रियस उन्नत शैली में अन्तर्गत रूपकालंकारों और उपमाओं का विवेचन करता है। यद्यपि सभी प्रकार के वाग्जाल हेय हैं, रूपकादि अलंकारों का समर्थन तभी किया जा सकता है जब वे रुचिकर हों और औचित्य की कसौटी पर खरे उतरें। जहाँ अनुभूति प्रबल और गम्भीर होती है वहाँ परिष्कृत तथा कलापूर्ण भाषाभिव्यंजना की आवश्यकता नहीं होती और सरल-सामान्य परिवेश में कविता या अलंकार के हलके पुट से ही प्रभावोत्पादकता विचलित हो उठता है।

प्लौटस (ई० पू० लगभग २५४–१८४) के नाटकों में सामयिक कामदी के अवगुणों पर नानाविध आनुषंगिक टीका-टिप्पणियाँ अवश्य मिलती हैं परन्तु टेरेंस के योगदान का अपेक्षाकृत अधिक स्थायी महत्व है। उसने अपने प्रतिद्वंद्वियों की रचनाओं की कटु आलोचना की और कहा कि उनकी कामदी मूल यूनानी नाटकों के अपरक्ष अनुवाद मात्र थे। उनके नाटकों की दुरूहता ('अब्सक्यूरा डिलिजेन्सिया') की उसने सशक्त शब्दों में निंदा की और साथ ही दर्शकों की निकृष्ट अभिरुचि और नटबाजी तथा मुष्टियुद्ध के प्रति उनकी अतिशय उन्मुखता की ओर संकेत किया। सनसनीखेज और अनहोनी घटनाओं को वह कामदी का अनिवार्य अंग मानने को तैयार न था और न उसके प्रतिमान जन साधारण की रुचि के आधार पर ही निर्मित हुए थे। एक स्थल पर तो वह स्पष्ट शब्दों में कहता है कि नाट्यकला का कुछ इने गिने लोगों के हाथ में पड़ना और उनके द्वारा नियमित-संचालित होना ठीक नहीं है। उसके अनुसार कामदी में अतिरंजित भावात्मक घटनाओं का समावेश होना ठीक नहीं है कामदी एक ऐसी विधा है जो त्रासदी से सर्वथा भिन्न है, जो साधारण जीवन के स्तर पर ही गतिशील रहती है तथा जो शौर्यमय अथवा कारुणिक का वर्णन नहीं करता। उसकी कामदी जन जीवन में ही प्रविष्ट हो उससे उपयुक्त सामग्री ग्रहण करती है।[1]

सिसरो नामक रोमीय आचार्य ने ईसा के प्राय ५५ वर्ष पूर्व 'आन दि ऑरेटर' (De Oratore) नामक ग्रन्थ की रचना की जो भाषणकला शास्त्र पर अपने ढंग की बेजोड़ कृति है। सिसरो के अनुसार वाग्मिता एक बड़ा ही दुर्लभ गुण है। संसार में श्रेष्ठ वक्ता विरले ही मिलते हैं। इसका कारण योग्यता की कमी नहीं, वरन भाषण-कला की अगम्यता और कठिनाइयाँ हैं। इसकी सिद्धि के लिए गहन-गंभीर ज्ञान भाषा पर समुचित अधिकार अंतःप्रवेशिनी मनोवैज्ञानिक

१ दे० जे० डब्ल्यू० एच० एटकिंस, लिटररी क्रिटिसिज्म इन एंटिक्विटी (लंदन, १९५२), भाग २, पृ० ५७।

दृष्टि, वाक्पटुता और हास्य-सृष्टि की क्षमता, उच्च कोटि की निवेदन विधि और स्मरणशक्ति की आवश्यकता होती है। सिसरो भाषण-कला को सामान्य कलाओं की कोटि में नहीं रखता, उसके अनुसार उस शक्ति से बढ़कर संसार में और कुछ भी नहीं जिससे सम्पन्न होकर प्रवक्ता कोटिश: मनुष्यों को एक साथ प्रभावित कर उनकी शुभकामना प्राप्त करता और उनकी प्रवृत्तियों को इच्छानुसार संचालित करता है। इसलिए सिसरो कहता है—सभी स्वतन्त्र राष्ट्रों में जहाँ सुख शांति का प्राचुर्य रहता है भाषण-कला अन्य सभी कलाओं की अपेक्षा अधिक समुन्नत रही है।[1] हमारे मन और श्रवणेन्द्रियों को उस भाषण से अधिक सुस्वादु और क्या लग सकता है जो विचारपूर्ण चिंतन और उदात्त भाव-भाषा से अलंकृत हो? भाषण-कला में राजनैतिक अभिमान की उत्पत्ति नहीं होती परन्तु वक्ता को राजनीतिशास्त्र तथा शीलविधान में निष्णात होना चाहिए। कवियों के संबंध में सिसरो ने कहा है कि कवि वक्ता का बहुत निकट-संबंधी होता है। यद्यपि वह छन्द ताल-तुक आदि की दृष्टि से अपेक्षाकृत अधिक नियंत्रित निरुद्ध होता है फिर भी शब्द-चयन की दृष्टि में उस वक्ता की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्रता रहती है। अलंकार प्रयोग की दृष्टि से कवि और वक्ता में कोई अन्तर नहीं होता।

भाषण-कला-हेतु प्रतिभा

सिसरो के अनुसार वक्ता के लिए प्रतिभा की उतनी ही अपेक्षा होती है जितनी भामह और आनन्दवर्धन के अनुसार कवि के लिए। गुरु के उपदेश से जडबुद्धि भी शास्त्रों का अध्ययन कर सकते हैं किंतु काव्य रचना प्रतिभा-सम्पन्न कवियों से ही हो सकती है।[2] काव्य रचना के अभिलाषी पुरुष को शब्द, छन्द कोश-प्रतिपादित अर्थ, ऐतिहासिक कथाओं, लोक-व्यवहार, तर्कशास्त्र और कलाओं का मनन करना चाहिए।[3] आनन्दवर्धन ने कहा है कि प्राचीन

---

१ Haec una res in omni libero populo, maximeque in pacatis tranquillisque civitatibus, praecipue semper floruit, semperque dominata est (Cicero *De Oratore* Vol, I, Loeb Classical Library p 22–23)

२ गुरूपदेशादध्येतु शास्त्रं जडधियोऽप्यलम् ।
काव्यं तु जायते जातु कस्यचित्प्रतिभावतः ॥१।५
—काव्यालंकार (भाष्य० देवेन्द्रनाथ शर्मा)

३ शब्दश्छन्दोऽभिधानार्था इतिहासाश्रया कथाः ।
लोको युक्तिः कलाश्चेति मन्तव्या काव्यगैर्ह्यमी ॥१।९ (उपरिवत्)

मर्विया के प्रयत्न में रहते हुए भी यदि कवि में प्रतिभागुण है, तो नवीन वर्णनीय तत्त्वों की समाप्ति नहीं हो सकती। प्रतिभा के न होने पर ही कवि के पास कोई वस्तु नहीं रह जाती जिससे वह अपूर्व चमत्कारयुक्त काव्य का निर्माण कर सके।[1] सिसरो ने भी प्रतिभा को जन्मान्तरीय संस्कार (naturam defuiss-) कहा है और भट्ट तौत तथा अभिनव गुप्त के समान इसे "नवनवोन्मेषशालिनी", "अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा" प्रज्ञा का पर्याय माना है (qui et ad excogitandum acuti) । यह सत्य है कि कला नैसर्गिक गुणों-उपादानों से चमक ला सकती है और अभ्यास तथा व्युत्पत्ति से वक्ता योग्यतर हो सकता है, फिर भी उसमें जन्मान्तरीय प्रतिभा का होना परमावश्यक है। इसलिए वे व्यक्ति ही व्युत्पत्ति और अभ्यास से लाभान्वित हो सकते हैं जिनमें स्वाभाविक प्रज्ञा होती है। कभी-कभी अभ्यास के बिना प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति का भी सर्वांगीण विकास नहीं हो पाता, फिर भी सिसरो सबसे पहले प्रतिभा को और तब अभ्यास को महत्त्व देता है।[2]

जिस प्रकार प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास का प्रश्न भारतीय काव्यशास्त्र का एक जीता-जागता प्रश्न रहा है उसी प्रकार पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों ने भी काव्यहेतुओं के विवेचन को अपनी कृतियों में प्रमुख स्थान दे रखा है। नवजागरण-युग में कई इतालवी आचार्यों ने होरेस विरचित 'आर्स पोयटिका' के आलोक में बार-बार इस समस्या पर विचार किया और विभिन्न मत-मतान्तर पेश किए। होरेस की अमर कृति 'आर्स पोयटिका' की रचना सम्भवतः ई० पू० २३ से २० के अन्तराल में हुई। तब से आज तक इसकी उपादेयता अक्षुण्ण रही है और पाश्चात्य समीक्षक इसे पढ़ते और इसका उपयोग करते आ रहे हैं। काव्यहेतु के प्रश्न पर होरेस के विचार स्पष्ट थे—कवि के लिए प्रतिभा और अभ्यास दोनों ही अपेक्षित हैं। 'अच्छी कविताओं के संबंध में लोग प्राय: पूछा करते हैं कि वे नैसर्गिक प्रतिभा से अथवा कला-अभ्यास से सर्जित हुई हैं। जहाँ तक मेरा संबंध है मैं कहूँगा कि वह अभ्यास निरर्थक है जिसमें प्रतिभा का योग न हो। और इसी प्रकार वह प्रतिभा भी बेकार है जो अभ्यास द्वारा चमकायी न गयी

१ ध्वनेरित्थं गुणीभूतव्यंग्यस्य च समाश्रयात् ।
न काव्यार्थविरामोऽस्ति यदि स्यात्प्रतिभागुणः ॥४।६
—ध्वन्यालोक (व्याख्या० आचार्य विश्वेश्वर)

२ देखिये *De Oratore* I, xxv, 113–116, II XX, 88–92 (Loeb Classical Library, pp 81, 265–266)

हो।"[1] काव्य प्रयोजन के संबंध मे हारस ने कहा है कि उन कवियो ने ही प्रत्यक्ष जनता मे प्रशंसा पायी है, जिन्होंने अपने काव्य मे शिव और सुन्दर का स्पृहणीय समन्वय प्रस्तुत किया है—रसोद्भूति के साथ ही मंगलकारी शिक्षाप्रद काव्य-सर्जन को अपना लक्ष्य बनाया है।[2] कविता और चित्रकला में अविरति तथा ऋजुता की अपेक्षा होती है। हम कवियो[3] को अतिवादों से बचकर रहना चाहिए और एक भूल से बचने के लिए इसके विपरीत दूसरी भूल नहीं करनी चाहिए।[4] लेखकों को उन विषयो तक ही अपने को परिसीमित रखना चाहिए जिन पर वे साधिकार लिख सकते हैं। तभी उन्हें शब्दों के अभाव का एहसास न होगा और एक उचित क्रम में समय तथा प्रसंग के अनुसार, उनके मनोगत भाव अभिव्यक्त होते रहेंगे। जहां तक काव्य भाषा का संबंध है उन्हें इसके प्रति पर्याप्त सतर्कता बरतनी चाहिए। वे चाहें तो अपने रचना-नैपुण्य से परिचित शब्दों को भी अभिनव स्वर-सज्जा में आनूदित कर सकते हैं अथवा प्राचीन कवियों की तरह संयतभाव से नये-नये शब्दों का मुद्रण-टंकन कर सकते हैं। सुखांत तथा त्रासमूलक नाटक एक-दूसरे से भिन्न होकर भी कभी-कभी कुछ हद तक समान-गुणधर्मा हो जाते हैं। नाटक की रचना जन-समूह के आवेगों के उद्दीपन के लिए और उसकी भाषा पात्रानुकूल हो। जहां ऐसा सामंजस्य नहीं पाया जाता वहां सभी उस रचना को उपहास्य समझ बैठते हैं। नाटकों का पांच अंकों में विभाजित होना चाहिए और एक ही बार तीन से अधिक पात्र रंगमंच पर नहीं होने चाहिए। कोरस का नाटक की घटनाओं में सक्रिय भाग लेना और अप्रासंगिक गीतों से दूर रहना चाहिए

---

१ Natura fieret laudabile carmen an arte,
quaesitum est ego nec studium sine divite vena,
nec rude quid prosit video ingenium alterius sic
altera poscit opem res et coniurat amice
—Horace (The Loeb Classical Library), p 484

२ omne tulit punctum qui miscuit utile dulci
lectorem delectando pariterque monendo
hic meret aera liber Sosus, hic et mare transit
et longum noto scriptori prorogat aevum
—Ibid p 478

३ Maxima pars vatum

४ in vitium ducit culpae fuga, si caret arte

—उसे नैतिकता और धार्मिकता का पृष्ठपोषण करना चाहिए। कुछ लोगो का धारणा है कि प्रतिभा और पागलपन म मणिकाचन योग होता है जिसके परिणाम-स्वरूप कवि कहाने के लिए उत्सुक कुछ लोग अपने स्वास्थ्य का उपेक्षा करत और अस्त-व्यस्त दीख पडते है। मस्तिष्क और मधा को खाकर कविता करना समीचीन प्रतीत नही होता।

लोगिनुस और क्विण्टिलियन

पहली शती मे लागिनुम नामक आचाय ने कहा था कि कलाकृति के मूल्याकन का एक सहज निकष यह है कि वह कहा तक भावक का अपन उदात्त मनावेगा स प्रभावित कर सकी है। यदि उससे अध्येता का मन विचलित हो उठता है और उसका हृत्तन्त्री झकृत हो उठती है, तो वह कृति सफल और महान है। लागिनुस इस बात का स्पष्ट और तर्कपूण विवेचन प्रस्तुत नही करता कि आवेग प्रवाह म बह जाना और आत्म विभोर हो जाना अच्छा है अथवा बुरा परन्तु वह इस बात का स्वीकार नही करता कि अनुभूतियाँ आनन्दप्रद होने के कारण ही महत्त्वपूण होती है। लागिनुस के लिए रसोद्रेक का कारण उदात्तता और भव्यता है। जिस यूनानी शब्द के लिए हम 'सब्लाइम" का प्रयाग करते हैं अँगरेजी म उसका वास्तविक अथ उच्च' से ध्वनित होता है। लागिनुस साहित्यिक कृतियो की उन विशेषताओ की ओर सकेत करता है जो अध्येता मे तत्काल इस भावना का सचार करती है कि वह प्रबल आवेगमय अनुभूतियो की नयी ऊचाइयो का अवरोहण करता जा रहा है।

'आन द सब्लाइम के लेखक का उद्देश्य उदात्त शली क प्राणभूत तत्त्वो का निदशन है। अनावश्यक स्फीति बालिश्य तथा आडम्बर से रहित इस शली की प्रेरणा महान विचारो और गम्भीर उद्दाम आवेगो से मिलती है और इसकी अभिव्यक्ति उदात्त शब्दो तथा समजित-सघटित रचना म होती है। समग्रत आन द सब्लाइम साहित्यिक समीक्षा पर एक एसा निबध है जिसम शली का विशिष्टता पर विशेष बल दिया गया है।[1] लागिनुस के अनुसार अभिव्यक्ति का

---

१ Its broad aim is to indicate the essential elements of an elevated style which, avoiding turgidity puerility, affectation and bad taste finds its inspiration in great thought and deep emotion and its expression in a noble diction and a well ordered composition, it is, in effect

उत्कृष्टता एवं भव्यता का ही दूसरा नाम उदात्तता है। इसी उत्कृष्टता के फलस्वरूप रोचक अध्ययन की प्राप्ति करते हैं। यद्यपि लांगिनुस कभी-कभी विषयान्तर हो जाता है, फिर भी विवेच्य विषय को यथाशक्य अपने समक्ष रखता है और उन गुणों तथा विधियों का विवरण प्रस्तुत करता है जो उदात्त-सृष्टि में सहायक अथवा बाधक होती हैं। उदात्त को एक समुचित परिभाषा में आबद्ध करने के अनन्तर वह पूछता है कि क्या उदात्त रचना की कोई कला भी हो सकती है? इस प्रश्न का जो उत्तर मिलता है उसमें होरेस तथा अन्य आलोचकों का स्मरण हो आता है। औदात्त्य लांगिनुस कहता है एक जन्मजात गुण है, परन्तु इसे हम उन महान लेखकों के अनुकरण से भी अर्जित कर सकते हैं जिनमें औदात्त्य की उपलब्धि की क्षमता पायी जाती है। प्रतिभा के समुचित उपयोग के लिए अभ्यास परमावश्यक है।[1]

इस प्रकार लांगिनुस ने उदात्त भाषा के मुख्य स्रोतों का वर्णन करते हुए प्रतिभा की उपादेयता बतलायी है और कहा है कि काव्य में उदात्त तत्त्व की प्रतिष्ठा के लिए 'सर्वप्रथम और सर्वाधिक महत्वपूर्ण है महान् विचारोद्भावना की क्षमता। दूसरा तत्त्व है प्रेरणा प्रसूत एवं उद्दाम आवेग। उदात्त के ये दो तत्त्व अधिकांश में नैसर्गिक होते हैं। शेष तत्त्व अंशतः कला की निष्पत्ति हैं।"[2] लांगिनुस ने "एक मनीषी" की यह उक्ति उद्धृत की है कि उदात्त प्रवृत्ति निसर्गजात होती है शिक्षा से उसका अर्जन नहीं होता—प्रकृति ही एकमात्र कला है जो उसे परिधि में बाँध सकती है।'[3] परन्तु प्रतिभा-मात्र से औदात्त्य का प्रस्ताना कभी पुष्ट नहीं हो सकता और न वह मन विक्षेप को ही प्राणभूत आधार तत्त्व मान सकता है। औदात्त्य के सम्यक् परिपाक के लिए प्रेरणा की तो आवश्यकता होती ही है इसके लिए नियन्त्रण की भी आवश्यकता होती है। देमोस्थेनेस के अनुसार सौभाग्य सबसे बड़ा वरदान है अवश्य किन्तु सद्बुद्धि—जिसका स्थान दूसरा है—महत्त्व में किसी प्रकार कम नहीं, क्योंकि उसके अभाव में अनिवार्यतः

---

a short essay in literary criticism, with special reference to distinction of style —W Rhys Roberts *Greek Rhetoric and Literary Criticism* (New York 1963), pp 12 et seq

१ दे० क्लासिकल लिटररी क्रिटिसिज़्म (पेंग्विन बुक्स, १९६५), पृ० २५
२ पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा, पृ० ५१।
३ उपरिवत् पृ० ४९।

सौभाग्य का नाम निहित रहना है। इस प्रकार लांगिनुस के अनुसार "अभ्यास" भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं होता । इसी कारण उसने औदात्त्य के स्रोतों की चर्चा करते समय उसके अन्तरंग और बहिरंग दोनों पक्षों की चर्चा की और औदात्त्य को मूलतः जन्मजात तथा अन्तःप्रेरणा रूप स्वीकार करते हुए भी कहा कि व्यवहार में यह अभिव्यक्ति की विशिष्टता और उत्कृष्टता का पर्याय है।[1] औदात्त्य के पाँच प्रमुख उद्गम-स्रोतों में केवल दो ही—धारणा प्रतिमा और उद्दाम प्रेरणा प्रसूत आवेग—निसर्गजात होते हैं, शेष तीन अर्जित कला की उपज है।

जहाँ तक काव्य प्रयोजन का संबंध है, लांगिनुस के विचार प्लेटो और अरस्तू के विचारों से सर्वथा भिन्न हैं। प्लेटो ने कला को नैतिकता के प्रसार का माध्यम और सत्य को ही काव्य की कसौटी कहा है। कविता तभी सार्थक होती है जब वह सत-असत के भेद को प्रकाशित कर पाठकों का समुचित मार्ग निर्देश करती है उनको चरित्रवान् और राष्ट्रहित के लिए सुयोग्य नागरिक बनाती है। प्लेटो के अनुसार काव्य के श्रवण मनन से प्राप्त आनन्द का स्थान बहुत नीचे है और वही कवि श्रेष्ठ कलाकार कहाने योग्य होता है जो उच्च कोटि का उपदेशक और शिक्षक हो। इसके विपरीत अरस्तू ने काव्य प्रयोजनों में आनन्द को प्रमुख स्थान दिया है। यह सत्य है कि अपने काव्य शास्त्र में उसने इस विषय पर अपने विचार पूर्णतया स्पष्ट नहीं किए परन्तु परोक्ष रूप में यह स्वीकार किया कि अन्य ललित कलाओं की तरह कविता का उद्देश्य भी आनंद-संचरण है और कवि तादात्म्य सामंजस्य एवं अनुकरण की मनोवृत्तियों को जिनसे सत्काव्य आविर्भूत होता है इसलिए प्रश्रय देता है कि उनसे उसे आनंद मिले। इन मनोवृत्तियों से अभिसर्जित काव्य को भी, स्रष्टा एवं प्रमाता दोनों के लिए आह्लादजनक होना चाहिए। किंतु अरस्तू के काव्य शास्त्र में हम वैसा अतिवाद नहीं पाते जैसा प्लेटो के संवादों में पाते हैं अतएव जहाँ अरस्तू आनंद पर प्रभूत बल देता है वहाँ वह उस उपदेश को भी स्वीकार करता है जिसे आनंद के साथ ही आनुषंगिक रूप में हम उपलब्ध कर लेते हैं। वस्तुतः ऐसा ही आनन्द सर्वोच्च कहा जाता है क्योंकि इससे एक साथ ही दो-दो लाभ होते हैं—आनन्द के अतिरिक्त नागरिक धर्म की भी शिक्षा मिलती है। लांगिनुस के अनुसार महान साहित्य वह है जो पाठकों को एक बार नहीं वरन् बार-बार उत्तेजित और उन्मीप्त करता है। जहाँ भी सच्चे औदात्त्य का संयोजन होता है प्रमाता उससे हर्षातिफुल्ल हो उठता

1 डा० नगेन्द्र और श्री नेमिचन्द्र जैन (अनु०), काव्य में उदात्त तत्त्व (दिल्ली, २०१५), पृ० ४४।

और उन्हें ऐसा जान पड़ता है जैसे वह स्वयं उन्हीं की कृति हो। उनका हृदय स्वतः ऊपर उठकर गर्व से उन्चावस्था में विचरण करने लगता है और उनकी आत्मा उन्नत विचारों की ओर उन्मुख हो उठती है। आनन्दातिरेक के कारण वे इतना भावावेश और तन्मय हो जाते हैं कि उनकी बौद्धिकता पंगु हो जाती है और काव्य विषय विद्युत्प्रकाश की तरह आलोकित हो उठता है। निष्कर्षतः लांगिनुस के अनुसार काव्य का एकमात्र प्रयोजन केवल पाठकों को आनन्दित या प्रभावित करना नहीं है, इसका एकमात्र उद्देश्य उन्हें भावोन्मत्त या आत्मविभोर करना है।

क्विण्टिलियन का जन्म सन् ३५ ई० में हुआ था। रोम में एक वास्तविक पब्लिक स्कूल की स्थापना करनेवाला और राज्य से वेतन पानेवाला वह पहला भाषणशास्त्रविद् आचार्य था। बीस वर्षों तक उसने इसी स्कूल में अध्यापन-कार्य किया और यहाँ से उसे छोटे प्लिनी जैसे शिष्य मिले। उसकी रचनाओं में एक का नाम है "रोमीय भाषणशास्त्र की अवनति के कारण" (De causis corruptae eloquentiae), दूसरी रचना एक भाषण है जिसे क्विण्टिलियन ने नेवियस आर्पीनियनस के पक्षपोषण के लिए इसलिए किया था कि आर्पीनियनस पर अपनी पत्नी की हत्या का अभियोग लगाया गया था। उसकी तीसरी रचना ही अब उपलब्ध है और The Institutio Oratoria of Quintilian के नाम से ख्यात है। इसमें उसने स्पष्ट कहा है कि पुस्तक रचना का उद्देश्य सर्वगुण-सम्पन्न वक्ता का निर्माण है (Oratorem autem instituimus illum perfectum, qui esse nisi vir bonus non potest)।[1] एक व्यक्ति के लिए यह अनिवार्य है कि वह चरित्रवान हो। उसमें केवल अपूर्व वाग्मिता ही नहीं, वरन् चरित्र की उत्कृष्टता भी होनी चाहिए। मैं यह नहीं मानता कि साधु तथा सम्मान्य जीवन के सिद्धांत मात्र दार्शनिकों के लिए ही चिन्त्य हैं।' (Neque enim hoc concesserim, rationem rectae honestaeque vitae (ut quidam putaverunt) ad philosophos relegandam)[2] आदर्श वक्ता भी सच्चा दार्शनिक होता है, उसे केवल चरित्र की दृष्टि से ही निर्दोष नहीं होना है उसे भाषण-कला पर पूर्ण अधिकार भी होना चाहिए। पूर्ण वाग्मिता निस्सन्देह एक ऐसी वास्तविकता है जिसे हम मानवीय बुद्धि

१ H E Butler, *Quintilian* (The Loeb Classical Librayr 1958), Vol I, p 9

२ उपरिवत्, पृ० १०१

के परे नहीं जा सकते।[1] पर इसके लिए स्वाभाविक प्रतिभा की आवश्यकता होगी। स्वाभाविक प्रतिभा और गुणों के बिना नियमों का ज्ञान निरर्थक सिद्ध होगा। क्योंकि जिन विद्यार्थियों में प्रतिभा न हो वह इस ग्रन्थ से उसी प्रकार लाभान्वित नहीं हो सकता जिस प्रकार बंध्या भूमि कृषि पर लिखे गए निबंध से उर्वर नहीं हो सकती।[2] चूंकि वक्तृता का उद्देश्य प्रत्ययन (परसुएशन) है इसकी सिद्धि के लिए सावधान विचार की उद्भावना करना और तदनन्तर उसका विधिवत् व्यवस्थापन आवश्यक है। इसके बाद शब्दों के औचित्य तथा कलात्मक विन्यास[3] पर ध्यान देना चाहिए।

यह निश्चित है कि क्विन्टिलियन के सिद्धांत यूनानी भाषणों से प्रभावित गद्य के लिए ही सम्भाव्य रहा है। लिखित गद्य का विवेचन भी उसमें सन्निहित है। क्विन्टिलियन के अनुसार विधिपूर्वक लिखने और अच्छे लेखकों के पाठन से वाक्-शालित्य आता है और जहाँ तक कला का सम्बन्ध है वह प्रकृति का विरोधी नहीं वरन् प्राकृतिक प्रतिक्रियाओं को क्रमबद्ध और व्यवस्थित करने तथा स्वाभाविक प्रयासों को अधिकाधिक सार्थक बनाने का साधन है। प्रयास और अभ्यास से सन्निहित गुणों का उत्कर्ष होना चाहिए।[4] शब्द या विचार का वक्ता या सन्तुलन प्रतिभा कलाचेतना (कला प्रवृत्ति ?) और अभ्यास (natura ars exercitatio) से पूर्णता प्राप्त होती है। तदनन्तर क्विन्टिलियन ने वक्ता के लक्ष्यों का निर्देश किया है। आदर्श वक्ता अपने श्रोताओं को शिक्षा और नीति उपदेश देता है उन्हें विचलित और विमुग्ध करता है (docere movere delectare)। दूसरों के आवेगों को उद्वेलित करने के लिए वह स्वयं उन आवेगों की अनुभूति करता है। इसके लिए आवश्यक है कि वह अनुभवों का स्पष्ट परिकल्पना और तदुपरान्त उनका यथार्थवादी (रीयलिस्टिक) स्थापन करे। विशद अथवा यथार्थवादी प्रभावों को वह रीतिकार 'वीजन्स' और उनके प्रभाव को 'इल्युमिनेशन्स' कहता है।

क्विन्टिलियन के अनुसार रीति या शैली का आधार पथस-प्रयन नाम और

---

१ उपरिवत, पृ० १४।

२ Quapropter ei, cui deerit ingenium non magis haec scripta sint quam de agrorum cultu sterilibus terris (Ibid p 18)

३ आर्टिस्टिक अरेंजमेंट।

४ नेचुरल कपेसिटी शुड बी फर्टिलाइज्ड बाइ आर्ट ऐंड इम्प्रूव्ड बाइ प्रैक्टिस।

मध्ययुगीन पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों में ज्यौफ्रे द विन्साफ (Geoffroi de Vinsauf) का नाम स्मरणीय है। उसकी कृति "पोयट्रिया नोवा" की कम से कम चालीस पाण्डुलिपियाँ आज भी प्राप्य हैं। इस मध्य काव्यशास्त्रविवेचकों के अतिरिक्त मैथ्यू द वण्डोम (Mathieu de Vendome) ने 'आर्स वर्सिफिकेटोरिया' तथा जॉं द गार्लां (Jean de Garlande) ने "पोयट्रिया" की रचना की। काव्यशास्त्र-संबंधी इन ग्रंथों की रचना प्रायः उस नवजागरण का परिणाम है जो बारहवीं शती की एक स्मरणीय ऐतिहासिक घटना है। उनमें अनुकृति के लिए अनेक पाठ संगृहीत हैं जिनका उद्देश्य प्रमाता को काव्यालोचन के सिद्धांत सिखाना नहीं, प्रत्युत कवियों को काव्य रचना-कौशल का ज्ञान कराना है। स्पष्टतः इन ग्रंथों के रचयिता उस रोमांटिक विचार धारा में विश्वास नहीं करते जिसके अनुसार शैली के स्काइलार्क की तरह हमारे कवि *अपने हृद्गत भावावेगों को अनायास ही उंडेल देते हैं। मध्ययुगीन काव्यशास्त्री* भावावेगों के सहज उच्छलन, आर्जव, स्वाभाविकता आदि शब्दों से अनभिज्ञ थे। फिर भी उनकी रचनाओं से चासर और उपदेश-संबंधी रचनाओं से इंगलैंड आदि कवि अत्यधिक प्रभावित हैं।

'आर्टेज पोएटिकी' में रचना-संघटन (dispositio) के संबंध में विभिन्न नियमों का विवेचन हुआ है :

(१) कविता का आरम्भ लोकोक्ति-जैसे किसी सामान्य सत्य से अथवा किसी दृष्टान्त से हो सकता है। सामान्य सत्य के लिए sententia और दार्ष्टांत कथा के लिए exemplum शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

(२) कथा में 'पल्लवन' (एम्प्लिफिकेशियो) का प्रयोग न कि 'संक्षेपण' (ऐब्रिविएशियो) का उपयुक्त कहा गया है। इसी पल्लवन वाले सिद्धांत के कारण मध्ययुगीन काव्य एवं कथा साहित्य में शब्द लाघव और कसावट के स्थान पर सर्वत्र विस्तार और प्रसरण पाया जाता है। मध्ययुग के काव्यशास्त्रों में रचना विस्तार के नियमों का जैसा सर्वांगीण विवेचन मिलता है वैसा संक्षेपण (एब्रिविएशियो) के नियमों का नहीं।

(३) रचना विस्तार के लिए वर्णना (descriptio) *वक्रोक्तियों (circumlocutio) और भावपूर्ण सम्बोधना* (conduplicatio) का प्रयोग समीचीन कहा गया है।

(४) ज्याफ्रे द विन्साफ ने विषयान्तर (digressio) के कलात्मक प्रयोग को स्वीकृति ही नहीं दी, उसकी सराहना भी की है। उसके उपरान्त मध्ययुगीन काव्यशास्त्रियों ने निम्नलिखित अलंकारों का सर्वाधिक उल्लेख किया है

Repetitio — जहां प्रत्यावर्ती (alternate) पंक्तियां एक ही शब्द से आरम्भ हों।

Transgressio — जहां समान शब्दों का प्रयोग विभिन्न क्रम में हो।

Interpretatio — जहां दो पंक्तियां समान दीखें पर उनमें एक-दो शब्दों का उलट फेर हो। (यह expolitio का पर्याय कहा गया है।)

Nominatio — जहां अर्थानुसार नये व्यंजक शब्द या शब्दों का निर्माण हो।

Traductio — जहां एक ही शब्द की दो विभिन्न स्थितियों में आवृत्ति हो।

मध्ययुग के यथोचित मूल्यांकन के लिए इसके संबंध में व्याप्त भ्रामक धारणाओं का निराकरण आवश्यक है। इस संदर्भ में हम उन लेखकों का स्मरण हो आता है जिन्होंने मध्ययुग की उपलब्धियों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है और जो स्वयं इन उपलब्धियों से प्रभावित हुए हैं। इन लेखकों में फ्रेडरिक हैरिसन,[१] मेकॉले, फ्रीमन,[२] हेनरी ऐडम्स और जेम्स जे० वाल्श[3] अग्रणी हैं। इन्होंने बताया है कि मानव-सभ्यता के विकास में मध्ययुग का समाधिक अवदान स्मरणीय है। मध्ययुग में, विशेषतः तेरहवीं शती में, महान युगद्रष्टा दार्शनिक एवं कलाकार अवतीर्ण हुए थे। तेरहवीं शती में ही अक्वायनस, रोजर बेकन सन्त फ्रांसिस सन्त लूई जिओटटो और दान्ते प्रभृति युगपुरुष उत्पन्न हुए थे। तेरहवीं शती के आरम्भ में ही पश्चिम के महान् विश्वविद्यालयों की स्थापना स्कूलों के रूप में हुई थी। पेरिस आक्सफोर्ड एवं माण्टपेलियर के

---

१ Frederic Harrison *A Survey of the Thirteenth Century in the Meaning of History and other Historical Pieces* Macmillan, 1908

२ Freeman, *The Norman Conquest* (Oxford, 1876), Vol V p 606

३ James J Walsh, *The Thirteenth Greatest of Centuries* (New York 1952)

ने १५१६ ई० म अपनी "यूटोपिया" की रचना पहले लैटिन मे की थी और बकन को यह विश्वास था कि देशी भाषा म प्रणीत ग्रथ स्थायी नही हो सकते। यहाँ तक कि मिल्टन ने भी अपनी अनेकानेक कविताएँ लैटिन म ही लिखा और बेल्जियमवासी मेटरलिंक ने फ्रासीसी भाषा मे लिखना हितकर समझा।

दान्ते (Alighieri Durante १२६५–१३२१) ने De Vulgari Eloquentia म सवमान्य साहित्यिक भाषा की प्रकृति एव विशेषताओ का विवेचन उपस्थित किया है और इतालवी काव्य की रूपगत विशेषताओ के उदघाटन के क्रम म काव्य के सामान्य गुणो का भी उल्लेख किया है। दान्ते के विचारानुसार काव्यभाषा के चयन और शब्दो के प्रयोग म अत्यन्त सावधान रहना चाहिए, इसलिए उसने विशिष्ट तथा सर्वोत्कृष्ट शब्दो के उपयोग की ही सिफारिश की है। अशिक्षिता और बच्चो द्वारा प्रयुक्त निष्प्राण और भद्दे शब्द प्रयुक्त नही होने चाहिए। दाते ने यह भी कहा है कि काव्य को सगीतात्मक बनाने की क्षमता कवि प्रतिभा की तरह स्वत उपलब्ध या जन्मातरीय सस्कार से प्राप्त नही हो सकती। इसके लिए प्रयत्न करने की अपेक्षा होती है और सर्वोत्कृष्ट आदर्शों और रीतियो का अनुसरण करना पडता है।[१] दाते विरचित "डिवाइन कामेडी" म कला की एक अभिनव विधा का अवतरण हुआ है जो परम्परित वर्गीकरण मे सम्मिलित नही है। अपनी महाकृति को उसने कॉमेडी इसलिए कहा है कि प्रथमत इसका आरम्भ दुख से होता है, अत सुख स और दूसरे इसकी भाषा इतालवी है, जिसम स्त्रियो के भी सवाद रूपायित हैं। इसकी शैली अनौदात्य तथा त्रासदी की शैली के विपरीत है। अत जहा तक इसके रूप-तत्त्व का सबध है "डिवाइन कामेडी" एक अनोखी और प्राय अश्रुतपूर्व कृति है। इसम पारपरीण श्रेणिविभाग की उपेक्षा कर दान्ते ने एक मौलिक प्रश्न उठाया है—क्या कला की समस्त विधाएँ अपरिवर्तनीय अथच शाश्वत हैं?[२]

नवजागरणयुगीन पाश्चात्य समीक्षा

कवियो के विरुद्ध किए गए मध्ययुगीन प्रचारो के विरुद्ध प्रतिक्रिया का होना अवश्यम्भावी था। इसलिए यूरोप मे नवजागरणकाल म काव्य-सर्जको पर कितने

---

१ दे० George Saintsbury *A History of English Criticism* (Edinburgh, 1949), p 22

२ Bernard Bosanquet, *A History of Aesthetic* (1934), pp 152 et seq

ही अनगामक विषय प्रकाशित हुए और काव्य-कला उन्नायक द्वारा पर अन्त-पातित हुए। पुनः लेखकों ने काव्य को दर्शन और इतिहास से श्रेष्ठतर घोषित किया और पुनः ने इसे दर्शन के अन्तर्गत सम्मिलित किया। इटली में मिडला ने काव्य के महत्त्व का जगा सशक्त समर्थन किया, वैसा इटली के नवजागरण काल के कई लेखकों की रचनाओं में पाया जाता है और ऐसा प्रतीत होता है कि मिडलो की निजता ही उपलब्धियाँ इन दार्शनिकों लेखकों के विचारों पर ही आधृत है। ऐंजलो पालिजियानो ने समग्र तत्त्व-सिद्धान्त की तीन श्रेणियाँ बताई हैं—(१) प्रेरणाश्रित धर्मशास्त्र, (२) तर्काश्रित दर्शन और (३) इन दोनों से युक्त व्यवहार (डिस्टिंक्शन)। पुनः दर्शन की तीन उपश्रेणियों का वर्णन इस प्रकार है[1]

Spectativa	Actualis	Rationalis
(अनुध्यान-सम्बन्धी)	(व्यावहारिक)	(तर्कमूलक)
De Anima	Mores	Grammatica
Mathematicae	Ethica	Historia
Arithmetica	Economica	Dialectica
Musica	Politica	Rhetorica
Geometria	Agricultura	Poetica
Sphaerica	Pastio	
Calculatoria		
Geodesia	Venatio	
Canonice	Architectura	
Astrologia	Grafice	
Optica	Coquinaria	
Mecanica	Tratricae	

इनमें "तर्कमूलक" विज्ञान (तर्कशास्त्र) का उद्देश्य परीक्षण, वर्णन, विशदीकरण, अभिप्रेरण और अभिरंजन[2] करना है। इस विभाग में ही काव्यशास्त्र और काव्य परिगणित है, परन्तु संगीत एवं स्थापत्य से इसका कोई संबंध नहीं बताया गया। इसके विपरीत काव्य का संबंध तर्कशास्त्र, व्याकरण, वाग्मिता और इतिहास से बताया गया है। अन्यत्र पालिजियानो ने कवि को

१ Bernard Weinberg, *A History of Literary Criticism in the Italian Renaissance* (Chicago 1961), Vol I p 3

२ 'iudicat narrat, demonstrat, suadet, oblectat' Ibid

प्रवक्ता के समान रहा है। सन १५४१ ई० में लगभग बार्टोलामिउ लाम्बार्डी ने भी काव्य को तर्कशास्त्र और तत्सदृश विधाओं के अन्तर्गत रखा है। १५४२ ई० में स्पेरोन स्पेरोनी (Sperone Speroni) ने काव्य को वाग्मिता कहकर कला की दो श्रेणियाँ उपस्थित कीं। इनमें एक तो उपयोगी कलाओं की श्रेणी है और दूसरी आनन्दोद्दीपक कलाओं की श्रेणी। दूसरी श्रेणी की दो उपश्रेणियाँ हैं—एक शरीर को आनन्द पहुँचानेवाली कलाओं की श्रेणी और दूसरी आत्मा को परितुष्ट करनेवाली कलाओं की श्रेणी। कविता और वाग्मिता को उन कलाओं में समाहित किया गया है जिनमें हमारी आत्मा में परमानन्द का उद्दीपन होता है। इसी प्रकार नवजागरण-कालीन पाश्चात्य समीक्षा की एक वरिष्ठ परम्परा काव्य को व्याकरण, तर्कशास्त्र, वाग्मिता एवं इतिहास से अनुस्यूत करती है। इनके समान काव्य भी शब्दों का ही अपने साधन के रूप में प्रयोग करता है। व्याकरण, तर्कशास्त्र आदि के साथ काव्य के रखने का फल यह हुआ कि अब जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन होने लगा, उनमें तालानुक्रम, अलंकार और उस शब्दावली की समस्या पर विचार-विमर्श आरम्भ हो गया, जो कविता को अन्य विधाओं और कलाओं से वैशिष्ट्य प्रदान करती है।

नवजागरण-युग के पाश्चात्य समीक्षकों पर यूनानी तथा रोमीय काव्यशास्त्र का प्रभूत प्रभाव पड़ा है। अरस्तू, प्लेटो, होरेस, लांगिनुस, सिसरो और क्विन्टिलियन की विचारधाराएँ इनकी रचनाओं में परिव्याप्त हैं। इतालवी समीक्षकों का एक वृहत् दल अरस्तू और होरेस के काव्यशास्त्रों की भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ प्रस्तुत करता है और इसी क्रम में कलाओं तथा विधाओं के अनेकानेक श्रेणीविभाग उपस्थित होते हैं। कुछ समीक्षक काव्य को न कला मानते हैं और न विज्ञान, प्रत्युत इसे एक मानसिक सामासिकता अथवा कारयित्री क्षमता के रूप में स्वीकार करते हैं। कई अन्य समीक्षक जो काव्य को तर्कप्रधान (डिसर्सिव) विधाओं में परिगणित करते हैं, इसकी भाषा की विशेषताओं का विवेचन करते हैं, साथ ही वे इस बात का निदर्शन करते हैं कि किस प्रकार काव्यभाषा को पूर्वप्रतिष्ठित मानदण्डों के अनुकूल बनाया जा सकता है। इतालवी समीक्षकों में कई ऐसे भी लेखक मिलते हैं जो काव्य को नीति-दर्शन (मोरल फिलासफी) का ही एक अविच्छिन्न अंग या महत्त्वपूर्ण माध्यम मानते हैं। इनके विपरीत फ्रांसेस्को राबर्टेलो (Francesco Robortella) जैसे समीक्षकों ने काव्य-रचना का प्रयोजन श्रोताओं को आनन्दित करना (dulce) और उन्हें नीति-विषयक ज्ञान कराना (utile) कहा है।[1] जूलियस सीजर सेलिगर (Julius Caesar

---

१ Ibid, p 66 राबर्टेलो की पुस्तक *In librum Aristotelis de arte poetica explicationes* का प्रकाशन सन १५४८ में हुआ था।

Scaliger) ने अपने "पोयटिक्स लिब्रि सेप्टम" (Poetices libri septem) नामक काव्यशास्त्र में तत्त्वत, शब्दों को ही काव्य की आत्मा माना है।[1] काव्य में प्रयुक्त शब्दों का संबंध (१) उन वस्तुओं से होता है जिनकी वे व्यंजना करने या जिनके लिए प्रयुक्त होते हैं और (२) साथ ही वे उन श्रोताओं से भी संबद्ध होते हैं जिनके लिए उनकी अर्थवत्ता अभीप्स होती है।[2] मिण्टुर्नो और कास्टलवेट्रो ने भी प्राचीन यूनानी काव्यशास्त्र के आधार पर महत्त्वपूर्ण समीक्षा कृतियों की रचना की। मिण्टुर्नो (१५५८) ने अपनी पुस्तक De poeta के लिए प्लेटो के 'रिपब्लिक', 'लाज' इत्यादि से अरस्तू के 'पोयटिक्स' और 'रैटरिक' से, होरेस के 'आर्स पोयटिका' से और क्विण्टिलियन एवं सिसरो के 'ओरेटर', 'डि ओरेटर' आदि से प्रचुर पाठ्य सामग्री का संचयन किया है। वस्तुतः ऐसा प्रतीत होता है कि "पोयटिक्स" और 'आर्स पोयटिका' मिण्टुर्नो के प्रबंध में पूर्णरूपेण आत्मसात कर लिये गए हैं। कास्टलवेट्रो की पुस्तक Poetica d Aristotele vulgarizzata et sposta (१५७०) राबर्टेलो की रचना के समान ही अरस्तू के 'पोयटिक्स' का भाष्य है। किंतु, अपनी कृति में कास्टेलवेट्रो ने कितने ही स्थलों पर अरस्तू के सिद्धांतों का खंडन भी किया है। इस कारण वह एक ऐसा प्रगतिशील आलोचक कहा गया है जिसने रंगमंच और श्रोता को सदैव अपने सामने रखकर यह घोषणा की कि काल की अन्विति—नाटक की घटनाओं का एक दिन तक ही परिसीमन—श्रोताओं की शारीरिक आवश्यकताओं की दृष्टि से अनिवार्य है। (" il quale io no veggo che possa passare il giro del sole siccome dice Aristotele cioe ore dodici, conciosiacosache per le necessita del corpo, come e mangiare, bere, disporre i superflui pesi del ventre e della vesica, dormire e per altre necessita, non possa il popolo continuare oltre il predetto termine cosi fatta dimora in teatro"[3])

---

१ ' Scaliger is essentially preoccupied with poetry as an art of discourse Poetry is conceived primarily as language' Ibid, p 68

२ ' for whom the signification is intended' Ibid

३ 'Quoted by H Breitinger, Un passage de Castelvetro sur l unite de lieu' Revue Critiqae d Histoire et de Litterature, Nouvelle Serie, VII (27 December, 1879),

सन् १५८४ ई० म प्रकाशित "डिस्कोर्सेज" मे टैसो ने कहा है कि काव्य का सत्याश्रित ('आइकस्टिक") और इसमे वर्णित आश्चर्यजनक घटनाओ का विश्वसनीय होना चाहिए। फिर भी उसने इस बात पर भी अधिकाधिक बल दिया है कि कविता का सत्य सार्वभौम सत्य के समान है। काव्य प्रयोजन के सबंध म ट्रिजिनो, सिपियो, मजारी आदि इतालवी समीक्षको के विचार अरस्तू और होरेस की मान्यताओ पर ही आधृत दीख़ते हैं। समाज म शिव के साथ ही सुदर की प्रतिष्ठा करना व काव्य-सर्जन का लक्ष्य मानते हैं। कभी कोई सत्य पर यत्न देता है तो कभी कोई सुदर पर, कभी-कभी कोई दोनो पर। कास्टेलवेट्रो ही इनम एक ऐसा समीक्षक हुआ है, जिसने काव्य प्रयोजन म केवल रसोद्दीपन को ही प्रामुख्य दिया है।

(ख) विराम (१) नवजागरण से बीसवीं शती तक की प्रतिनिधि अँगरेजी समीक्षाएँ

सर फिलिप सिडनी[1] से इग्लैंड म कवि-समीक्षको की एक ऐसी अभिनव परम्परा का सूत्रपात होता है जो चिरप्रवहमान एव जीवत है। उसने इतालवी समीक्षको के सदृश काव्य के गौरवोत्कर्ष की निर्भीक उदघोषणा की और उसे दर्शन, इतिहास आदि से श्रेष्ठ बताया। काव्य न ही सर्वप्रथम ज्ञान की समुज्ज्वल रश्मियाँ विकीर्ण की। उसने ह सभ्यता के आरम्भिक युगो मे मानव का भरण-पोषण किया, जिससे वह दुरूह से दुरूह शास्त्रो के ज्ञान को भी आत्मसात करने म समर्थ हो सका। कवियो के पहले कोई लेखक हुआ ही नही, जो हुआ भी, वह मूलत कवि था। आर्फियस, लाइनुस आदि अपने देश के प्रथम लेखक थे। इसी प्रकार जिन व्यक्तियो ने इतालवी भाषा को श्री-सम्पन्न बनाया, वे भी कवि-पुगव ही थे और उनम दाते, बुक्कचियो तथा पेटराक के नाम सर्वोपरि हैं। अँगरेजी भाषा के निर्माता और आदि लेखक गावर तथा चौसर-सरीखे कवि थे। यहा तक कि दर्शन भी सर्वप्रथम काव्य की रूप-सज्जा म ही सजधजकर अवतीर्ण हुआ और यूनान के थेलीज, इम्पडाक्लीज तथा पार्मेनाइडिज के अतस से दर्शन भी काव्य के रसदीप्त रूप म उदभूत हुआ। पाइथागोरस तथा फासिलाइडिज ने अपने

---

478 800 cf Castelvetro, *Poetica D' Aristotele* Basil, 1576, p 109 (II 7) Breitinger quotes the edition of Vienna, 1570, p 60'

१ ऐन अपोलजी फॉर पोयट्री, १५९५।

नीति-उपदेशों को भी काव्य का स्वरूप दिया। रोमवासी इसी कारण कवियों को 'वेटस' कहते थे, जो रहस्यदर्शी, पूर्वज्ञानी और पैगम्बर का पर्याय है। कवि-कल्पना से उद्भूत सृष्टि वास्तविक चराचर सृष्टि से अपेक्षया अधिक सुन्दर होती है। यह कवि की कल्पना ही है जिससे एक नव्य सृष्टि का निर्माण होता है और ऐसी वस्तुओं का आविर्भाव होता है जिन्हें भौतिक जगत् में हम नहीं देखते। काव्य अनुकृति की एक कला है, मुखर चित्र है और इसका उद्देश्य अध्येता को सत् असत् का ज्ञान कराना एवं उसका मनोरंजन करना है। अँगरेजी भाषा की ऊर्जस्विता के संबंध में सिडनी की धारणा थी कि यह काव्य को सम्मानित करने में ही समर्थ नहीं है अपितु काव्य द्वारा सम्मानित होने योग्य भी है।

सत्रहवीं शती के आरम्भ में ही कैम्पियन[1] ने 'आब्जर्वेशन्स इन दि आर्ट आव इंगलिश पोयट्री' में तुक और अन्त्यानुप्रासों की गर्हणा की तथा उनके प्रयोग में निहित कृत्रिमता-जैसे अन्य दोषों पर प्रभूत प्रकाश डाला। सैमुएल डैनियल[2] ने 'अ डिफेंस आव राइम' में तुकान्तों और अन्त्यानुप्रासों का पुरजोर समर्थन और उनके सौन्दर्य तथा संगीत-माधुर्य के प्रभावों का विशद विवरण उपस्थित किया। उसने तुकों के सार्वभौम प्रयोग को इनकी उत्कृष्टता एवं उपादेयता का एक प्रत्ययकारी प्रमाण बताया और बड़े ही व्यंजक शब्दों में पूर्ववर्ती विपक्षियों के तर्कों का सशक्त निराकरण करते हुए घोषणा की कि यदि बर्बर जातियों में अन्त्यानुप्रासों का प्रयोग होता रहा है तो इसका कारण यह है कि ये उनके हृदयों को भी उद्वेलित-प्रभावित करने में समर्थ रहे हैं। डैनियल ने नवजागरण की स्वच्छन्द चिन्तनधारा के अनुकूल चिरस्मरणीय शब्दों में कहा—हमें न अतीत द्वारा चालित होने की आवश्यकता है न और इसके अंधानुकरण की। प्राचीन आभिजात्य लेखक हमारी ही तरह मनुष्य थे जिन्हें नियति ने उसी प्रकार जन्म दिया था जिस प्रकार हमें।[3]

---

१ आब्जर्वेशन्स इन दि आर्ट आव इंगलिश पोयट्री, १६०२।

२ अ डिफेंस आव राइम ?, १६०३।

३ 'Methinks we should not so soon yield our consents captive to the authority of antiquity, unless we saw more reason: all our understandings are not to be built by the square of Greece and Italy. We are the children of nature as well as they.' Edmund D. Jones (ed.), *English Critical Essays*, XVI–XVIII Centuries (The World's Classics, 1943), pp. 82 et seq.

बेकन और बेन जॉनसन को जेकोबियन युग के प्रतिनिधि समीक्षकों में मुख्य स्थान मिला है। दोनों को एलिजाबेथन युग की सांस्कृतिक परंपराओं की धरोहर प्राप्त थी, जिनमें उन्होंने यथावश्यक परिवर्तन घटित किए। एक ओर जहाँ सिडनी के काव्य सिद्धान्त के अन्तर्गत कल्पनाश्रित तत्त्वों को बेकन ने ग्रहण किया और उनसे ऐतिहासिक एवं वैज्ञानिक तत्त्वों का संयोग कराया, वहाँ दूसरी ओर सिडनी के सिद्धान्तों के अभिजात पक्ष को बेन जानसन ने विकसित कर इतालवी समीक्षकों द्वारा प्रतिपादित नियमों को अधिकाधिक प्रतिष्ठा दी और साहित्य-कला के वस्तुनिष्ठ एवं बाह्य पक्ष की ओर समीक्षकों का ध्यान आकृष्ट किया। बेकन ने नवजागरण के उन अनुकर्ताओं की तीव्र आलोचना की, जो सिसरो की शैली का अनुकरण मात्र करते ही थे, साथ ही रीति के बाह्य उपकरणों पर ही सर्वाधिक ध्यान देते थे। बेकन ने कला और विज्ञान के सामान्य श्रेणिविभाजन में परम्परानुमोदित मनोविज्ञान का आश्रय लिया है और इतिहास को स्मृति से, दर्शन को अववोध से तथा कविता को कल्पना से अनुस्यूत किया है। इस वर्गीकरण पर स्पेनवासी हुआर्ते का प्रभाव परिलक्षित होता है।[1] प्राचीन लेखकों ने भी कल्पना को एक मानसिक प्रक्रिया मानकर इसका यथावश्यक विश्लेषण विवेचन किया था और नवजागरण के इतालवी लेखकों ने पीको डेला मिराण्डोला के समय में ही कल्पना पर कितने ही निबन्ध (मोनोग्राफ) लिख डाले थे। किंतु उनकी रुचि कल्पना के व्याधिविज्ञान (पैथालजी) में थी और वे इसे एक ऐसे मानसिक विक्षेप के रूप में देखने के अभ्यस्त थे जो कवियों और प्रेमातुर तथा मन विक्षिप्त व्यक्तियों में पाया जाता है। इंगलैंड में इस दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व बर्टन नामक लेखक करता है। बेकन के अनुसार कल्पना उस मानसिक प्रक्रिया का नाम है जो गद्यवत् एवं नीरस 'जो बीत चुका है' को कवित्वमय 'जो हो सकता है या जिसे होना चाहिए' में परिणत कर देती है। जहाँ इतिहास बाह्य जगत का प्रतिबिम्बन यथावत् करता है वहाँ कविता भी बाह्य जगत का प्रतिबिम्बन करती हुई उसे कल्पना के माध्यम से परिवर्तित कर डालती है। बेकन के लिए उन विधाओं का स्थान दर्शन या वाग्मिता के क्षेत्र में सुरक्षित है, जो हमारे अन्तर्मन का प्रतिफलन करती हैं जिनके द्वारा हम आत्माभिव्यक्ति करते हैं।[2]

---

१ दे० जे० ई० स्पिनगार्न क्रिटिकल एसेज ऑव द सेवेन्टीन्थ सेंचुरी (१९५७), भाग १, पृ० १० (भूमिका)।

२ 'Bacon does not recognize those forms which reflect the

प्रारम्भ में बेन जॉन्सन का दृष्टिकोण सिडनी के डिफेन्स ऑफ पोएज़ी से प्रभावित हुआ था। उसकी समीक्षात्मक कृतियों में नाटकों की कतिपय भूमिकाएँ[1] और 'इंग्लिश ग्रैमर'' (व्याकरण-ग्रंथ) सम्मिलित हैं परन्तु जिस ग्रंथ पर उसकी समालोचना की ख्याति निर्भर है वह 'टिम्बर और डिस्कवरीज़' के नाम से ख्यात है। शेक्सपियर के प्रशंसकों द्वारा समर्थित इस धारणा का उसने विरोध किया है कि बिना किसी ग्रन्थों के ज्ञान-अभ्यास और रचना की कला के शेक्सपियर सहज-प्रेरणा लिए कवि की प्रतिभा का आदर करता है। बेन जॉन्सन के मतानुसार शेक्सपियर कई दृष्टियों से बड़ा था[2] और उसकी स्वच्छन्द स्वाभाविक एवं निसर्गज प्रतिभा श्लाघ्य थी। किन्तु कभी-कभी उसका भावप्रवाह संगत औचित्य का अतिक्रमण कर उठता था जिसके कारण उसे अपनी कल्पना और लेखनी को अनुशासित एवं नियन्त्रित करने की आवश्यकता थी। चित्रकला और काव्यकला में इस कारण समानता है कि दोनों ही अनुकृति हैं परन्तु बेन जॉन्सन काव्य को चित्र से अधिक उन्नत और प्रभविष्णु मानता है। यह सत्य है कि काव्य मुखर चित्र है और चित्र मूक काव्य क्योंकि दोनों ही कारयित्री कल्पना पर आधृत और उसी से निर्गत होते हैं। दोनों का प्रयोजन दर्शक एवं पाठक का कल्याण और उसमें आनन्द भावना का संचार करना है। इन्हें निम्नकोटि के मनोरंजन से विमुख रहना चाहिए। उच्च कोटि की सृजन शक्ति के विकास और प्रौढ़न के लिए तीन बातों की आवश्यकता होती है —(१) सत्साहित्य एवं श्रेष्ठ कोटि के लेखकों की कृतियों का अध्ययन (२) वर्चस्वी वक्ताओं के भाषण अभिभाषणों का सम्यक् अनुशीलन और (३) निजी शैली का निरंतर श्रमसाध्य अभ्यास।[3] परंतु यह भी स्मरणीय है कि कभी-कभी हम लेखकों को उसी प्रकार

---

inner soul of man satires elegies, sonnets, and all other lyrical forms seem to him to belong rather to the domain of philosophy or rhetoric'

१ उदाहरणार्थ देखिए Sejanus, *His Fall* की भूमिका।

२ 'And to justifie mine owne candor for I lov d the man and doe honour his memory on this side Idolatry, as much as any '

३ 'For a man to write well, there are required three Necessaries to read the best Authors, observe the best Speakers and much exercise of his owne style'

स्वच्छाचारी तानाशाह बना डालते हैं जिस प्रकार मध्ययुगीन लेखकों ने अरस्तू को बना डाला था। अरस्तू यश का भागी अवश्य है, किंतु यदि हम सत्यान्वेषण में उससे भी आगे बढ़ सकें तो हर्ज ही क्या? बेन जॉनसन को यूनानियों का यह मत स्वीकार्य है। जिसके अनुसार कवि को एक स्रष्टा और उद्भावक कहा गया है और उसकी कला को अनुकृति की कला सुमधुर स्वरों और ताल-लययुक्त पंक्तियों में मानव-जीवन की अभिव्यक्ति तथा सत्य का ज्ञान करानेवाली कथाओं की रचना करना ही काव्य का लक्ष्य है।[1] 'फेबल' और 'फिक्शन' काव्य के नाना रूप-तत्त्व और आत्मा हैं। काव्य-रचना कौशल का पर्याय है, स्वयं कल्पना और उद्भावना है। इसके अनुशीलन में सद्जीवन के आदर्शों और नियमों विधियों का अभिज्ञान होता है। उसकी सृष्टि के लिए स्वाभाविक जन्मान्तरीय प्रतिभा, अध्ययन अभ्यास व्युत्पत्ति अनुकृति-कला-नैपुण्य आदि गुण अनिवार्य हैं। इसके गौरव एवं वैशिष्ट्य का आकलन के लिए उच्च कोटि का कवि होना चाहिए।[2] तभी हम उसकी कला को अच्छी तरह परख सकते हैं। कामदी के संबंध में बेन जॉनसन ने कहा है कि हास्योद्रेक ही इसका एकमात्र लक्ष्य नहीं होना चाहिए। 'कन्वर्सेशंस ऑव बेन जॉनसन एण्ड विलियम ड्रमण्ड' के साक्ष्यानुसार बेन जॉनसन ने शेक्सपियर के रोमांटिक नाटकों की उन अभूतपूर्व हास्यास्पद घटनाओं की हँसी उड़ाई है जिनसे उसके 'ऐज यू लाइक इट' 'द विण्टर्स टेल' आदि नाटक आक्रान्त हैं। (स्पिनगार्न १, पृ० २१३)

जॉन ड्राइडन के कतिपय समीक्षात्मक विचार 'द ह्वाइट डेविल' (१६१२) की भूमिका में अभिव्यक्त हुए हैं। इसी प्रकार जॉर्ज चैपमैन ने होमर की कृतियों के अनुवाद की भूमिकाओं में अपने समीक्षा सिद्धांतों का उल्लेख किया है। इस युग की अन्यान्य समीक्षा-पुस्तकों के महत्त्वपूर्ण अंश स्पिनगार्न की पुस्तक 'क्रिटिकल एसेज ऑव द सेवण्टीन्थ सेन्चुरी' के तीनों खंडों में संगृहीत हैं।

ड्राइडन (१६३१–१८००) की आलोचनात्मक उपलब्धियों में निम्नलिखित निबंधों भूमिकाओं आदि का विशेष महत्त्व है

१ राइवल लेडीज़ में एपिसल डेडिकेटरी १६६४,

---

१ 'A Poet is that which by the Greeks is call'd a Maker, or a famer His Art, an Art of imitation or faining, expressing the life of man in fit measure, numbers, and harmony, according to Aristotle '

२ उपरिवत्, पृ० ५७।

ड्राइडन का दृष्टिकोण सबसे उदार, स्वच्छन्द एवं व्यापक है। वह न तो प्राचीन नियामकों का अंधानुयायी है और न किसी वैयक्तिक निष्ठा तथा पूर्व निर्धारित प्रतिमानों का प्रचारक है। वह सदा नया दृष्टिकोण अपनाने तथा उपलब्धियों का स्वागत करने को सदा तत्पर रहा। उसके लिए प्रत्येक अभिव्यक्ति रहा है। इस प्रकार ड्राइडन नाटकों में वह त्रिअन्विति के बन्धन से मुक्त नाटकों का समर्थन और अंग्रेजी नाटकों की श्रेष्ठता प्रतिपादित करता है। उसे प्राकृतिक नियम, स्वच्छन्दता और मानव भावों की स्वाभाविकता प्रिय लगते हैं परन्तु फ्रेंच नियमानुसारिता और शास्त्रीय नियमों का कठोर अधिपालन अस्वाभाविक लगता है, उसके लिए असुविधाजनक होता है। अंग्रेजी नाटककारों द्वारा नाटकों में त्रासदी का सुखांत नाटकों से पृथक् रखा जाना उसे स्वाभाविक नहीं लगता। इसी प्रकार उनके द्वारा नाटकों में उपकथाओं और उपकथानकों का परिहार उसे अस्वाभाविक प्रतीत होता है। शेक्सपियर के अनेक दोष देखते हुए भी वह उनका निष्पक्ष प्रशंसक नहीं बनता किन्तु उसे सम्भवतः शेक्सपियर के नाटक ही अंग्रेजी नाटकों में सबसे अधिक प्रिय हैं और शेक्सपियर की असाधारण कवि-सुलभ प्रतिभा एवं कला-निपुणता से वह भरपूर प्रभावित हुआ है।

टॉमस स्प्रेट (१६३५–१७१३) विरचित काउले का मूल्यांकन इस ढंग की सर्वप्रथम कृति है परन्तु स्प्रेट का यश 'हिस्ट्री ऑव द रॉयल सोसाइटी' (१६६७) पर ही सर्वाधिक निर्भर है। इस ग्रन्थ में उसने शैली सम्बन्धी सामयिक विवाद में भाग लेकर अपने स्वतन्त्र विचार उपस्थित किए हैं और कहा है कि गद्य

समय आ गया है जब इंगलैंड में ही एक ऐसी अकैडमी की स्थापना होनी चाहिए जो भाषा-संबंधी बातों में सत्परामर्श दे सके और साथ ही नव्य प्रकाशित रचनाओं के गुण-दोषों का निर्णय कर सके। उसने सशक्त शब्दों में सभी निरर्थक अलंकारों और वैदग्ध्यपूर्ण प्रयोगों का विरोध किया है और सामयिकों को रचना-संगठन में बनावट, सरलता और पारदर्शिता लाने की सलाह दी है। राइमर[1] ने अपनी रचनाओं में प्राचीन अभिजात प्रतिमानों के अंधप्रयोग को सराहा है और शेक्स-पियर की इस कारण तीव्र आलोचना की है कि महाकवि ने अन्विति त्रय की उपेक्षा की है, विभिन्न साहित्यिक विधाओं को अपमिश्रित कर दिया है और पात्रों के चरित्र चित्रण घटनाओं के चयन आदि में कहीं भी औचित्य का खयाल नहीं रखा है।[2]

---

१ फ्रांसीसी समालोचक रापाँ की पुस्तक का अनुवादक जिसकी मौलिक कृतियों के नाम हैं (१) ट्रजेडीज ऑव द लास्ट एज (१६७८) और (२) शॉर्ट व्यिउ ऑव ट्रजेडी (१६९२)।

२ 'Thomas Rymer, who wrote in the late seventeenth century, attempted to ground his criticism on Aristotle's Poetics Rymer uses these rules, as he understands them to criticize Shakespeare Thus he applies the rule of psychological type", the neoclassical version of Aristotle's 'universal", to *Othello* He condemns the play utterly, because this rule is violated throughout Thus Shakespeare makes out Iago to be a liar But this is not "true to type', for Iago is a soldier, and soldiers are always 'open hearted, frank, plain-dealing ' Similarly, Desdemona could never love a black man Othello could never become a Venetian general, and so on Moreover, Shakespeare violates the rule or *purity of genre'* because he introduces "comic relief into the middle of tragedy And he is, clearly, no respecter of the "dramatic unities, '

'John Dryden wrote this note on the flyleaf of a book by Rymer It is not enough that Aristotle has said

अठारहवीं शती के समीक्षकों में ऐडिसन, पोप और डा० जॉनसन अग्रगण्य हैं। एडिसन (१६७२–१७१८) ने स्पैक्टेटर में प्रकाशित निबंधों में मिल्टन के कथा-संघटन की भूरिशः सराहना की है और पूर्वनिर्धारित नियमों के प्रयोग को गौण बतलाते हुए कहा है कि फ्रांसीसी लेखकों की रचनाओं से कतिपय सिद्धांत निचोड़ लेने और उनका स्वेच्छापूर्वक प्रयोग कर देने से ही कलाकृतियों का मूल्यांकन नहीं हो सकता। आवश्यकता इस बात की होती है कि भावक कलाकृति के मर्म में प्रवेश कर उन स्रोतों का उद्घाटन करे जिनसे उसके मन में अक्षय आनंद की अनुभूति हुई है। कवि की प्रभविष्णुता का रहस्य "कल्पना के आनंद" में निहित है। कल्पना चाक्षुष अनुभूतियों से उद्बुद्ध होती है और आनंद की दो कोटियाँ हैं—आद्य एवं द्वितीयक। आद्य आनंदोपलब्धि उन वस्तुओं से होती है जो हमारे समक्ष वर्तमान रहते हैं, द्वितीयक उन वस्तुओं के ध्यान से होती है जिनका चित्रों अथवा वर्णनों के सहारे हमारे मन में स्मरण कराया जाता है। ऐसे आनंद इंद्रियों के आनंद से श्रेष्ठतर ही नहीं होते, निर्दोष एवं स्वस्थ होने के कारण जीवन के बहुमुखी आनंद का संवर्धन भी करते हैं। अलेक्जेंडर पोप (१६८८–१७४४) के समीक्षा विषयक मत 'एसे आन क्रिटिसिज्म' (१७११), 'प्रेफिस टु शेक्सपियर' (१७२५), 'आर्ट आव सिंकिंग' (१७२७–८), 'एपिसल टु आगस्टस' (१७३३), 'प्रेफिस टु द ट्रांसलेशन आव दि इलियड' (१७१५) आदि रचनाओं में आकलित हैं। वह व्युत्पत्ति का प्रस्ताता है प्रतिभा का नहीं। शैली अभ्यास से सीखी जा सकती है—अभिव्यक्ति की सुष्ठुता आप ही उपलब्ध नहीं हो जाती। रचनाकार को औचित्य का सर्वत्र खयाल रखना चाहिए, जैसे भाव हों, वैसी ही भाषा, और जैसे प्रसंग हों, वैसी ही शैली होनी चाहिए। कटु-कर्कश शब्दों के स्थान पर श्रुतिमधुर एवं लालित्य व्यंजक शब्दों का प्रयोग समीचीन होता है। आलोचक के गुणों में स्वस्थ रुचि, हंसोपम वृत्ति और विद्वत्ता ही नहीं है, अपितु सत्य-कथन, निष्पक्षता एवं स्पष्टवादिता भी परिगणनीय हैं। पोप का संपूर्ण 'एसे आन क्रिटिसिज्म' ऐसे ही महत्वपूर्ण समीक्षा सूत्रों से आप्लुत और इसी कारण आज भी पठनीय है।

30, 'for Aristotle drew his models of tragedy from Sophocles and Euripides and, if he had seen ours might have changed his mind.' Jerome Stolnitz, *Aesthetics and Philosophy of Art Criticism* (Boston, 1960), pp 445 et seq

डा० समुएल जानसन (१७०६–८४) अठारहवीं शती के अँगरेज समीक्षकों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तो हैं ही, व यूरोपीय वाङ्मय में उन प्रतिभाओं के साथ हैं जिनकी कृतियाँ कभी अनद्यतन नहीं होतीं। आज पश्चिम में अभिजात सिद्धांतों में पाठकों और लेखकों की रुचि बढ़ चली है और कवि की वस्तुनिष्ठता तथा निर्वैयक्तिकता पर अधिकाधिक बल दिया जाने लगा है। रोमांटिक आत्म-निष्ठता और अहम् का स्वाभाविक प्रकर्ष अब संदेह की दृष्टि से देखा जाता है। इस कारण अब डॉ० जानसन की आलोचनात्मक उपलब्धियों का यथोचित समीक्षण संभव हो सका है।

ऐसे तो डॉ० जॉनसन की समीक्षाएँ "द जॅटलमन्स मैगजीन", "द रम्बलर" "द आइडलर" नामक पत्र-पत्रिकाओं में भी प्रकाशित हुई थीं और वे आज भी उपलब्ध हैं फिर भी उनका यश 'द लाइव्ज आव द पायट्स" नामक ग्रंथ पर ही सर्वाधिक आश्रित है। उनकी कृतियों के अध्ययन से जो सिद्धांत निरूपित होते हैं व संक्षेप में इस प्रकार है —

(१) काव्य का लक्ष्य प्रमाता को प्रमुदित करना और उसका कल्याण करना है। इस कारण जानसन को डेनहम रचित "कूपर्स हिल" की समधिक नैतिकता और मिल्टन रचित "कामस" में अटेण्डेंट स्पिरिट के नीति-उपदेश रुचिकर लगते हैं।

(२) जानसन को लयबद्ध कविता के छंद ही अच्छे लगते हैं। कविता के संगठन में अव्यवस्था और बेसुरापन पसंद नहीं आता। इसी प्रकार पदों के संघटन में वे समरूपता का समर्थन करते हैं और इस समरूपता के अभाव के परिणामस्वरूप मिल्टन के "लीसिडस" नामक शोकगीत की निंदा करते हैं।

(३) कवि का वक्तव्य सामान्य एवं सार्वभौम की अभिव्यक्ति करना है, न कि व्यक्ति विशेष की।[1]

---

१ "The business of a poet" said Imlac, "is to examine, not the individual, but the species, to remark general properties and large appearances He does not number the streaks of the tulip, or describe the different shades in the verdure of the forest he is to exhibit in his portraits of nature such prominent and striking features, as recall the original to every mind and must neglect the minuter discrimination, which one may have remarked,

(४) कविता वही सार्थक होती है जो हमारे मनोरोगों का प्रदीप्त करे।

(५) कल्पनाश्रित कथानक और घटनाओं को वे सन्देह की दृष्टि से देखते हैं और उसी काव्य का समर्थन करते हैं जो सत्य पर आधृत है। वे मिल्टन के 'लीसिडस' की निन्दा इसलिए भी करते हैं कि उसमें व्यक्त भावना अनुभूति जन्य नहीं है। अपने इसी सिद्धांत के कारण जॉनसन ने काउले के शृंगार काव्य की गर्हणा की है और प्राचीन मिथकों के प्रति अपनी अरुचि व्यक्त की है।

(६) डॉ० जॉनसन काव्यगत न्याय और नैतिक सत्य के अनन्य प्रशंसक हैं। उनके अनुसार लेखकों का यह कर्तव्य है कि वे अपनी रचनाओं में सत्य की जय और असत्य की पराजित दिखाते हुए खलनायकों को दण्डित करें और अनंत सच्चरित्रता एवं निर्दोषिता के उत्कर्ष की प्रतिष्ठा करें। शेक्सपियर के 'मेजर फार मेजर' में एंजेलो का दण्डित न होना जॉनसन को बहुत बुरा लगता है। एंजेलो जैसे दुष्ट कपटी पात्रों को दण्डित होना चाहिए और कार्डिलिया जैसी निर्दोष अप्रतिम नायिकाओं को सुखी। इसलिए जानसन शेक्सपियर की त्रासदी 'किंग लियर' के लिए घटनाओं की सुखांत परिणति का समर्थन करते हैं।

(७) जिन ग्रन्थों ने श्लीलता की उपेक्षा कर लोकरुचि को भ्रष्ट किया जो असत्य पर आधारित थे वे ग्रंथ जानसन द्वारा समर्थित न हुए। फील्डिंग के 'टाम जोन्स' नामक उपन्यास को जानसन एक अत्यंत अपथप्रवृत्त दूषित कृति मानते हैं। फील्डिंग की अपेक्षा रीचर्डसन उन्हें अधिक प्रिय हैं। इसी कारण उन्होंने स्टर्न की भी रचनाओं को अश्लील और दोषपूर्ण कहा है।

यद्यपि डा० जानसन को हम अभिजात समीक्षकों की श्रेणी में रखते हैं फिर भी वे प्राचीन अभिजात साहित्य में प्रतिपादित सिद्धांतों का पक्षपोषण नहीं करते। वे प्रतिभा को सिद्धांतों से परे मानते हैं और स्थान तथा काल की अन्वितिद्वय का निराकरण करते हैं। इसी प्रकार उन्हें त्रासदी में कामदी के तत्त्वों का समाहार अनुचित नहीं दीखता। उनके अनुसार नियमों के अनेकानेक

---

and another have neglected, for those characteristics which are alike obvious to vigilance and carelessness he must consider right and wrong in their ab tracted and invariable state he must disregard present laws and opinions, and rise to general and transcendental truths which will always be the same '—Dr Johnson *The History of Rasselas, Prince of Abyssinia* Chap X

प्रकार हैं। कुछ नियम ता ऐसे हैं जिन्ह हम अनिवार्य और मौलिक कह सकते है कुछ हमारी सुविधा के लिए और उपयोगी हैं कुछ आवश्यकता के कारण साहित्यधारा की वृद्धि द्वारा निर्मित हाते हैं और कुछ प्राचीन स्वेच्छाचारी लेखका द्वारा निर्धारित किए जाते हैं। उस रामाटिक भावधारा से डा० जानसन का काई सपर्क नहीं जा सकता है कि कवि अपने ही भावावेगा और अपनी ही वैयक्तिक मन स्थिति (मूड) की अभिव्यक्ति करता है। इसलिए वर्गसा और क्रोच के समर्थक उनके सिद्धाता का स्वीकार नहीं करेंगे। परतु, समग्रत, जानसन अँगरजी के चार-पाच इने गिने समीक्षको म परिगणित हान योग्य हैं।

अभिजात और रोमाटिक

अठारहवी शती के उत्तरार्द्ध मे रामाटिक समीक्षा का आविर्भाव एडवर्ड यग (१६८३–१७६५) टॉमस ग्रे (१७१६–७१) टॉमस पर्सी (१७२६–१८११), विलियम शेन्सटन (१७१४–६३), जोसेफ वार्टन (१७२२–१८००), टामस वार्टन (१७२८–६०), रिचर्ड हर्ड (१७२०–१८०८) आदि की रचनाआ स होता है। इसी समय सर्जनात्मक साहित्य भी अभिजात प्रवृत्तियो से काल क्रमानुसार मुक्त हाकर स्वच्छद विचार-सरणिया पर अग्रसर हो चलता है। दर्शनशास्त्र, धर्मशास्त्र, राजनीति और स्थापत्य सगीत तथा चित्र आदि कलाआ म भी परिवर्तन होन लगते हैं। कलाआ म पुरुष-तत्त्व के स्थान पर नारी-तत्त्व की प्रतिष्ठा होती है और समीक्षा म भी कुलीनता मृदुता कोमलता आदि गुणा का समावेश होना है। सामान्यत अभिजात समीक्षा म पुरुष-तत्त्व का प्राधान्य देखा जाता है और साथ ही वह इस अनुमान पर आधृत रहता है कि साहित्य बुद्धि से उन्मीलित होता है। उसके अनुसार समालोचना बुद्धि से उद्भूत एव साहित्य का ऐसा मूल्याकन है जो स्वय बुद्धि विवेक पर आश्रित होता है। समालोचना बौद्धिक क्षेत्र म ही क्रियाशील रहती है वह तत्त्वत वस्तुपरक होती है और समालाचक के मस्त भावोद्गारा का व्यक्त न कर पूर्वनिर्धारित प्रतिमाना से आलोच्य कृति का समाक्षण करती है। अभिजात समीक्षक गीति-काव्य की उपेक्षा कर वस्तुनिष्ठ विधाआ पर अपना ध्यान सर्वाधिक केन्द्रित करता है। उसके लिए नाट्य साहित्य, व्यग्य प्रधान रचनाएँ और प्रबध-काव्य आदि आत्मनिष्ठ काव्य की अपेक्षा अधिक मूल्यवान हाते हैं। इसके विपरीत रामाटिक आलोचना का सबध काव्य-कला स अधिक काव्यकार से, सामान्य से अधिक विशिष्ट से और साहित्यिक विधा से अधिक कृति विशेष से रहता है।

वर्ड्स्वर्थ (१७७०–१८५०) ने 'लिरिकल बलेड्स" के द्वितीय सस्करण

की भूमिका में काव्य एवं काव्य भाषा के संबंध में लिखता है। अनेक बातें कही हैं जिनसे प्रभावित होकर आर्नल्ड ने उसे एक महान् समालोचक घोषित किया था।[1] परंतु वह स्वयं में सत्समालोचक के लिए अपेक्षित न बहुश्रुत था और न प्रतिभा ही। (१) उसका अध्ययन व्यापक न था (२) उसकी अभिरुचि में नम्यता न थी और (३) उसने अपनी कविता को ही साहित्य-समीक्षा के लिए एकमात्र कसौटी बना रखा था और वह उसी के आधार में दूसरों की कृतियों को भी परखता था। (४) उसमें काव्य-संबंधी निश्चित धारणाएँ थीं जिनमें परिवर्तन लाना या नयी कविता के आधार में जिनका विस्तार करना उसे पसंद न था। (५) वह ब्रूटस के समान अत्यंत आत्मनिष्ठ और आत्मकेन्द्रित था उसका मन न तो नमनशील था और न सूक्ष्म ही। (६) उसमें तर्क वितर्क करने और अपने तर्कों से पाठकों को प्रभावित करने की क्षमता न थी। फिर भी लोकगीतों की पूर्वोक्त भूमिका एवं अभिनव दृष्टिकोण का द्योतन और नये रोमांटिक काव्य के प्रवर्तन के साथ ही अभिजात परंपरा के विघटन की घोषणा करती है। वह स्वयं काव्य भाषा को मानव की यथार्थ भाषा के निकट पहुँचाने का यत्न करता है और अंगरेजी काव्य में जन साधारण की सहज भाषा की प्रतिष्ठा होती है। इस भूमिका के प्रकाशित होते ही काव्य समीक्षा में शिल्पगत कौशल के स्थान पर भावों और भावनाओं पर प्रभूत बल दिया जाने लगता है और कविता अभिव्यक्तिगत साम्य

---

१ 'Wordsworth was a great critic, and it is to be sincerely regretted that he has not left us more criticism' Matthew Arnold, 'The Function of Criticism' in *Essays In Criticism* First Series, 1865

२ 'He (Wordsworth) carried into literature the temperament of the narrowest theological partisan and would rather that a man were not poetically saved at all, than that he were saved while not following "W W's own way His reading, moreover, was far from wide and his intense self-centredness made him indifferent about extendig it while he judged everything that he did read with reference to himself and his own poetry' George Saintsbury, *A History of English Criticism* (1949) p 316

न होकर बलवती भावनाओं का महत् उद्भावन बन जाती है। "शान्त अवस्था में भाव के स्मरण से उसका उद्भव होता है। उस भाव का भावन किया जाता है—यहां तक कि एक विशेष प्रकार की प्रतिक्रिया द्वारा—शनैः शनैः शांतता का लोप होकर वैसा ही भाव उत्पन्न हो जाता है, जो पहले भावन का विषय रहा हो और वह भाव वास्तव में मन में अस्तित्व ग्रहण कर लेता है।"[1] चूंकि कवि जन-साधारण के लिए लिखता है, उसे कल्पित ऊँचाई से उतरकर इस प्रकार अपने मनोभावों को संप्रेषित करना चाहिए कि लोग उसकी बात समझ सकें और समझकर सराहना और सहानुभूति दे सकें। वर्ड्सवर्थ के अनुसार कवि और सामान्य मानव में एक अंतर यह भी है कि जहां किसी तात्कालिक बाह्य उत्तेजना के बिना कवि अपेक्षाकृत शीघ्र विचार और भावन कर सकता है, साधारण व्यक्ति की कल्पना बाह्य उत्तेजना से ही प्रादुर्दीप्त होती है। इसके अतिरिक्त कवि के मन में जो विचार और भावनाएँ उत्पन्न होती हैं, उन्हें रूपायित करने और मूर्त अभिव्यक्ति देने की उसमें अपेक्षाकृत अधिक क्षमता होती है। सत्य को मूर्तिमान मित्र और अपने अभिन्न सहचर के रूप में उपस्थित पाकर कवि खुशी के गीत गाता रहता है, जिसमें प्रमाता उसका साथ देता है। वस्तुतः कविता ज्ञान की शुद्ध-बुद्ध आत्मा और ऐसी रागदीप्त अभिव्यक्ति है, जो समस्त विज्ञान का आश्रय है। मानव-स्वभाव के संरक्षण के लिए कवि अजय भूमि है, वह व्यापक एवं सम्पर्क है जहां-जहां जाता है, स्नेह-संबंध उसके साथ रहते हैं।[2]

कोलरिज (१७७२–१८३४) की समीक्षा-पुस्तक 'बायोग्राफिया लिटरेरिया' का वही महत्त्व है जो जानसन के 'लाइव्ज ऑव द पोयट्स', आर्नल्ड के 'एसेज इन क्रिटिसिज्म' और एलियट के 'द सेक्रड वुड' तथा 'सिलेक्टेड एसेज' जैसे ग्रन्थों का है। कालरिज में कवि, समालोचक और दार्शनिक का अभूतपूर्व संयोग पाया जाता है। उसे सत्समालोचक की संवेदनशीलता और विचारक की प्रखर चिंतनशक्ति भी प्राप्त थी, उसके कवि में कल्पना और सर्जनात्मक प्रतिभा का अपूर्व समाहार था। इसी संयोग के फलस्वरूप वह साथी कवि के मन्तव्यों की परीक्षा करता है, सर्जनात्मक प्रक्रिया को पुनः सर्जित करने और अपने पाठकों के मन में प्रवेश करने में सफल होता है। साथ ही वह

---

१ डा० नगेन्द्र (प्र० सम्पा०), पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की परम्परा (दिल्ली, प्र० सं० र०), पृ० १५२।

२ उपरिवत्, पृ० १४८-५०।

उसकी ग्रहणशीलता का स्तर दार इन्द्रियों के आगम् में प्रवेश कराना और स्वयं नये-नये विचारों की उद्भावना करता है। कालरिज का ज्ञान काव्यानुशासन तक ही सीमित न था और उसने अंगरेजी तथा जर्मन साहित्यकारों का ही अध्ययन नहीं किया था, अपितु दर्शन धर्मशास्त्र, रहस्यवाद राजनीतिशास्त्र इतिहास यात्रा-साहित्य का भी सुचिंतित अध्ययन कर विश्वकोशीय विद्वत्ता अर्जित की थी।[1] इसी के फलस्वरूप उसे व्यापक परिप्रेक्ष्य प्राप्त हुआ था जो केवल साहित्यिक ज्ञान से कदापि न होता। परन्तु साथ ही यह भी निर्विवाद है कि उसमें एकाग्र-चित्तता का अत्यंत अभाव था जिसके कारण वह विवेच्य प्रसंगों पर ध्यान केंद्रित न कर विभिन्न दिशाओं में भाग खड़ा होता है और अप्रासंगिक विषयों पर उतर आता है।[2] उसके कई उत्कृष्ट सिद्धांत ऐसी पाद-एवं उपांत टिप्पणियों में पाये जाते हैं जहाँ उनके पाये जाने की संभावना नहीं रहती। इतना ही नहीं, "बायोग्राफिया लिटरेरिया" ही एक ऐसी पुस्तक है जो पूर्णता के निकट आ सकी है, वह तो कोलरिज पुस्तकों का आरम्भ करना जानता था उन्हें समाप्त करना नहीं। वह व्यवस्था और सामंजस्य का प्रस्तोता तथा अप्रासंगिकता और विसंगति ("इनकांग्रुइटी") का विरोधी था परन्तु उसकी निजी रचनाएँ

---

१ स्वयं कोलरिज ने अपने पत्रों में लिखा था "आइ ऐम एण्ड एवर हैव बीन अ ग्रेट रीडर, एण्ड हैव रेड आलमोस्ट एवरिथिंग" 'एस० टी० कोलरिज, लेटर्स, १७९६।

२ 'Our author's mind is (as he himself might express it) tangential. There is no subject on which he has not touched, none on which he has rested. With an understanding fertile, subtle, expansive, "quick, forgettive apprehensive", beyond all living precedent, few traces of it will perhaps remain. He lends himself to all impressions alike, he gives up his mind and liberty of thought to none. He is a general lover of art and science, and wedded to no one in particular. He pursues knowledge as a mistress with outstretched hands and winged speed.

—William Hazlitt, 'Mr. Coleridge' in *The Spirit of the Age*, 1825

"फैंसी' स्मृति की अपेक्षा उच्चतर होती है क्योंकि कवि का मन जान-बूझकर बिम्बों का चयन और उन्हें शृंखला प्रदान करता है। फिर भी 'फैंसी' का स्थान कल्पना से नीचा है, क्योंकि वह असदृश पदार्थों, धारणाओं अथवा उपमानों को एक ही स्थान पर सजाती तो है, उन्हें समीकृत नहीं करती। लोह-कणों और बालुका के घोल के समान वह उन्हें एक साथ रख देती है, पर उन्हें परिवर्तित नहीं करती, जबकि कल्पना में ये पदार्थ उपमान आदि अपनी विशिष्टता खोकर अभिनव सृजन का रूप धारण करते हैं।

शेली (१७९२–१८२२) के पत्रों और उसकी कविताओं की भूमिकाओं में कितने ही महत्वपूर्ण समालोचनात्मक अनुच्छेद पाये जाते हैं परन्तु उसकी सबसे महत्वपूर्ण कृति जिस पर उसके समालोचक का महत्त्व निर्भर है 'डिफेन्स आव पोयट्री' (१८२१) के नाम से अभिहित है। यद्यपि यह एक लघु निबन्ध मात्र है, फिर भी इसकी रोचकता निर्विवाद और इसका महत्त्व असंदिग्ध है। इस पर प्लेटो का अत्याधिक प्रभाव परिलक्षित होता है परन्तु जिस व्यक्ति की काव्य विषयक भ्रान्त धारणाओं ने शेली को इस निबंध की रचना के लिए बाध्य किया, वह था टामस लव पीकॉक। शेली कवि को केवल कलाओं का उद्भावक नहीं मानता। उसके अनुसार कवि समस्त नीतिशास्त्रों का जनक और धर्मों का शिक्षक प्रचारक रहा है। वह शाश्वत अनंत एवं अद्वैत का सहभागी होता है और उसकी कविता शाश्वत सत्य रूप में अभिव्यक्त जीवन का यथावत् प्रतिबिम्ब होती है। वह जिन प्राणों का स्पर्श करती है, वे उसमें अन्तर्निहित बुद्धिमत्ता और ज्ञान को ग्रहण करने के लिए उन्मुक्त हो जाते हैं। शेली के मतानुसार काव्य स्रष्टा काल की सीमाओं में आबद्ध नहीं होता, वह तो उस बुलबुल की भाँति होता है, जो अँधेरे में बैठकर अपने नीरस क्षणों को आह्लाद से आपूरित करने के लिए सुमधुर स्वरों में गाती है। उसके भावक श्रोता अदृश्य गायक की मधु स्वर-लहरी से विमुग्ध हो जाते हैं। वस्तुतः काव्य दिव्य शक्तिसम्पन्न होता है, शेली के सादृश्यानुसार वह ज्ञान का केन्द्रबिन्दु भी है और परिधि भी उसमें समस्त विज्ञान अन्तर्भूत है और चिंतन की समस्त प्रणालियों की वह मूल तो है ही, फूल भी है। 'सबका उद्भव उसी से होता है और सब उसी से सुशोभित है यदि उसका क्षय हो जाय तो यह काव्य जीवन-वृक्ष के अंकुर के उत्तराधिकार और पोषण से वंचित हो जाय—उसके बीज और फल का तिरोभाव हो जाये। कविता सर्वाधिक सुखी एवं श्रेष्ठतम मनों के श्रेष्ठतम और सबसे अधिक सुखी क्षणों का लेखा जोखा है।[1]

---

१ डा० नगेन्द्र (प्र० सम्पा०), उल्लि० ग्र०, पृ० १७८ १७९।

प्रेरणा मे ही शेली काय का उत्स देखता है और जिन पंक्तियों मे इसका वणन करता है, वे प्लेटो, टैसो और ब्रूनो की याद दिलाती हैं।[1] शेली के विचारानुसार कवि का मन नितात निष्क्रिय होता है "द माइण्ड इन क्रिएशन इज अ फेटिंग कोल, व्हिच सम इविजिवल इफ्लुएस, लाइक ऐन इनकासटेण्ट विण्ड, अवेक्स टु ट्रांजिटरी ब्राइटनस।" अत जब रचना का आरम्भ होता है, उस समय प्रेरणा ह्रासोमुख हुई रहती है और ऐसा प्रतीत होता है कि सर्वोत्कृष्ट कविता कवि के मूल भावो की एक दुबल निष्प्राण प्रतिच्छाया मात्र ही होती है। कविता कोई कला नही है अपितु एक मन सृष्टि (योजन) है, एक अकथ, अवणनीय मन सष्टि और मन स्थिति ("स्टेट आव माइण्ड") है। कविता का जो नतिक प्रभाव पडता है उसका वणन शेली ने अभिजात शब्दावली म किया है। कविता का लक्ष्य ऐसे आदश नायको की सष्टि करना है जिनके अनुकूल हम अपना चरित्र निर्माण कर सकें। शेली के अनुसार प्रमीथियस सेटन की अपेक्षा अधिक सरस एव कवित्वमय पात्र है, परतु सेटन मिल्टन के भगवान की अपेक्षा अधिक नीतिमान एव साधुवत्त है। समग्रत , शली के अतिरेकपूण विचारो ने बीसवी शती म रोमांटिक काव्य सिद्धातो के विरोधी लेखको को अतिरिक्त बल प्रदान किया है और ह्यूम, पाउड, एलियट प्रभृति समीक्षको को अभिजात सिद्धान्तो की ओर अधिकाधिक उन्मुख किया है।

हेजलिट (१७७८–१८३०)[2] ने काव्य को कल्पना और मनोवेगो की अभिव्यक्ति कहा है। इसका सबध उन सभी वस्तुओ से है, जो मानव मन को तत्काल आनन्द या कष्ट पहुँचाते हैं। जिस व्यक्ति मे काव्य के प्रति उपेक्षा और घृणा की भावना हो उसम अपने आपके प्रति भी श्रद्धा नही हो सकती। काव्य कोई निम्नकोटि के मनोरजन का साधन नही है और न विलासप्रिय अकमण्य व्यक्तियों के सस्ते मन बहलाव के लिए ही रचा जाता है। अनादि काल से ही मानव-समाज ने इसके अध्ययन से अपना मनोरजन किया है। कुछ लोगो की

---

१ Rene Wellek, *A History of Modern Criticism The Romantic Age* (London, 1955), p 125

२ हेजलिट की समीक्षात्मक कृतियो के नाम हैं (१) करक्टस ऑव शेक्सपियर (१८१७), (२) लेक्चस ऑन द इगलिश पोयटस (१८१८), (३) द इगलिश कॉमिक राइटस (१८१९), (४) एलिजाबीथन लिटरेचर (१८२०), (५) द प्लेन स्पीकर, (६) द स्पिरिट आव द एज, इत्यादि।

"पगी" स्मृति की अपेक्षा उत्तर होता है यद्यपि कवि का मन जान-बूझकर निम्न का पक्ष और उसे भूगना प्रारम्भ करता है। फिर भी "पगी" का स्थान कल्पना के नीचे है यद्यपि वह असदृश पदार्थों धारणाओं अथवा उपमानों का एक ही स्थान पर सजाती सा है, उन्हें समीकृत नहीं करती। लौह-कणों और बालुका में घास के समान वह इन्हें एक साथ रख देती है पर इन्हें परिवर्तित नहीं करती, कल्पना में ये पदार्थ, उपमान आदि अपनी विशिष्टता खोकर अभिनव सृजन का रूप धारण करते हैं।

शेली (१७८२–१८२२) के पत्रों और उसकी कविताओं की भूमिकाओं में कितने ही महत्त्वपूर्ण समालोचनात्मक अनुच्छेद पाये जाते हैं परन्तु उसकी सबसे महत्त्वपूर्ण कृति जिस पर उसका समालोचक का महत्त्व निर्भर है डिफेन्स ऑव पोयट्री (१८२१) के नाम से अभिहित है। यद्यपि यह एक लघु निबंध-मात्र है, फिर भी इसकी रोचकता निर्विवाद और इसका महत्त्व असंदिग्ध है। इस पर प्लेटो का अत्यधिक प्रभाव परिलक्षित होता है परन्तु जिस व्यक्ति की काव्य विषयक भ्रान्त धारणाओं ने शेली को इस निबंध की रचना के लिए बाध्य किया, वह था टामस लव पीकॉक। शेली कवि को केवल कलाओं का उद्भावक नहीं मानता। उसके अनुसार कवि समस्त नीतिशास्त्रों का जनक और धर्मों का शिक्षक प्रचारक रहा है। वह शाश्वत, अनंत एवं अद्वैत का सहभागी होता है और उसकी कविता शाश्वत सत्य रूप में अभिव्यक्त जीवन का यथावत् प्रतिबिम्ब होती है। वह जिन प्राणों का स्पर्श करती है वे उसमें अंतर्निहित बुद्धिमत्ता और ज्ञान को ग्रहण करने के लिए उन्मुक्त हो जाते हैं। शेली के मतानुसार काव्य-स्रष्टा काल की सीमाओं में आबद्ध नहीं होता वह तो उस बुलबुल की भाँति होता है, जो अँधेरे में बैठकर अपने नीरस क्षणों को आह्लाद से आपूरित करने के लिए सुमधुर स्वरों में गाती है। उसके भावक श्रोता अदृश्य गायक की मधु स्वर-लहरी से विमुग्ध हो जाते हैं। वस्तुतः काव्य दिव्य शक्तिसम्पन्न होता है शेली के व्याख्यानुसार वह ज्ञान का केंद्रबिंदु भी है और परिधि भी उसमें समस्त विज्ञान अंतर्भूत है और चिंतन की समस्त प्रणालियों की वह मूल तो है ही फूल भी है। सबका उद्भव उसी से होता है और सब उसी से सुशोभित हैं यदि उसका क्षय हो जाय तो यह काव्य जीवन-वृक्ष के अंकुर के उत्तराधिकार और पोषण से वंचित हो जाय—उसके बीज और फल का तिरोभाव हो जाये। कविता सर्वाधिक सुखी एवं श्रेष्ठतम मनों के श्रेष्ठतम और सबसे अधिक सुखी क्षणों का लेखा-जोखा है।"[1]

---

१ डा० नगेन्द्र (प्र० सम्पा०), उल्ल० ग्र०, प० १७८-१७९।

प्रेरणा में ही शैली काव्य का उत्स देखता है और जिन पंक्तियों में इसका वर्णन करता है, वे प्लेटो, टमा और ब्रूनो की याद दिलाती हैं।[1] शैली के विचारानुसार कवि का मन नितान्त निष्क्रिय होता है "द माइण्ड इन क्रिएशन इज अ फेडिंग कोल, ह्विच सम इनविजिबल् इन्फ्लुएंस, लाइक ऐन इनकांसटेण्ट विण्ड, अवेकन्स टु ट्रांसिटरी ब्राइटनेस।" अतः जब रचना का आरम्भ होता है, उस समय प्रेरणा ह्रासोन्मुख हुई रहती है और ऐसा प्रतीत होता है कि सर्वोत्कृष्ट कविता कवि के मूल भावों की एक दुर्बल निष्प्राण प्रतिच्छाया-मात्र ही होती है। कविता कोई कला नहीं है, अपितु एक मनःसृष्टि (वीजन) है एक अक्थ्य, अवर्णनीय मनःसृष्टि और मनःस्थिति ("स्टेट ऑव माइण्ड") है। कविता का जो नैतिक प्रभाव पड़ता है, उसका वर्णन शैली ने अभिजात शब्दावली में किया है। कविता का लक्ष्य ऐसे आदर्श नायकों की सृष्टि करना है जिनके अनुकूल हम अपना चरित्र निर्माण कर सकें। शैली के अनुसार प्रमीथियस सैटन की अपेक्षा अधिक सरस एवं कवित्वमय पात्र है, परन्तु सैटन मिल्टन के भगवान की अपेक्षा अधिक नीतिमान एवं साधुवृत्त है। समग्रतः, शैली के अतिरेकपूर्ण विचारों ने बीसवीं शती में रोमांटिक काव्य सिद्धान्तों के विरोधी लेखकों को अतिरिक्त बल प्रदान किया है और ह्यूम, पाउंड, एलियट प्रभृति समीक्षकों को अभिजात सिद्धान्तों की ओर अधिकाधिक उन्मुख किया है।

हैजलिट (१७७८–१८३०)[2] ने काव्य को कल्पना और मनोवेगों की अभिव्यक्ति कहा है। इसका सम्बन्ध उन सभी वस्तुओं से है, जो मानव-मन को तत्काल आनन्द या कष्ट पहुँचाते हैं। जिस व्यक्ति में काव्य के प्रति उपेक्षा और घृणा की भावना हो, उसमें अपने आपके प्रति भी श्रद्धा नहीं हो सकती। काव्य कोई निम्नकोटि के मनोरंजन का साधन नहीं है और न विलासप्रिय अकर्मण्य व्यक्तियों के सस्ते मन-बहलाव के लिए ही रचा जाता है। अनादि काल से ही मानव-समाज ने इसके अध्ययन से अपना मनोरंजन किया है। कुछ लोगों को

---

१ Rene Wellek, *A History of Modern Criticism The Romantic Age* (London, 1955), p 125

२ हैजलिट की समीक्षात्मक कृतियों के नाम हैं (१) करक्टर्स ऑव शेक्सपियर (१८१७), (२) लेक्चर्स ऑन द इंगलिश पोयट्स (१८१८), (३) द इंगलिश कॉमिक राइटर्स (१८१९), (४) एलिजाबीथन लिटरेचर (१८२०), (५) द प्लेन स्पीकर, (६) द स्पिरिट ऑव द एज, इत्यादि।

मानता है कि कविता केवल पुस्तकों में ही पायी जाती है और कुछ एक विशिष्ट ग्रंथों में ही सीमित होती है। भय, आशा, घृणा, प्रेम, ईर्ष्या इत्यादि, श्रद्धा आश्चर्य करुणा नैराश्य—ये सब काव्य भाव हैं। वस्तुतः कविता हमसे सम्बन्धित वह सूक्ष्म तत्त्व है जो हमारे मधुर संगीत को परिष्कृत एवं उन्नत करता है। इसके प्रभाव से हमारा जीवन स्निग्ध एवं मधुर हो जाता है। हेजलिट ने मानव मन की प्रकृति की अनुभूति और कल्पना तथा मनोवेगों की प्रगाढ़ता एवं प्रकृति का अविच्छिन्न अंग कहा है। कविता विश्व में जीवन और गति का संचार करती है। इसमें सत्यासत्य का वर्णन होता है, स्थिर अथवा सचल का नहीं। जहाँ यह वस्तुओं का रूपान्तर करती है वहाँ यह उनके चारों ओर एक अपूर्व कान्तिमय प्रभा देती है। फलतः कविता सर्वाधिक भावपूर्ण होती है और सौन्दर्य एवं कल्पना के चरम बिन्दु तक अनुभूतियों को पहुँचाने का प्रयत्न करती है। प्रबल भावना से आपूरित कविता हमारी प्रकृति के नैतिक एवं बौद्धिक अंशों से निर्गत तो होती ही है, साथ ही यह उस गद्य से भी उन्मुक्त होती है जो अत्यन्त संवेदनशील है, जिसमें भावावेग का उद्रेक कम करने की सहिष्णुता और अनुभूति की क्षमता पायी जाती है। इसलिए कविता की पूर्णता प्राप्त करने के लिए चाहिए कि वह हमारे इन सभी अंशों को उपयोग में ला सके। काव्य भाषा के सम्बन्ध में हेजलिट ने कहा है कि चूँकि काव्य कल्पना और भावना की अभिव्यक्ति है, इसकी भाषा बुद्धि और साधारण ज्ञान के स्तर पर नहीं उतारी जा सकती। इसमें कल्पना और मनोवेगों के माध्यम से अवतारित प्रकृति के प्रतिबिंबन की क्षमता होनी चाहिए।

हेजलिट का साहित्य ज्ञान सीमित था। उसका आधुनिक साहित्य का अध्ययन अपर्याप्त और अभिजात साहित्य में गति नाममात्र की थी। उसने उन अँगरेज लेखकों का ही अध्ययन किया था, जो मूर्धन्य थे और वह नव्य को पुरातन प्रतिमानों से ही आँकने का प्रयत्न करता था। इसी प्रकार नवोन्मेषभावनाओं और गवेषणाओं में उसकी रुचि न थी और उसने सोच रखा था कि विस्मृत हस्तियाँ प्रायः गौण हो हुआ करती हैं। राजनीति में जो गणतन्त्र का पोषक था वही हेजलिट साहित्य में अभिजात-तन्त्री बन जाता है। वह उन सभी कृतियों का समर्थन करता है जो जीवन की समीक्षा और इसके लिए कुछ मूल्य रखती हैं, जिनमें कुछ सारगर्भ ठोस वस्तु रहती है।

चार्ल्स लैम्ब की समीक्षाओं में नाटकों का ही सर्वाधिक विवेचन हुआ है। उसने अपने सामयिकों का ध्यान विस्तृत नाटकीय सम्पदा की ओर आकृष्ट किया और इस प्रक्रिया में सचयन की अपनी अन्यतम प्रतिभा ('जीनियस फार

मेनेवशन")[1] का परिचय दिया। उसकी अभिरुचि अत्यन्त कोमल थी और वह एक साहित्यिक इन्द्रियपरायण "एपिक्यर" कहा जाता है। उसकी दृष्टि से रमणीय कृतियाँ बच नही पाती, इतना ही नही वह विवेचित कृतियो को सुन्दरतर बना डालने में अप्रतिम हैं। उसकी रचनाओ से ऐसा प्रतीत होता है कि कोई श्रद्धोमत्त ("एन्थुजिऐस्ट") व्यक्ति किसी प्रिय अनुच्छेद का पाठ और उससे संक्षिप्त टिप्पणी सयाजित कर रहा है। लैम्ब ने शेक्सपियर के नाटको को अनभिनेय घोषित किया है और कहा है कि 'द टेम्पेस्ट', "मैकबेथ', "किंग लियर' जसे नाटको का अभिनय नहा हो सकता।

मैथ्यू आर्नल्ड (१८२२–८८) की प्राय सभी कविताएँ पैंतालीस वर्ष की अवस्था के पहले ही लिखी जा चुकी थी। परन्तु जहाँ तक उसके गद्य का सबध है उसकी रचना लेखक की प्रौढावस्था में हुई। १८५७ से ही जब वह ऑक्सफोर्ड मे काव्यशास्त्र का प्रोफेसर निर्वाचित हुआ, उसने गद्य लिखना आरम्भ किया और १८६१ म अपने भाषणो का प्रथमाश "आन ट्रासलेटिंग होमर" प्रकाशित करवाया। "लास्ट वर्डस आन ट्रासलेटिंग होमर" सन १८६२ म प्रकाशित हुआ।

आर्नल्ड अपनी आलोचनाओ म सूक्ष्म विश्लेषण विरले ही प्रस्तुत करता है परन्तु होमर-सबधी इन व्याख्यानो म सूक्ष्म विवेचन के कितने ही महत्त्वपूर्ण दृष्टान्त वर्तमान हैं जिनसे समीक्षक की अध्ययन विषयक ग्रहणशीलता और तत्परता का सम्यक् बोध होता है। आर्नल्ड मूल्याकन के सच्चे और वस्तुनिष्ठ प्रतिमानो के अस्तित्व म विश्वास करता है किन्तु साथ ही वह नही चाहता कि समीक्षा बाह्य मूल्यो और सिद्धान्तो के असमान प्रयोग के कारण गतिहीन और निष्प्राण हो जाय। काव्यालोचक म सर्वोच्च कोटि का चातुर्य और व्यवहार-कौशल, सर्वोत्कृष्ट सयम नियन्त्रण तथा नमनशील, स्वच्छन्द एव उदात्त हृदय होना चाहिए। उसे दुराग्रह रहित, ज्ञानार्जन के लिए समुत्सुक तथा सतत प्रयत्नशील रहना चाहिए। ऐसा जान पडता है कि आर्नल्ड का उद्देश्य एक ऐसे मध्यम मार्ग का अन्वेषण था जो डा० जानसन सरीखे आलोचकों के वस्तुनिष्ठ निर्णयात्मक दृष्टिकोण और हैजलिट सरीखे रोमान्टिक आलोचको के औत्सुक्यपूर्ण, सवेदनाश्रित दृष्टिकोणो के बीचोबीच जाता हो। आक्सफोर्ड मे दिए गए दो अन्य भाषणो म एक तो वह बौद्धिक एव शास्त्रीय प्रतिमानों के अकुश को स्वीकार करने की

---

१ एडिनबरा विश्वविद्यालय मे १४ ११ १९५७ को डा० ए० एम० क्लाक द्वारा दिए गए एक स्नातकोत्तर भाषण से।

है। समालोचना का लक्ष्य कलाकृति ही नहीं, अपितु सामान्य जीवन भी होना है।

आर्नल्ड ने काव्य को जीवन की आलोचना कहा है। यह विवादग्रस्त कथन "द स्टडी ऑव पायट्री" शीर्षक निबंध में पाया जाता है, जिससे आर्नल्ड की पुस्तक "एसेज इन क्रिटिसिज्म सेकण्ड सिरीज" (१८८८) का आरम्भ होता है। इस पुस्तक में अँगरेज रोमांटिक कवियों का पुनर्मूल्यांकन प्रस्तुत किया गया है और इसके प्रथम निबंध में चौसर से लेकर बर्न्स पर्यन्त अँगरेजी काव्य का संक्षिप्त पर्यालोचन समाहित है। इसमें अनेकानेक तथ्यों का मार्मिक उद्घाटन है और इसके निष्कर्षों में पर्याप्त प्रामाणिकता मिलती है किन्तु आर्नल्ड ने इसमें जॉन डन की उपेक्षा की है और ग्रे को अनावश्यक महत्व दिया है। इसी प्रकार उसने चौसर, ड्राइडन, पोप और बर्न्स के महत्त्व को ठीक-ठीक मूल्यांकित नहीं किया। स्पष्ट है कि अपने यथाशक्य प्रयासों के बावजूद आर्नल्ड अपने रोमांटिक पूर्वग्रहों से मुक्त नहीं है।

प्रभाववादी समीक्षक

उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में ही एक ऐसे साहित्यिक निकाय की प्रतिष्ठा होती है जो मूलतः प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा लिखता है। इस प्रकार की समीक्षा का प्रतिनिधित्व स्विनबर्न, पेटर, स्विनबन, आर्थर साइमन्स प्रभृति आलोचकों की कृतियाँ करती हैं। इनकी आलोचनाएँ विविध प्रभावों का यथावत् अभिव्यंजन हैं और इनके हृदय हमारे हृदयों की अपेक्षा अधिक प्रभाव्य एवं संवेदनशील हैं। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि प्रभाववादी आलोचनाएँ विवेच्य कृति की व्याख्या उस पर आधृत भाष्य और अनुवाद होती हैं और इनका उद्देश्य हमारे हृदयों में प्रभावों का उद्दीपन-मात्र होता है। इनकी तुलना हम साहित्यकारों के उन सामान्य व्याख्यानों से कर सकते हैं जिनमें नाटकों या उपन्यासों की कथाओं का पुनराख्यान और उनके पात्रों के मनव्यों का उद्घाटन होता है और इस प्रकार कलाकृति नव-सिखुओं के लिए सरल-सुगम बना दी जाती है।[1] यह भी देखा गया है कि कभी-

---

१ द्रष्टव्य '... the impressions of Mr Symons come to resemble a common type of popular literary lecture, in which the stories of plays or novels are retold, the motives of the characters set forth and the work of art therefore made easier for the beginner '
—T S Eliot, *The Sacred Wood* (London, 1957), p 4

आवश्यकताओं पर जोर देता है और दूसरे नमनशीलता और संवेदनशीलता को भी समीक्षक के लिए परमावश्यक घोषित करता है। 'द लिटररी इन्फ्लुएन्स ऑव अकेडेमिज' शीर्षक प्रथम व्याख्यान में आर्नल्ड ने समीक्षा के प्रतिमानों में विश्वास न रखने के कारण राष्ट्र के साहित्यिक एवं बौद्धिक जीवन में उत्पन्न खतरों का सोदाहरण वर्णन किया है। इन प्रतिमानों में विश्वास की अभिव्यक्ति एक ऐसी अकादमी की स्थापना में हो सकती है जो साहित्य-क्षेत्र में सर्वोच्च न्यायालय का काम करती है और जो अभिरुचि एवं चिंतन के क्षेत्र में उत्कृष्ट आदर्शों और मान्यताओं को प्रतिष्ठित कर सकती है। जहाँ ऐसा विश्वास नहीं मिलता वहाँ समाज का बौद्धिक जीवन भूल भ्रम, अक्खड़पन और अव्यवस्था की ओर निम्नाभिमुख हो उठता है। आर्नल्ड के अनुसार उन दिनों इंगलैंड में समाज की ऐसी ही अवस्था थी।

'द फंक्शन ऑव क्रिटिसिज्म ऐट द प्रजेण्ट टाइम' शीर्षक व्याख्यान को आर्नल्ड का सर्वोत्कृष्ट निबंध माना गया है। इसमें उसने अपने कार्यक्रम के दूसरे भाग की ओर सामयिक पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है। सर्वप्रथम वह उन व्यक्तियों के आक्षेपों का प्रत्युत्तर देता है जिन्होंने उस पर यह अभियोग लगाया था कि वह आलोचना को आवश्यकता से अधिक महत्व देता था। आर्नल्ड इस बात से सहमत है कि सर्जना से समीक्षा का स्थान नीचे है, परंतु वह इस बात पर जोर देता है कि महान् कलाकृतियों की सृष्टि सभी युगों में हर समय संभव नहीं होती। रोमांटिक कवियों में जो महान थे, उन्हें भी ऐसे प्राणवान बौद्धिक जीवन के अभाव में अंशतः विफल होना पड़ा जिससे सोफोक्लीज शेक्सपियर जैसे भाग्यशाली लेखकों ने पोष्य सामग्री ली थी। जीवंत बौद्धिक विरासत के अभाव में बायरन सार-तत्वहीन हो गया है शैली अस्पष्ट एवं अव्यवस्थित है और यहाँ तक कि वर्ड्सवर्थ जिसमें प्रभूत सामग्री का समाहार पाया जाता है पूर्णता और वैविध्य से रहित है। समालोचना से हमारे बौद्धिक जीवन में गति और त्वरा आ सकती है और अपने वास्तविक उद्देश्य का पालन करके यह भविष्य में सर्जनात्मक प्रतिभाओं की सहायता कर सकती है। समालोचना का उद्देश्य विश्व की उन सभी सर्वोत्कृष्ट वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करना है जिन्हें लोग जानते या जिन पर विचार करते हैं और इस ज्ञान को प्रसारित कर सच्चे चिर ज्वलंत एवं अनुच्छिष्ट विचारों के अनवरत जीवन प्रवाह का निर्माण करना है। निष्पक्ष एवं निर्भ्रांत मन से उत्पन्न और औत्सुक्य-जन्य समालोचना ही सच्ची समालोचना कही जायगी। आर्नल्ड के अनुसार समालोचना अत्यंत वस्तुनिष्ठ होनी चाहिए और इसमें वाह्य, राजनैतिक एवं व्यावहारिक बातों का समावेश अशोभन होता

है। समालोचना का लक्ष्य कलाकृति ही नहीं, अपितु सामान्य जीवन भी होता है।

आर्नल्ड ने काव्य को जीवन की आलोचना कहा है। यह विवादग्रस्त कथन "द स्टडी ऑव पोयट्री" शीर्षक निबंध में पाया जाता है, जिससे आर्नल्ड की पुस्तक 'एसेज इन क्रिटिसिज्म सेकण्ड सिरीज' (१८८८) का आरम्भ होता है। इस पुस्तक में अँगरेज रोमांटिक कवियों का पुनर्मूल्यांकन प्रस्तुत किया गया है और इसके प्रथम निबंध में चौसर से लेकर बर्न्स पर्यन्त अँगरेजी काव्य का संक्षिप्त पर्यालोचन समाहित है। इसमें अनेकानेक तथ्यों का मार्मिक उद्घाटन है और इसके निष्कर्षों में पर्याप्त प्रामाणिकता मिलती है, किन्तु आर्नल्ड ने इसमें 'जॉन डन' की उपेक्षा की है और ग्रे को अनावश्यक महत्त्व दिया है। इसी प्रकार उसने चौसर, ड्राइडन, पोप और बर्न्स के महत्त्व को ठीक-ठीक मूल्यांकित नहीं किया। स्पष्ट है कि अपने यथाशक्य प्रयासों के बावजूद आर्नल्ड अपने रोमांटिक पूर्वग्रहों से मुक्त नहीं है।

प्रभाववादी समीक्षक

उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में ही एक ऐसे साहित्यिक निकाय की प्रतिष्ठा होती है जो मूलतः प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा लिखता है। इस प्रकार की समीक्षा का प्रतिनिधित्व, इंगलैंड में, पेटर, स्विनबर्न, आर्थर साइमन्स प्रभृति आलोचकों की कृतियाँ करती हैं। इनकी आलोचनाएँ विविध प्रभावों का यथावत् अभिव्यंजन हैं और इनके हृदय हमारे हृदयों की अपेक्षा अधिक प्रभाव्य एवं संवेदनशील हैं। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि प्रभाववादी आलोचनाएँ विवेच्य कृति की व्याख्या, उस पर आधृत भाष्य और अनुवाद होती हैं और इनका उद्देश्य हमारे हृदयों में प्रभावों का उद्दीपन-मात्र होता है। इनकी तुलना हम साहित्यकारों के उन सामान्य व्याख्यानों से कर सकते हैं जिनमें नाटकों या उपन्यासों की कथाओं का पुनराख्यान और उनके पात्रों के मंतव्यों का उद्‌घाटन होता है और इस प्रकार कलाकृति नव-सिखुओं के लिए सरल-सुलभ बना दी जाती है।[1] यह भी देखा गया है कि कभी-

१ द्रष्टव्य '... the impressions of Mr Symons come to resemble a common type of popular literary lecture, in which the stories of plays or novels are retold, the motives of the characters set forth and the work of art therefore, made easier for the beginner.'

—T. S. Eliot, *The Sacred Wood* (London, 1957), p 4

कभी प्रभाववादी लेखकों के मनोवेग आवश्यकता से अधिक उद्दीप्त हो उठते हैं[1] और वे अपने प्रभावों को अभिनव वाणी देने के लिए व्यग्र रहते हैं। चूंकि वे कवि नहीं होते, उनके प्रभाव समीक्षा में स्थापित होते हैं। इस कारण कवियों द्वारा प्रणीत समीक्षा अधिक प्रत्ययकारी होती है—उनकी समीक्षा किसी दमित कामना की तृप्ति नहीं होती, वे अपनी समीक्षाओं में कविता नहीं करते। इनके विपरीत प्रभाववादी आलोचकों के अंतस में प्रतिष्ठित कवि न तो सच्चा कवि हो पाता है और न आदर्श आलोचक ही।[2]

एलियट ने स्विनबर्न को समीक्षक न कहकर एक गुणग्राहक—अथवा प्रशंसक—मात्र कहा है।[3] पेटर (१८३८–८३) इस समीक्षक की दृष्टि में एक नीतिवादी आलोचक है।[4] परंतु यह भी निर्विवाद है कि पेटर सौंदर्य का ममन संवेदनशील उपासक था और उसके अनुसार साहित्य की परख की एकमात्र कसौटी मन पर पड़नेवाले प्रभावों में मिलती है। उसका लक्ष्य प्रभावों को मात्र अभिव्यक्ति देना तथा अपने उस आनंद की अभिव्यंजना है जिसकी उसे अनुभूति हुई थी। काव्यानुशीलन से उत्पन्न रसदशा के संबंध में प्रचलित सूक्ष्म एवं दार्शनिक मतवादों से उसने अपनी असहमति प्रकट की है और कहा है कि प्रमाता के मन पर पड़नेवाले प्रभाव अधिक प्रामाणिक होते हैं और समीक्षक को चाहिए कि वह उन्हीं प्रभावों का यथावत चित्रण करे।

अनुनातन पाश्चात्य समीक्षा

सेंटसबरी, ह्विले, ब्रैडले, डब्ल्यू० पी० केर प्रभृति समीक्षकों की प्रतिनिधि कृतियाँ वर्णन एवं वर्गीकरण से ही अधिक संबंध रखती हैं, समीक्षा से अपेक्षया कम। आर्नल्ड द्वारा निर्दिष्ट संकेतों को वे पर्याप्त एकात्म्य के साथ पल्लवित तो करती हैं परंतु नये प्रश्न नहीं उठाती, समीक्षा की नयी समस्याओं पर प्रकाश नहीं डालती। अमरीका में भी इर्विंग बबिट-जैसे आलोचक समाज के साथ कृतिकार के चिंतन-दर्शन के सामयिक संबंध निरूपण में अपने को व्यस्त रखते हैं, कला की विशेषताओं के सम्यक उद्घाटन में नहीं। प्रथम विश्वयुद्ध के

---

१ उपरिवत, पृ० ६। (Some writers are essentially of the type that reacts in excess of the stimulus)

२ उपरिवत, पृ० ७।

३ उपरिवत पृ०१९ (Swinburne is an appreciator and not a critic')

४ T S Eliot *Selected Essays* (London, 1949), p 400

ठीक पहले टी० ई० ह्यूम और एजरा पाउंड की रचनाओं और विचार वितर्क से समीक्षालोक में नवजीवन का उन्मेष हुआ और इससे ही एलियट का साहित्यगत विकास प्रणादित हुआ। ह्यूम के लिए अनुशासन उतना ही वरण्य था, जितना अन्यविनवाद और कविता में निनांत कठिन स्थूल मूर्त बिंब। नवजागरण से लेकर अद्यपर्यन्त जितने भी दार्शनिक हुए उनके जीवन-बोध (वेलोंगशाग) के विरुद्ध उसने आवाज उठाई और रूसो के इस मतवाद का सशक्त खंडन किया कि मनुष्य शाश्वत विमल विशुद्ध प्राणी है। ह्यूम की यह निश्चित धारणा थी कि बिना प्रायश्चित्त पाप ('ओरिजिनल सिन') में विश्वास किए हम महनीय कालजयी कला-कृतियों का सृजन नहीं कर सकते।[1] इसलिए उसने प्रगति में विश्वास करनेवाले साहित्यकारों की आलोचना की, "वाइटलिस्टिक" कला का बहिष्कार किया और इसकी जगह बाइजेंटाइन कला के रेखिकीय (ज्यामितीय) गुणों को ही अनुकरणीय बनाया।[2] इसी प्रकार उसने मानववादी दृष्टिकोण के स्थान पर धार्मिक दृष्टिकोण की संस्थापना की। उसकी शिल्प-संबंधी विधि-व्यवस्था से अमरीका और इंगलैंड के कवि तथा आलोचक (जान गोल्ड फ्लेचर हिल्डा डूलिटल, एफ० एस० फ्लिण्ट, रिचर्ड आल्डिंटन एमी लॉवेल आदि) प्रभावित हुए। माइकेल राबर्टस सरीखे आलोचकों ने भी उसके महत्त्व को स्वीकारा है और हर्बर्ट रीड जैसे आलोचक जिनकी समीक्षा-पद्धति ह्यूम की पद्धति से कदापि मिलती-जुलती नहीं है उसके विचारोत्तेजक वक्तव्यों से उद्दीप्त होते रहे हैं।

यद्यपि साहित्यालोचन के क्षेत्र में 'नई आलोचना' ("न्यू क्रिटिसिज्म") नामक नये आंदोलन का आविर्भाव अमरीका में वर्तमान शती के तीसरे दशक में हुआ, फिर भी जब सर्वप्रथम जान क्रो रैंसम नामक अमरीकी समीक्षक ने सन् १९४१ में 'द न्यू क्रिटिसिज्म' नामक पुस्तक का प्रकाशन किया, तभी इस आन्दोलन का नामकरण हुआ।[3] आधुनिक समीक्षकों में प्राय एक दर्जन समीक्षक ऐसे हैं जिनके लिए इस नाम का प्रयोग होता है, फिर भी नये आलोचकों में

---

१ टी० ई० ह्यूम, स्पेक्युलेशंस (लंदन, १९६०), पृ० ८।

२ उपरिवत् पृ० ९।

३ Spingarn had called for "the new criticism" in 1910, without receiving very much response John Crowe Ransom called again in 1941—and this time spirits came from the vasty deep Harry Levin (ed), *Perspectives of Criticism* (Cambridge, 1950), p X

प्राय वे अन्य समीक्षक भी समाहित कर लिये जाते हैं, जो पाठ के सम्यक् अनुशासन तथा उनकी व्याख्या पर प्रभूत बल देते हैं[१] और जो ऐतिहासिक अथवा जीवनवृत्त मूलक समीक्षा प्रस्तुत नहीं करते। यद्यपि सभी नये आलोचक पाठ निरूपण में विश्वास करते और इसे ही अपनी समीक्षा का लक्ष्य बनाते हैं फिर भी इनमें प्रमुख समीक्षकों की आलोचना-पद्धति और इनके द्वारा प्रयुक्त सिद्धान्तों में परस्पर साम्य नहीं मिलता। इतना अवश्य है कि ये सभी समीक्षक कविता को कविता के रूप में ही विवेचित करना युक्तियुक्त समझते हैं। इनके द्वारा प्रस्तुत अनुशीलनों में कविता समाजशास्त्र दर्शन अथवा नीतिशास्त्र के रूप में समीक्षित न होकर कविता के रूप में समीक्षित होती है और इसके समीक्षक जो निविड निगूढ कविताओं की व्याख्या में निपुण होते हैं, इसकी भाषागत संयोजना पर—इसके शिल्प-कौशल पर ध्यान केन्द्रित करते हैं तथा ज्ञान की विविध शाखाओं का यथावश्यक उपयोग करते हैं। स्पष्टत आई० ए० रिचर्ड्स के उन प्रारम्भिक ग्रंथ विषयक (सिमैण्टिक) अनुशीलनों से ये प्रभावित हुए हैं जिनमें प्रतीकात्मक भाषा के गुण-वैशिष्ट्य पर बल पडा है। आई० ए० रिचर्ड्स के अतिरिक्त उसके शिष्य विलियम एम्पसन ने भी नये आलोचकों (ऐलेन टेट आर० पी० ब्लैकमर आइवर विण्टर्स, कैनेथ बर्क, क्लिन्थ ब्रुक्स और रॉबर्ट पेन वरेन) को प्रभावित किया है। टी० एस० एलियट का नाम नये आलोचकों में परिगणनीय नहीं है, फिर भी उसने सूक्ष्म पाठानुशीलन के महत्त्व का निदर्शन किया है और इस दृष्टि से नये आलोचकों को प्रभावित भी किया।

स्टेनली एडगर हाइमन के अनुसार आधुनिक समीक्षा की विशेषताओं में

---

१ 'A phrase of Mathew Arnold's can be taken as its motto To see the object in itself as it really is The new critics attempt to concentrate solely upon the intrinsic nature of the work By the same token, they shun what lies ' outside the work Emphasis should be kept on the poem as a poem' —Jerome Stolnitz, *Aesthetics and Philosophy of Art Criticism* (1960), p 481

२ 'More positively, by its preoccupation with craftsmanship this new criticism provides a special impetus for, and exerts a living influence over, our students of literature' Harry Levin, loc cit

सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि साहित्य को परखने-आंकने के लिए यह असाहित्यिक पद्धतियों एवं ज्ञान की विभिन्न शाखाओं का सुव्यवस्थित उपयोग करती है।[1] इस कथन में "सुव्यवस्थित" शब्द ध्यातव्य है। परम्परित समीक्षा में भी इन पद्धतियों और ज्ञान की भिन्न भिन्न शाखाओं का विनियोग होता था, परन्तु ये व्यवस्थित एवं आवश्यक ढंग से प्रयुक्त न होकर, यदाकदा अविचारित एवं अव्यवस्थित ढंग से प्रयुक्त होती थीं। जॉन क्रो रैंसम के मतानुसार आधुनिक अँगरेज़ी और अमरीकी समीक्षा परिमाणतः ही नहीं प्रकारतः भी प्राग्भूत समीक्षा से भिन्न है और गाम्भीर्य तथा आनुरूप्य की दृष्टि से सामयिक आलोचना-साहित्य अँगरेज़ी भाषा में प्रणीत पहले के संपूर्ण आलोचना-साहित्य की अपेक्षा अधिक समृद्ध है।[2] मनोविश्लेषण की पद्धतियों से युगीन आलोचकों तथा अति वस्तुवादी लेखकों ने अचेतन मन की सक्रिया से संबद्ध कतिपय मूल धारणाएँ गृहीत की हैं। फ्रायड के अनुसार मानव-मन में कतिपय ऐसी जन्मान्तरीय सहज प्रवृत्तियाँ और वासनाएँ होती हैं, जिनकी समाज के भीतर पूर्ण तुष्टि नहीं होती। इसलिए हम या तो इन प्रवृत्तियों और इच्छाओं का परित्याग अथवा इनका नियमन करना पड़ता है। किंतु चूंकि इन दुर्दमनीय इच्छाओं का सहज अवदमन (रिप्रेशन) नहीं हो सकता वे किसी-न किसी प्रकार के परितोष के लिए प्रयत्नशील रहती हैं, चाहे वह परितोष मनोलौल्य एवं कल्पना में ही क्यों न हो। कल्पना में मनुष्य बहिर्जगत के बंधनों से मुक्ति पा लेता है। 'दिवास्वप्न' और "निशा-स्वप्न' इसी कल्पना के दो प्रमुख रूप प्रकार हैं जिनमें उन इच्छाओं की कल्पित तृप्ति की अनुभूति होती है जो कभी कृतकार्य न हुईं। कलाकार भी इस सार्वभौम विधान के अनुसार मान-मर्यादा, धन-ऐश्वर्य, शक्ति, ख्याति, नारी प्रेम आदि के लिए पिपासित रहता है, किंतु उसके पास इनकी परितृप्ति के लिए पर्याप्त साधन नहीं होते। इसलिए वह भी कल्पना के सहारे इनकी तुष्टि के लिए यथाशक्य प्रयत्नशील रहता है। किंतु, जिस कल्पना का वह निर्माण करता है, वह साधारण व्यक्ति की कल्पना से प्रकारतः सर्वथा भिन्न होती है। कला विहीन व्यक्ति की

---

१ 'What modern criticism is could be defined crudely and somewhat inaccurately as the organized use of non literary techniques and bodies of knowledge to obtain insight into literature Stanley Edgar Hyman, *The Armed Vision* (New York, 1952), p 3

२ उपरिवत्, पृ० ४।

कल्पना में ऐसे बिम्ब और विचार समविष्ट होते हैं जो वैयक्तिक होने के कारण केवल उसे ही बोधगम्य होते हैं। पर कलाकार अपने सपनों को इस प्रकार रूपांतरित करता है कि वे दूसरों तक संप्रेषित तो होते ही हैं, साथ ही दूसरे भी उन्हें आस्वादनीय समझते हैं।

फ्रायड के मतानुसार कामवृत्ति ही मनुष्य की सर्वाधिक प्रबल एवं महत्त्वपूर्ण प्रेरक शक्ति है। इसी वृत्ति के दमन को मानसिक विकारों का जनक समझना चाहिए। किन्तु सिगमंड फ्रायड के शिष्य युंग ने इस सिद्धांत को भ्रामक कहा और काम वृत्ति को उतना महत्त्व नहीं दिया जितना फ्रायड ने दिया था। उसने व्यक्तित्व विषयक एक नया सिद्धांत का प्रतिपादन किया और कहा 'प्रत्येक सर्जनशील व्यक्ति परस्परविरोधी रुचियों का एक द्वित्व या संश्लेषण है। एक तरफ तो वह व्यक्तिगत जीवन रखनेवाला मनुष्य है और दूसरी ओर वह निर्व्यक्तिगत सर्जनात्मक प्रक्रिया है। चूंकि मनुष्य होने के नाते वह सुस्थ या उद्भ्रांत हो सकता है, इसलिए हम उसकी मानसिक बनावट पर ध्यान देना आवश्यक है जिससे उसके व्यक्तित्व को निर्धारित करनेवाले तत्त्व समझे जा सकें। किन्तु उसकी सर्जनात्मक उपलब्धि को देखने से ही कलाकार के रूप में हम उसे समझ सकते हैं।'[1] एक मनुष्य के रूप में युंग ने आगे लिखा है, 'उसमें विभिन्न मनःस्थितियाँ और इच्छाशक्ति और व्यक्तिगत आकांक्षाएँ हो सकती हैं किंतु कलाकार के रूप में वह एक उच्चतर अर्थ में मनुष्य है—वह सामूहिक मनुष्य है—एक ऐसा प्राणी जो मानव मात्र के अचेतन मानसिक जीवन को अंकित और रूपायित करता है। इस कठिन कर्त्तव्य को प्रतिपन्न करने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह अपने सुख और उन सभी वस्तुओं का उत्सर्ग कर दे जिनसे साधारण मनुष्यों का जीवन जीने योग्य बनता है।'[2] वस्तुतः अंतर्लोक अथवा मानस (साइकी) के तीन स्तर हैं। सबसे ऊपरी स्तर चेतन मन का है जिसमें अहं (ईगो) काम

१ *Modern Man in Search of a Soul* दे० साहित्य, ४, ४, जनवरी, १९५४, पृ० ६७-६८।

२ उपरिवत, पृ० ६८। फ्रायड की कामवृत्तिवाले सिद्धांत का खंडन करते हुए युंग ने लिखा है

'The whole Freudian movement has settled firmly for the sexual theory. There is certainly no unprejudiced thinker or investigator who would not instantly acknowledge the extraordinary importance of sexual or erotic

करता है। इसके नीचे उपचेतन या अचेतन मन का स्तर है, जो स्वयं दो अन्य स्तरों में विभक्त है (क) व्यक्तिगत अचेतन मन (व्यक्ति अवचेतन) और (ख) सामूहिक या निर्वैयक्तिक अचेतन मन (समष्टि अवचेतन)। व्यक्तिगत अचेतन मन चेतन मन के नीचेवाला वह स्तर है जिसमें उन सभी वासनाओं का आवास होता है, जो कभी चेतन मन में थीं और जो वहां से दमित होकर नीचे संचित हो गई हैं तथा जो अवसर पाकर फिर कभी चेतन मन में प्रविष्ट हो जायेंगी। स्वप्न, काव्य और कला के क्षेत्र में अधिकांशतः अचेतन मन के बिम्ब और छाया-कृतियां ही गृहीत होती हैं। मानस का तीसरा और सबसे व्यापक तथा विस्तृत स्तर सामूहिक या निर्वैयक्तिक अचेतन मन का है, जिसमें वे सभी बातें होती हैं जिनकी स्थिति व्यक्ति के अस्तित्व के पूर्व से ही होती है और जो सार्वभौम एवं सार्वजनिक बिंबों के रूप में व्यंजित होती हैं। इन बिंबों को युंग ने आद्य बिंब कहा है। ऐतिहासिक उत्तराधिकार के रूप में बाहर से प्राप्त न होकर ये बिंब मानस-संस्थान के स्वाभाविक, संस्कारगत एवं अविच्छिन्न अंग होते हैं। फ्रायड के एक अन्य शिष्य ऐडलर ने भी कामवृत्तिवाले सिद्धांत का सशक्त खंडन किया और कहा कि लिबिडो और कामवृत्ति को ही मूल प्रेरक शक्ति तथा हर प्रकार की चारित्रिक विचित्रताओं एवं मानसिक व्याधियों का कारण मानना उचित नहीं है। ऐडलर के अनुसार बड़े होने की प्रवृत्ति—महान होने की भावना ही सब-कुछ है "हर आदमी के अन्दर महान होने की भावना (विल टु पावर) सहजात है जब इसमें बाधा पड़ती है तो तरह-तरह के चारित्रिक दोष एवं विचित्रताएँ पैदा होती हैं।[१]

---

experience and conflicts But it will never be proved that sexuality is the fundamental instinct and the activating principle of the human psyche Any unprejudiced scientist will, on the contrary, admit that the psyche is an extremely complex structure No matter what instincts, drives or dynamisms biologists may postulate or assume both now and in the future, it will assuredly be quite impossible to set up a sharply defined instinct like sexuality as a fundamental principle of explanation' —C G Jung, *Civilisation in Transition* (London, 1964), p 7

१ "फ्रायड" का मनोविश्लेषण और हिंदी के विद्वान। दे० साहित्य, १, ४, जनवरी १९५१, पृ० ५६।

मनोविज्ञान के क्षेत्र मे प्रतिपादित इन क्रातिकारी विचारो और सिद्धाता का प्रभाव पाश्चात्य साहित्य तक ही सीमित नही रहा है। जहा तक अँगरेजी समीक्षा का सबध है इसकी अनेकानेक आलोचनात्मक कृतियाँ उक्त मनोवैज्ञानिको द्वारा उदभावित सिद्धाता का ही पल्लवित एव व्यावहारिक रूप है। माड बाडकिन की कृतियाँ, "आर्किटाइपल पटर्स इन पोयट्री' और 'द क्वेस्ट फार सल्वेशन' मुख्यत युग के सिद्धाता और विचारा पर आधत हैं। सन १८१२ म फ्रेडरिक क्लार्क प्रेस्कट ने "जनल आव एबनामल साइकालोजी' मे पोयट्री एण्ड ड्रीम्स' नामक एक निबध लिखकर फ्रायड के मनोविश्लेपण सिद्धात का सवप्रथम प्रयोग किया। प्रेस्कट ने फ्रायड द्वारा स्वप्नो की व्याख्या (दि इण्टप्रिटेशन आव ड्रीम्स") के आधार पर कहा कि स्वप्ना की तरह कविता भी कवि की अवदमित इच्छाआ की परोक्ष पूर्ति होती है। सन् १६२२ मे उसने द पोयटिक माइण्ड' नामक ग्रथ प्रकाशित किया, जिसमें एम्पसन की "वक्रता ('ऐम्बिगुइटी) का ईपत पूवाभास मिलता है। सन १६१८ म कानरेड ऐकेन न फ्रायड के कला सबधी सिद्धाता के आधार पर 'स्केप्टिसिज्म नोटस आन कण्टेम्परेरी पोयट्री की रचना की और इसमे फ्रायड के सिद्धातो के साथ कास्टिलेफ (Kostyleff) के उस काव्य सिद्धात का सामजस्य स्थापित करना चाहा, जिसके अनुसार काव्य एक शाब्दिक-गामक अनुष्ठान (verbo-motor discharge) है। राबट ग्रेज के ग्रान इगलिश पोयटस (१६२२), 'द मीनिंग आव ड्रीम्स' (१८२४) और 'पायटिक अन्रीजन (१८२५) नामक ग्रथा से मनोविश्लेपणात्मक आलोचना का सम्यगारम्भ हो चलता है। उसने कीटस की "ल बेल दाम सां मर्सी', कोलरिज की कुबला खा' और स्वरचित एक कविता का विश्लपण अवचेतन मनाविज्ञान की पद्धति पर प्रस्तुत किया किंतु उसके सिद्धात डब्ल्यू० एच० आर० रीवज के मनोविश्लेषण-सिद्धातो पर आधत हैं न कि फ्रायड और युग के सिद्धातो पर। इसी प्रकार विलियम एम्पसन ने ऐलिस इन वण्डरलड' के विवेचन म मनोविश्लेषण के सिद्धाता का पूण सफलता के साथ प्रयोग किया।

हबट रीड ने समीक्षा के लिए मनोविज्ञान तथा फ्रायडीय अवचेतनावाद का सम्यक ज्ञान अत्यावश्यक बताया है और 'साइकोअनलसिस एण्ड क्रिटिसिज्म म मनोविश्लेपणात्मक समालाचना के पक्ष म, इसकी सभावनाआ और सामाआ पर बडे ही विचारोत्तेजक तथा गभीर तक उपस्थित किए हैं किंतु वे स्वय समीक्षा म मनाविश्लेपण के प्रयोक्ताआ म विशेष महत्त्व नहीं रखते। वड स्वथ, शेली और ब्राटी बहना पर उनकी समीक्षाएँ, अवश्य ही मनाविश्लेपणात्मक हैं, परतु

इनके और फ्रायड तथा युग द्वारा प्रयुक्त कतिपय पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग के अतिरिक्त उन्होंने ऐसा कुछ नहीं लिखा जिसे हम मनोविश्लेषणात्मक कह सकते हैं। मार्जेज की तरह उन्होंने स्वप्नलोक के दर्शन तो किए, किंतु वे उसमें प्रवेश न कर पाये। डब्ल्यू० एच० ग्राडेन ने भी 'माइकॉलजी एण्ड आर्ट टु-डे' में कला के लिए फ्रायड के महत्त्व का विश्लेषण किया है, किंतु उन्होंने अपनी आलोचनाओं में फ्रायड के सिद्धांतों का समुचित प्रयोग नहीं किया। अमेरिका के लायनल ट्रिलिंग भी इसी श्रेणी के समीक्षकों में परिगणित होंगे। अन्यान्य मनोविश्लेषणात्मक समीक्षकों में एडमण्ड विल्सन और वी० डब्ल्यू० ब्रुक्स उल्लेखनीय हैं। विलियम टॉय ने स्तांदाल की ईडिपस ग्रंथि पर एक गंभीर मनोविश्लेषणात्मक ग्रंथ की रचना की है। फ्रांस में सर्वप्रथम आविर्भूत अतिवस्तुवाद (surrealism) भी फ्रायडीय अवचेतनावाद से प्रभावित है। जिस प्रकार मार्क्सवादी साहित्यकार समाजवादी वस्तुवाद की अभिव्यक्ति को लक्ष्य बनाकर साहित्य-सृष्टि करते हैं, उसी प्रकार फ्रायड से प्रभावित अवचेतनावादी लेखक भिन्न भिन्न मनोप्रंथियों से निर्मित अवचेतन के यथावत अंकन को अपना लक्ष्य मानते हैं। आलोचना के क्षेत्र में भी जिस प्रकार प्रगतिवादी साहित्यिक कृतियों का मूल्यांकन द्वंद्वात्मक पद्धति पर करते हैं, उसी प्रकार अवचेतनावादी आलोचक साहित्यिक कृतियों की परीक्षा अवचेतन मनोविज्ञान की पद्धति पर करते हैं।

मनोविश्लेषण के अतिरिक्त मनोविज्ञान से उद्भूत अन्यान्य पद्धतियों से भी साहित्य की समीक्षा हुई है। आई० ए० रिचर्ड्स ने संघटित (इण्टिग्रेटेड) मनोविज्ञान से साहित्यिक कृतियों को आँकने का प्रयत्न किया है और अवचेतन-मनोविज्ञान गेस्टाल्ट चैकित्सीय मनोविज्ञान (न्यूरोलाजिकल साइकॉलजी) आचारवाद (बिहेवियरीज्म) और अपने आनुभविक (इम्पीरिकल) विचारों से वे एक साथ ही प्रभावित दीख पड़ते हैं। इसी प्रकार केनेथ बर्क ने भी सभी आधुनिक मनोवैज्ञानिक निकायों से सहायता लेकर एक ऐसे संघटित मनोविज्ञान की सृष्टि की है, जिसे वे 'फिनॉमिनोलाजिकल' मनोविज्ञान कहते हैं। इस संघटित मनोविज्ञान का आधार, मुख्यतः गेस्टाल्ट है और गेस्टाल्ट सम्प्रदाय के संस्थापक मेक्स वर्दइमर, कर्ट काफ्का तथा वुल्फगैंग कोहलर हैं।

अद्यतन पाश्चात्य आलोचकों का एक वर्ग प्रगतिवादी मार्क्सीय कला चिंतन से भी प्रभावित है।[1] जर्मनी के फ्रंज मेहरिंग (१८४६–१६१६) और रूस के

---

१ दे० रेनी वेलैक, कान्सेप्ट्स ऑव क्रिटिसिज्म (येल यूनिवर्सिटी, १९६३), पृ० ३४६, रेमण्ड विलियम्स, कल्चर एण्ड सोसायटी (एडिनबरा, १९६१), पृ० २५८ २७५।

जार्जी प्लेखानाव (१८५६–१८१८) सवप्रथम मार्क्सीय समालोचक थे, किन्तु उन्होंने सोवियत सिद्धान्तों का यथावत पालन नहीं किया। मेहरिंग और प्लेखानाव कला की स्वायत्तता को स्वीकार करते हैं। सन् १८३२ में लगभग उस सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ जिसके अनुसार साहित्य का उद्देश्य प्रथमतः यथार्थ का यथातथ्य स्थापन और समसामयिक समाज का तथा इसके गठन का वर्णन है। इसके अतिरिक्त समाजवादी यथार्थवाद में आस्था रखने के कारण यह वस्तुनिष्ठ भाव से यथार्थ का स्थापन नहीं करता, प्रत्युत अपनी रुचि या मार्क्सवाद के प्रचार का माध्यम बनाता है। बीसवीं शती के तीसरे दशक में मार्क्सवादी विचार-धारा अन्यान्य देशों में भी प्रचलित हो चली। अमरिका के संयुक्त राष्ट्र में ग्रेनविल हिक्स ने अमरीकी साहित्य का पुनर्मूल्यांकन प्रस्तुत किया और बर्नार्ड स्मिथ ने 'फोर्सेज इन अमेरिकन क्रिटिसिज्म' (१८३८) में समाजवादी दृष्टिकोण से अमरीकी आलोचना के इतिहास की रचना की। एडमण्ड विल्सन और केनेथ बर्क भी समाजवादी जीवनबोध से अल्पाधिक प्रभावित हुए। इंग्लैण्ड में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रगतिवादी समीक्षक क्रिस्टोफर कॉडवेल[1] हुआ। अद्यतन मार्क्सवादी समीक्षकों में हंगरी के जार्ज ल्यूकाच का नाम अविस्मरणीय है। उसने अपने अधिकांश ग्रंथ जर्मन भाषा में लिखे।

---

१ इसके निम्नलिखित ग्रंथ उल्लेखनीय हैं (१) इल्यूजन एण्ड रियलिटी, (२) स्टडीज इन अ डाइंग कल्चर और (३) फरदर स्टडीज इन अ डाइंग कल्चर। यहाँ डॉ० नगेन्द्र का यह कथन ज्ञातव्य है "मार्क्सवादियों ने मानव इतिहास की जो आर्थिक व्याख्या की है वह अधूरी और अनेक स्थानों पर असंगत एवं अविश्वसनीय है। उदाहरण रूप में कॉडवेल की 'इल्यूजन एण्ड रियेलिटी' पुस्तक के उस सुन्दर एवं महत्त्वपूर्ण परिच्छेद की ओर संकेत किया जा सकता है जिसमें वे अंग्रेजी साहित्य के इतिहास का विवेचन करते हुए केवल उन्हीं मोटी मोटी बातों को ले सके हैं जो उनका प्रयोजन सिद्ध करती हैं। अंग्रेजी-साहित्य की अनेक सूक्ष्म और उलझी हुई प्रवृत्तियों को उन्होंने बिल्कुल छोड़ दिया है। जहाँ फ्रायड जैसे अतलदर्शी मनोवैज्ञानिक मानव-मन की परीक्षा करते हुए अंत में नेति नेति कह देते हैं, वहाँ मार्क्स का साधारण अनुयायी भी सिर्फ पदार्थों की बातचीत करता हुआ उसके अंतिम सत्यों तक झट से पहुँच जाता है।" आधुनिक हिंदी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ (दिल्ली, १९६२), पृ० १०३

पाश्चात्य साहित्य शास्त्र में लिप्स, टाल्सटॉय और क्रोचे का योगदान उल्लेख्य माना जाता है। लिप्स ने ही सवप्रथम Einfulung (Einfuhlung) शब्द का प्रयोग किया जिसम उस विशिष्ट मनोदशा का बोध होता है जिसके कारण हम उस वस्तु के साथ एकाकार हो जाते हैं जिसम हमारा ध्यान लगा होता है। जब से कॉर्नेल के एडवर्ड वी० टिचनर ने "एम्पथी" (सहवेदना, तदनुभूति) शब्द का प्रयोग Einfuhlung के अँगरेजी पर्याय के रूप में किया, तभी से इसी रूप म यह शब्द प्रचलित रहा है। तदनुभूति प्रकट करने या "एम्पथाइज" करने का अर्थ यह नहीं होता कि हम शारीरिक संवेदनाओं का अनुभव अवश्य करें। तदनुभूति शारीरिक कल्पनाजन्य (विभावक) अथवा एक साथ ही शारीरिक और कल्पनाजन्य हो सकती है। इस प्रकार एम्पथी एक प्रकार का "वयक्तिक अन्तप्रमन" (पसनल इन्वाल्वमेण्ट) तथा "अनुभूति का आह्वान" ("इवोकेशन ऑव फीलिंग") है। हमारी तदनुभूति उस समय भी वास्तविक "एम्पथी" ही होगी जब हमारे शरीर में किसी प्रकार का परिवतन नहीं होता और हम केवल कल्पना म दूसरे व्यक्ति की स्थिति म जा पहुँचते हैं। हमारी कल्पना-शक्ति हम उन व्यक्तियों की स्थिति म प्रणोदित (प्रोपेल्ड) कर देती है जिनके साथ हम तादात्म्य का अनुभव करते हैं। तदनुभूति में हम अपना ध्यान दूसरे व्यक्ति के हृदगत भावों और स्थिति पर केन्द्रित करते हैं, गाडनर मर्फी के शब्दों म हम अपने हृदय म उसकी अनुभूति करते हैं, जो अन्य गोचर व्यक्तियों अथवा पदार्थों का अंग होता है।[1] तदनुभूति दो मनुष्यों के बीच की प्राचीन प्रतिध्वनि है। जब हम एक-दूसरे के प्रति आकृष्ट होते हैं उस समय हमारी अन्तरात्मा म निहित चिर-साहचय द्वारा प्रतिष्ठित वासना जाग्रत हो उठती है और इस प्रकार आदिजात तदनुभूति ("प्राइमॉडियल एम्पथी") का उद्‌बोध होता है। हम किसी पैवलोवा की श्रृंगार चेष्टाओं पर इसलिए मुग्ध नहीं होते कि हम भी उसकी तरह नृत्यकला म निपुण होते हैं, वरन् हमारे आकषण का कारण हमारी मास-पेशियों की बनावट है जो पैवलोवा की तरह ही है। यद्यपि हमम प्रभूत व्यक्तिगत वशिष्ट्य और पाथक्य देखा जा सकता है, फिर भी हमारे हृदयों म मौलिक औत्पत्तिक एकरूपता विद्यमान है।

१ 'It is experiencing within oneself what actually belongs to other perceived persons or objects' (Quoted by Robert L. Katz *Empathy Its Nature and Uses* London 1963, p 8)

टॉलस्टॉय के अनुसार कला एक मनुष्य द्वारा दूसरे मनुष्य के साथ सम्पर्क स्थापित करने के विभिन्न माध्यमों में एक महत्त्वपूर्ण माध्यम है। कला द्वारा सम्प्रेषित अनुभूतियों का ग्राहक केवल उस व्यक्ति से ही के साथ इस प्रकार का सम्पर्क स्थापित नहीं करता जिसने कला की सृष्टि की है, बल्कि उन लोगों से भी सम्बद्ध हो जाता है जो उसके साथ ही या बाद में कलागत अनुभूतियाँ ग्रहण कर रहे हैं जिन्होंने अतीत में वैसी ही अनुभूतियाँ प्राप्त की हैं और जो भविष्य में उन्हें प्राप्त करते रहेंगे। जिस प्रकार हमारे ये शब्द, जिनकी सहायता से हम अपने विचारों एवं अनुभूतियों की व्यंजना करते हैं, हमें एक-दूसरे से सम्पृक्त करते हैं उसी प्रकार कला भी हमारे हृदयों को परस्पर गुम्फित करती है। जहाँ शब्द हमारे विचारों की अभिव्यक्ति के माध्यम हैं वहाँ कला हमारे हृद्गत भावों की अभिव्यंजना और सम्प्रेषण में हमारी अनन्य सहायिका होती है। कलागत सृष्टि का आधार यह तथ्य है कि श्रवण अथवा दर्शन द्वारा हम दूसरों की अनुभूतियों से केवल प्रभावित ही नहीं होते, वरन् हममें उन आवेगों को यथावत् अनुभूत करने की क्षमता भी होती है जो कलाकार के हृदय में उद्बुद्ध हुए थे।

तत्त्वमीमांसा में कला के सौंदर्य के रहस्यमय आदिरूप ईश्वर की प्रव्यंजना[1] कहा गया है और सौन्दर्यशास्त्र समर्थक शरीरविज्ञानवेत्ता[2] इसे एक ऐसी क्रीडा मानते हैं जिसमें मनुष्य अपनी शक्ति और ऊर्जा के आधिक्य को निष्कासित करता है, कम करता है। यह बाह्य प्रतीकों एवं चिह्नों के माध्यम से मानव-अनुभूतियों की अभिव्यक्ति नहीं है, यह सुन्दर वस्तुओं का निर्माण भी नहीं है और न आनंद ही है यह तो वह साधन है जिससे एक ही अनुभूति में अनेकानेक हृदय गुम्फित हो जाते हैं और इसलिए यह व्यक्तियों और मानवता के जीवन तथा विकास के लिए अनिवार्य है। इसके द्वारा हम अपने समसामयिकों की अनुभूतियों का ग्रहण करते हैं और उन लोगों के साथ तादात्म्य का अनुभव करते हैं जिनकी अनुभूतियों से हम सैकड़ों वर्ष बाद प्रभावित हो रहे हैं। यदि हममें विचार करने और दूसरों की अनुभूतियों से उद्दीप्त होने की क्षमता न होती तो (टॉलस्टॉय कहता है) हम असभ्य तथा एक-दूसरे से पृथक ही नहीं एक दूसरे के शत्रु भी होते। इसलिए कला का बहिष्कार नहीं हो सकता और न यही उचित है कि हम केवल उसी कला को प्रश्रय दें जिसमें सौन्दर्य की व्यंजना हो और जो केवल आनंद प्रदान करे। टॉलस्टॉय के अनुसार, सच्ची कला की पहचान उसकी संक्रामकता

---

१ मैनिफेस्टेशन।

२ इस्थेटिक फिजिऑलोजिस्टस।

से हो जाती है। यदि कोई व्यक्ति बिना किसी प्रयास के, बिना अपना दृष्टिकोण बदले, दूसरे व्यक्ति की कृति से इस प्रकार प्रभावित हो उठे कि वह कृतिकार के साथ अथवा ऐसे अन्य व्यक्तियों के साथ जो उसके समान ही प्रभावित होते हैं सामंजस्य का अनुभव करने लगे तो यह मानना होगा कि उसने एक श्रेष्ठ कलाकृति का अनुशीलन किया है।

क्रोचे द्वारा प्रवर्तित अभिव्यंजनावाद जिसे आचार्य शुक्ल ने वक्रोक्तिवाद का विलायती उत्थान कहा है पाश्चात्य काव्यशास्त्र में (और अब आधुनिक भारतीय काव्यशास्त्र में भी) एक विशिष्ट स्थान रखता है। चूंकि काव्यशास्त्र पर क्रोचे की प्रथम पुस्तक की रचना सन् १९०२ में हुई थी, इटली के बाहर कुछ समीक्षकों की धारणा रही है कि क्रोचे का काव्यशास्त्र विषयक यही एकमात्र योगदान है। वस्तुतः इसके प्रकाशन के पश्चात् पचास वर्षों तक क्रोचे ने साहित्य और समालोचना विषयक अपने सिद्धांतों का संशोधन-परिवर्धन किया और, जैसा कुछ लोग कहते हैं, उसने चार भिन्न भिन्न काव्यशास्त्र रचे। इसमें संदेह नहीं कि क्रोचे के विचारों के विकास की चार पृथक्-पृथक् अवस्थाएँ हैं। सर्वप्रथम उसका यह सिद्धांत है कि सहजानुभूति ही अभिव्यक्ति है। यह उसके १९०२ में प्रकाशित "इस्थेटिक" में मिलता है। दूसरी अवस्था में उसका गीतात्मक सहजानुभूति[1] का सिद्धांत आता है, जो दो दशाब्दियों तक उसकी व्यावहारिक आलोचना का आधार रहा था और जिसका प्रतिपादन सन् १९०८ में हुआ। उसका तीसरा सिद्धांत जागतिक सहजानुभूति[2] का है जिसका प्रतिपादन सन् १९१८ में हुआ और जिसका प्रतिबिंबन एरिआस्टो शेक्सपियर तथा गेटे पर लिखी गई समीक्षाओं में मिलता है। चौथी और अंतिम अवस्था वह है जिसमें वह साहित्य को काव्य से पृथक् करता है। इस सिद्धांत का प्रतिपादन सन् १९३६ में तथा इसका प्रयोग परवर्ती आलोचनाओं में हुआ है। स्पिनगार्न ने सन् १९२३ में ही लिखा था कि युवावस्था में लिखे गए "इस्थेटिक" से क्रोचे के दर्शन और समीक्षा विषयक योगदान का समुचित मूल्यांकन नहीं हो सकता। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे भारतीय समीक्षक क्रोचे को ठीक-ठीक तभी समझ सकते थे जब कि उसके समस्त सिद्धांत अँगरेजी अनुवादों में उपलब्ध रहते। क्रोचे के १९०२ वाले "इस्थेटिक" का अँगरेजी अनुवाद जब १९०९ में तैयार हुआ था उस समय क्रोचे अपने सिद्धांत की दूसरी अवस्था में

१ लिरिकल इण्ट्यूशन।
२ कॉस्मिक इण्ट्यूशन।

प्रयत्न पर पहुँचा था और जब सन् १९०२ में उसके 'सिद्धान्त' का एक अपूर्ण संस्करण प्रकाशित हुआ, उस समय तक क्रोचे ने आध्यात्मिक सहजानुभूतियों वाले सिद्धान्त का प्रतिपादन कर लिया था। तब भी वह इन सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता था, समय-समय पर सामयिक और प्रासंगिक अभिमतों द्वारा उन्हें भिन्न भिन्न रूप प्रदान करता था। १९६१ तक उसके अधिकांश निबंधों के अंग्रेजी अनुवाद तक नहीं हुए थे।

चूँकि अभिव्यंजनावाद आधुनिक हिन्दी-समीक्षा का एक बहुचर्चित विषय रहा है, क्रोचे के सहजानुभूति और अभिव्यंजना विषयक कतिपय सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवरण देना यहाँ अप्रासंगिक न होगा। क्रोचे के अनुसार सहजानुभूति को किसी स्वामी की आवश्यकता नहीं होती[1] और न इसे कोई आधार ही चाहिए। इसे दूसरे से लेना भी नहीं चाहिए, क्योंकि इसे आप ही उच्च कोटि के बल प्राप्त हैं। कभी-कभी सहजानुभूति में प्रत्यक्ष या विचार का भी अन्तर्भाव पाया जाता है[2] परन्तु अनेकानेक सहजानुभूतियों में इस बोध का लेश भी नहीं रहता जिससे स्पष्ट है कि सहजानुभूति में इस बोध का रहना आवश्यक नहीं है। सच्ची सहजानुभूति के लिए वास्तविकता और अवास्तविकता का पार्थक्य बहिरंग और गौण है। *वस्तुतः प्रत्येक सच्ची सहजानुभूति अभिव्यक्ति होती है।*[3] जो अभिव्यक्ति में मूर्त या व्यंजित नहीं हो सकती वह सहजानुभूति न होकर केवल एक संवेदन मात्र है। जो व्यक्ति अभिव्यक्ति से सहजानुभूति का पार्थक्य करता है उसे पुनः संयोजित करने में उसे कथमपि सफलता नहीं मिलती। अभिव्यक्ति (अभिव्यंजना) के अर्थ को भी ठीक-ठीक समझने का प्रयास करना चाहिए। लोग इसमें प्रायः भाषागत या शाब्दिक अभिव्यक्ति ही समझते हैं। परन्तु अभिव्यक्ति केवल भाषा के माध्यम से ही नहीं, रेखा, रंग और स्वर के माध्यम से भी होती है। अभिव्यक्ति चाहे चित्रात्मक, शाब्दिक या संगीतात्मक ही क्यों न हो, वह सहजानुभूति का ही एक अविभाज्य अंग है। सहजानुभूति सच्ची तभी होती है जब उसमें अभिव्यक्ति की भी क्षमता निहित रहे। उदाहरणार्थ किसी रेखा चित्र की सहजानुभूति तभी सच्ची समझी जायगी जब उसका बिम्ब हमारे

---

१ "इण्ट्यूटिव नॉलेज हैज नो नीड आव अ मास्टर"। क्रोचे, इस्थेटिक (१९६०) पृ० २।

२ "इट इज पासिबल टु फाइण्ड कसेप्ट्स मिक्स्ड विद इण्ट्यूशन्स"। उपरिवत्।

३ "एवरी ट्रू इण्ट्यूशन आर रिप्रजेण्टेशन इज ऑल्सो एक्सप्रेशन"। क्रोचे, इस्थेटिक, पृ० ८।

different to later empirical discriminations, to reality and to unreality, to formations and apperceptions of space and time which are also later intuition or representation is distinguished as form from what is felt and suffered from the flush or wave of sensation or from psychic matter, and this form this taking possession is expression To intuite is to express, and nothing else (nothing more but nothing less) than *to express*[1]

ये विचार ही क्रोचे के अभिव्यंजनावाद के मूलाधार हैं। उसके अनुसार 'वस्तु', भाव और अलंकार की पृथक् खण्ड-कल्पना अनर्गल है। इसी प्रकार "प्रस्तुत और अप्रस्तुत का भेद भी सर्वथा मिथ्या है—जिसे अप्रस्तुत अर्थ कहा गया है वह भिन्न अर्थ है, उक्ति का समग्र अर्थ ही प्रस्तुत अर्थ है।"[2] कुछ लोग सहजानुभूति को पदार्थ-बोध[3] का पर्याय समझते हैं, जो भ्रामक है। कभी-कभी सहजानुभूति का प्रयोग किसी तथ्य के तत्काल ज्ञान के लिए करते हैं, किन्तु क्रोचे के मतानुसार सहजानुभूति किसी तथ्य का उल्लेख या कथन मात्र नहीं है। दर्शन में इस शब्द का प्रयोग स्वयंसिद्ध तत्त्वार्थों और सूत्रों के ज्ञान के लिए होता है। इसे हम "कोर्टेसियन" सहजानुभूति कह सकते हैं, किंतु यह क्रोचे की सहजानुभूति से भिन्न है, क्योंकि उसकी सहजानुभूति किसी तथ्य का औपचारिक विवरण या कथन नहीं है—वस्तुतः यह विवरण या कथन तो बिलकुल ही नहीं है। क्रोचे की सहजानुभूति "कोर्टेसियन" सहजानुभूति से भिन्न और कान्ट की सहजानुभूति के अनुकूल है। जर्मन में इण्ट्यूशन के लिए Anschauung शब्द का प्रयोग होता है जिसका अँगरेजी में कोई ठीक-ठीक पर्यायवाची शब्द नहीं मिलता। Anschauung की परिभाषा एक जर्मन दर्शनशास्त्रीय शब्दकोश में यह मिलती है: "दि इम्मिडियट कागनिशन आव अ कान्क्रीट आब्जेक्ट इन इट्स डिटर्मिनेशन्स आव स्पेस एण्ड टाईम।"[4] इस प्रकार यह शब्द क्रोचे के intuizione से मिलता जुलता है।

---

१ उपरिवत्, पृ० ११।

२ डा० नगेन्द्र, भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका (दिल्ली, १९३३), पृ० २३६।

३ पर्सेप्शन।

४ दे० गायन एम० जी० आर्सिनो, बेनेडेटो क्रोचे (१९६१), पृ० ३२।

सहजानुभूति पदार्थ-बोध नहीं है, क्योंकि पदार्थ-बोध में पदार्थ की स्थिति अनिवार्य है, पर सहजानुभूति उसके अभाव में भी होती है।

यदि हम काव्य को सहजानुभूति-मात्र मान लें तो इससे एक साथ ही कितनी ही समस्याओं का समाधान हो जाता है। यदि काव्य केवल सहजानुभूति है तो इसके विवेचन में आलोच्य कवि के जीवनवृत्त और कलाकृति की श्लीलता-अश्लीलता आदि का परीक्षण निरर्थक हो जाता है। अपने सिद्धांतों को व्यावहारिक रूप देते समय क्रोचे ने 'डिवाइन कॉमेडी' में निहित उपदेशों की व्याख्या, गेटे की जीवनवृत्तमूलक आलोचना और शेक्सपियर के पात्रों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत नहीं किया। इस प्रकार उसके सिद्धांत सामयिक आलोचना की कतिपय मूल मान्यताओं का समर्थन करते दीख पड़ते हैं।

सहजानुभूति सार्वभौम की अभिव्यक्ति न होकर व्यक्ति की व्यंजना है—सार्वभौम का ज्ञान केवल तर्कशक्ति से होता है। क्रोचे के अनुसार अभिव्यंजना के पूर्व हमारे पास कुछ भी नहीं होता। सहजानुभूति व्यक्ति की व्यंजना है, या यों कहें कि सहजानुभूति विशिष्टीकरण की क्रिया है। अस्पष्ट और धुंधले चित्र उस सहजानुभूति के द्योतक हैं जो स्वयं स्पष्ट नहीं है। यह अस्पष्ट सहजानुभूति एक "अनुभव" मात्र है, सहजानुभूति का धुंधला अस्फुट आरम्भ मात्र है। रोमांटिक कवियों में उस समय भी काव्य-सृजन की प्रवृत्ति मिलती है जब उनकी सहजानुभूति अस्पष्ट रहती है, कारण वे अपने को उस समय यथार्थ की अनुभूति के निकट समझते हैं। क्रोचे के विचारानुसार जहाँ निम्नकोटि के कलाकार अपने व्यक्तित्व के चिन्ह अपनी कलाकृति में छोड़ देते हैं, वहीं उच्च कोटि के कलाकार उन चिन्हों को पूर्णतया मिटा डालते हैं।[1]

इसमें सन्देह नहीं कि प्रत्येक युग अपनी आवश्यकताओं और उपलब्धियों के आलोक में अतीत का मूल्यांकन करता है। आधुनिक पाश्चात्य समीक्षकों ने भी यही किया है। फिर भी समीक्षा के क्षेत्र में वहाँ भी संकट की चर्चा होने लगी है[2] और एम० रेमण्ड पीकॉक तथा एम० आर० बार्थेज के रसीन-संबंधी वाद विवाद में एक विचित्र स्थिति उत्पन्न हो गई है। इधर हिन्दी में कतिपय समीक्षक यह

---

१ "द बैड आर्टिस्ट लीव्ज ट्रेसेज ऑव हिज पर्सनलिटी इन द वर्क ऑव आर्ट, ह्वाइल्स्ट द ग्रेट आर्टिस्ट एण्टायर्ली इरेजेज देम" —दे० ए० इ० पॉवेल, द रोमांटिक थियरी आव पोयट्री (लंदन, १९२६), पृ० २९।

२ द टाइम्स लिटररी सप्लिमेण्ट, जून २३, १९६६, पृ० १ ("क्राइसिस इन क्रिटिसिज्म")।

कहते सुने जा रहे हैं कि 'हिन्दी आलोचना का शुरु से ऐसा रंग-ढंग रहा है कि आलोचना के नाम पर जो भी जो कुछ लिख दे, उसे आलोचक की संज्ञा दे दी जाती है।'[1] वाद विवाद, तर्क वितर्क, खंडन मंडन के बीच ही समीक्षा का उद्भव और विकास हुआ है और ऐसा अनुमान करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि भविष्य में भी समीक्षा क्षेत्र में ऐसे ही स्वस्थ वाद विवाद, तर्क वितर्क एवं खंडन-मंडन होते रहेंगे।

---

१ डा० कुमार विमल (सम्पा०), अत्याधुनिक हिंदी साहित्य, (पटना, १९६५), पृ० ४६।

३

हिन्दी की सैद्धातिक आलोचना पर पाश्चात्य प्रभाव



"स्वतत्रता के बाद हमारे बहुत से तरुण लेखको और कला कारो को पथभ्रष्ट करने मे पाश्चात्य साहित्य की इन प्रवृत्तियो का बडा हाथ रहा है।"

—शिवदान सिह चौहान, साहित्य की समस्याएँ, पृ० ५

नये सिद्धाना की सस्थापना एव प्राचीन मतो की नयी व्याख्या से तथा साहित्यालोचन के क्षेत्र म एकदेशीयता और गतानुगतिकता के परित्याग से हिन्दी की आधुनिक समीक्षा का सूत्रपात होता है। नवीन चिंतन पर आधृत यह समीक्षा समन्वयशील कही गई है। 'आधुनिक समीक्षा की मौलिक विशेषता यह है कि वह समन्वयशील रही है स्वतत्र चिंतन, उदार दृष्टिकोण और तत्वान्वेषी मनोवृत्ति का परिणाम है किसी हीन वृत्ति या मोहाध दृष्टि का नही।"[1] इसके प्रवत्तका म ऐसे मेधावी एव स्वस्थ-सुधी समालोचक रहे हैं जिनके व्यक्तित्व और सवेदनशीलता पर प्राचीन भारतीय चिंतन तथा उन अधुनातन विचार-सरणियो का प्रभूत प्रभाव पडा है जो पाश्चात्य सभ्यता-सस्कृति के विभिन्न तत्त्वो से निर्मित हुई हैं। वस्तुत आधुनिक समीक्षा ही नही अपितु आधुनिक भारत का भी विकास पश्चिम के न्यूनाधिक प्रभाव तथा उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया के फलस्वरूप हुआ है। सिद्धात विवेचन म अनेक ऐसी उपयोगी वस्तुएँ मिल जाती हैं जो पाश्चात्य साहित्य से अपने मूल रूप म उन्धृत कर ली गई है।[2] फिर भी आधुनिक हिन्दी समीक्षा पाश्चात्य समीक्षा सिद्धाना का यथावत आकलन और पुनरावृत्ति

१ आलोचना, जनवरी १९५९, पृ० २९२।

२ आलोचना, अप्रल १९५९, पृ० ७।

नही है। इसमे रूढ़ सिद्धात और इसके भावका द्वारा गृहीत प्रतिमान फिर समस्त पौरस्त्य परपराओ से उतना ही सश्लिष्ट हैं जितना अँगरेजी समीक्षा यूनानी तथा रोमीय समीक्षा-परपराओ से। कुछ नये समीक्षको की रचनाओ के मूल मे अनुकरणवाद का प्राधान्य अवश्य लक्षित होता है परतु हिन्दी के मूर्धन्य अधुनातन समीक्षक ऐसे अतिवाद से सर्वथा मुक्त हैं और जानते हैं कि प्रभाव और अनुकरण दो पृथक वस्तुएँ हैं—एक के द्वारा जीवन मिलता है तो दूसरे के द्वारा जीवनापहरण होता है प्रभाव गति और दिशा प्रदान करता है अनुकरण जड और पगु बनाता है।[1]

सिद्धात प्रधान आलोचना मे संस्कृत काव्य शास्त्र तथा पाश्चात्य साहित्य-सिद्धात के आलोक मे अथवा दोनो के समन्वय पर सिद्धात प्रतिपादन की प्रवृत्ति मिलती है।[2] सैद्धातिक आलोचना सामान्य सूत्रो के आधार पर उन भेद-उपभेदो और वर्गों की स्थापना करती है जिनका साहित्य के परीक्षण-मूल्याकन मे प्रयोग होता है। इसमे उन प्रतिमानो का निश्चितीकरण होता है जिनसे साहित्य के गुण-दोषो को नापा-तोला जाता है। इस प्रकार की आलोचना मे अनुगम विधि से युगीन साहित्य के आधार पर साहित्य-सबधी सामान्य सिद्धातो के निरूपण का प्रयास किया जाता है। किन्तु सिद्धातो का निरूपण-सचयन कोई सरल काय नही होता क्योकि साहित्य की जितनी विधाएँ हैं उनमे प्रत्येक के अपने-अपने तथा प्रत्येक साहित्यकार के पृथक-पृथक सिद्धात होते हैं। इतना ही नही प्रत्येक उत्कृष्ट कलाकृति कुछ-न-कुछ वैशिष्ट्य लिये होती है तथा नव्य अनुभूतियो का सप्रेषण करती है। वह पूर्वनिर्मित सिद्धातो की उपेक्षा करती हुई चाहे नव्यतर सिद्धातो का निर्माण करती है या सर्वथा उन्मुक्त होती है। समीक्षा सिद्धातो के क्षेत्र मे जो "अराजकता" अथवा अस्त-व्यस्तता देखी जाती है उसका मूल कारण यही है कि साधारण वस्तुएँ भी दर्शको मे विभिन्न प्रकार की प्रतिक्रियाएँ उद्दीप्त करती है। एक साधारण-सी कविता विभिन्न पाठको मे (तथा एक ही पाठक मे विभिन्न अवसरो पर) विभिन्न प्रकार की प्रतिक्रियाएँ प्ररोचित करती है। तब तो इस बात मे सदेह नही रह जाता कि दुरूह तथा सकुल काव्य के अध्ययन मे उदबुद्ध प्रतिक्रियाएँ और भी नानारूप तथा बहुरगी होगी।[3] इसलिए समीक्षका

---

१ आलोचना, अक्टूबर १९५७, पृ० ४८।

२ *हिंदी साहित्य कोश*, १, पृ० १२४।

३ आई० ए० रिचर्ड स, द प्रिंसिपल्स आव लिटररी क्रिटिसिज्म (लदन, १९४७), पृ० ९।

द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त अपनी नानारूपता, विविधता के कारण "वर्गीकरण की समस्या"[1] उपस्थित करते हैं।

सामान्यतः साहित्य के सिद्धान्तों के निर्माण, सकलन तथा विवेचन को सैद्धान्तिक आलोचना कहते हैं। उपलब्ध साहित्य के आधार पर समीक्षक उसके मूलभूत सिद्धान्तों का आकलन प्रस्तुत करते हैं अथवा उन सिद्धान्तों का निर्माण करते हैं जो कालान्तर में सपूर्ण वाङ्मय के नियामक प्रतिमान बन जाते हैं। इसी प्रकार कभी-कभी कवि भी पाठकों की सुविधा के लिए अथवा अपने आश्रयदाताओं और सरक्षकों के लिए अपने काव्य के प्राणभूत तत्त्वों, अगोपागों, उसमें प्रयुक्त अलकारों और काव्यगत विशेषताओं का सामान्य परिचय देते हुए सैद्धान्तिक समीक्षा की जीवन्त परपरा को गतिमान रखते हैं। जब समीक्षकों और कवियों द्वारा निर्मित सिद्धान्त और समीक्षा के प्रतिमान रूढ हो जाते हैं तब वे साहित्य की नई विधाओं का समादर नहीं करते। कान्चकालिक वृत्ति वाले कुछ परपरावादी (टामस राइमर-सरीखे) समीक्षक प्राचीन सिद्धान्तों के निकष पर नये साहित्य और नयी विधाओं की परीक्षा करना चाहते हैं जिसके फलस्वरूप उन्हें घोर नैराश्य का अनुभव होता है। अरस्तू द्वारा निर्धारित मानदडों से जब शेक्सपियर के नाटकों के मूल्याकन का प्रयत्न हुआ तब उसमें दोष-ही-दोष दृष्टिगत हुए। इस कारण प्रत्येक युग के लिए यह आवश्यक है कि वह नये-नये प्रतिमान बनाये और प्राचीन साहित्य का नये ढग से, नये मानदडों और सद्य निर्मित साहित्य के आलोक में, परीक्षण-समीक्षण करे। "साहित्य की अखड अविरल धारा का तभी उचित विश्लेषण एव मूल्याकन सभव होता है। अत सैद्धान्तिक आलोचना के अन्तर्गत काव्यशास्त्र सबधी सभी प्रकार की नवीन प्राचीन तत्त्व-निरूपिणी आलोचनाएँ आती हैं। सस्कृत में दडी का काव्यादर्श, विश्वनाथ का साहित्यदर्पण, राजशेखर की काव्यमीमासा, जगन्नाथ का रस-गगाधर आदि पाश्चात्य साहित्य में अरस्तू, लाजिनस, ड्राइडन पोप, कालरिज, आर्नल्ड, एलियट, रिचर्ड्स, क्रोचे आदि की सैद्धान्तिक रचनाएँ, हिंदी में रीतिकाल के लक्षणग्रंथ, श्यामसुन्दरदास का साहित्यालोचन, गुलाबराय का सिद्धान्त और अध्ययन, सुधाशु का काव्य में अभिव्यजनावाद आदि ग्रथ सैद्धान्तिक आलोचना के उदाहरण हैं।"

बाबू श्यामसुन्दरदास के काव्य सिद्धान्तों पर पाश्चात्य समीक्षा-परपरा का

---

१ एस० पी० खत्री, शिवदान सिंह चौहान, आलोचना इतिहास तथा सिद्धान्त (दिल्ली, १९६४), पृ० ३३२ से क्र० क० प०।

जितना प्रभाव पड़ा है उतना भारतीय साहित्यशास्त्र का नहीं। जहाँ उन्होंने कला, साहित्य, कविता उपन्यास आदि का विवेचन किया है वहाँ उनकी पद्धति पश्चिमी है, जहाँ नाटकों की समीक्षा और शैली का विवेचन हुआ है उन पर दोनों साहित्यशास्त्रों का समीकृत प्रभाव दृष्टिगत होता है।[1] उनके द्वारा प्रस्तुत केवल रस विषयक विवेचन मुख्यतः भारतीय परंपरा पर समाश्रित है। उन्होंने ललित कलाओं में शीर्ष स्थान काव्य-कला को देते हुए कहा है इसका आधार कोई मूर्त पदार्थ नहीं होता। यह शाब्दिक संकेतों के आधार पर अपना अस्तित्व प्रदर्शित करती है। काव्य-कला को छोड़कर शेष चारों ललित कलाएँ बाह्य भान का आश्रय लेकर मानसिक भावनाएँ उत्पन्न करती हैं केवल काव्य-कला पूर्णतया आंतरिक ज्ञान पर अवलंबित रहती है।'[2] इस मतवाद के मूल में पश्चिम की वह विचारधारा ही है जिसके अनुसार काव्य भी ललित कलाओं में अन्तर्भूत है। 'हमारे यहाँ काव्य की गिनती ६४ कलाओं के भीतर नहीं की गई है। सौंदर्य की भावना को रूप देने में मनोविज्ञान के क्षेत्र से आये हुए उस सिद्धांत का भी असर पड़ा है जिसके अनुसार अंतस्संज्ञा में निहित अतृप्त काम-वासना ही कला निर्माण की प्रेरणा करनेवाली अंतर्वृत्ति है। योरप में चित्रकारी मूर्तिकारी नक्काशी, बेल-बूटे आदि के समान कविता भी 'ललित कलाओं' के भीतर दाखिल हुई, अतः धीरे धीरे उसका लक्ष्य भी सौंदर्य विधान ही ठहराया गया।[3]

---

१ डा० नगेन्द्र, 'डा० श्यामसुन्दरदास की आलोचना पद्धति', दे० विचार और विवेचन (दिल्ली १९६४), पृ० ७७।

२ साहित्यालोचन (काशी, सं० १९८४), पृ० ११ १२।

३ रामचन्द्र शुक्ल, हिंदी-साहित्य का इतिहास (बनारस, सं० १९९९), पृ० ६३७। इसी संदर्भ में डा० नगेन्द्र की यह समुचित ज्ञातव्य है कला में कविता का अन्तर्भाव सर्वथा पश्चिमीय सिद्धांत है—जिसका सूत्रपात जर्मन दार्शनिक 'हीगेल' ने किया था। भारतीय साहित्य शास्त्र काव्य को कला से सर्वथा पृथक रखकर देखता आया है। कला का स्थान हमारे यहाँ काव्य की अपेक्षा अत्यंत निम्न रहा है—काव्य का संबंध जहाँ अभौतिक रस-चेतना से है, वहाँ कला का संबंध भौतिक जीवन विलास से है। इसीलिए एक को जहाँ ब्रह्मानंद सहोदर की पदवी दी गई है, दूसरे को नागरिक जीवन का शृंगार-मात्र माना गया है।'—विचार और विवेचन, पृ० ७७।

बाबू साहब पर पाश्चात्य समीक्षा-परम्परा के प्रभाव की गम्भीरता का अनुमान निम्नलिखित पंक्तियों से किया जा सकता है। 'साहित्यालोचन' की भूमिका में पुस्तक-प्रणयन के उद्देश्य की ओर संकेत करते हुए उन्होंने कहा है

> मेरा उद्देश्य इस ग्रन्थ को लिखने में यह रहा है कि भारतीय तथा यूरोपीय विद्वानों ने आलोचना के संबंध में जो कुछ लिखा है उनके तत्त्वों को लेकर इस रूप में सजा दूं कि जिसमें हिन्दी के विद्यार्थियों को किसी ग्रन्थ के गुण-दोष की परख करने और साथ ही ग्रन्थ निर्माण या काव्य-रचना में कौशल प्राप्त करने अथवा दोषों से बचने में सहायता मिल जाय। इस दृष्टि से मैं कह सकता हूं कि इस ग्रन्थ की समस्त सामग्री मैंने दूसरों से प्राप्त की है। परंतु इस सामग्री को सजाने, विषय का प्रतिपादित करने तथा उसे हिंदी भाषा में व्यंजित करने में मैंने अपनी बुद्धि से काम लिया है। अतएव मैं कह सकता हूं कि एक दृष्टि से यह ग्रन्थ मौलिक और दूसरी दृष्टि से दूसरे ग्रन्थों का निचोड़ है।[1]

'साहित्यालोचन' भारतीय तथा पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धांतों को "मिलाने का यथाशक्ति उद्योग" है। बाबू साहब के अनुसार केवल विचारों की नव्यता और विशिष्टता ही मौलिकता नहीं कहलाती। विचारों को अभिव्यंजित करने की मौलिकता भी एक प्रकार की मौलिकता ही है। इस दृष्टि से 'साहित्यालोचन' में पर्याप्त मौलिकता का समाहार है- इसमें पाश्चात्य समीक्षकों के विचारों को 'जरा भी परिमार्जित और संस्कृत करके" आगे बढ़ाया गया है और अन्यान्य विचारों की छाप' से उन्हें अभिनव रूप दिया गया है। किसी कलाकृति के मूल्यांकन की 'सच्ची कसौटी तो यह है कि उसने संसार के ज्ञान भांडार को कुछ बढ़ाया या नहीं। यदि वह उसमें वृद्धि करने में समर्थ होता है, तो अवश्य वह अपनी सच्ची मौलिकता का परिचय देता है।' इस निकष पर परखने से 'साहित्यालोचन' में भरपूर अभिव्यक्तिगत मौलिकता दीख पड़ती है।

परंतु 'साहित्यिक आलोचना' के इस आद्य ग्रन्थ से "हमारे अपने साहित्य की परंपरा के अनुकूल एक संश्लिष्ट आधुनिक काव्यशास्त्र का निर्माण" नहीं हो पाया है। उन दिनों यह संभव भी न था कि "पौर्वात्य तथा पाश्चात्य काव्य सिद्धांतों की सफभूमियों का अन्वेषण कर विश्व-संस्कृति की सापेक्षता में आलोचना के अन्तराष्ट्रीय मानदण्डों का निर्धारण" हो सके। बाबू साहब को

---

१ साहित्यालोचन (सं० १९८४), पृ० ७।

थमी प्रशस्त आधारभूमि नहीं मिल पायी थी, जैसी डा० नगेन्द्र को मिली है और न हिन्दी समीक्षा भाडार उन दिनों वैसा समृद्ध ही था, जैसा आज है। इस कारण बाबू साहब ने प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र का नई आलोचना-पद्धति से विचार विवेचन नहीं किया है और न पाश्चात्य सिद्धांतों का विवेचन भारतीय आलोचना-पद्धति से। "काव्यालोचन" में अधिकांशत पाश्चात्य समीक्षा सिद्धातों की "यथावत् अवतारणा" ही हुई है। पुस्तक के अंत में सगृहीत तथा सहायक ग्रन्थो की अनुक्रमणी दी गई है जिससे इसके उद्गम-स्रोतों का पता चलता है

वेन—रेटरिक, दि इमोशन्स ऐंड द विल,
डीवी—साइकॉलाजी
हडसन—ऐन इन्ट्रोडक्शन टू द स्टडी आव लिट्रेचर,
कीथ—द वदिक आल्यान ऐंड दि इडियन ड्रामा, जे० आर० ए० एस०, १६११,
मैकडनेल—संस्कृत लिट्रेचर,
मिण्टो—मनुअल आव इग्लिश प्रोज लिटरेचर
एम० ए० हरप्रसाद शास्त्री—दि आरिजिन आव इडियन ड्रामा जे० ए० एस० बी०, १६०८,
रावलिंसन—फोरन इन्फ्लुएन्स इन द सिविलाइजेशन ऑव एंसिएट इडिया ८०० बी० सी० —४०० ए० डी
रिजवे—ड्रामाज ऐंड ड्रमैटिक डान्सेज
वास्वनी—द सिक्रेट आव एशिया
वसफोल्ड—जजमेण्ट इन लिट्रेचर
इ साइक्लोपीडिया ब्रिटनिका—आर्टिकलस् आन पोयट्री ड्रामा, ऐंड फाइन आर्टस

इ साइक्लोपीडिया आव एथिक्स ऐंड रीलीजन—आर्टिकल आन ड्रामा।[1]
इनसे लेखक ने पुस्तक प्रणयन में सहायता ही नहीं ली इनमें कुछ के महत्त्वपूर्ण लेखांशों और परिच्छेदों का अनुवाद मात्र भी सकलित कर दिया है। परंतु उसका उद्देश्य किसी मौलिक ग्रन्थ की रचना अथवा भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र का सामजस्यपूर्ण विवेचन प्रस्तुत करना न था। 'साहित्यालोचन" मूलत एक सामयिक अभाव की पूर्ति का प्रयास और 'स्टापगप' प्रबंध है—एक प्राध्यापक

---

१ साहित्यालोचन, पृ० ३३३। सशोधित सस्करण मे अंगरेजी पुस्तकों की सख्या ८८ और सस्कृत हिंदी की केवल ११ है।

के "नोट्स" का संग्रह है। इसके 'सम्पादक' का निर्भ्रान्त मत है कि साहित्यक आलोचना का यह प्रारम्भिक ग्रंथ इस "गहन विषय के लिए प्रस्तावना का काम दे सकता है।' उसने स्वीकार किया है कि इसमें वैचारिक मौलिकता नहीं है। पाठक तभी शिकायत कर सकते हैं जब इसमें अभिव्यक्तिगत मौलिकता न मिले, क्योंकि पुस्तक का महत्त्व इसमें ही सन्निहित बताया गया है।

"साहित्यालोचन' तथा 'ऐन इन्ट्रोडक्शन टु द स्टडी ऑव लिट्रेचर" की निम्नलिखित पंक्तियों के युगपत् विश्लेषण से बाबू साहब की अभिव्यक्तिगत मौलिकता पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। यह मौलिकता कोरे सम्पादक और अनुवादक की मौलिकता नहीं है अनूदित पंक्तियों में लेखक की सृजनात्मक प्रतिभा का पर्याप्त प्रतिबिंबन हुआ है

साहित्यालोचन (द्वितीय संस्करण)	ऐन इन्ट्रोडक्शन
(पृ ४४) अतएव किसी साहित्य के अध्ययन में ऐतिहासिक दृष्टि से हम दो बातों पर विचार करना पड़ता है—एक तो उसके परंपरागत जीवन पर अर्थात् उसके जातीय भाव पर और दूसरे उस जीवन के परिवर्तनशील रूप पर अर्थात् इस बात पर कि वह जातीय जीवन किस प्रकार भिन्न-भिन्न समयों के भावों को अपने में अन्तर्हित करके उन्हें व्यंजित करता है। अतएव किसी जाति के काव्य-समूह या साहित्य के अध्ययन से हम यह जान सकते हैं कि उस जाति या देश का मानसिक जीवन कैसा था और वह क्रमशः किस प्रकार विकसित हुआ।	(p 31) Thus in our study of literature on the historical side we shall have to consider two things--the continuous life or national spirit in it and the varying phases of that continuous life, or the way in which it embodies and expresses the changing spirit of successive ages First, what do we mean when we speak of the history of any national literature of the history of Greek, or French, or English literature ?
(पृष्ठ ४६) साहित्य का अध्ययन भी एक प्रकार का पर्यटन या देश-दर्शन ही है। उसके द्वारा हम अन्य देशों और जातियों के मानसिक तथा आध्यात्मिक जीवन से परिचय प्राप्त करते और	(p 33) The study of literature is a form of travel it enables us to move about freely among the minds of other races with this additional advantage that,

साहित्यालोचन (द्वितीय संस्करण)

उनसे निकटस्थ संबंध स्थापित करके उपार्जित ज्ञान भांडार के रसास्वादन में समर्थ होते हैं। देश-काल के लिए की गई साधारण यात्रा और साहित्यिक यात्रा में बड़ा भेद है। साधारण यात्रा तो किसी निर्दिष्ट काल में ही कर सकते हैं पर साहित्यिक यात्रा के लिए काल का कोई बंधन नहीं। यह यात्रा हम चाहे जिस काल में कर सकते हैं। तात्पर्य यह कि हम किसी भी जाति की, किसी भी काल की विद्वन्मंडली से, जब चाहें, परिचय प्राप्त कर सकते हैं। इसके लिए किसी प्रकार का अवरोध या बंधन नहीं है।

(पृष्ठ ६४) पश्चिमीय विद्वानों ने कविता का लक्षण भिन्न भिन्न प्रकार से किया है। जानसन का मत है— 'कविता पद्यमय निबंध है। मिल्टन के अनुसार 'कविता वह कला है जिसमें कल्पना शक्ति विवेक की सहायक होकर सत्य और आनंद का परस्पर सम्मिश्रण करती है। कारलायल के अनुसार कविता संगीतमय विचार है। रस्किन का कहना है— कविता कल्पना शक्ति द्वारा उदात्त मनोवृत्तियों के श्रेष्ठ आलंबनों की व्यंजना है।" कारयाय कहता है "कविता वह कला है जो संगीतमय भाषा में काल्पनिक विचारों और भावों की यथार्थ व्यंजना से आनंद का उद्रेक करती है।' वाट्स डंटन का कहना है— 'कविता मनो

ऐन इंट्रोडक्शन

as Professor Barrett Wendell has happily said it gives us the power of travelling also in time We become familiar not only with the minds of other races but with the minds of other epochs as well

The history of any nation in literature then is the record of the unfolding of that nation s genius and character under one of its most important form of expression

(p 64) Poetry says Johnson is "metrical composition it is the art of uniting pleasure with truth by calling imagination to the help of reason and its 'essence is invention What is poetry asks Mill but the thought and words in which emotion embodies itself ? By poetry says Macaulay we mean the art of employing words in such a manner as to produce an illusion on the imagination the art of doing by means of words what the painter

वर्णमय और संगीतमय भाषा में मानव अनुकरण की मूर्त और कलात्मक व्यंजना है।" संस्कृत साहित्यकारों ने कविता (काव्य) को "रमणीय अर्थ का प्रतिपादक" अथवा "रसात्मक वाक्य" कहा है। पर इन सब लक्षणों से हमारा संतोष नहीं होता।

does by means of colours'

(पृष्ठ ३११) इस प्रकार वह हमें बतलावेगा कि विषय भाव और कला आदि की दृष्टि से वह ग्रन्थ कैसा है। इस दशा में उस ग्रन्थ के गुण या दोष लोगों के सामने आपसे आप आ जाएँगे। परन्तु आलोचना का यह काम वह अपनी निज की रीति से करेगा।

(p.268) Thus explaining, unfolding illuminating he will show us *what the book really is*—its content its spirit its art and this done he will leave it to justify and appraise itself 'To feel the virtue of the poet or the painter to disengage it to set it forth—these says Walter Pater are the three stages of the critic s duty

इन सभी उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि बाबू साहब केवल अनुवाद-मात्र से संतुष्ट होनेवाले व्यक्तियों में न थे। उनका संबंध हडसन के मूल भावों से है उनकी भाषा से नहीं। इस कारण अँगरेजी साहित्य की इस लोकप्रिय भूमिका का बड़े ही स्वतन्त्र ढंग से "अनुवाद" किया गया है। कहीं मूल पंक्तियों की व्याख्या की गई है, कहीं उनसे नये विचार संपन्न किए गए हैं और कहीं उन पर भारतीय रंग चढ़ाने के लिए उनमें प्रयुक्त पश्चिमी नामों को हटा दिया गया है। यहाँ-वहाँ लेखक ने विवेच्य विषय को अधिकाधिक मौलिक बनाने के लिए उसमें भारतीय आचार्यों के मत अनुस्यूत कर दिये हैं। परिवर्द्धित संस्करण तक आते-आते पुस्तक की मौलिकता निखर उठती है—उसका स्वरूप और भी बदल जाता है। पुस्तक के प्रथम संस्करण[1] की बात कुछ और थी। उस समय न तो लेखक

१ दूसरे संस्करण में (जिसका इस प्रबंध में उपयोग हुआ है) पहले की आवृत्ति

का दृष्टिकोण ही परिपक्व हुआ था और न उसे पाश्चात्य साहित्यशास्त्र को पचाकर आत्मसात करने का अवकाश ही था।[1] संशोधित संस्करण तक आते आते "उसके विषय प्रतिपादन में अपनापन आ गया है और इसे पढ़कर एक साथ संकलित अथवा अमौलिक नहीं कहा जा सकता।"[2]

"साहित्यालोचन" के संशोधित संस्करण (संवत् १९८४) में 'साहित्य' को रसात्मक काव्य के पर्यायवाची शब्द के रूप में प्रयुक्त किया गया है। इसका उद्देश्य (काव्य प्रयोजन) केवल मानव मस्तिष्क को संतुष्ट करना ही नहीं मानव जीवन को अधिक सुखी और सुंदर बनाना भी है।[3] साहित्य का लक्ष्य प्रमाता को रसाभिभूत करना ही नहीं उसके जीवन में 'सुन्दर' की प्रतिष्ठा करना भी है। सत्साहित्य में शिव और सुन्दर का मणि-कांचन संयोग मिलता है। होरेस के काव्य प्रयोजन संबंधी विचार इतालवी समीक्षकों की रचनाओं के माध्यम से नवजागरणयुग को प्रभावित करते हुए तथा सिडनी आदि लेखकों और स्वच्छंदतावादी समीक्षकों के सशक्त पृष्ठपोषण के फलस्वरूप यहाँ तक आ पहुँचे। श्यामसुंदरदास में विक्टोरियन नैतिकता और रोमांटिक पलायनवादिता का युगपत समाहार है। साहित्य का लक्ष्य पलायन क्रिया में साहाय्य प्रदान करना है साहित्यकार कीट्स की भाँति ललित-कल्पना के पंखों पर व्योम विहार करता है। 'साहित्य के सहारे मनुष्य जीवन के दुःख और संकटों को क्षण भर के लिए

मात्र हुई है। इसकी भूमिका में लेखक ने इसके कारण का निर्देश किया है 'इधर प्रायः डेढ़ वर्षों से मैं निरंतर अनेक प्रकार की मानसिक चिंताओं तथा शारीरिक व्याधियों से पीड़ित रहा हूँ, और मुझे इतना भी अवकाश न मिला कि मैं इसे दोबारा पढ़ तक सकूँ। इसलिए विवश होकर यह संस्करण ज्यों का त्यों प्रकाशित किया जा रहा है। यदि ईश्वर की इच्छा हुई तो अगले संस्करण में आवश्यक सुधार कर दिए जायेंगे।" परंतु प्रथम चार आवृत्तियों में कोई परिवर्तन नहीं किया गया था।

१ डा० नगेन्द्र, "विचार और विवेचन" (१९६४), पृ० ८४ (इस पृष्ठ पर संशोधित संस्करण के संबंध में डा० नगेन्द्र के विचार द्रष्टव्य हैं।)

२ उपरिवत (श्यामसुंदरदास की आलोचना-शैली पर डा० नगेन्द्र के विचारों के लिए पृष्ठ ८५ देखिए)।

३ साहित्यालोचन (सं० २००६), पृ० ४३।

भूल सकता है, वह आपदाओं से भरे हुए वास्तविक संसार को छोड़कर कल्पना और भावना के सुन्दर लोक में भ्रमण कर सकता है"[1] शैली के अनुसार मत्काव्य एक ऐसा चिर-प्रवहमान निर्झर है, जिससे तत्त्वज्ञान और आनंद का स्निग्ध-पावन सलिल बराबर उमड़ता-छलकता रहता है। कविता आर्त-आविग्न क्षणों में स्नेहार्द्र आश्वासन का संचार करती है। इसी प्रकार जेम्स हनरी ले हण्ट ने कविता को सत्य और सौंदर्य के लिए एक प्रबल राग (पैशन) कहा है। उन्नीसवीं शती की रोमांटिक कविता आत्मनिष्ठ आत्माभिव्यक्ति है—इस युग के कवि-समीक्षक कविता को आत्माभिव्यंजन का माध्यम मानते और अपनी कविताओं में स्वानुभूति का बड़ा ही मार्मिक रूपांकन करते हैं। श्यामसुंदरदास पर इन्हीं कवियों की विचार धारा का प्रभाव है। उनकी अभिरुचि विक्टोरियन काव्य पर, पालग्रेव की 'गोल्डेन ट्रेजरी' पर, हडसन और बेसिल वर्सफोल्ड की समीक्षा पर आश्रित है। ब्लेक, शैली, विक्टर ह्यूगो, क्रोचे और ह्विटमन आदि की तरह उनकी भी धारणा है कि "साहित्यकार में स्वानुभूति एक अत्यंत आवश्यक गुण है, और अनुचित रीति से दूसरे का पदानुगामी होना अक्षम्य दोष है।

'अभिव्यंजना या कविता' में लेखक ने जिस अभिव्यंजना की चर्चा की है वह क्रोचे की सहजानुभूति (अभिव्यंजना=कला) नहीं है—यह एक सामान्य मानव-गुण है। मनुष्य के मन पर बाह्य सृष्टि की विविध वस्तुओं के नानाविध प्रभाव पड़ते हैं, जिन्हें अभिव्यंजित करना मनुष्य के लिए अनिवार्य-सा होता है। अभिव्यक्ति का यह गुण मनुष्यों में नैसर्गिक होता है, उनके अस्तित्व के साथ लगा हुआ होता है। मनुष्य का मस्तिष्क, जिस पर संपूर्ण जीव-जगत के चित्र स्वतः अंकित होते रहते हैं, बड़ा ही संवेदनशील एवं भावप्रवण होता है और चाहता है कि उन चित्रों को गोचर रूप में अंकित कर लिया जाय। तभी कला की उत्पत्ति होती है। इस तरह के विचारों में नहीं अपितु उनकी प्रांजल सरल अभिव्यक्ति में अभिनवता और मौलिकता देखी जा सकती है। इन समस्त विचारों के मूल में पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्र है, जिससे पर्याप्त उपयोगी सामग्री का आकलन हुआ है। क्रोचे के अनुसार कला "प्रभावों की— इम्प्रेशन्स" की— अभिव्यक्ति है। श्यामसुंदरदास के अनुसार 'बाह्य जगत की भिन्न भिन्न वस्तुओं का जैसा प्रतिबिंब मानस-मुकुर पर पड़ता है, कला का सीधा संबंध उसी से है।'[2]

---

१ साहित्यालोचन, पृ० ४३।

२ साहित्यालोचन, पृ० ४।

'इंसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' में कला शीर्षक लेख में कहा गया है कि अनादि काल से ही मनुष्य अपने हृद्गत प्रभावों को रूपाकार और अभिव्यक्ति प्रदान करने का प्रयास करता आया है। कला का स्थान मानवता के लिए चिर-आवश्यक तथा अनिवार्य वस्तुओं में है।[1] श्यामसुन्दरदास के कथनानुसार बाह्य सृष्टि मनुष्य पर सुख-दुख, रूप-विरूप, हित-अहित आदि की जो भावनाएँ उत्पन्न करती हैं उनको अभिव्यंजित करना मनुष्य के लिए अनिवार्य-सा है।'[2] 'अनिवार्य-सा' का संबंध विरेचन ('कैथार्सिस')—प्रक्रिया से है, जो अरस्तू, प्लातो, पाश्चात्य काव्यशास्त्र और आधुनिक मनोविज्ञान से संबद्ध होने के कारण मन में तरह-तरह के संश्लिष्ट भावों-विचारों का उद्रेक करता है।

'साहित्यालोचन' पर जिन पाश्चात्य ग्रन्थों अथवा लेखकों के प्रभाव दृष्टिगत होते हैं, उनकी दूसरी वृहत् अनुक्रमणी संशोधित संस्करण के अंत में संयोजित है। यह इस प्रभाव के निदर्शन-परीक्षण के लिए बहिर्वर्ती उपकरण का काम करती है परंतु पुस्तक की अन्तर्वस्तु और इसके विचारतत्व में ही एतद्विषयक विवेचन के लिए पर्याप्त विषयानुकूल सामग्री का संकलन-एकत्रीकरण है। लेखक ने कला और अभिव्यंजना की तत्त्वपरक मीमांसा के उपरान्त कला और मन स्थितियों के संबंध का सारगर्भित विवेचन प्रस्तुत किया है। इस विवेचन का आरंभ ही पाश्चात्य मतों के यथातथ्य पुनराख्यान और स्वीकरण से होता है। पाश्चात्य विद्वानों ने—बाबू साहब ने इनके नाम नहीं बताये—ज्ञान भावना और इच्छा को "मानसिक क्रिया के तीन विभाग" कहा है। तदनंतर भारतीय शास्त्रों में वर्णित वर्गीकरण का उल्लेख है और लेखक का निश्चित मत है कि यहाँ भी इसी प्रकार का श्रेणी विभाग है—संस्कृत साहित्य में ज्ञान इच्छा और प्रयत्न बुद्धि व्यापार की तीन प्रक्रियाएँ मानी गई हैं। पाश्चात्य एवं भारतीय दृष्टिकोणों में वैपरीत्य उस समय प्रकट होता है जब हम देखते हैं कि संस्कृत के पंडितों ने भावनाशक्ति को नहीं माना है।[3] मनोविज्ञान तथा भारतीय साहित्य की

---

१ मैन, सिंस दि अर्लिएस्ट पीरियड आव व्हिच वेयर इज नॉलेज, हैज स्ट्रिवन टु गिव हिज इम्प्रेशंस फॉर्म एण्ड मीनिंग ... आर्ट इज, एण्ड हैज आलवेज बीन, ऐन इंडिस्पेंसबल डाउ आव ह्यूमनिटी। दे० पाल जी० क्नोडी तथा आर्थर डॉविंग के लेख इंसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका (भाग २,१९२९), चतुर्दश संस्करण, पृ० ४४२।

२ साहित्यालोचन (सं० २००६), पृ० २।

३ साहित्यालोचन (सं० २००६), पृ० ५।

मान्यताओं में समसादृश्य की ओर भी संकेत किया गया है। हमारी "सतत वर्द्धमान विवेकशक्ति" एवं "सतत उन्नतिशील इच्छा-शक्ति" हमारी भावना-शक्ति के साथ जुड़ी हुई है, अभिन्नतया संपृक्त है, और साहित्य का संबंध उस मानव-व्यापार से है जिसमें भाव की प्रधानता रहती है। एक पाद टिप्पणी में लेखक ने स्वीकार किया है कि 'हम भाव और भावना को एक ही अर्थ में प्रयोग करते हैं, पर आगे चलकर भाव का पारिभाषिक अर्थ में भी प्रयोग होगा।' पहले के मनोवैज्ञानिकों के अनुसार सर्वप्रथम ज्ञान की उत्पत्ति होती है, फिर भाव उठते हैं और अन्ततोगत्वा कर्म में प्रवृत्ति होती है। यद्यपि आज यह क्रम विवादग्रस्त है, फिर भी मन की वृत्तियों के संबंध में (जो ज्ञानप्रधान, भावप्रधान एवं कर्मप्रधान हैं) मनोवैज्ञानिकों में मतैक्य पाया जाता है। भारतीय साहित्य में इन्हीं तीनों की चर्चा ज्ञान, भक्ति और कर्म के नाम से बार-बार हुई है।

बाबू साहब ने संपुष्ट एवं अनेक दृष्टांतों के आधार पर अपने विवेचन का विन्यास नहीं किया और न उन भारतीय एवं पाश्चात्य मनीषियों के नाम बताये, जिनके मत यहाँ उद्धृत हैं। विवेचन को सामान्य इतिवृत्तात्मक स्तर पर रखने का कारण शायद उनकी यह धारणा रही हो कि पाठकों के लिए ये मतवाद चिर-परिचित सिद्धांत होंगे, न कि मौलिक तथ्य अथवा गहन गवेषणा-मूलक अध्ययन पर आधृत कतिपय बहुमूल्य निष्कर्ष। सर्वप्रथम प्रमाता विवेचन की प्रासंगिकता और गंभीरता को देखते हुए ऐसे विचार को निराधार कहेंगे और पूछेंगे कि यदि लेखक में ऐसी ही धारणा थी तो उसने जान-बूझकर ऐसे छिछले विवेचन से पुस्तक के वांछित स्थापत्य को दुर्बल क्यों होने दिया? परंतु यह भी ध्यातव्य है कि पुस्तक का उद्भव विद्यार्थियों के लिए प्राध्यापक के "नोट्स" के रूप में हुआ था, शोध प्रबंध के रूप में परीक्षक के लिए नहीं। फिर भी पाद-टिप्पणियाँ जोड़ी जा सकती थीं अथवा विवेच्य संदर्भ में ही आवश्यक सूचनाएँ समाहित की जा सकती थीं। जब संपूर्ण पुस्तक का संशोधन-परिवर्धन हुआ, तब तो इस अभाव की सम्यक् पूर्ति हो ही सकती थी। दूसरी बात जो बार-बार खटकती है (परंतु जो अप्रासंगिक-सी लगती है) वह यह है कि 'साहित्यालोचन' में पुनरुक्तियों और साधारण-सस्ती पिष्टोक्तियों का बाहुल्य है।[1] एक ही बात

---

1 उदाहरणार्थ 'कला और प्रकृति' (पृ० ७) तथा 'कला और अभिव्यंजना' (पृ० ३) में इस बात को बार-बार दुहराया जाना देखिए कि बाह्य जगत की भिन्न भिन्न वस्तुओं का प्रभाव मनुष्य के मानस-मुकुर पर पड़ता है।

को बार-बार शुद्ध उल्लेख के साथ कहने की अनुरागपूर्ण प्रवृत्ति भी शुक्ल का उपयोगितावादी बातों के मोह का समर्थन करती है।

'काव्य और प्रकृति'[1] में बाबू साहब ने काव्य को रस से उद्भूत तथा प्रकृति में स्थित की एक ऐसी अभिव्यंजना माना है जो मानव हृदय को स्पर्शित करती है। रस की निष्पत्ति साहित्य में ही नहीं अन्य कलाओं में भी होती है। किसी प्राकृतिक दृश्य का साक्षात्कार कलाकार के हृदय में जो भावना जितनी तीव्रता अथवा व्यापकता के साथ उत्पन्न होती है उसी वास्तविकता (सच्चाई) के साथ उसे व्यक्त करने में समर्थ हो तो उस अभिव्यक्ति से समाज अथवा मानव समाज की भी उतनी ही तृप्ति हो सकती है। प्रस्तुत सन्दर्भ में हृदय-साम्य का यही रहस्य है कि कलाकार की आत्माभिव्यक्ति का सच्चा भाव उसकी कला-वस्तु में निहित होकर अधिकाधिक मानव-समाज को स्पर्शित करने में समर्थ होता है। परन्तु जब कभी कलाकार की भावना अथवा जगत-सम्बन्धी अनुभव सच्चा नहीं होता तब वह उसे उचित रीति से व्यक्त नहीं कर सकता। वह कृत्रिम रूप होता और मानव-समाज उसकी कृति से तृप्ति नहीं प्राप्त करता।' इन पंक्तियों में लेखक का उद्देश्य साधारणीकरण का विवेचन प्रस्तुत करना नहीं है पर वे हडसन की पंक्तियों का उल्लेख करके भारतीय रस-सिद्धान्त में रखने का प्रयत्न कर रहे हैं।[2] 'प्रयत्न' इसलिए कि यहाँ-वहाँ उनके विवेचन में अस्पष्टता एवं शिथिलता के दोष पाये जाते हैं। बाबू साहब ने कहा है कि 'प्रकृति की ओर मनुष्य निसर्गत आकृष्ट रहता है क्योंकि उससे उसकी वासनाओं की तृप्ति होती है।'[3] 'निसर्गत' का कारण वाक्य के इस क्रिया विशेषणात्मक वाक्यखण्ड में बतलाया गया है—'क्योंकि उससे वासनाओं की तृप्ति होती है।' किन वासनाओं की? उत्तर शुक्लजी की इन पंक्तियों में मिलता है 'सच्चे कवि का हृदय उसके (प्रकृति के) इन सब रूपों में लीन होता है क्योंकि उसके अनुराग का कारण अपना खास सुख भोग नहीं बल्कि चिर-साहचर्य द्वारा प्रतिष्ठित वासना है।'[4] बाबू साहब

---

१ उपरिवत, पृ० ७।

२ हडसन के अनुसार किसी कलाकृति के मूल्यांकन की सर्वोत्तम कसौटी 'वास्तविकता' ('सच्चाई—'सिंसेरिटी') ही है (दे० १९५८ वाले सस्करण मे पृष्ठ २७, ९०, १२३ इत्यादि) बाबू साहब की इन पक्तियो के भावार्थ हडसन की पुस्तक के प्रथम परिच्छेद में देखे जा सकते हैं।

३ साहित्यालोचन (सं० २००६), पृ० ७

४ चिन्तामणि (१९४०), भाग १, पृ० २०४, द्रष्टव्य 'शोभा और सौंदर्य

इस संबंध में मौन हैं। वे पुनः कहते हैं "इस नैसर्गिक आकर्षण का परिणाम यह होता है कि मनुष्य प्रकृति के उन चित्रों को अपने हृदय के रस से सिक्त कर अभिव्यंजित करता है और वे ही भिन्न भिन्न कलाओं के रूप में प्रकट हो मानव-हृदय को रसाप्लावित करते हैं।[1] एतदर्थ प्रकृति के चित्रों की अभिव्यंजना कला-सृष्टि है, प्रकृति के भिन्न भिन्न चित्र कला हैं और कला-सृष्टि का मूल कारण "नैसर्गिक आकर्षण" है। परन्तु पूर्व पृष्ठों में लेखक ने अभिव्यंजना की नैसर्गिक प्रवृत्ति को ही कलासृष्टि का मूल कारण कहा है। एक अन्य स्थल पर (पृष्ठ ३) उसने अभिव्यंजना की विभिन्न विधियों का कला की संज्ञा से अभिहित होने का उल्लेख किया है। 'अभिव्यंजना की शक्ति' के अन्त में "अभिव्यंजना' कोरी अभिव्यक्ति नहीं रह जाती, क्रोचे की "अभिव्यंजना" बन जाती है जो कला है जो सहजानुभूति है।

हडसन की पुस्तक में ही मानसिक क्रिया के निर्दिष्ट विभागों का उल्लेख और विशदीकरण मिलता है,[2] परन्तु बाबू साहब ने इस प्रसंग के संक्षेपण के अनन्तर इसे इस ढंग से प्रस्तुत किया है कि इसमें नवीनता आ गई है। किंतु "कविता और संगीत' कविता का "कला-पक्ष" जैसे अनेक प्रकरणों में, जो कितने ही पाश्चात्य उद्गम-स्थानों से निःसृत जान पड़ते हैं कई ऐसे कथन समाविष्ट हैं जिनसे साहित्यालोचक सहमत न होंगे। एक स्थल पर बाबू साहब ने कहा है कि "भावों की अभिव्यक्ति की शैली ही कविता और कलाओं का रूप धारण करती है।'[3] यहाँ "मोड" अथवा "स्टाइल आव एक्सप्रेशन्' को कविता कला की संज्ञा दी गई है। अभिव्यंजना की शैली में रीति में, काव्य निहित होता है। यह अभिजात दृष्टिकोण है बाबू साहब का मौलिक और बुनियादी दृष्टिकोण नहीं। इसी प्रकार यद्यपि यह सत्य है कि संगीत द्वारा हर्ष, करुणा आदि मनोभावों की अच्छी अभिव्यक्ति होती है, फिर भी यह कहना युक्तिसंगत नहीं जँचता कि बाह्य जगत के चित्रण में संगीत का कोई हाथ नहीं और कि संगीत-

---

की भावना के साथ जिनमें मनुष्य-जाति के उस समय के पुराने सहचरों की वंशपरंपरागत स्मृति वासना के रूप में बनी हुई है जब वह प्रकृति के खुले क्षेत्र में विचरती थी, वे ही पूरे सहृदय या भावुक कहे जा सकते हैं।" (पृ० २०५)

१ साहित्यालोचन, (सं० २००६), पृ० ७
२ ऐन इन्ट्रोडक्शन (१९५८), पृ० १४।
३ साहित्यालोचन (सं० २००६), पृ० ९३।

द्वारा इस किसी युग की कलाओं का पता नहीं चल सकता।[1] अन्यत्र इस ही धर्नातक ढंग से बाबू साहब ने कहा है कि भारतीय कला का जीवन से अत्यन्त घनिष्ठ संबंध रहा है। यह एक अतिव्याप्त सामान्योक्ति के रूप में ही स्वीकृत होगा। भारतीय कला का जीवन तथा आध्यात्मिक मूल्यों से भी अत्यन्त घनिष्ठ संबंध रहा है। इसके आध्यात्मिक धार्मिक पक्ष को विस्मृत करते हुए इसकी पार्थिवता पर बल देना उचित नहीं जान पड़ता। किन्तु इतना तो कम से कम यह बात अवश्य कही जा सकती है कि उसने 'जीवन' से भावनिरपेक्ष अर्थ का विनिर्देश नहीं किया—इस कारण है उसमें पारलौकिक जीवन की ओर इंगित उपलब्धि हो। कला प्रयोजन (काव्यादर्श) विषयक विवेचन में उसने प्लेटो और अरस्तू के विचारों के साथ ही "कला के लिए कला" वाले सिद्धान्त की ओर भी संकेत किया है। उनके विवेचन में न गंभीर तथ्यनिरूपण है न वस्तुनिष्ठ विश्लेषण। इस स्थल पर भी सहजप्राप्य पाश्चात्य मतों का समन्वित सार-संकलन नहीं मिलता। विवेचन का स्तर यहाँ भी निम्न है। संपादन एवं प्रकाशन की दृष्टि से "साहित्यालोचन" के प्रारम्भिक अपरिवर्तित संस्करण अपेक्षाकृत अधिक निर्दोष थे। संशोधित संस्करण में नवीन सामग्री का जोड़कर इसका विस्तार प्रसारण अवश्य हुआ है[2] परन्तु इससे कहीं कहीं पुनरुक्ति वचनविरोध विपर्यय आदि दोष आ गए हैं। उदाहरणार्थ बाबू साहब की निम्नलिखित उक्तियों में कितनी सार्थकता है यह नव वैज्ञानिक सिद्धान्तों के आलोक में छिपी नहीं है। उन्होंने कहा है

(१) "साहित्य का प्रभाव भी साधारण जीवन की घटनाओं की अपेक्षा अधिक तीव्र और गहरे रूप में पड़ता है। यह प्रभाव यह रस इसीलिए अलौकिक कहा गया है।"[3]

(२) "यूरोपियन कलाशास्त्री क्रोचे भी साहित्य की प्रक्रिया का

---

१ जान पड़ता है, 'संगीत' का प्रयोग इसके अत्यंत सीमित-संकुचित अर्थ में हुआ है। ग्रीनींग लेम्बन, हडसन प्रभृति तद्युगीन समीक्षकों के कला संगीत विषयक विवेचन पर बाबू साहब का यह प्रकरण आधारित जान पड़ता है।

२ संशोधित संस्करण में ३१७ पृष्ठ हैं जिनमें प्रत्येक पर सामान्यतः २८ पंक्तियाँ मिलेंगी, आरम्भिक संस्करणों में कुल ३३२ पृष्ठ हैं और प्रत्येक पर २४ पंक्तियाँ।

३ साहित्यालोचन (सं० २००६), पृ० ३५ ३६।

आध्यात्मिक कहता है। प्राय रस सम्प्रदायवालो का अलौकिक और क्रोचे का आध्यात्मिक एक ही है।"[1]

यदि प्रमाता की दवात किसी दुघटना के कारण चोट पहुँचे तो उससे जो व्यथा होगी, वह क्या प्रखरता म उससे कम होगी जो साहित्य मे वर्णित किसी घायल व्यक्ति की व्यथा को पढकर होती है ? इसके अतिरिक्त, जमा क्रोचे ने कहा है, कला अन्तर्वेगो की अनुभूति नही वरन् उनकी अभिव्यक्ति है— कला म अभिव्यंजित आवेग जीवन म अनुभूत उत्पीडन-उद्वेलन का यथावत अनुभव नही करते, जीवन म वे स्थूल भौतिक द्रव्य होते हैं, परन्तु कला म रूपाकार और स्फूर्ति, जीवन म वास्तविक और सच्चे आवेग होते हैं कला म सहजानुभूति तथा अभिव्यंजना। क्रोचे साहित्य की प्रक्रिया को आध्यात्मिक नही कहता। उसके अनुसार साहित्य की प्रक्रिया सहजानुभूति की प्रक्रिया है न तो यह प्रत्यक्ष ऐंद्रिय अनुभूति है और न आध्यात्मिक। क्रोचे न तो ऐडिसन स सहमत है, न तो उसके सिद्धात आई० ए० रिचर्ड्स के सिद्धान्तो से मिलते-जुलते हैं। उसके द्वारा प्रतिष्ठित सहजानुभूति की शक्ति को भी स्वतन्त्र शक्ति मान लेने के लिए मनोविज्ञान आज तैयार नही है। मनोवैज्ञानिक ने एक स्वर से कह दिया है कि इस विचित्र शक्ति के लिए मनोविज्ञान म कोई पृथक स्थान नही।'[2] बाबू साहब ने आचार्य शुक्ल की तरह अभिव्यंजनावाद को परोक्षत वक्रोक्तिवाद का विलायती सस्करण मान लिया है। चकि 'वक्रोक्ति चक्र म रस का स्थान भी कम महत्वपूर्ण नही है',[3] और कुन्तक काव्य का चरम लक्ष्य आनन्द मानते हैं,[4] बाबू साहब ने झटपट यह निष्कर्ष निकाल लिया कि रस-सम्प्रदायवालो का अलौकिक और क्रोचे का आध्यात्मिक एक ही है।

परन्तु अनुवादो म अभिव्यक्त मत-मतान्तरो का अनुवादक का अपना विचार मानकर उनकी आलोचना करना न्यायसगत प्रतीत नही होता। यदि इन पृष्ठो म ऐसा ही किया गया है तो इसका कारण है कि "साहित्यालोचन" के सशोधित सस्करण म पर्याप्त मौलिकता दर्शी गई है। यद्यपि अपने मूल सस्करण म भी

---

१ उपरिवत्, पृ० ३६।

२ डा० नगेन्द्र, रीति-काव्य की भूमिका (दिल्ली, १९६४), पृ० ६८।

३ डा० नगेन्द्र, भारतीय काव्य शास्त्र की भूमिका (दिल्ली, १९३३), पृ० २८९।

४ डा० शान्तिस्वरूप गुप्त, पाश्चात्य काव्य शास्त्र के सिद्धात (दिल्ली, १९६३), पृ० २०९।

लेखक ने अनूदित उद्धरणों को अपने ढंग से समन्वित किया है और स्थान-स्थान पर अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण से मूल्यांकन भी किया है फिर भी सामग्री के सम्बन्ध में, अन्यत्र संचित की गई सामग्री का उपयोग हुआ है। इसके अतिरिक्त इनके व्याख्यान का अनुकरण के लिए स्वीकृत होना और नवीन दिशा में उद्भावना न करना सुविधा के मूल भावों का कहीं नहीं विरोध करना अथवा अधिकार का प्रश्न... इस बात का प्रमाण है कि बाबू साहब के विचार सिद्धान्त आदि का सम्बन्ध पाश्चात्य विचारों और सिद्धान्तों से है। तुलना के लिए उपन्यास की कोई कथा के लिए बाबू साहब ने जो शैली अपनाई है, वो पाश्चात्य का उदाहरण टेनिसन प्रभृति पाश्चात्य कवियों और लेखकों के अनुवाद में मिलती है। टेनिसन का 'आर्थर की मृत्यु' (Morte d'Arthur) व गाथा वालों के रचनाओं पर और मैलरी की गद्य-कृति 'आर्थर की मृत्यु' (Morte Arthur) पर आधारित और कहीं-कहीं उसका अक्षरशः अनुवाद भी है। ... ... की कल्पना का ... ... विचार और ... कई घटनाओं का ... कर दिया है। बाबू साहब की मौलिकता भी इसी गुण में अन्तर्निहित है और चूँकि उन्होंने रैले से ग्रहीत मान्यता दी है इसलिए मैं उस गम्भीर कथन को यहीं उद्धृत करना अप्रासंगिक न होगा। रैले के अनुसार जिस प्रकार सच्चाई समस्त साहित्य का आधारभूत सिद्धान्त है उसी प्रकार वह सभी सच्ची शैली का भी आधारभूत सिद्धान्त है। जिस मनुष्य को वास्तव में कुछ अपनी व्यक्तिगत बात कहनी है वह अवश्य ही इस बात कहने का एक व्यक्तिगत ढंग भी खोज निकालेगा। जो विचार उसका अपना है, कभी दूसरों की अभिव्यक्ति-शैली में ढाला नहीं जा सकता। वह भले दूसरों का अनुकरण करे, परन्तु उसके निजी गुण—उसका अभिजात व्यक्तित्व—अन्त में प्रकट होकर ही रहेंगे।[1] यदि बाबू साहब की मौलिकता और

---

१ अनु० रा० प्र० । इसमें से उपयुक्त (मूल) पंक्तियाँ इस प्रकार हैं
'But as sincerity is the foundation principle of all true literature so is it the foundation principle of all true style A man who has something really personal to say will seldom *fail to find a really personal way in which to say it Thought* which is his own will hardly permit itself to be shaped in

अनुवाद-शली के जीवन्त गौरव-रूप को देखना हो तो संशोधित संस्करण के पृष्ठ ११४ को देखिए। इस पृष्ठ पर हडसन की पुस्तक के १९५८ वाले संस्करण के तीन पृष्ठों (९०, ९८, १०३) की विषय-वस्तु केवल एक पृष्ठ में समेकित है। गद्यकाव्य के विवेचन में भी पाश्चात्य ग्रन्थों का सम्यक् उपयोग हुआ है। दृश्यकाव्य के विवेचन में संकलनत्रय ("मानविकी पारिभाषिक कोश" के अनुसार "अन्विति-त्रय"), अनुकरण सिद्धान्त आदि का भी समीक्षण हुआ है। इसमें यूनानी तथा रोमीय नाटकों की उत्पत्ति और विकास का वह संक्षिप्त विवरण भी अनुस्यूत है, जो गिल्बर्ट मरे पर बहुत आधारित है। इस समीक्षा की परिणति शेक्सपियर, कार्नेल, रसीन, ह्यूगो, मॉलियर, गेटे, शिलर, रावटसन इब्सन आदि के विवेचन में होती है। इसके उपरान्त समालोचना नई भूमिकाओं की ओर चल पड़ती है और नाट्य साहित्य, नाट्य-तत्त्वों, नायिका भेदों पर परपरित किन्तु महत्त्वपूर्ण विशदीकरण होता है।

पुस्तक के सातवें अध्याय पर भी आलोचना के सिद्धान्तों और मानदण्डों के प्रभूत प्रभाव देखे जा सकते हैं। बाबू साहब ने जेफ्रे के उस मतवाद का खंडन किया है जिसके अनुसार 'काव्य का मुख्य उद्देश्य मन को आनंद देना है।' बाबू साहब सर्वप्रियता को ग्रन्थ की श्रेष्ठता का प्रमाण नहीं मानते। पश्चिम में इस विचार-धारा का अब अच्छा प्रचलन है (जो इसकी श्रेष्ठता का प्रमाण नहीं) और रिचर्ड्स, पाउंड, एलियट इसमें निरपेक्षपन सहमत होंगे। "साहित्यालोचन के सिद्धांत" (प्रिंसिपल्स ऑव लिटररी क्रिटिसिज्म) के उन्नीसवें अध्याय में आई० ए० रिचर्ड्स ने साधनता को उत्कृष्टता की कसौटी अस्वीकार घोषित किया है। अधुनातन पाश्चात्य समीक्षक लोकप्रियता और सनातनत्व को कलाकृति के परीक्षण में मापदंड नहीं बनाते। कभी-कभी विश्व की छिछली-सस्ती रचनाएँ भी लोकरुचि के अत्यधिक अनुकूल होने के कारण पाठकों में लोकरुद्ध-सम्मत एवं सर्वप्रिय हो जाती हैं और कभी-कभी उच्च कोटि की किन्तु जन-साधारण के लिए दुरूह, रचनाएँ भी अवमान-उपेक्षा पाती हैं। "साहित्यालोचन" में आधुनिक समालोचना का जो वर्गीकरण हुआ है वह भी पाश्चात्य ढंग पर ही हुआ है और विभिन्न समीक्षा प्रणालियों के नाम अँगरेजी समीक्षा प्रवृत्तियों के रूपान्तर

---

to the fashion of some one else's expression. Imitate as he may the native qualities of a man—his inherent strength and weakness—will ultimately show through.
(ऐन इन्ट्रोडक्शन, पृ० २७)।

हैं। लेखक ने इनके पारस्परिक पार्थक्य वपरीत्य का सम्यक स्पष्टीकरण नहीं किया—उदाहरण न देकर केवल इनके आधारभूत सिद्धान्तों का निरूपण मात्र किया है। बाबू साहब ने निर्णयात्मक समालोचना को भ्रमात्मक कहा है—अँगरेजी शब्दों का अनुकरण करते हुए इसको 'मूल्य का भ्रम' कहा है। उन पर पाश्चात्य आलोचना का कितना गंभीर प्रभाव है इसका अनुमान इस बात से किया जा सकता है कि उन्होंने निर्णयात्मक समीक्षा के दोषों के स्पष्टीकरण के लिए हिन्दी साहित्य से उदाहरण नहीं दिये। उन्होंने राइमर, एडिसन, जानसन का उल्लेख किया है और कहा है कि शेक्सपियर और मिल्टन पर फतवा देनेवाले इन आलोचकों के भिन्न भिन्न और कभी-कभी बिल्कुल विपरीत निर्णयों को देखकर इन निर्णायकों की विचार धारा का ही पता लगता है, शेक्सपियर और मिल्टन की कला का नहीं।[1] पुस्तकांत में लेखक पश्चिमी आलोचना का इतिहास प्रस्तुत करता है।

बाबू साहब की ऐतिहासिक एवं व्यावहारिक समीक्षा पर जो प्रभाव चिह्न दृष्टिगत होते हैं उनका परीक्षण अन्यत्र किया गया है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (क) अनुवाद

शुक्लजी के कतिपय अँगरेजी निबंधों तथा अँगरेजी पुस्तकों के सफल अनुवादों एवं पाश्चात्य मनोविज्ञान पर आधृत मान्यताओं से उनके अँगरेजी भाषा-साहित्य के ज्ञान का सम्यक् परिचय प्राप्त होता है। इस ज्ञान के मूल में अगाध रुचि और लगन रही होगी जिसके कारण शुक्लजी छात्रावस्था में ही स्थानीय मेयो मेमोरियल लाइब्रेरी से अँगरेजी की पुस्तकें लेकर एक एक बजे रात तक पढ़ा करते थे। इन दिनों सरकारी नौकरी के प्रति अपनी उग्र अरुचि दिखलाते हुए उन्होंने 'हिंदुस्तान रिव्यू' में एक ओजस्वी निबंध प्रकाशित करवाया जिसका शीर्षक था 'ह्वाट हैज इंडिया टु डू?' इसी प्रकार संवत १९८६ में हिन्दी लेखकों में प्रचलित अनगिनत कुप्रथाओं की तीव्र गर्हणा करते हुए उन्होंने प्रयाग के 'इंडियन पीपुल' नामक पत्र में एक लेख माला प्रकाशित करवायी जो अतिशय भावोत्तेजक प्रमाणित हुई। इतना ही नहीं उन्होंने एडिसन के सर्वाधिक उपयोगी निबंधों में 'एसे आन दि इमेजिनेशन' का चयन कर उसका एक सरस रोचक अनुवाद किया जो 'कल्पना का आनंद' नाम से अभिहित है।[2]

---

१ साहित्यालोचन (२००६), पृ० ३४७।

२ 'कल्पना का आनंद' वस्तुतः ऐडिसन के 'द प्लेजस आफ इमेजिनेशन', 'द

सिद्ध भाषान्तरकार मूल ग्रंथ की आत्मा को हमारे सामने यथातथ्य प्रकाशित कर देता है और अनूदित रचना से कहीं इस बात का आभास मिलने नहीं देता कि अन्यता के समक्ष मूल पाठ नहीं, वरन् कोई नीरस अथवा अभिलक्षित रचना है। विश्व के सिद्ध-सफल अनुवादक का गौरव-वैशिष्ट्य इस बात में निहित रहता है कि वह बहुभाषाविज्ञ होता है कम से कम वह उन भाषाओं पर अपूर्व अधिकार रखता है, जिनमे उसका मूल पाठ है और जिनमें उसे अनुवाद करना है। जिस ग्रन्थ का अनुवाद अभीष्ट होता है, उसके अन्तस् में पहुँचकर ही वह उसके मर्म तथा वशिष्ट्य से अभिज्ञ होता है और उनसे साक्षात्कार करता हुआ उन्हें अभिनव अभिव्यक्ति देता है।[1] शुक्लजी ऐसे ही सिद्ध एवं मर्मी अनुवादक थे।

प्लेजस आफ साइट', 'द ब्यूटी आव द नेचुरल वर्ल्ड', 'नेचर ऐण्ड आर्ट' जैसे ग्यारह निबंधों का अनुवाद है जो दिसम्बर सन १९०४ ई० की 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' में प्रकाशित हुआ। शुक्लजी के सभी अनुवादों में इसका एक विशिष्ट स्थान है।

१ हिंदी के समीक्षकों और अनुवादकों के सामने मातृभाषा में समीक्षा भाण्डार की संपूर्ति एवं संवृद्धि का प्रश्न था। कभी-कभी वे स्वतः प्रेरणा से नहीं, अपितु पुस्तकों के अभाव के कारण अनुवाद करने को बाध्य होते थे। श्याम-सुन्दरदास का 'साहित्यालोचन' इसका एक ज्वलन्त प्रमाण है। इसी स्वतः प्रेरणा के अभाव के कारण और परिस्थितियों से विवश तथा अभिबाध्य होने पर कभी-कभी हिंदी की आद्य अनुवाद-पुस्तकें नितान्त नीरस शब्दानुवाद-सा प्रतीत होती हैं। मूलस्रोत की ओर जाने के बजाय इनके लेखक कभी कभी अनुवाद के अनुवाद से, उच्छिष्ट के उच्छिष्ट से संतुष्ट हुए जान पड़ते हैं। (इस संबंध में डा० प्रभाकर माचवे का 'सर्जनात्मक प्रतिभा और अनुवाद' शीर्षक निबंध द्रष्टव्य है। दे० आनन्दप्रकाश खेमाणी तथा वेदप्रकाश, अनुवाद कला कुछ विचार, नई दिल्ली, १९६४, पृ० १ ११) सफल अनुवाद में मूल कृति के साथ अभिन्नता देखी जाती है, सफल अनुवादक अनुवादकार्य को "प्रीति का काम" समझता है, निरे परिश्रम का नहीं। मौलिक लेखन में दूसरे प्रीति से भी (काम) चल सकता है। अनुवाद में स्व रति से तो चल ही नहीं सकता। बल्कि स्व से शून्य होने की प्रक्रिया उसके लिए आवश्यक होगी।" (जनेन्द्र कुमार, 'अनुवाद एक विचार'। दे० अनुवाद कला कुछ विचार, पृ० १३ १४)

शुक्लजी ने सामयिक लेखकों और पाठकों के सामने अनुवाद का एक

एडिसन के कल्पनावाले निबंध के अनुवाद के अतिरिक्त शुक्लजी ने टी० माधवराव के "माइनर हिण्ट्स" का भी अनुवाद किया। "विश्व प्रपच',[1]

मध्यतर आदर्श उपस्थित किया जिसके फलस्वरूप इन लोगों ने शुक्लजी के अनुवाद की भाषा को 'अपनी विचार पद्धति के प्राय अनुरूप' पाया। 'विश्व प्रपच' के वक्तव्य मे अनुवादक ने कहा था "पुस्तक के भीतर भी स्थान-स्थान पर टिप्पणियाँ लगा दी गई हैं। भाषा के सबध मे इतना कह देना अनुचित न होगा कि उसे केवल हिन्दी या सस्कृत जाननेवाले भी अपनी विचार-पद्धति के प्राय अनुरूप पाएँगे। कौन-सा वाक्य किस अँगरेजी वाक्य का अक्षरश अनुवाद है, इसका पता लगाने की जरूरत किसी को न होगी।" (मनोरजन पुस्तकमाला ३३। विश्वप्रपच, १९००, वक्तव्य) यह कोई निराधार और अहम्मन्यतामूलक आत्मश्लाघा-मात्र नहीं है। पुस्तक की पाद टिप्पणियाँ पाश्चात्य चिंतन एव भारतीय दर्शन मे सामजस्य की प्रतिष्ठा करती हैं अथवा आवश्यकतानुसार दोनो चिंतन प्रणालियो के अतर पर प्रकाश डालती हैं।

१ 'विश्वप्रपच' और हेकल की 'द रिडल आव द यूनिवर्स' की कुछ महत्त्वपूर्ण पक्तियों को यदि हम समानान्तर रखकर उनका योगपदिक विश्लेषण करें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि शुक्लजी ने अपनी पुस्तक मे जर्मन प्राणितत्त्व वेत्ता के भावो का शत प्रतिशत रूपातरण नहीं किया है। अनुवाद प्रक्रिया मे

(क) हिन्दी या सस्कृत जाननेवालों की विचार-पद्धति का खयाल रखा गया है। इस कारण भाषा-शैली पर अधिक बल दिया गया है और मूल पाठ के प्रति कहीं-कहीं अत्यधिक स्वेच्छापूर्ण दृष्टि अपनायी गई है। महत्त्वपूर्ण तथ्य, भाव, वाक्यादि अछूते रह गए हैं।

(ख) लेखक का उद्देश्य सरल-सुलभ तकनीकी पदावली का निर्माण भी रहा है जिसके फलस्वरूप एक ओर तो बड़े ही सच्चे श्रमसाध्य प्रयास के चिह्न वर्तमान मिलते हैं, वहीं दूसरी ओर अत्यधिक सक्षेपण के कारण उन सभी तकनीकी शब्दों के हिन्दी पर्याय रखे नहीं गये जिनका प्रयोग हेकल की पुस्तक मे हुआ है।

निस्सदेह हिन्दी मे ऐसी विज्ञान-सबधी पुस्तक के प्रणयन का यह प्रयास स्तुत्य है। इसमे सहज दृष्टिगत अनेकानेक दोषावगुण इसकी परम उपादेयता के समक्ष नगण्य-से लगते हैं। परन्तु सर्वत्र ऐसा जान पडता [illegible] कि "विश्वप्रपच" हेकल की ख्यात पुस्तक पर आश्रित एक ऐसी रचना है, जिसे

"अखडत्व" तथा आदश जीवन" भी क्रमश "द रिड्ल ऑव द यूनिवर्स', "कण्टिन्युइटी" और "प्लेन लिविंग एण्ड हाई थिंकिंग" के अनुवाद हैं। हिन्दी भाषा-साहित्य की श्री-वृद्धि के लिए यह अत्यावश्यक था कि इसमें अँगरेजी पुस्तकों के अनुवाद हो जिनसे पाश्चात्य साहित्य की अमूल्य निधियों से हिन्दी-पाठकों का परिचय तो हो ही, साथ ही भाषा में नये-नये भावों के अनुरूप नये-नये शब्द भी निर्मित हों। आधुनिक भौतिकवादी सभ्यताओं की दौड़ में सर्वाधिक सफल अँगरेजी सभ्यता-संस्कृति ने नयी-नयी चिन्तन-सरणियों एवं साहित्यिक वादों को जन्म दिया था और सद्यःकृत वैज्ञानिक आविष्कारों ने विचारों के व्यापक सूक्ष्म जगत् में नये मतवाद प्रवर्तित किये थे। सत्रहवीं शती में बेकन से ही इंगलैंड में बौद्धिक-वैज्ञानिक युग का प्रारम्भ हुआ था जो विकास की अनेकानेक अवस्थाओं से होता हुआ आद्यावधि चलता आ रहा है। वैज्ञानिक एवं औद्योगिक उन्नति ने साहित्य को भी विविध प्रकार से प्रेरित तथा प्रभावित किया था और उसमें अधिकाधिक बौद्धिक, वैज्ञानिक तत्त्वों की प्रतिष्ठा की थी। सत्रहवीं शती के गद्य को रॉयल सोसायटी के सदस्यों और समर्थकों ने सर्वाधिक प्रांजल बनाया था, स्प्रेट ने सिसरोनियन' गद्य शैली की तीव्र आलोचना की थी और ड्रायडन, ऐडिसन स्विफ्ट के अभिसरल एवं परिमार्जित गद्य शैली के लिए मार्ग प्रशस्त किया था। उन्नीसवीं शती की औद्योगिक क्रांति ने अनेक लेखकों और कवियों के आदर्शवाद पर ऐसा सशक्त प्रहार किया था कि उनकी आस्था डगमगा उठी। बाह्य जगत् की ऐसी भीषण-व्यापक क्रांति ने साहित्य-स्रष्टा के अन्तस् को अनिश्चितता और सन्देह के कुहासे से आच्छन्न कर दिया।[1] अभिनव भावानुकूल शब्द और शैलियाँ

हम अनुवाद नहीं कह सकते। हम चॉसर की 'ट्रायलस' नामक कविता को जो बुकेंचियो की 'इल फिलोस्ट्राटो' पर आश्रित है अथवा 'द नाइटस टेल' को जो बुकेंचियो की 'तेसेद' पर आश्रित है, अनुवाद-मात्र नहीं मानते। वस्तुतः हम जिन प्रतिमानों से शेक्सपियर के ऐतिहासिक नाटकों को और सोलहवीं सत्रहवीं शती की अँगरेजी समीक्षा को (जो यूनानी, इतालवी तथा हालैंड की समीक्षा-परंपरा से प्रभावित है) मूल्यांकित करते हैं, उन्हीं प्रतिमानों के आधार पर यह निस्संकोच कह सकते हैं कि 'विश्वप्रपंच' में प्रभूत मौलिकता है और यह हेक्ल की पुस्तक की अनुकृति मात्र नहीं है। यही बात "अखडत्व" के संबंध में भी कही जा सकती है।

१ "इसी तरह भौतिक विज्ञानों के क्षेत्र में भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए पदार्थ की प्रकृति के नियम, कार्य-कारण-पद्धति आदि के संबंध में पूर्वाग्रहों को

यहाँ—अँगरेजी साहित्य उत्तरोत्तर समृद्ध होता गया। और हिन्दी के नव साहित्य का स्वरूप नहीं पूर्ण रूप से विकसित था। हिन्दी के पुनरुत्थान-कर्त्ताओं ने अपने साहित्य के संवर्द्धन और विकास के लिए अँगरेजी का साहित्यिक उदाहरण एवं नैतिक कविता के अनुरूप हिन्दी-अनुवाद और अन्य ग्रन्थ द्वारा साहित्य-रचना के निर्माण के लिए पूर्ण भूमिका बनायी। अँगरेजी भाषा-साहित्य के विकास के अनुरूप ही उस [illegible] हिन्दी का युग का उदाहरण विद्यमान था। पुनर्जागरण-युग में [illegible] में यह भावना का उदय हुआ कि अँगरेजी भाषा-साहित्य का सर्वांग एवं सर्वाधिक विकास होना चाहिए, तब वहाँ तत्कालीन के अनुरूप हुए और उनके साथ, ड्राइडन आदि के साहित्य पर आधुनिक रचनाओं के प्रभाव का ऐसा स्वरूप का सूत्रपात हुआ जो सर्वत्र अँगरेजी के समृद्ध अनुवाद-काल में परिलक्षित हो रहा है। अँगरेज कविता में महाकाव्य इत्यादि काव्य के अनुशीलन में प्रतिस्पर्द्धा की भावना का उदय हुआ और स्पेन्सर, टासो, एरियोस्टो, बोइआर्डो के महाकाव्य उनके आदर्श बने। स्पेन्सर ने 'फेयरी क्वीन' की रचना की जो गाथिक रोमांटिक महाकाव्य के अनुरूप है। मिल्टन, काउले, डवनांट आदि ने भी महाकाव्य को ही [illegible] काव्यविधा मानकर काव्यसृष्टि की। समृद्ध मानववाद तथा पुनर्जागरण काल में इस छोटे-मोटे लघुकाव्यों एवं महाकाव्यों (epyllia and epics) की बाढ़-सी आयी, जिन पर ओविड-वर्जिल कविता का गहरा प्रभाव है। मार्लो विरचित 'हीरो एण्ड लिएण्डर' की, माइकल ड्रेटन विरचित 'एण्डिमियन एण्ड फीबी आइडियाज मिरर' की, जॉन मार्स्टन रचित 'द मेटामॉरफोसिस ऑफ पिग्मेलियन्स इमेज' की तथा जॉन कीट्स रचित 'नार्सिसस' [illegible] की रचनाएँ ओविड की 'मेटामॉरफोसिस' से उद्धृत हैं। सोलहवीं शती में इस ग्रंथ के कितने ही अनुवाद प्रकाशित हुए थे जिनमें आर्थर गोल्डिंग का अनुवाद (१५६५–६७) बड़ा ही प्रभावशाली सिद्ध हुआ। इसी प्रकार हिन्दी के संवर्द्धन के लिए कुछ ऐसा ही प्रयास हुआ। यथा मनोरंजन पुस्तकमाला में निम्नलिखित अनुवाद या किसी पुस्तक पर आधृत ग्रंथ प्रकाशित हुए

क आदर्श जीवन—बालकों और युवकों को नीति तथा सदाचार की शिक्षा

पुरानी निश्चयात्मकता नष्ट हो चली। ललित कलाओं और साहित्य की कला में भी, वस्तुवाद और प्रकृतवाद के विरुद्ध, तथा प्रतीकवाद और अन्य आधुनिक वादों की दिशा में, प्रतिक्रिया हुई।" डे० नलिनविलोचन शर्मा, साहित्य का इतिहास-दर्शन (पटना, १९६०), पृ० ५३।

देने तथा उनके चित्त में उत्तम संस्कार उत्पन्न करने के लिए रामचन्द्र शुक्ल द्वारा प्रणीत। इसका आधार "प्लेन लिविंग ऐण्ड हाई थिंकिंग" है।

ख आत्मोद्धार—अमरिका के सुप्रसिद्ध हब्शी विद्वान बुकर टी० वाशिंगटन लिखित "अप फ्रॉम स्लेवरी" के आधार पर रामचन्द्र वर्मा द्वारा प्रणीत।

ग जीवन के आनन्द—पंडित गणपत जानकीराम दुबे, बी० ए०, की यह पुस्तक सर जान लब्बक की 'प्लेजर्स ऑव लाइफ' नामक पुस्तक पर आधृत है।

घ मितव्यय—स्माइल्स की "थ्रिफ्ट" के आधार पर रामचन्द्र वर्मा द्वारा प्रणीत।

ङ आत्मशिक्षण—ब्लैकी की रचना "सेल्फ-कल्चर" के ढंग पर पंडित श्यामबिहारी मिश्र तथा पंडित शुकदेवबिहारी मिश्र द्वारा लिखित।

च जर्मनी का विकास (दो भाग)—डब्ल्यू० हरबर्ट डॉसन कृत प्रसिद्ध अँगरेजी पुस्तक 'दि इवाल्यूशन आफ माडर्न जर्मनी' की सहायता से रची गई इस पुस्तक के लेखक हैं ठाकुर सूर्यकुमार वर्मा।

छ विश्वप्रपंच—(इसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है।) ले० रामचन्द्र शुक्ल।

(ख) काव्य सिद्धांत

चूँकि शुक्लजी की समीक्षा पाश्चात्य एवं पौरस्त्य समीक्षा सिद्धान्तों और प्रतिमानों का एक समन्वित तथा प्राणवन्त प्रस्तुतीकरण है इस कारण कहीं-कहीं स्रोत-खनन में लीन समीक्षक कतिपय मूल सिद्धान्तों को विस्मृत कर लेने के कारण शुक्लजी के कर्तृत्व का ठीक-ठीक मूल्यांकित नहीं कर पाते। "शुक्लजी उन उच्च कोटि के समीक्षकों में अग्रणी हैं, जिनमें गुण-दोष के संग्रह-त्याग की नीर-क्षीर विवेकिनी शक्ति कूट-कूट कर भरी रहती है। उनमें किसी वस्तु के गुण-दोष की परख की बड़ी ही तीव्र क्षमता थी, और इसी शक्ति के कारण वे आलोचना के क्षेत्र में इतने सफल हुए।"[1] निस्संदेह उनके ऊपर पश्चिम का प्रभूत ऋण है "किन्तु साहित्य-शास्त्र के मूल प्रश्नों पर विचार करते समय वे शायद ही किसी पाश्चात्य समीक्षक से आतंकित हुए हों। रिचर्ड्स, क्रोचे अथवा अन्य किसी पाश्चात्य आलोचक का जब कभी भी वे प्रशंसापूर्वक नाम लेते हैं, तब उनका उद्देश्य केवल इतना ही होता है कि अपने पक्ष का समर्थन उन विद्वानों के वाक्यों

१ शिवनाथ, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (बनारस, २००० वि०), पृ० ८।

से पर सकें। ऐसे आलोचकों के विचारों की उद्धरणी अथवा उनके आलोचनात्मक *सिद्धांतों का भारतीय साहित्य के ऊपर अयायुध प्रयोग उन्होंने कभी नहीं किया।*"[1] "गुण-दोष की परख" की इसी "तात्त्विक प्रणाली" के कारण वे ध्वंस और अतिवाद से बचकर मध्यम मार्ग का अनुसरण करते रहे। आवश्यकता से अधिक न पारम्परीण सिद्धांतों को प्रश्रय दिया, न पाश्चात्य प्रतिमानों को। दोनों का सामंजस्य निश्चय बनाया। उनका व्यक्तित्व भी समन्वय का ही अद्भुत अपूर्व आदर्श था, जिसमें बुद्धि-पक्ष और हृदय-पक्ष का गांभीर्य और हास्य-व्यंग्य की *प्रवृत्ति का स्पृहणीय संयोग दीख पड़ता है।* इसी प्रकार उनका हिन्दी भाषा साहित्य प्रेम अँगरेजी पुस्तकों के अनुशीलन-मापालन से अनुस्यूत है। बुद्धि की तुला पर प्रत्येक सिद्धान्त अथवा मतवाद को तौलकर ही शुक्लजी उस पर पाँव रखते हैं। इसी कारण शुक्लजी की समीक्षा पूर्व-पश्चिम की समीक्षा के मान-मूल्यों का एकीकरण है किसी का अंधाधुंध आश्रयण नहीं। एक ओर तो वे उस "मर्यादावाद" का समर्थन करते हैं जिसे तीन सौ वर्ष पूर्व *स्वयं गोस्वामी तुलसीदास ने ग्रहण किया था, वहीं दूसरी ओर वे पश्चिम में* आविर्भूत 'विकासवाद' के सिद्धांत एवं मनोविज्ञान-समर्थित नीतिवादिता का आश्रय लेते हैं और रूढ़ भारतीय तर्कों का निरसन करते हुए इस बात की घोषणा करते हैं कि आरम्भ में ही ईश्वर ने सर्वरूपेण पूर्ण तथा प्रौढ़ सृष्टि का निर्माण नहीं किया था।

शुक्लजी की समीक्षा पर पाश्चात्य मनोविज्ञान एवं विकासवाद के जो प्रभाव दृष्टिगत होते हैं उनका विवेचन डा० जयचन्द्र राय, डा० गुलाबराय डा० रामविलास शर्मा प्रभृति समीक्षकों की रचनाओं में हो चुका है।[2] डा० जयचन्द्र राय ने शुक्लजी के मनोवैज्ञानिक निबंधों तथा उनके काव्यगत सिद्धांतों का सूक्ष्म एवं संश्लिष्ट विवेचन किया है और बताया है कि शुक्लजी के काव्य सिद्धान्तों के मूल में भी मनोविज्ञान का ही सशक्त प्रभाव था। डा० गुलाबराय के अनुसार

---

१ डा० जयचन्द्र राय, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल सिद्धांत और साहित्य (दिल्ली, १९६३), पृ० ३० ३१। 'रस मीमांसा' की भूमिका में विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने कहा है कि शुक्लजी ने 'भारतीय परंपरा को मानते हुए भी अंधानुसरण कहीं नहीं किया है।"

२ डा० जयचन्द्र राय, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (१९६३), पृ० २७ १३७, गुलाबराय और विजयेन्द्र स्नातक, आलोचक रामचन्द्र शुक्ल (दिल्ली, १९६२), पृ० १६१ १७०।

"शुक्लजी के मनोवैज्ञानिक निबंधों में उनके जीवन सिद्धांत निहित हैं तथा उनकी व्यावहारिक आलोचनाओं के विचारात्मक अंश के बीज भी इन्हीं में मिलते हैं। इस प्रकार इन निबंधों में वे सम्बन्ध-तन्तु मिलते हैं, जो उनकी सारी कृतियों को संगठित और समन्वित किए हुए हैं।"[1] जहां तक शुक्लजी की साहित्यिक मान्यताओं पर साहित्यशास्त्र और समीक्षा के प्रभाव का प्रश्न है, यह मानना पड़ता है कि उनकी समीक्षाओं पर ऐसे प्रभाव के चिन्ह बहुत नहीं मिलते, परन्तु उनकी सभी मान्यताओं के मूल में पाश्चात्य मनोविज्ञान के गहन अध्ययन और प्रकांड वैदुष्य का स्वरूप अवश्य दृष्टिगत होता है। जहां डा० जयचन्द्र राय की उपपत्तियों में पर्याप्त सच्चाई है वहीं इनसे लेखक के किंचित् दुराग्रह और एकांगिकता का भी बोध होता है। उसने कहा है कि "आचार्य शुक्ल के मुख्य आलोचनात्मक सिद्धान्त (भाव-योग) के धुर मूल में ही पाश्चात्य मनोविज्ञान का बड़ा गहरा प्रभाव है। जो आलोचक किसी पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र का प्रभाव उनकी मान्यताओं में ढूंढने जायेंगे उन्हें अधिकांश निराश ही होना पड़ेगा। आचार्य शुक्ल ने किसी आलोचक से ऋण न लेकर पश्चिम से मनोविज्ञान के नूतन सिद्धांतों का ऋण लिया और अपने मौलिक साहित्यशास्त्र की प्रतिष्ठा की।"[2] यह सत्य है कि शुक्लजी ने मनोविज्ञान की पुस्तकों का श्रमसाध्य एवं बहुमुखी अध्ययन किया था, जिसके फलस्वरूप उनके काव्य सिद्धांतों पर मनोविज्ञान का प्रभूत प्रभाव दीख पड़ता है और उन्होंने काव्य-सृष्टि एवं काव्यानुशीलन के क्षेत्र में भावों और भावात्मक हृदयों का जो सशक्त समर्थन किया है उसका भी कारण उनका मनोविज्ञान के प्रति अगाध प्रेम ही था, परन्तु शुक्लजी की समस्त साहित्यिक मान्यताओं का शैण्ड, स्पैंसर बेन, मेगडूगल आदि की रचनाओं से हर घड़ी बलात् अनुस्यूत करना और 'चिंतामणि' के मनोभाव-संबंधी निबंधों पर आवश्यकता से अधिक बल देना असमीचीन जान पड़ता है। वस्तुतः शुक्लजी ने भारतीय एवं पाश्चात्य समीक्षा-पद्धतियों का 'समन्वय करके हिन्दी में आलोचना का नवीन मार्ग निकाला है,"[3] पाश्चात्य समीक्षा-परम्परा की उपेक्षा नहीं की है और न वे उसके प्रभाव से अछूते ही रहे हैं। डा० जयचन्द्र राय ने जिस ऋण की बात कही है साहित्य-क्षेत्र में उसका अर्थ कुछ और ही होना चाहिए। हम ऋणी उन लोगों के भी होते हैं जिनकी भाषा-शैली चिंतन प्रणाली हमारी भाषा-

---

१ गुलाबराय और विजयेन्द्र स्नातक, उल्ल० ग्र०, पृ० १६७।
२ डा० जयचन्द्र राय, उल्ल० ग्र०, पृ० ३१।
३ शचीरानी गुर्टू (सम्पा०), हिन्दी के आलोचक (दिल्ली, १९५५), पृ० ४७।

शैली एवं भाव धारा को प्रभावित करती है तथा जिनकी साहित्यिक कृतियों के अध्ययन से हमारे जीवन-बोध और सारी की सारी मनोवृत्तियों का संस्करण होता है। कभी-कभी प्रभाव डालनेवाली शक्तियाँ एक साथ ही समन्वित रूप में हमारे व्यक्तित्व को विशिष्ट रूपाकृति प्रदान करती हुईं संस्कारण करती हैं। ऐसी अवस्था में यह कहना कठिन हो जाता है कि किस शक्ति का योगदान कितना है, परन्तु यह नहीं कि लेखक किसी एक से ही प्रभावित हुआ है।

शुक्लजी की रसवादी मान्यताओं के मूल में वस्तुतः भारतीय चिंतन-दर्शन और काव्यशास्त्रीय अध्ययन रही है। उनकी अभिरुचि के निर्माण में पाश्चात्य स्वच्छंदतावाद का भी अवदान स्मर्तव्य है। अपनी अटूट-अगाध भाषानिष्ठा के कारण ही वे उस अतिवादिता के शिकार न हुए जिसकी गर्हणा उन्होंने इस प्रकार की है

> ठीक-ठिकाने से चलनेवाली समीक्षाओं को देख जितना संतोष होता है किसी कवि की समीक्षा के नाम पर उसकी रचना से सर्वथा असंबद्ध चित्रमयी कल्पना और भावुकता की सजावट देख उतनी ही ग्लानि होती है। यह सजावट अँगरेजी के अथवा बंगला के समीक्षा-पत्र से कुछ विचित्र कुछ चित्रमय, कुछ अतिरंजित चलते शब्द और वाक्य उठा-उठाकर खड़ी की जाती है। कहीं-कहीं तो किसी अँगरेजी कवि के संबंध में की हुई समीक्षा का कोई खंड ज्यों का त्यों उठाकर किसी हिन्दी-कवि पर भिड़ा दिया जाता है। ऊपरी रंग-ढंग से तो ऐसा जान पड़ेगा कि कवि के हृदय के भीतर सेंध लगाकर घुसे हैं और बड़े-बड़े गूढ़ कोने झाँक रहे हैं पर कवि के उद्धृत पद्यों से मिलान कीजिए तो पता चलेगा कि कवि के विवक्षित भावों से उनके वाग्विलास का कोई लगाव नहीं। पद्य का आशय या भाव कुछ और है आलोचकजी उसे उद्धृत करके कुछ और ही राग अलाप रहे हैं।[1]

शुक्लजी में प्रभावों को पचाने और पूर्णतः आत्मसात करने की अनोखी प्रतिभा थी। इस कारण पाश्चात्य प्रभाव उनकी चेतना में इस प्रकार घुलमिल गए हैं कि उनकी स्वतंत्र सत्ता विलुप्त सी हो गई है। शुक्लजी की समीक्षा-कृतियों में अनेक पाश्चात्य कवियों और समीक्षकों के नाम इतस्ततः बिखरे मिलते हैं। कभी प्रस्तुत रूप विधान चर्चा में थियोडोर वाट्स डंटन का नाम आता है, कभी प्रत्यक्ष रूप विधान की चर्चा में आई० ए० रिचर्ड्स का नाम, कभी शेक्सपीयर

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास (सं० १९९९), पृ० ६२५।

आता है कभी वड्स्वथ और शेली । परन्तु इनकी ओर जो संकेत किए जाते हैं उनसे लेखक के प्रभावित होने का बोध नही होता—वरन इस बात का द्योतन होता है कि उसने पाश्चात्य साहित्य का गम्भीर तथा व्यापक अध्ययन किया था। वस्तुत भारतीय एव पाश्चात्य समीक्षा-परम्पराओ को आत्मसात् कर अपनी चेतना म प्रविलीन कर ही हिन्दी के स्वतंत्र काव्यशास्त्र का निर्माण हो सकता था। शुक्लजी की समीक्षा इसी दिशा मे एक उत्कृष्ट प्रयास है। यह न क्रमागत एव परम्परानिष्ठ काव्यशास्त्र का पुनरुत्थान है, न पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धांतो का एकांगी समर्थन। दोनो प्रभावो के संतुलित विलयन पर आधृत स्वतन्त्र समीक्षा सर्वप्रथम शुक्लजी की कृतियो म ही देखी जाती है।

अपने स्वतन्त्र, वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण के कारण ही वे अपनी समीक्षा मे किसी एक ही पद्धति का स्तवन नही करते । आवश्यकतानुसार वे भारतीय प्रतिमानो का उसी प्रकार खडन या समर्थन करते है जिस प्रकार पाश्चात्य काव्य मूल्यो का। उदाहरणार्थ उन्होंने कुन्तक की वक्रोक्ति ("वक्रोक्ति काव्य जीवितम") पर वसा ही 'प्रबल प्रहार' किया है, जसा क्रोचे के अभिव्यंजनावाद पर। उन्होने सत्काव्य म वक्रता के स्वतंत्र महत्त्व को नही माना और न यही स्वीकार किया कि अलकार-अलकार्य म भेद नही है। जहा क्रोचे के अनुसार वस्तु भाव और अलकार की पृथक खड-कल्पना असगत है, वही शुक्लजी के अनुसार अलकार्य और अलकार म अनिवार्य भेद है । क्रोचे प्रस्तुत—अप्रस्तुत के भेद को नहीं मानता शुक्लजी इस भेद को स्वीकार करते हैं । शुक्लजी स्वभावोक्ति की अलकारता में विश्वास नही करते, कुन्तक ने भी स्वभावोक्ति के विरुद्ध कई तर्क दिये है। फिर भी जहां तक अभिव्यंजनावाद (क्रोचे) और वक्रोक्तिवाद (कुन्तक) का सबध है शुक्लजी ने दोनो आचार्यों के साथ अन्याय किया है।[1]

कहा जा चुका है कि शुक्लजी की अभिरुचि के निर्माण म स्वच्छदतावाद का योगदान अवश्य देखा जा सकता है। उन्होने स्वच्छदतावादी कवियो और आलोचको की तरह रूढ रीतिवादिता का खडन किया है और जिस प्रकार रोमांटिक कवियो ने अठारहवी शती के नव्यशास्त्रवादी अँगरेज कवियो की आलोचना की है उसी प्रकार शुक्लजी ने भी रीतिकालीन कवियो के प्रति पूर्ण न्याय नही किया है। रीति-ग्रन्थो की परम्परा के दोषो का उदघाटन करते हुए उन्होने स्पष्ट शब्दो म कहा है कि प्रकृति की अनेकरूपता, जीवन की भिन्न भिन्न चिंत्य बातो तथा

1 डा० नगेन्द्र, भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका (दिल्ली, १९६३), पृ० ३१७। क्रोचे और कुतक के सबध मे शुक्लजी के विचारो के लिए दे० रस मीमासा, पृ० ३३।

जगत् के नाना रहस्यों की ओर (रीतिकालीन) कवियों की दृष्टि नहीं जाने पाई। वह एक प्रकार से बद्ध और परिमित-सी हो गई। उसका क्षेत्र संकुचित हो गया। वाग्धारा बँधी हुई नालियों में ही प्रवाहित होने लगी जिससे अनुभव के बहुत से गोचर और अगोचर विषय रससिक्त होकर सामने आने से रह गए।"[1] रीतिकालीन कवियों की तरह नव्यशास्त्रवादी भी पुरातन मान्यताओं का समर्थन करते थे और जन-जीवन से प्रेरणा न लेकर अपनी काव्यसामग्री प्रायः राजदरबारों और देश की राजनीतिक क्रियाशीलता से लेते थे। वर्ड्सवर्थ ने ऐसे मिल्टनाचित उदात्त काव्य और इसकी आधारभूत मान्यताओं का तिरस्कार किया और जनजीवन से प्रेरणा लेने तथा उसकी स्वाभाविक भाषा में कविता रचने की ऐतिहासिक घोषणा की। स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा राजदरबार में न निकलकर प्रकृति की सरस गोद से फूटी है और पुरातन रूढ़ बंधनों से 'कप्लेट' के संकुचित क्षेत्र से, सर्वथा उन्मुक्त है। यहीं एक और दृष्टि से शुक्लजी तथा स्वच्छंदतावादी कवियों एवं आलोचकों में साम्य दीखता है। यद्यपि इन्होंने रीति-परम्परा पर सशक्त प्रहार किए और वर्षों अपने पूर्ववर्ती लेखकों की गौरव-गरिमा को अपनी आलोचनाओं से आच्छन्न रखा, फिर भी अब पौरस्त्य रीति के प्रति वैसी ही सहानुभूति का उन्मेष हो चला है, जैसी पश्चिम में शास्त्रवाद के प्रति। पश्चिम में रीति की प्रतिष्ठा के लिए जो आंदोलन हुआ है उसका नेतृत्व टी० ई० ह्यूम, एजरा पाउंड, टी० एस० एलियट प्रभृति लेखकों ने किया और यहाँ—अपने देश में—पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० नगेन्द्र आदि ने।

इंगलैंड के ब्लेक, बर्न्स, शैली आदि कवियों ने और जर्मनी के लेसिंग, शिलर, गेटे आदि ने कवि प्रतिभा एवं भावोत्प्रेरक काव्य का प्रबल समर्थन एवं पोषण किया था। इन स्वच्छंदतावादी कवियों और लेखकों की तरह शुक्लजी भी उसी काव्य का समर्थन करते हैं जिसमें भावोद्बोधन की क्षमता हो। इंगलैंड में वर्ड्सवर्थ ने वक्रता-वैचित्र्य पर उसी प्रकार प्रहार किया जिस प्रकार भारतवर्ष में शुक्लजी ने, परन्तु दोनों ने ही भाव प्रेरित वक्रता की उपयोगिता को स्वीकार किया है। वर्ड्सवर्थ ने जन साधारण की शब्दावली में काव्य रचना करने का संकल्प किया था परन्तु उसने आवेग प्रेरित अलंकारों के प्रयोग का निषेध नहीं किया और कहा —'कुछ अलंकार ऐसे भी हैं जो आवेग प्रेरित होते हैं और मैंने उनका इसी रूप

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २६४। द्रष्टव्य रस मीमांसा में 'रीति-ग्रंथों का बुरा प्रभाव' (पृ० ७४-८०)। पृ० ८९, १००, १०३ आदि पर व्यक्त ऐसे ही विचार पठनीय हैं।

मे प्रयोग किया है।" शुक्लजी ने भी "विदग्धता" को वहीं तक काव्योपयोगी समझा है 'जहाँ तक वह भाव प्रेरित हो—जहाँ तक उसका कारण कोई भाव या कम से कम कोई रागात्मक दशा हो।"[1] काव्य की भावोद्बोधन-संबंधी उनकी मान्यताओं के सम्यक् विश्लेषण से अनेकत्र उनके रोमांटिक पितृत्व और पाश्चात्य मूलोत्पत्ति का पता चलता है। उनके अनुसार वन पर्वत, नदी, नाले, निर्झर आदि हमारे 'चिर सहचर रूप हैं," जिनमें 'वंशानुगत वासना की दीर्घ-परम्परा के प्रभाव से भावों के उद्बोधन की गहरी शक्ति संचित है।" इनके द्वारा जैसा विशुद्ध रस-परिपाक संभव है वैसा कल-कारखानों से नहीं। कविता इन्हीं प्राकृतिक दृश्यों और रूपों के साथ हमारा रागात्मक संबंध स्थापित करती है। इतना ही नहीं कविता से हमारी भावात्मक सत्ता का प्रसार होता है, हम हृदय की मुक्तावस्था को प्राप्त करते हैं। शुक्लजी चाहते हैं कि हम "लहलहाते हुए खेतों काली चट्टानों पर चाँदी की तरह ढलते हुए झरनों, मंजरियों से लदी हुई अमराइयों का दस क्षण भर" लीन हो जाय कलरव करते हुए पक्षियों के आनन्दोत्सव में योग दें और खिले हुए फूलों को देख खिल उठें इत्यादि इत्यादि।

इन पंक्तियों में डार्विन के विकासवाद, युग के "सामूहिक अचेतन" और पाश्चात्य स्वच्छन्दतावादी कवियों के प्रकृति-संबंधी दर्शन चिंतन का स्मरण हो आता है। शुक्लजी और उनके सामयिकों ने रोमांटिक काव्यधारा के मूर्धन्य कलाकारों का और कहीं नहीं तो कम से कम अपने पाठ्य संग्रहों में—पाल्ग्रेव की गोल्डेन ट्रेजरी-जैसी रचनाओं में—साक्षात्कार किया ही होगा। उदाहरण के लिए वर्ड्स्वर्थ की प्रकृति विषयक मनोदृष्टि का विश्लेषण करें। उसके अनुसार 'प्रत्येक नैसर्गिक वस्तु को एक नैतिक-आध्यात्मिक जीवन मिला होता है, जो मनुष्य के साथ साहचर्य स्थापित कर सकता है जो अत्यन्त अभिव्यंजक होता है और जिसमें अनिर्वचनीय सादृश्य तथा परस्पर-संबंध का सौरस्य होता है।"[2] कवि के लिए मानव-जीवन इस मनोहर भूदृश्य से जुड़ा संपूरक लालित्य है। उसके अनुसार मनुष्य प्रकृति के नैसर्गिक दृश्यों से 'चिर-साहचर्य के कारण

१ भ्रमरगीत सार (बनारस, सं० १९९६) पृ० ७१।

२ To him every natural object seemed to possess more or less of a moral or spiritual life to be capable of a companionship with man full of expression of inexplicable affinities and delicacies of intercourse Pater (*Appreciations* 1874)

सपृक्त" और उनसे अ यन्त प्रभावित हाते ह।[1] हो सकता है अपने र्र्ति निष्कर्ष को प्रमाणित करने के लिए ही हमने शुक्लजी के शब्द म पेटर की पंक्तियों का अनुवाद किया हो। पेटर के अतिम वाक्य म य शब्द ध्यातव्य हैं 'एण्ड लिंक्ड टु देम बाइ मनी एसोसिएशन्स ।' डा० हरदेव बाहरी के अनुसार "एसोसिएशन के हिन्दी पर्यायवाची शब्द हैं 'साहचर्य ममग अनपग मेल।" साहचर्य ही सबसे पहले आया है।

यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि शुक्लजी डार्विन के विकासवाद के प्रति आस्थावान् थे और 'विश्वप्रपंच' की विस्तृत भूमिका म उन्होंने एतद्विषयक विचारों का सर्वांगीण और सारगर्भ विवेचन प्रस्तुत किया है। 'द रिडिल आव द यनिवर्स' भी जो भाषांतरित होकर विश्वप्रपंच के नाम से अभिहित हुआ विकासवाद का ही पुनराख्यान है जिसम डार्विन की वैज्ञानिक और जविक उपपत्तियों का प्रशस्य विशदीकरण हुआ है। विकासवाद के अनुसार मनुष्यों का विकास प्रकृति की पुरातन व्यापक गोद मे हुआ है इसलिए उनका प्रकृति प्रेम जन्मान्तरीय संस्कार से उद्भूत तथा सहजात है। हमारे पूर्वज के पूर्वज—आदिम पूर्वज जिन्ह 'एक घटक अणुजीव' कहा गया है—प्रकृति की स्निग्ध अनघ गोद म पले और क्रमशः विकसित हुए। क्युवियर और लिन के विचार नये तथ्यों के प्रकाश म भ्रांतिमूलक दीख पडे और उनकी जगह नये सिद्धान्तों को प्रतिष्ठित किया गया। यह सिद्धांत अब पूर्णतया स्थिर हो गया है कि मनुष्य का शरीर अनेक पूर्वज जंतुओं के शरीर से परंपरानुसार परिवर्तित होते होते उत्पन्न हुआ है। अत उसके मनोव्यापारों को हम उसके और शारीरिक व्यापारों से अलग नहीं कर सकते। हम यह मानना पड़ता है कि शरीर और मन दोनों का विकास क्रमशः हुआ है। अत मनोविज्ञान म यह देखना अत्यंत आवश्यक है कि किस प्रकार की पशु की आत्मा से क्रमशः मनुष्य की आत्मा का विकास हुआ है। आत्मा के जाति-परंपरागत विकासक्रम का निरूपण मनस्तत्त्व विद्या का प्रधान अंग है। एक जाति के जंतु से विकास द्वारा दूसरी जाति के जंतु की जो दीर्घपरंपरा चली आई है उसके अन्वेषण के द्वारा आत्मा के विकासक्रम का भी बहुत कुछ पता चलता है।[2] चूंकि मनुष्य अपने

---

१ When he thought of man it was of man as in the presence *and under the influence of these effective natural objects* and linked to them by many associations (Ibid)

२ रामचंद्र शुक्ल, विश्वप्रपंच (सं० १९७७), मनोरंजन पुस्तकमाला २२, नवां प्रकरण।

आदिम रूप में प्रकृति से अविच्छिन्न था, इस कारण आज भी उसमें प्राकृतिक दृश्यों के प्रति अपरिमित ममत्व देखा जाता है। स्पेंसर, डार्विन आदि से उपलब्ध विकासवाद के इसी मतवाद से जुड़ा हुआ शुक्लजी का यह सिद्धान्त भी है जिसके अनुसार साहित्य में मनुष्येतर प्राणियों को भी स्थान मिलना चाहिए। मनुष्य-मनुष्य के बीच भ्रातृभाव का अवधारण, निश्चय ही एक अत्यन्त उदात्त लक्ष्य की ओर संकेत करता है, परन्तु हम यह विस्मृत करना नहीं चाहिए कि हमारे पूर्वज इन प्राणियों के बीच रहकर ही विकसित हुए थे और हमारा भी क्रमिक विकास 'जरायुज जन्तुओं' से ही हुआ है।

यद्यपि युंग ने 'कलेक्टिव अनकान्शस' के सिद्धान्त का प्रतिपादन और पल्लवन सन् १९३३ ई० में किया था, फिर भी इसके बीजांकुर उनकी सर्वप्रथम रचना 'आन द साइकोलॉजी एण्ड पैथालॉजी ऑव सो-काल्ड आकल्ट फिनामिना' (१९०२) में वर्तमान हैं। युंग के मतानुसार अचेतन का एक ऊपरी स्तर वैयक्तिक अचेतन कहा जा सकता है। यह एक एम गहरे स्तर पर आश्रित रहता है जो न तो वैयक्तिक अनुभूति से सबद्ध होता है और न व्यक्ति-द्वारा उपार्जित ही होता है। अचेतन का यह रूप सहजात होता है और "सामूहिक" भी, चूँकि यह वैयक्तिक न होकर सार्वभौम होता है, वैयक्तिक मनोधातु (साइकी) के विपरीत इसका आचरण सर्वत्र और सभी व्यक्तियों में समान होता है। इसी सामूहिक अचेतन की अन्तर्वस्तु (contents) को "आर्किटाइप्स" कहते हैं।

शुक्लजी के साक्ष्यानुसार कवियों का प्रकृति प्रेम सहजात होता है, "सामूहिक अचेतन" में विद्यमान होता है। प्रकृति एक सार्वभौम आदिमज्ञान (primordial) प्रत्यय है जो हमारे अचेतन में सदैव वर्तमान रहता है। मिथकों और परियों की कहानियाँ भी युंग के मनोविज्ञान में आद्यरूपों की ही अभिव्यक्ति कही गई हैं। शुक्लजी युंग के इसी सिद्धांत को प्रतिध्वनित करते हुए कवियों के प्रकृति प्रेम को 'चिर-साहचर्य द्वारा प्रतिष्ठित वासना' कहते हैं। "साहचर्य-सम्भूत रस के प्रभाव से सामान्य सीधे-सादे चिर-परिचित दृश्यों में कितना माधुर्य की अनुभूति होती है।" साहचर्य की भावना हमारे इसी सामूहिक अचेतन में वर्तमान होती है और परिचित दृश्यों को देखकर अचानक उद्बुद्ध हो उठती है। आद्यरूपों (आर्किटाइप्स) का उल्लेख युंग के बहुत पहले फिलो जुडीयस तथा आइरेनियस ने किया था। 'कॉर्पस हर्मेटिकम' (Corpus Hermeticum) में ईश्वर को 'आर्किटाइपल लाइट' कहा गया है और यद्यपि सेंट ऑगस्टीन में 'आर्किटाइप' का प्रयोग नहीं हुआ है, फिर भी इसका भाव De diversis quaestionibus LXXXIII में वर्तमान है, जहाँ वे ideae principales का उल्लेख करते हैं।

"रस-मीमांसा" में शुक्लजी ने कहा है

(१) सौंदर्य बाहर की कोई वस्तु नहीं है, मन के भीतर की वस्तु है। जिस वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से तदाकार-परिणति जितनी ही अधिक होगी उतनी ही वह वस्तु हमारे लिए सुन्दर कही जायगी। किसी वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से हमारी अपनी सत्ता के बोध का जितना ही अधिक तिरोभाव और हमारे मन की उस वस्तु के रूप में जितनी ही पूर्ण परिणति होगी उतनी ही बढ़ी हुई हमारी सौंदर्य की अनुभूति कही जायगी। (पृ० २४–२५)

(२) कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ-संबंधों के संकुचित मंडल से ऊपर उठाकर लोक सामान्य भावभूमि पर ले जाती है इस भूमि पर पहुँचे हुए मनुष्य को कुछ काल के लिए अपना पता नहीं रहता। वह अपनी सत्ता को लोक सत्ता में लीन किए रहता है। उसकी अनुभूति सबकी अनुभूति होती है या हो सकती है। (पृ० ५)

(३) ऐसे आदिम रूपों और व्यापारों में, वंशानुगत वासना की दीर्घ-परंपरा के प्रभाव से, भावों के उद्बोधन की गहरी शक्ति संचित है। (पृ० ६)

स्पष्टतः कविता तदनुभूति (एम्पथी) का सर्वश्रेष्ठ साधन है। इसमें पाठकों के हृदय में तदनुभूति का—einfulung का—उद्दीपन होता है और अध्येता वर्णित वस्तुओं से मिलकर एकरूप हो जाते हैं। काव्यानुशीलन से हृदय को स्वार्थ-संबंधों से मुक्ति मिल जाती है और हम लोक-सामान्य भावभूमि पर आ जाते हैं। इसका कारण यह है कि कविता में उन आवेगों की मूर्त और कलात्मक अभिव्यक्ति होती है जो कवि के ही नहीं समस्त मानवता के आवेग होते हैं। जब कविता प्रकृति के विभिन्न दृश्यों का रूपायन करती है तब उसकी प्रभावोत्पादकता बढ़ ही नहीं जाती उससे प्रमाता की अन्तस्सत्ता की अविलम्ब तदाकार परिणति" भी हो जाती है। हमारे अचेतन में ही मानव इतिहास की प्राचीन अवस्थाओं की याद अन्तर्हित है अचेतन के किसी सुदूर कोने में मानव-जाति की आदिम अनुभूतियाँ संचित हैं। इसी कारण प्राचीन जातियों में आज भी सामूहिक रूप से जीवन-यापन करने की प्रबल भावना—'द सेन्स आव अ टोटल मिस्टीक'—पायी जाती है। कविता इन्हीं अनुभूतियों और भावनाओं को उद्दीप्त करती है प्रकृति का वर्णन इसी कारण प्रभावोत्पादक होता है। इससे

हम तदनुभूति के द्वारा दूसरे के भावों को अपना लेते हैं और हमारे अहम् का इतना प्रसार हो जाता है कि यह पुन अस्तित्व की एक वृहत्तर इकाई का अंग बन जाता है।[1]

हृदय के अनेक भावात्मक होने का भाव डेंड, स्पेंसर, फ्रायड आदि के मनोविज्ञान से सम्पर्क है और इन पंक्तियों पर

> ऐसे आदिम रूपों और व्यापारों में, वंशानुगत वासना की दीर्घ-परंपरा के प्रभाव से, भावों के उद्बोधन की गहरी शक्ति संचित है अत इनके द्वारा जैसा रस-परिपाक संभव है वैसा कल, कारखाने, गोदाम ऐसी वस्तुओं द्वारा नहीं। (र० मी० पृ० ६)

युग आदि मनोवैज्ञानिकों का प्रभाव दीखता है। एक स्थल पर तो शुक्लजी के विचार लिप्स, वॉरिंगर और युग के विचारों के अनुवाद से दीखते हैं। शुक्लजी के अनुसार 'किसी वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से हमारी अपनी सत्ता के बोध का जितना ही अधिक तिरोभाव और हमारे मन की उस वस्तु के रूप में जितनी ही पूर्ण परिणति होगी, उतनी ही बढ़ी हुई हमारी सौंदर्य की अनुभूति कही जायगी।' (र० मी० पृ० २४–२५) वॉरिंगर के मतानुसार 'इस्थेटिक इन्जायमेण्ट इज आब्जेक्टिफायड प्लेजर इन वनसेल्फ'—सौंदर्यानुभूति का आनंद अपने आप में विषयाश्रित आनंद है। अत हम उसे ही सुन्दर कहेंगे जिसके रूप में हमारी पूर्ण परिणति हो सकती है। (Only that form is beautiful into which one can feel oneself) लिप्स ने कहा है कि सुन्दर वही है जिसके साथ तदनुभूति हो सके। (Only so far as this feeling into extends are forms beautiful Their beauty is simply

---

१ We have within our own unconscious a memory of primitive stages of man s history Traces of these memories may persist as residual deposits which in moments of empathy come more forcibly to dominate our awareness In some recess of the unconscious which is common to all men the earliest experiences of the race are preserved The sense of a tribal mystique a feeling of living collectively rather than individually survives in more obvious forms in primitive tribes even today Robert L Katz *Empathy* (London 1963) p 66

this my ideal freely living itself out in them[1]) यहीं इस बात का उल्लेख वांछनीय प्रतीत होता है कि बर्नार्ड बोसांक्वेट की पुस्तक 'अ हिस्ट्री आव इस्थेटिक' सर्वप्रथम सन् १८८२ में प्रकाशित हुई थी और सन् १८१० तक आते आते इसके दो और संस्करण निकल चुके थे। शुक्लजी सम्भवतः इस पुस्तक से परिचित थे। इसके आरम्भ में ही लेखक ने सौन्दर्य को दर्शन की कल्पना और दृष्टि में न्यस्त कहा है। (हि० इ०, पृ० ३)

काव्य और सृष्टि प्रसार के संबंध में शुक्लजी ने कहा है : 'कविता बाह्य प्रकृति के साथ मनुष्य की अंतःप्रकृति का सामंजस्य घटित करती हुई उसकी भावात्मक सत्ता के प्रसार का प्रयास करती है।'[2] कविता भावों या मनोविकारों के क्षेत्र को विस्तृत करती हुई उनका प्रसार करती है। वर्ड्स्वर्थ ने कहा है कि 'लेखक का कर्तव्य पाठकों को अनुभूतिशील बनाना या उनकी संवेदनशीलता को अधिक प्रसार कराना है। उसका (लेखक का) यह कर्तव्य ऐसे तो बराबर ही सुन्दर समुज्ज्वल रहा है, फिर भी उसकी आज जितनी आवश्यकता है उतनी पहले कभी न थी। आज इस संवेदनशीलता को कुंठित करनेवाली अनेकानेक शक्तियाँ उत्पन्न हो गई हैं।' अब शुक्लजी की इन पंक्तियों पर पुनः विचार कीजिए : 'ऐसे आदिम रूपों और व्यापारों में वंशानुगत वासना की दीर्घ परंपरा के प्रभाव से भावों के उद्बोधन की गहरी शक्ति संचित है अतः इनके द्वारा जैसा रस-परिपाक संभव है वैसा कल कारखाने गोदाम . . . आदि वस्तुओं द्वारा नहीं।'[3] 'रस मीमांसा' के 'काव्य' (कविता क्या है ?) शीर्षक निबंध में एक स्थल पर उन्होंने इस बात पर खेद प्रकट किया है कि जंगल कट-कटकर खेत, गाँव और नगर बनते चले जा रहे हैं। पशु-पक्षियों का भाग छिनता जा रहा है।[4] वर्ड्स्वर्थ ने भी अपने देश की व्यावसायिक प्रगति पर विशेषतः लेक डिस्ट्रिक्ट तक रेलगाड़ियों के विस्तार पर ऐसा ही क्षोभ प्रकट किया था।[5]

'रस-मीमांसा' के पृष्ठ २० पर कविता के मंगलकारी प्रभावों का विशद उल्लेख करते हुए शुक्लजी ने उसी स्वर में "कवि-वाणी के प्रसाद" का गान किया

---

१ देखिए C G Jung *Psychological Types* (London 1949) p 360
२ रस मीमांसा (काशी, सं० २०१७), पृ० ७।
३ उपरिवत, पृ० ६।
४ उपरिवत, पृ० १२।
५ दे० वर्ड्स्वर्थ सेंटिनरी स्टडीज (१९६३), पृ० १२३ १२४।

है जिसमे शली न अपनी 'डिफेन्स ऑव पोयट्री' मे कविया की गौरव-गरिमा की मुक्त-कठ स सराहना की है। कवि-वाणी के प्रसाद से हम मौतिक सुख-दुख, आनद-क्लेश आदि का स्वार्थमुक्त भाव मे अनुभव करते हैं जिसमे 'हृदय का बधन खुलता है और मनुष्यता की उच्च भूमि की प्राप्ति होती है।' कविता ही अर्थपिशाच कृपणता व हृदय म दया श्रद्धा भक्ति आदि सरस भावनाओ का उन्मेषन कर सकती है। यही उनकी एकमात्र दवा है। शेली न एम ही भावा का अभिव्यक्त करत हुए कवि की तुलना उस बुलबुल ("नाइटिंगेल") म की ह जो अधकार म बठा हुआ मधुर मूर्च्छना और स्वर राग से अपनी प्रगाढ नीरवता को रसदीप्त करने के लिए गाता है। उसके श्रोता उन मनुष्या के समान होत हैं, जो किसी अदृश्य गवये के सगीत से मत्रमुग्ध तथा मद्गद हो जाते हैं, पर यह नही जानत कि क्या और कसे। शेली न कुछ आगे चलकर कहा है 'श्रोताओ की भावनाएँ (होमर की रचनाओ म) ऐसे महान् एव भव्य चरित्र-धारण ('इम्पर्सोनेशन') म निश्चय ही परिष्कृत एव परिवर्तित हो जाती होगी।'[1] यदि शुक्लजी की भाषा-शैली म कहना चाहें तो कहेंगे कि उनका हृदय ऐसी उच्च भूमि पर पहुँच जाता होगा, जहा उनकी वृत्ति प्रशात और गम्भीर हो जाती होगी उनकी अनुभूति का विषय ही कुछ बदल जाता होगा।

काव्यदृष्टि के व्यापकत्व एव औदार्य का विवेचन करते हुए शुक्लजी न कहा ह कि यह (काव्यदृष्टि) सजीव सृष्टि तक ही सीमित न रहकर अपने भीतर जड प्रकृति का भी समाहार करती है। अँगरेज स्वच्छदतावादी आलोचका और कविया के लिए इस उक्ति म रचमात्र भी नवीनता नहा। वर्ड्सवर्थ के लिए 'मवदना' का एक ऐसा आवेष्टन ही पर्याप्त है, जिसम कवि अपन चेता को चालित कर सके। उसके विचारा के लिए सवत्र कुछ न कुछ मौजूद है। चूकि कविता मनुष्य एव प्रकृति का प्रतिबिंब है उसका विषय-क्षेत्र अत्यन्त व्यापक होगा ही। ससार के समस्त ज्ञान विज्ञान का आदि और अत कविता ही है—यह उतनी ही अमर है जितना मानवहृदय। शलिग न 'कादटियान टुवार्ड अ फिलॉसफी आव नचर' म कहा है कि प्रकृति एक दृश्यात्मा (विजिबुल स्पिरिट) है और आत्मा अदृश्य प्रकृति, इसम अन्तर्हित आत्मा एव प्रकृति की आत्मा में पूर्ण साम्य है। ऐसे ही विचारा से अभिप्रेरित होन के कारण स्वच्छदतावादी कवि वन प्रान्तो और निर्जन स्थला म भी प्रकृति की आत्मा का साक्षात्कार करते हैं। साहचर्य-

---

१ Edmund D Jones, *English Critical Essays Nineteenth Century* (World s Classics) p 130

सम्भूत रस के प्रभाव से सामान्य तथा सीधे-सादे चिर-परिचित दृश्यों से भी उन्हें अपार माधुर्य की अनुभूति होती है। कवि जड़ पदार्थों में भी उसी प्रकार लीन होता है, जिस प्रकार सजीव प्रकृति और उसके नाना सुन्दर मधुर रूपों में, क्योंकि "उसके अनुराग का कारण अपना खास सुख भोग नहीं बल्कि चिर साहचर्य द्वारा प्रतिष्ठित वासना है।"

कविता में "रमानेवाली" शक्ति के कारण ही यूरोपीय समीक्षकों ने आनंद को काव्य का चरम लक्ष्य ठहराया है जिसके कारण तरह-तरह की भ्रान्तियाँ फैली हैं।[1] भारतवर्ष में पंडितराज जगन्नाथ ने रमणीयता को काव्य का साध्य स्थिर किया पर शुक्लजी के अनुसार मन को अनुरंजित करना ही कविता का अंतिम लक्ष्य नहीं स्वीकारा जा सकता—कविता विलास मात्र की वस्तु नहीं है। इसी कारण वे लक्षणा प्रधान 'विलासमती वक्रोक्तिवाद' का समर्थन नहीं करते। कुंतक का 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' वहाँ तक ग्राह्य है जहाँ तक वह भावानुमोदित हो या किसी मार्मिक अंतर्वृत्ति से संबद्ध हो उससे आगे नहीं।[2] उक्ति-वैचित्र्य से सत्काव्य की सुधा-स्वाति नहीं बरसती और न उक्ति के अनूठे स्वरूप में ही कविता निहित होती है। इसी कारण शुक्लजी ने कमिंग्ज के काव्य का समर्थन नहीं किया। अभिजातवादी परम्परा पोप के शब्दों में कहेगी कि अभिव्यक्ति ही सब-कुछ है रीति और शैली ही काव्य की आत्मा है

ट्रू विट इज नेचर टु एडवाण्टेज ड्रेस्ड
ह्वाट आफ्ट वाज थॉट बट नेवर सो वेल एक्सप्रेस्ड।

परन्तु शुक्लजी कहेंगे—'उक्ति ही काव्य होती है यह तो सिद्ध बात है', परन्तु काव्य का अंतिम लक्ष्य प्रमाता को चमत्कृत करना ही नहीं है। उसका अंतिम लक्ष्य तो जगत के मार्मिक पक्षों का प्रत्यक्षीकरण करके उनके साथ मनुष्य हृदय का सामंजस्य-स्थापन है। चूँकि शुक्लजी की विचार धारा पर रोमांटिक विक्टोरियन परम्पराओं का सम्मिलित एवं युगपत प्रभाव है वे पलायनवादी भाव प्रवणता पर आश्रित रोमांटिक प्रवृत्ति का समर्थन नहीं करते—मनोविज्ञान के इस समग्र अंधता से जीवन-वास्तव में पगायन की आशा नहीं की जा सकती। अपने युग की प्रतिनिधि समीक्षा होने के कारण शुक्लजी की रचनाओं में युग की आत्मा मूर्त हो उठी है। इसलिए वह एक ओर तो भावना पर बल देती हुई शैली का समर्थन करती है और दूसरी ओर जीवन तथा साहित्य के भावों में कोई बुनियादी

---

१ रस-मीमांसा, पृ० २२।
२ उपरिवत, पृ० ३३।

अन्तर नहीं देखती।[1] इतना ही नहीं, वह रस की स्थिति साहित्य से अलग लौकिक जीवन में भी मानती है और रस-दशा को लोक हृदय में लीन होने की दशा घोषित करती है। भावना पर, काव्य-सृष्टि में हृदय-पक्ष पर, बल देते हुए भी उसका लेखक तत्त्वतः विकासवाद का समर्थक सिद्ध होता है। "वे डारविन की विचारधारा से प्रभावित ही नहीं, वरन् उसे सामाजिक क्षेत्र में स्वयं भी लागू करते हैं।"[2] मैथ्यू आर्नल्ड की तरह एक ओर तो शुक्ल जी स्वच्छंदतावादी परंपराओं से अनुप्राणित हैं, दूसरी ओर ईषत् भौतिकवादी "ऐंटि-रामांटिक" परंपराओं से। इसलिए एक ओर तो उनकी समीक्षा में शेली की बार-बार अनुशंसा है, उसका समर्थन है, वहीं दूसरी ओर रीति-काव्य की निर्मम कटु आलोचना के साथ ही कविता में नव्य प्रयोगों की अस्वीकृति भी। समन्वयवादी प्रवृत्ति समीक्षा में साकार हो उठी है—इसका एक और प्रमाण इस परिभाषा में निहित है: 'कविता का अंतिम लक्ष्य जगत के मार्मिक पक्षों का प्रत्यक्षीकरण करके उनके साथ मनुष्य हृदय का सामंजस्य-स्थापन है।' 'सामंजस्य-स्थापना' ही शुक्ल जी की समीक्षा का भी लक्ष्य है—पौरस्त्य समीक्षा के साथ पाश्चात्य समीक्षा का, स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियों के साथ विक्टोरियन मान-मूल्यों का और शेली के साथ स्पेंसर एवं डार्विन का।

शुक्ल जी ने 'रस-मीमांसा' में जिन पाश्चात्य कवियों की ओर संकेत किया है अथवा जिनकी रचनाओं से उद्धरण लिये हैं, उनमें सर्वाधिक चर्चा शेली की ही हुई है। शेली की 'रिवोल्ट ऑव इसलाम' को इलियड, ओडेसी, पैरेडाइज लास्ट के साथ उन काव्यों में परिगणित किया गया है जो "आनन्द की साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलते हैं।[3] इस द्वादश सर्गबद्ध महाकाव्य में शेली ने 'मनुष्य जाति के उद्धार में रत नायक और नायिका में मंगल-शक्ति के अपूर्व संचय की छटा दिखाकर तथा उनके द्वारा एक बार दुर्दांत अत्याचार के पराभव के मनोरम आभास से अनुरंजित करके अंत में उस शक्ति की विफलता की विषादमयी छाया से लोक का फिर आवृत दिखाकर छोड़ दिया है।"[4] जिन रचनाओं में मंगल-अमंगल का संघर्ष वर्णित होता है उनके रचयिता अंत में

१ डा० रामविलास शर्मा, आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना (आगरा, १९५९), पृ० ५।
२ उपरिवत्, पृ० २४।
३ रस-मीमांसा, पृ० ४६।
४ उपरिवत्, पृ० ४८।

बहुधा मगल शक्ति की ही विजय दिखा दिया करते हैं। कुछ लोग रचनाओं की ऐसी परिणति म शिक्षावाद—डिडक्टिसिज्म—की गध पाकर नाक भी सिकोड़ते हैं। शुक्लजी उनकी इस प्रतिक्रिया को युक्तियुक्त नहीं समझते। अस्वाभाविकता केवल रचना के अंत म अमगल शक्ति की पराजय दिखाने मे नहीं आ सकती। कला-कृतियाँ तभी अस्वाभाविक हो जाती हैं जब उनके बीच का विधान ठीक नहीं होता अथवा जब प्रत्येक अवसर पर सत्पात्र विजयी एव दुष्ट पात्र पराजित दिखाये जाते हैं। कभी-कभी एक ही पात्र म विभिन्न सौंदर्यों का एकीकरण दिखाया जाता है। एक ही पात्र पराक्रम रूप माधुर्य शील स्वभाव सब म लोकोत्तर बनाया जाता है। इसका कारण कवि की कला विषयक अनभिज्ञता नहीं है और न एसा बिल्कुल अस्वाभाविक ही होता है। वस्तुत 'लोक हृदय आकृति और गुण, सौंदर्य और सुशीलता, एक ही अधिष्ठान मे देखना चाहता है। इसी से यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसति सामुद्रिक की यह उक्ति लोकोक्ति के रूप म चल पड़ी।[1] सब-गुणसम्पन्न नायकों की सृष्टि के मूल मे कवि की एक रहस्यमयी हृदयगत वासना है, एक 'रहस्यमयी प्रेरणा' है, जिसके कारण उसकी कल्पना म विभिन्न प्रकार के सौंदर्यों का मेल आप-से-आप हो जाया करता है। शैली के साथ भी यही बात हुई है। उसने भी अपने प्रबंध काव्यों म रूप सौन्दर्य और कर्म सौंदर्य के अदभुत समन्वय का विधान किया है। उसके नायक और नायिकाएँ पराक्रमी, उदार और धीर तो होती ही हैं वे रूप माधुर्य म भी अद्वितीय होती ह। (शुक्लजी शैली से उदाहरण देकर ही संतुष्ट नहीं हो जाते। उनम निहित समीक्षक की दृष्टि से भारतीय वाङमय कभी ओझल नहीं होता इसलिए प्राचीन तथा अर्वाचीन भारतीय साहित्य से भी कुछ और उदाहरण प्रस्तुत किए जाते ह।)

शुक्लजी काव्य का उत्कर्ष केवल प्रेमभाव की कोमल व्यजना म नहीं मानते टालस्टाय तथा कलावादियो के उन मतवादो को वे स्वीकार नहीं करते, जिनके अनुसार काव्य का उत्कर्ष साधुता सहनशीलता और शात वृत्ति के चमत्कारपूर्ण प्रदर्शन म है। उनकी कसौटी तो शैली के 'महाकाव्य द रिवाल्ट आव इसलाम' के पात्र हैं जो अत्याचारियों के पास जाकर न तो गिड़गिड़ाते ह न अपना शात वृत्ति का आडंबर प्रदर्शन करते हैं। वे कर्मठ एव सात्विक तेज म तमतमाते वाले एस व्यक्ति हैं जिन्हे आततायियों की सेवा करनेवालों के प्रति स्वाभाविक चिढ़ है। शुक्लजी के अनुसार शैली ने भी प्रेम भाव को ही अपनी काव्यकला का आधारभूत तत्व माना था, परन्तु यह प्रेमभाव टाल्सटाय के प्रेमभाव से सर्वथा

---

१ उपरिवत, प० ४६।

भिन्न है। चूंकि शेली का नायक लोकपीडा और अत्याचार को सहन नहीं कर सकता, वह उत्साह में भरकर प्रचंड वेग से अपने प्राणों की बाजी लगा देता है। टाल्सटाय ने साम्प्रदायिक कारणों से अभिभूत हो, मनुष्य मनुष्य में भ्रातृ-प्रेम-संचार को ही एकमात्र काव्यतत्त्व कहा और कलावादियों ने "मनोरंजन-मात्र की हल्की रुचि और दृष्टि की परिमिति के कारण" केवल कोमल और मधुर की लीक पकडी। परंतु माधुर्य भाव की कोमल व्यंजना को ही अपना चरम लक्ष्य न मानकर शेली ने भावों की अनेकरूपता का विन्यास किया। उसके प्रबंध काव्य में स्थिर सौंदर्य के साथ गत्यात्मक सौंदर्य का एवं उपभोग-पक्ष के साथ प्रयत्न-पक्ष का मणिकांचन संयोग दीख पडता है। भारतवर्ष में रवींद्रनाथ ठाकुर सरीखे लोग आनन्द की साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलनेवाले यूरोपीय लोकमंगल-वादियों के अनुयायी हैं। ये लोग 'मनुष्य-मनुष्य के बीच भ्रात प्रेम को ही काव्य-भूमि का एकमात्र आधिकारिक भाव मानते हैं।" इतना ही नहीं, लोकमंगलवादी साधनावस्था को लेकर भी माधुर्य भाव तक ही अपने को बद्ध रखते हैं—माधुर्य तथा कोमलता के साथ "तीक्ष्णता, कठोरता और उग्रता का सामंजस्य" नहीं कर पाते। शुक्लजी करुणा को एक ऐसा व्यापक भाव मानते हैं जिसकी प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति सदैव रसात्मक होती है और अपने विवेचन की पुष्टि यथास्थान भवभूति तथा शेली के विचारों से ही करते हैं। भवभूति ने करुण रस को ही रसानुभूति का मूल कहा है और शेली के सादृश्यानुसार "आवर स्वीटेस्ट सांग्स आर दोज दैट टेल ऑव सैडेस्ट थॉट" ।—अर्थात् सबसे मधुर या रसमयी काव्यधारा वही है जो करुण प्रसंग लेकर चले। शेली के काव्य की एक और विशेषता रही है—उसके बिंब। काव्य में बिंब विधान निस्संदेह बडे महत्त्व का होता है। वाल्मीकि, कालिदास आदि प्राचीन कवियों में यह (काव्य में बिंब-स्थापना) पूर्णता को प्राप्त है। इन कवियों के साथ ही शेली को भी रखते हुए आचार्य शुक्ल कहते हैं—"अँगरेजी कवि शेली इसके लिए प्रसिद्ध हैं।" इस स्थल पर विवेचन और इसके मानदंड पाश्चात्य समीक्षा से अनुप्राणित तथा प्रेरित हैं। भाषा के दो पक्ष कहे गए हैं—एक सांकेतिक (सिम्बालिक) और दूसरा प्रत्यक्षात्मक (प्रेजेंटेटिव) और अप्रस्तुत रूप विधान में हाइपेर्बोल, मेटानिमी आदि 'अलंकारों' की चर्चा निवेशित कर दी गई है।

शुक्लजी के शेली-संबंधी इन निर्देशों से सर्वप्रथम यह सिद्ध होता है कि समीक्षक ने महाकवि की रचनाओं का समुचित अध्ययन ही नहीं किया था, उनमें मनोनुकूल जीवन-बोध की अभिव्यक्ति देखी थी और इससे अपनी धारणाओं में स्थायित्व उत्पन्न किया था। हो सकता है, शेली के काव्य से ही शुक्लजी के साहित्य तथा

बहुधा मंगल शक्ति की ही विजय दिखा दिया करते हैं। कुछ लोग रचनाओं की ऐसी परिणति में शिक्षावाद—डिडक्टिसिज्म—की गंध पाकर नाक भौं सिकोड़ते हैं। शुक्लजी उनकी इस प्रतिक्रिया को युक्तियुक्त नहीं समझते। अस्वाभाविकता केवल रचना के अंत में अमंगल शक्ति की पराजय दिखाने से नहीं आ सकती। कला-कृतियां तभी अस्वाभाविक हो जाती है जब उनके बीच का विधान ठीक नहीं होता अथवा जब प्रत्येक अवसर पर सत्पात्र विजयी एवं दुष्ट पात्र पराजित दिखाये जाते हैं। कभी-कभी एक ही पात्र में विभिन्न सौंदर्यों का एकीकरण दिखाया जाता है। एक ही पात्र पराक्रम, रूप माधुर्य, शील-स्वभाव सब में लोकोत्तर बनाया जाता है। इसका कारण कवि की कला विषयक अनभिज्ञता नहीं है और न ऐसा बिल्कुल अस्वाभाविक ही होता है। वस्तुतः "लोक-हृदय आकृति और गुण, सौन्दर्य और सुशीलता, एक ही अधिष्ठान में देखना चाहता है। इसी से 'यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसंति' सामुद्रिक की यह उक्ति लोकोक्ति के रूप में चल पड़ी।"[1] सब-गुणसम्पन्न नायकों की सृष्टि के मूल में कवि की एक रहस्यमयी हृदयगत वासना है, एक 'रहस्यमयी प्रेरणा' है, जिसके कारण उसकी कल्पना में विभिन्न प्रकार के सौंदर्यों का मेल आप से-आप हो जाया करता है। शैली के साथ भी यही बात हुई है। उसने भी अपने प्रबंध काव्यों में रूप सौंदर्य और कर्म-सौंदर्य के अद्भुत समन्वय का विधान किया है। उसके नायक और नायिकाएँ पराक्रमी, उदार और धीर तो होती ही है, वे रूप माधुर्य में भी अद्वितीय होती हैं। (शुक्लजी शैली से उदाहरण देकर ही संतुष्ट नहीं हो जाते। उनमें निहित समीक्षक की दृष्टि से भारतीय वाङ्मय कभी ओझल नहीं होता। इसलिए प्राचीन तथा अर्वाचीन भारतीय साहित्य से भी कुछ और उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं।)

शुक्लजी काव्य का उत्कर्ष केवल प्रेमभाव की कोमल व्यंजना में नहीं मानते। टालस्टाय तथा कलावादियों के उन मतवादों को भी स्वीकार नहीं करते जिनके अनुसार काव्य का उत्कर्ष साधुता, सहनशीलता और शांत वृत्ति के चमत्कारपूर्ण प्रदर्शन में है। उनकी कसौटी तो शैली के महाकाव्य 'द रिवोल्ट आव इसलाम' के पात्र हैं जो अत्याचारियों के पास जाकर न तो गिड़गिड़ाते हैं न अपनी शांत वृत्ति का आडंबर-प्रदर्शन करते हैं। वे कर्मठ एवं सात्विक तेज से तमतमाने वाले ऐसे व्यक्ति है जिन्हें आततायियों की सेवा करनेवालों के प्रति स्वाभाविक चिढ़ है। शुक्लजी के अनुसार शैली ने भी प्रेम भाव को ही अपनी काव्यकला का आधारभूत तत्त्व माना था, परन्तु यह प्रेमभाव टाल्सटाय के प्रेमभाव से सर्वथा

१ उपरिवत्, पृ० ४९।

भिन्न है। चूंकि शेली का नायक लोकपीडा और अत्याचार को सहन नहीं कर सकता, वह उत्साह मे भरकर प्रचंड वेग से अपने प्राणों की बाजी लगा देता है। टॉल्सटाय ने साम्प्रदायिक धारणा से अभिभूत हो, मनुष्य-मनुष्य मे भ्रातृ-प्रेम-सचार को ही एकमात्र काव्यतत्त्व कहा और कलावादियों ने "मनोरंजन मात्र की हल्की रुचि और दृष्टि की परिमिति के कारण" केवल कोमल और मधुर की लीक पकडी। परंतु माधुर्य भाव की कोमल व्यंजना को ही अपना चरम लक्ष्य न मानकर शेली ने भावों की अनेकरूपता का विन्यास किया। उसके प्रबंध काव्य मे स्थिर सौंदर्य के साथ गत्यात्मक सौंदर्य का एवं उपभोग-पक्ष के साथ प्रयत्न-पक्ष का मणिकांचन संयोग दीख पडता है। भारतवर्ष मे रवीन्द्रनाथ ठाकुर सरीखे लोग आनंद की साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलनेवाले यूरोपीय लोकमंगल-वादियों के अनुयायी हैं। ये लोग "मनुष्य-मनुष्य के बीच भ्रातृ प्रेम को ही काव्य-भूमि का एकमात्र आधिकारिक भाव मानते है।" इतना ही नहीं, लोकमंगलवादी साधनावस्था को लेकर भी माधुर्य भाव तक ही अपने को बद्ध रखते हैं—माधुर्य तथा कोमलता के साथ 'तीक्ष्णता, कठोरता और उग्रता का सामंजस्य' नहीं कर पाते। शुक्लजी करुणा को एक ऐसा व्यापक भाव मानते है जिसकी प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति सदैव रसात्मक होती है और अपने विवेचन की पुष्टि यथास्थान भवभूति तथा शेली के विचारों से ही करते है। भवभूति ने करुण रस को ही रसानुभूति का मूल कहा है और शेली के साक्ष्यानुसार "आवर स्वीटेस्ट सांग्स आर दोज दट टेल ऑव सडेस्ट थॉट"।—अर्थात सबसे मधुर या रसमयी वाग्धारा वही है जो करुण प्रसंग लेकर चले। शेली के काव्य की एक और विशेषता रही है—उसके बिंब। काव्य में बिंब विधान निस्संदेह बडे महत्त्व का होता है। वाल्मीकि, कालिदास आदि प्राचीन कवियों में यह (काव्य मे बिंब-स्थापना) पूर्णता को प्राप्त है। इन कवियों के साथ ही शेली को भी रखते हुए आचार्य शुक्ल कहते हैं—"अँगरेजी कवि शेली इसके लिए प्रसिद्ध हैं।" इस स्थल पर विवेचन और इसके मानक पाश्चात्य समीक्षा से अनुप्राणित तथा प्रेरित हैं। भाषा के दो पक्ष कहे गए हैं—एक सांकेतिक (सिम्बालिक) और दूसरा प्रत्यक्षात्मक (प्रेजेंटेटिव) और अप्रस्तुत रूप विधान में हाइपेलेज, मेटानिमी आदि अलंकारों की चर्चा निवेशित कर दी गई है।

शुक्लजी के शेली-संबंधी इन निर्देशों से सर्वप्रथम यह सिद्ध होता है कि समीक्षक ने महाकवि की रचनाओं का समुचित अध्ययन ही नहीं किया था, उनमे मनोनुकूल जीवन-बोध की अभिव्यक्ति देखी थी और इससे अपनी धारणाओं मे स्थायित्व उत्पन्न किया था। हो सकता है शेली के काव्य से ही शुक्लजी के साहित्य तथा

जीवन-संबंधी कतिपय विचार निःसृत हुए हों। यह भी संभव है कि "रिवोल्ट ऑव इसलाम' के प्रति इन निर्देशों का मूल प्रभाव न होकर केवल भाव-सादृश्य हो, शैली की धारणाओं से मिलती जुलती शुक्लजी की कतिपय पूर्वनिर्मित धारणाएँ रही हों। साहित्य जगत में ऐसी बातें प्रायः देखने-सुनने को मिलती हैं। कोई लेखक यदि किसी की प्रशंसा करता है तो इसका यह अर्थ नहीं होता कि वह प्रशंसित व्यक्ति से प्रभावित ही हुआ है। समादर एवं श्रद्धा के मूल में विचार सादृश्य ("लाइक माइण्डेडनेस") भी हो सकता है। उदाहरणार्थ, क्लाइव एकसटन यदि स्ट्रीजग की और जान आर्डेन ग्रेस्ट की प्रशंसा करता है तो इसका यह कारण नहीं कि एकसटन तथा आर्डेन स्ट्रीजग और ग्रेस्ट से प्रभावित ही हुए हैं। वस्तुतः प्रशंसा का कारण यहाँ भाव सादृश्य ही है।

किंतु समीक्षा अनुमानों और अधकचरी उपकल्पनाओं पर जीवित नहीं रह सकती। 'हो सकता है', 'संभवतः', 'जान पड़ता है' इत्यादि समीक्षक की रचनाओं को अधःक्षरित (अंडरमाइन) करते और उसके तर्कों को दुर्बल बनाते हैं। इसलिए अनुसंधाता को चाहिए कि वह शुक्लजी की समीक्षात्मक कृतियों में कुछ ऐसे स्थलों का चयन करे जिन पर पाश्चात्य प्रभाव के अमिट एवं अभ्रांत चिह्न वर्तमान हों ही। परंतु जैसा पूर्व पृष्ठों में दिखाया जा चुका है, शुक्लजी के समीक्षक में प्रभावों को आत्मसात करने, पचाने और उनसे एक अभिनव स्वरूप निर्माण करने की प्रतिभा थी। इसलिए "अत्यंत आत्मविश्वास के साथ उसने एक ओर वर्धमान ज्ञान का उपयोग करते हुए प्राचीन सिद्धांतों को व्यापक आधार प्रदान किया है और दूसरी ओर पाश्चात्य वादों एवं मतों की कुज्झटिका में से निर्भ्रान्त होकर केवल ऐसे ही प्रकाश-कणों को ग्रहण किया जिनके पीछे विवेक का दृढ़ आधार था और जो भारत की मूलवर्ती चिन्ताधारा के अनुकूल थे।"[1] यही कारण है कि प्रभावों की दृष्टि से शुक्लजी के कृतित्व का विश्लेषण-वर्गीकरण तरह-तरह की समस्याएँ उपस्थित करता है। जहाँ हम पाश्चात्य प्रभाव समझ लेने को तत्पर होते ही हैं कि वहाँ सूक्ष्म परिनिरीक्षण से पौरस्त्य परम्पराओं का ही सर्वाधिक आश्रयण दीख पड़ता है, जहाँ पाश्चात्य परम्पराओं के प्रभूत ऋण का अनुमान होता है वहाँ तत्त्वतः पौरस्त्य साहित्यशास्त्र का ही सर्वाधिक प्रभाव रहता है।

"रस-मीमांसा" में वह स्वयं की ओर भी कितने ही सचेत हुए हैं। शुक्लजी के अनुसार 'अँगरेजी के पिछले कवियों में"—उन्नीसवीं शती के रोमांटिक

---

1 डा० नगेन्द्र, रस सिद्धांत (दिल्ली, १९६४), पृ० ७३।

कवियो म—वड्स्वथ की दृष्टि सामान्य, चिर-परिचित, सीधे-सादे, प्रशात और मधुर दृश्यो की ओर रहती थी, परन्तु शेली की असाधारण, भव्य तथा विशाल की ओर। इस कथन म निहित सत्य की पुष्टि वड्स्वथ तथा शेली की कविताओ के मर्मज्ञ पाश्चात्य समीक्षक भी करते हैं किंतु प्रस्तुत सदभ मे इसके महत्त्व का एक आर भी कारण है। इस कथन से इस बात को अतिरिक्त प्रामाणिकता भी मिलती है कि शुक्लजी ने इन कवियो के प्रकृति चित्रण का—प्रकृति विषयक काव्य का—तुलनात्मक दृष्टिकोण से अध्ययन किया था। सभवत रोमाटिक कविता और काव्यसबधी मान्यताओ से प्रभावित अभिरुचि के कारण ही शुक्लजी न भावना और कल्पना पर इतना बल दिया है। जसा अन्यत्र कहा जा चुका है उन्होने एडिसन के "कल्पना का आनद" शीषक निबध का रूपातर किया था और वे इस बात से पूणतया अवगत थे कि पाश्चात्य काव्य-मीमासा में कल्पना को बहुत प्रधानता दी गई है। परन्तु वे कल्पना को यथेष्ट महत्त्व देकर भी उसे साध्य नहीं मानते। "काव्य के विभाग" के अतगत माधुय-पक्ष के विवेचन मे उन्होने दो बडे सटीक उदाहरण प्रस्तुत किए हैं—एक भारतीय वाङमय से और दूसरा पाश्चात्य साहित्य से। लेखक ने पहले महाकवि कालिदास के प्रकृति प्रेम की ओर निर्देश किया है फिर 'परम भावुक अँगरेज कवि वड्स्वथ" की एक कविता की ओर संकेत करते हुए अपने इस मत की पुष्टि की है कि सामान्य से सामान्य, तुच्छ से तुच्छ वस्तुओ और दृश्यो म माधुय का पूरा आकषण रहता है।"[1] वस्तुत वड्स्वथ प्रकृति का अनन्य उपासक था और उसकी कविताओ मे ऐसे अनेक प्रगीत (लिरिक्स) हैं जो इस बात का द्योतन करते हैं कि कवि के लिए 'सामान्य मे सामान्य प्राकृतिक वस्तुओ' का वही महत्त्व था, जो असामान्य दृश्यो का। इस प्रकार शुक्लजी यदि "साहित्य-दपण" से प्रभावित हुए जान पडते हैं तो उनके विचारो के दृढीकरण एव सम्यक् पोषण म 'द रिवर डडन', "ऐरा रिविजिटेड" सदृश कविताओ और सग्रहो का भी योग दीख पडता है।

सामान्यत वड्स्वथ का पथक् उल्लेख न कर आचाय शुक्ल की समन्वयकारी प्रतिभा एक ही अनुच्छेद म पूव एव पश्चिम का आह्लादजनक सुसगत सयोग उपस्थित करती है वड्स्वथ को कभी वाल्मीकि के साथ रखती है और कभी कालिदास तथा भवभूति के साथ। वाल्मीकि और वड्स्वथ म एक तात्त्विक समानता पायी जाती है। दोनो ही प्राकृतिक दृश्यो का वणन "पूण तल्लीनता से

1 रस-मीमासा, पृ० ६७। द्रष्टव्य "काव्य मे रहस्यवाद" (चिंतामणि, भा० २) पृ० १३२ १३५।

करते हैं" उन्होंने केवल "महफिली शायरी" न की, न चमन, गुल, बुलबुल आदि का ही "विलास की सामग्री के रूप में" वर्णन किया। दोनों ने जंगली पेड़ों और नदी-नाले के किनारे उगनेवाली झाड़ियों का वर्णन प्रस्तुत कर यह स्पष्ट कर दिखाया है कि 'मनुष्य की उसके व्यापार-गत से बाहर प्रकृति के विशाल और विस्तृत क्षेत्र में ले जाने की शक्ति फारस की परिमित काव्य-पद्धति में नहीं है—भारत और योरप की पद्धति में है।'[1]

शेली, वर्ड्सवर्थ, मेरिडिथ आदि कवि शुक्लजी के साक्ष्य के अनुसार तथ्य-ग्रहण में अत्यन्त निपुण थे। इन बड़े-बड़े कवियों ने भारतवर्ष के प्राचीन कवियों की रचना-शैली पर कोरे प्राकृतिक दृश्यों का बिना किसी दूसरे तथ्य विधान के, बड़ा ही सूक्ष्म और संश्लिष्ट चित्रण किया है—और बहुत अधिक किया है।"[2] शुक्लजी ने 'काव्य में रहस्यवाद' शीर्षक निबंध में वर्ड्सवर्थ की 'एक शिक्षा' ("अ लेसन") नामक कविता की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की हैं और कविता का भावार्थ देकर यह दिखाया है कि वर्ड्सवर्थ में अभिव्यक्ति की प्रकृत प्रतीति के भीतर प्रकृति की सच्ची व्यंजना के आधार पर जो भाव, तथ्य या उपदेश निकाले जायेंगे वे भी काव्य होंगे।[3] वर्ड्सवर्थ और रोमांटिक सम्प्रदाय के अन्य कवियों की तरह शुक्लजी उपर्युक्त निबंध में 'कवि का मूल गुण भावुकता अर्थात् अनुभूति की तीव्रता' ही मानते हैं। कल्पना के बिना कवि अपनी अनुभूति संप्रेषित नहीं कर सकता और चूँकि अनुभूति को दूसरे तक पहुँचाना ही कवि-कर्म है, कवि के लिए कल्पना और भावुकता दोनों अनिवार्य हो जाते हैं।[4] इस प्रकार वर्ड्सवर्थ, कोलरिज, शेली प्रभृति कवियों के काव्य-संबंधी विचारों के मूल में भी कल्पना और भावुकता ही है, न कि नव्यशास्त्रवादियों का यह विश्वास कि कविता बुद्धि-प्रधान रचना होती है एवं सचेतन प्रक्रिया है।

शुक्लजी ने वर्ड्सवर्थ तथा शेली की कविताओं का कितना गहन अध्ययन किया था, इसका ईषत् अनुमान 'काव्य में रहस्यवाद' शीर्षक आलोचनात्मक निबंध से भी किया जा सकता है। वस्तुतः यह निबंध ही इस बात का अकाट्य प्रमाण है कि शुक्लजी ने पाश्चात्य साहित्य का—समीक्षा और सर्जनात्मक कृतियों का—अत्यन्त गंभीर अनुशीलन किया था और वे इसकी अनेकरूपात्मक परम्पराओं

---

१ उपरिवत्, पृ० ९२।
२ चिंतामणि (भाग २), पृ० ६४-६५।
३ उपरिवत्, पृ० ६२।
४ उपरिवत्, पृ० १०४।

तया प्रवृत्तियो से अच्छी तरह अवगत थे।[1] इसी निबंध में उन्होंने वर्ड्स्वर्थ और शेली की रहस्य भावना की ओर निर्देश किया है और वर्ड्स्वर्थ की कविताओं में सर्ववाद (पथेइज्म) की झलक पायी है। ब्रैडले, क्रोचे, क्लाइव बेल आदि पाश्चात्य लेखकों के आधारभूत सिद्धांतों से भी वे पूर्णतः परिचित थे और इन सबकी निष्पक्ष आलोचना करने की अपूर्व क्षमता रखते थे। कालरिज की "कल्पना" की तरह उनकी भी प्रतिभा समन्वयवादी थी और वे किसी किसी कलाकृति को परम्परा से अथवा ऐसी ही अन्य कृतियों से पृथक् रखकर परखने में असमर्थ थे। परन्तु स्वच्छन्दतावाद पर आधृत एवं उसमें परिपोषित रसवादी अभिवृत्ति पर युगीन विज्ञान के प्रभाव के कारण उनमें भी वैसा ही द्वंद्व पाया जाता है जैसा टेनिसन, आर्नल्ड में अथवा अधुनातन कवियों में। उनमें एक ओर तो पारम्परीण रीति-काव्य की गहणा मिलती है, दूसरी ओर नव्य प्रयोगों की अस्वीकृति तथा उनके प्रति उदासीनता। इसलिए ई० ई० कमिंग्ज की कविताओं को उन्होंने 'विलक्षण तमाशा' कहा है और उनमें प्रयुक्त पदभंग, पदलोप, वाक्यलोप तथा अक्षरविन्यास, चरण विन्यास इत्यादि को "कलाबाजी" की संज्ञा दी है। तदनन्तर आचार्य शुक्ल ने यह प्रश्न किया है "इस प्रकार के ढकोसलों पर सहृदय समाज क्या ध्यान देने जायगा?"[2] इसके उत्तर में कहा जाता है कि इन "ढकोसलों" को पाश्चात्य समाज का अनुमोदन प्राप्त है और

---

१ "योरप के समीक्षा-क्षेत्र में उठते रहनेवाले वादों के संबंध में" शुक्लजी ने कहा है कि वे प्रायः "एकांगदर्शी होते हैं, वे या तो प्रतिवर्त्तन (रिऐक्शन) के रूप में अथवा प्रचलित मतों में कुछ अपनी विलक्षणता या नवीनता दिखाने की झोंक में, जोर-शोर के साथ प्रकाशित किए जाते हैं, इससे उनमें अत्युक्ति की मात्रा बहुत अधिक होती है।' (चिंतामणि, २, पृ० ९७) योरप में साहित्य-संबंधी आंदोलनों के संबंध में एक और बात विचारणीय है वह यह कि वहाँ "आंदोलनों की आयु बहुत थोड़ी होती है। कोई आंदोलन १२ या १२ वर्ष से ज्यादा नहीं चलता। ऐसे आंदोलनों के कारण वहाँ इस बीसवीं शताब्दी में आकर काव्यक्षेत्र के बीच बड़ी गहरी गड़बड़ी और अव्यवस्था फैली। काव्य की स्वाभाविक उमंग के स्थान पर नवीनता के लिए आकुलता मात्र रह गई। " (रस-मीमांसा, पृ० २६३)। इस संबंध में पुनः दे० 'काव्य में रहस्यवाद' (चिंतामणि, २) पृ० १०७।

२ रस-मीमांसा, पृ० २७०। चिंतामणि, २, पृ० २३३।

करते हैं", उन्होंने केवल "महफिली शायरी" न की न चमन, गुल, बुलबुल आदि का ही "विलास की सामग्री के रूप में" वर्णन किया। दोनों ने जंगली पेड़ों और नदी-नाले के किनारे उगनेवाली झाड़ियों का वर्णन प्रस्तुत कर यह स्पष्ट कर दिखाया है कि "मनुष्य को उसके व्यापार-गत से बाहर प्रकृति के विशाल और विस्तृत क्षेत्र में ले जाने की शक्ति फारस की परिमित काव्य-पद्धति में नहीं है—भारत और योरप की पद्धति में है।"[1]

शेली वर्ड्सवर्थ, मेरिडिथ आदि कवि, शुक्लजी के साक्ष्य के अनुसार, तथ्य-ग्रहण में अत्यन्त निपुण थे। इन "बड़े-बड़े कवियों ने भारतवर्ष के प्राचीन *कवियों की रचना शैली पर 'कोरे प्राकृतिक दृश्यों का बिना किसी दूसरे तथ्य* विधान के बड़ा ही सूक्ष्म और संश्लिष्ट चित्रण किया है—और बहुत अधिक किया है।"[2] शुक्लजी ने 'काव्य में रहस्यवाद' शीर्षक निबंध में वर्ड्सवर्थ *की 'एक शिक्षा' ("अ लेसन्") नामक कविता की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की हैं* और कविता का भावार्थ देकर यह दिखाया है कि वर्ड्सवर्थ में अभिव्यक्ति की प्रकृत प्रतीति के भीतर प्रकृति की सच्ची व्यंजना के आधार पर जो भाव तथ्य या उपदेश निकाले जायँगे वे भी काव्य होंगे।[3] वर्ड्सवर्थ और रोमांटिक सम्प्रदाय के अन्य कवियों की तरह शुक्लजी उपर्युक्त निबंध में 'कवि का मूल गुण भावुकता अर्थात् अनुभूति की तीव्रता" ही मानते हैं। कल्पना के बिना कवि अपनी अनुभूति सम्प्रेषित नहीं कर सकता और चूँकि अनुभूति को दूसरे तक पहुँचाना ही कवि कर्म है कवि के लिए कल्पना और भावुकता दोनों अनिवार्य हो जाते हैं।[4] इतर वर्ड्सवर्थ कालरिज, शेली प्रभृति कवियों के काव्य-संबंधी विचारों में मूल में भी कल्पना और भावुकता ही है न कि नव्यशास्त्रवादियों का यह विश्वास कि कविता बुद्धि प्रधान रचना होती है एवं सचेतन प्रक्रिया है।

शुक्लजी ने वर्ड्सवर्थ तथा शेली की कविताओं का कितना गहन अध्ययन किया था इसका ईषत् अनुमान 'काव्य में रहस्यवाद' शीर्षक आलोचनात्मक निबंध से भी किया जा सकता है। वस्तुतः यह निबंध ही इस बात का अकाट्य प्रमाण है कि शुक्लजी ने पाश्चात्य साहित्य का—समीक्षा और सर्जनात्मक कृतियों का—अत्यन्त गंभीर अनुशीलन किया था और वे इसकी अन्तरंगात्मक परम्पराओं

---

१ उपरिवत्, पृ० ९२।

२ चिन्तामणि (भाग २), पृ० ६४-६५।

३ उपरिवत्, पृ० ६२।

४ उपरिवत्, पृ० १०४।

तया प्रवत्तियो मे अच्छी तरह अवगत थे।[१] इसी निबंध म उन्होंने वड्स्वथ और शेली की रहस्य भावना की ओर निर्देश किया है और वड्स्वथ की कविताओ म सववाद (पथेइज्म) की झलक पायी है। ब्रैडले, क्राचे, काडवेल आदि पाश्चात्य लेखको के आधारभूत सिद्धाता से भी व पूणत परिचित थे और इन सबकी निष्पक्ष आलोचना करने की अपूव क्षमता रखते थे। कालरिज की 'कल्पना" की तरह उनकी भी प्रतिभा समन्वयक थी और वे कभी किसी कलाकृति को परम्परा से अथवा ऐसी ही अन्य कृतियो से पथक करके परखने मे असमथ थ। परन्तु स्वच्छदतावाद पर आधत एव उससे परिपोषित रसवादी अभिव्यक्ति पर युगीन विज्ञान के प्रभाव के कारण उनम भी वसा ही द्वद्व पाया जाता है जसा टेनिसन, आँनल्ड म अथवा अधुनातन कविया म । उनम एक ओर तो पारम्परीण रीति-काव्य की गहणा मिलती है, दूसरी ओर नव्य प्रयागो की अस्वीकृति तथा उनके प्रति उदासीनता। इसलिए ई० ई० कमिग्ज की कविताम्रो को उन्होंने 'विलक्षण तमाशा' कहा है और उनम प्रयुक्त पदभग, पदलोप वाक्यलोप तथा अक्षरविन्यास, वर्णविन्यास इत्यादि को 'कलाबाजी' की सज्ञा दी है। तदनतर आचाय शुक्ल ने यह प्रश्न किया है "इस प्रकार के ढकोसलो पर सहृदय समाज क्या ध्यान देने जायगा ?"[२] इसके उत्तर म कहा जाता है कि इन ढकोसलो' को पाश्चात्य समाज का अनुमोदन प्राप्त है और

---

१ "योरप के समीक्षा-क्षेत्र मे उठते रहनेवाले वादो के सबध मे" शुक्लजी ने कहा है कि वे प्राय "एकागदर्शी होते हैं, वे या तो प्रतिवत्तन (रिऐक्शन) के रूप मे अथवा प्रचलित मतों से कुछ अपनी विलक्षणता या नवीनता दिखाने की झाक मे, जोर-शोर के साथ प्रकाशित किए जाते हैं , इससे उनमे अत्युक्ति की मात्रा बहुत अधिक होती है। (चितामणि, २, पृ० ९७) योरप मे साहित्य-सबधी आदोलनो के सबध मे एक और बात विचारणीय है यह यह कि वहाँ "आदोलनो की आयु बहुत थोडी होती है। कोई आदोलन १२ या १२ वष से ज्यादा नहीं चलता। ऐसे आदोलनों के कारण यहाँ इस बीसवीं शताब्दी मे आकर काव्यक्षेत्र के बीच बडी गहरी गडबडी और अव्यवस्था फली। काव्य की स्वाभाविक उमग के स्थान पर नवीनता के लिए आकुलता मात्र रह गई। " (रस-मीमासा, पृ० २६३)। इस सबध मे पुन दे० 'काव्य मे रहस्यवाद' (चितामणि, २) पृ० १०७।
२ रस-मीमासा, पृ० २७०। चितामणि, २, पृ० २३३।

कमिंग्ज की रचनाएँ उत्तरोत्तर लोकप्रियता पाती रही हैं। शुक्लजी का यह कथन कि "वर्तमान कवियों में कमिंग्ज का नाम शायद ही कोई लेता हो" उपलब्ध तथ्यों के आलोक में न्यायसंगत नहीं दीखता। कमिंग्ज के संबंध में ऐसे विचार शुक्लजी सरीखे क्रान्तदर्शी समीक्षक के लिए असामान्य प्रतीत होते हैं। ऐसे निर्णयों में वाग्वैदग्ध्य की प्रधानता मिलती है तर्क-संगत विवेचन और विश्लेषण नहीं। इसी कारण प्रश्न किए गए हैं और लेखक ने अपनी ओर से संक्षेप में तथा बड़े ही आश्वस्त भाव से, उनका एक ही उत्तर देकर अपनी पूरी समस्या का एक अत्यन्त सरल समाधान खोज निकाला है। केवल 'साधारणीकरण' के प्राचीन निकष पर आधुनिक काव्य की (कमिंग्ज जैसे कवियों की रचनाओं की) मीमांसा असमीचीन होगी। साधारण पाठकों की तरह सभी नव्य प्रयोगों को नई शैलियों एवं नये छंदों और अलंकारों को संदेह की दृष्टि से देखना युक्तिसंगत न होगा। स्वयं शुक्लजी के साक्ष्यानुसार

> अलंकार है क्या? सूक्ष्म दृष्टिवालों ने काव्यों के सुन्दर सुन्दर स्थल चुने और उनकी रमणीयता के कारणों की खोज करने लगे। कौन कह सकता है कि काव्यों में जितने रमणीय स्थल हैं, सब ढूंढ डाले गए, वर्णन की जितनी सुन्दर प्रणालियाँ हो सकती हैं सब निरूपित हो गईं अथवा जो-जो स्थल रमणीय लगे उनकी रमणीयता का कारण वर्णन प्रणाली ही थी? आदिकाव्य रामायण से लेकर इधर तक के काव्यों में न जाने कितनी विचित्र वर्णन प्रणालियाँ भरी पड़ी हैं जो न निर्दिष्ट की गई हैं और न जिनके कुछ नाम रखे गए हैं।[1]

कमिंग्ज, पाउन्ड, हापकिन्स, मलार्मे, आडेन आदि ने परम्परागत छंदों अलंकारों, शब्दों का यथाशक्य परित्याग कर इस विश्वास से कि वर्तमान युग की नव्यतम अनुभूतियों के अनुकूल भाषा शैली, पद विन्यास तथा विराम चिन्हों के प्रयोग होने चाहिएँ शब्दों की तथाकथित कलाबाजी दिखायी है। परम्परागत पद विन्यास से अब काम चलने को नहीं है इससे तथा अन्य कारणों से राबर्ट ग्रेव्ज ने कमिंग्ज की 'कलाबाजी' का समर्थन किया है और एक अधुनातन समीक्षक ने इस संदर्भ में कहा है कि मुद्रण-तथा विराम चिह्न-संबंधी कतिपय प्रचलनों से हम इतना अभ्यस्त हो गए हैं कि उनकी उपेक्षा होते ही हम पूर्णतया व्यग्र हो उठते हैं, घबरा जाते हैं। किसी कविता का इस प्रकार मुद्रित होना

---

१ रस-मीमांसा, पृ० ४२ ४३।

कि उसका प्रत्येक छंद मणि के आकार का हो अथवा किसी ज्यामितीय आकृति के समान लगे अधिकांश पाठकों को इस हद तक अरुचिकर लगता है कि (यदि यह कविता जान-बूझकर हास्यप्रद न हुई तो) वे इसे दुर्बोध तथा निष्प्रयोजन घोषित करने का बहाना ढूँढने लगते हैं। कुछ पाठकों के अनुसार अँगरेजी कविता की प्रत्येक पंक्ति बड़े अक्षर से आरम्भ हो परन्तु ऐसे ही पाठक लैटिन कविता के मुद्रण में विपरीत परम्परानुसरण की माँग करते हैं। हॉपकिंस की कविताओं के रूपाकार से ही उसके कुछ सामयिक पाठक क्षुब्ध हो उठे थे। कमिंग्ज की मुद्रण-सम्बन्धी नवोन्मेषणाओं का समर्थन रॉबर्ट ग्रेव्ज ने इस आधार पर किया है कि इससे कमिंग्ज को अधिकाधिक काव्यगत विशुद्धता और यथार्थता उपलब्ध हुई है और साथ ही इससे भविष्य में मुद्रकों एवं सम्पादकों द्वारा कविताओं के मूलपाठ में अनधिकृत परिवर्तन नहीं हो सकेगा।[1] पश्चिम के अधिकांश समीक्षकों के लिए यह निर्विवाद है कि कमिंग्ज की कविताएँ ढकोसला

---

१ We have grown so accustomed to certain conventions of typography and of punctuation that any flouting of them is apt to baffle us completely The printing of a poem in such a way that each stanza assumes the form of a diamond or of a geometrical figure irritates most readers (unless the poem is avowedly comic) to such an extent that they look for any excuse to condemn it as obscure Some readers are prejudiced against English poetry unless each line begins with a capital letter although these same people demand precisely the opposite convention in the printing of Latin verse The mere physical shape of some poems by Hopkins upset certain of the few contemporaries who read his verse the nearest approach to such a system is to be found in the typographical eccentricities of E E Cummings which Robert Graves has defended on the grounds that Cummings has thereby attained a new degree of poetic accuracy as well as ensuring that no future editors or printers shall tamper with his text John Press, *The Chequer d Shade* (London 1958) pp 14 et seq

नहीं हैं—ये वैसी ही प्रकृत अभिव्यक्ति है जैसी वर्ड्सवर्थ की कविताएँ और शेली के प्रगीत। इस संदर्भ में निम्नलिखित कविता प्रस्तुतोपयोगी है

प्रतिमा

बफ़लो बिल
निष्क्रिय है
जो जलसुचिक्कण रजतवत्
जननाश्व पर
आरोहण में अभ्यस्त था
और एकदोतीनचारपाँच मसिरंग कपोतों को
ऐसे ही तोड़ डालता था
प्रभो
वह सुंदर था
और मैं जानना चाहता हूँ कि
तुम्हें अपना नीलाभ लड़का कैसा लगता है
मिस्टर डेथ[1]

इस कविता में रूढ़ियों का जो निर्मम परित्याग दीख पड़ता है, उसी में इसकी सफलता का मर्म निहित है। अत्यंत साधारण से विषय को लेकर उसमें कवि ने अभिनव जीवन का संचार किया है और उसे मूर्त अभिव्यक्ति दी है। मृत्यु के सर्वाधिकार का वर्णन विश्व के प्रत्येक कोने में, प्रायः प्रत्येक युग में हुआ है।

---

१ PORTRAIT

Buffalo Bill s
defunct
who used to
ride a watersmooth silver
stallion
and break onetwothreefourfive pigeonsjustlikethat Jesus
he was a handsome man
and what i want to know is
how do you like your blueeyed boy
Mister Death

शेक्सपियर के जमाने में, जान डन और वेब्स्टर के युग में, दर्जनों कविताएँ इसी विषय पर लिखी गई थीं। विश्व के अगणित कवि-पुंगवों ने मृत्यु के सृष्टिव्यापी प्रभुत्व का वर्णन किया है। इसलिए ऐसे विषय पर कविता रचने का अर्थ होता है जानी-पहचानी या परायी अनुभूतियों की भावुकतापूर्ण अभिव्यक्ति और पिष्टपेषण। निष्प्राण बिंबों और कुंठित शब्दों के माध्यम से ही मृत्यु की विभीषिका का चित्रण हुआ करता है। कवि जीवन की क्षणभंगुरता का वर्णन करते हुए कतिपय उच्छिष्ट एवं पर्युषित उपमाओं द्वारा अपने भावों का संप्रेषण करते हैं और प्रत्येक पद को अपने अश्रुओं से सिक्त कर इठलाती-गर्वित फूलों और बुदबुदों की नश्वरता की याद दिलाते हैं। कमिंज ने इन परम्परागत शैलियों का परित्याग कर अपने विषय के प्रति एक अभिनव मनोदृष्टि का परिचय दिया है। वह मृत्यु से भयभीत नहीं होता और न उसके सामने नतशिर हो जाता है। वस्तुतः मृत्यु के प्रति उसके दृष्टिकोण में उपेक्षा और तिरस्कार के भाव सन्निहित हैं

बफ़्फ़ैलो बिल
निष्क्रिय है

कवि यह नहीं कहता कि बफ़्फ़ैलो बिल का स्वर्गवास हो चुका है अथवा वह मर गया है। कवि स्वर्गीय आत्मा के प्रति श्रद्धा का वैसा प्रदर्शन नहीं करता है जैसा कविगण प्रायः करते हैं। उसकी अभिव्यक्ति इतिवृत्तात्मक निर्भीक, यत्किंचित अपमानपूर्ण तथा हास्य-विनोद से संयुक्त है। इसके अतिरिक्त हमारे समक्ष जो चित्र प्रस्तुत है वह एक जीवन्त और गतिमान चित्र है। अश्व को 'जलमुक्तिवर्ण रजतावर्त' कहा गया है। इस विशेषण के द्वारा घोड़े का एक दाष्टिक (visual) वर्णन ही प्रस्तुत नहीं किया गया इसमें एक गतिक (kinetic) चित्रण भी निहित है। इसके बाद इस सुन्दर अश्वारोही की कर्मठता एवं निपुणता का वर्णन यह कहकर किया गया है कि वह त्वरित क्रम से पाँच-पाँच मृत्तिका-कपोतों (claypigeons) को तोड़ डालने में समर्थ था। अन्त में मृत्यु से जो प्रश्न किया गया है, उसमें भी कवि का वही अनादरभाव निहित है जिससे कविता का आरम्भ होता है।[1]

यदि कमिंज की कविताओं का यत्किंचित सूक्ष्म विश्लेषण हो तो उनमें अधिकांश ऐसी ही सारगर्भ एवं सटीक प्रतीत होंगी। ऊपर से वे शब्दों की कलों

---

१ दे० क्लींथ ब्रुक्स तथा रॉबर्ट पेन वरेन, अण्डरस्टैंडिंग पोयट्री (न्यू यॉर्क, १९६०), पृ० १८६।

वाजी भले ही दीख पड़ें, परंतु उनमें प्रचुर भाव-गांभीर्य होता है और उनमें प्रयुक्त विवादि बड़े सटीक होते हैं। इसलिए उनके प्रत्येक शब्द पर प्रत्येक सर्वनाम और प्रत्येक विराम चिह्न पर ध्यान देना आवश्यक हो जाता है।[1] वस्तुत कविता पढ़ते समय हमें इस बात का खयाल रखना चाहिए कि हम कोई सरल गद्य रचना का पाठ नहीं कर रहे हैं और कि कविता अपेक्षया अधिक संश्लिष्ट अभिव्यक्ति होती ही है।

परंतु आचार्य शुक्ल आधुनिकता के विरोधी न होकर चमत्कारवाद के ही विरोधी हैं। नई कविता के समर्थकों ने भी यह स्वीकार किया है कि कभी-कभी नव्य प्रयोगों के मूल में पांडित्य प्रदर्शन और अर्थ शून्यता छिपाने की ही भावना सक्रिय देखी जाती है जैसे इन पंक्तियों में—

हुँस क्रस प्रोलेप्टिक आव द विस
देयर पार्टेड लिप्स स्टुड प्वायज्ड इन एयर
नो स्टल्र परलेक्स कुड टीयर
हाट फ्राम हाट इन हेण्डिएडिस

जान प्रेस ने स्वीकार किया है कि इन पंक्तियों में सच्ची और स्वाभाविक अभिव्यक्ति के स्थान पर निपट वाग्जाल है कलात्मक आवरण की तह में कल्पना की फड़फड़ाहट है।[2] यहाँ न अनुभूति की तीव्रता है न कल्पना उस अनुभूति

---

१ Cf 'Anyone who has spent much time finding out what people do when they read a poem what poems actually mean for them will have discovered that a surprising part of the difficulty they have comes from their almost systematic unreceptiveness their queer unwillingness to pay attention even to the reference of pronouns the meaning of the punctuation which subject goes with which verb and so on after all they seem to feel I m not reading *prose* —Randall Jarrel, *Poetry and the Age* (New York 1962) p 11

२ This is wit writing of the worst kind a calculated euphuism parading in scientific plumage frigid fancy masquerading as elegant precision It illustrates the dangers that beset any poet who, departing from the commonly accepted speech.

की सहयोगिनी। शुक्लजी का उद्देश्य सच्ची अनुभूति की गहणा नहीं, प्रमाता को चमत्कृत करनेवाले प्रयोगों से हिन्दी-काव्य को यथाशक्ति मुक्त रखना है। वस्तुत उनके लिए कविमिज्म की कविता उस प्रवृत्ति का ज्वलन्त प्रतीक है जिसमें हिन्दी कवि अभिभूत हो चले थे और जो रीतिकाल के उक्ति-वैचित्र्य में देखी जा सकती है। अपने निर्मम विवेक एवं रहस्योन्मेषिणी बुद्धि के कारण वे कल्पना या भाव की उमंग, "अनुभूति की तीव्रता', और 'भावुकता" के वाद रखते हैं और रसानुभूति या काव्यानुभूति को जीवन से परे नहीं मानते। कविता के सिडनी, शैली सरीखे प्रशंसक कहा करते हैं कि वह "स्वर्ग से गिरती हुई सुधाधारा है, नंदनवन के कुसुमों से टपकी मकरन्द की बूंद है, वह पार्थिव जीवन से परे है उसका एक दूसरा ही जगत् है, वह पगम्बर है औलिया है, रहस्यदर्शी है। '[१] निस्सन्देह ऐसी प्रशस्ति निराधार होती है और इसमें "अर्थशून्य पदावली" का ही प्राचुर्य पाया जाता है। आचार्य शुक्ल अँगरेजी समीक्षा की इस स्वच्छंदतामूलक प्रवृत्ति को पसद नहीं करते और इस दृष्टि से वे अद्यतन पाश्चात्य समीक्षा के सन्निकट दीखते हैं। रिचड्‌स मलार्मे, पॉल वलेरी एलियट प्रभृति पाश्चात्य कवि-आलोचक काव्य रचना में विवेक-बुद्धि के सक्रिय योग का समर्थन करते हैं और जानते हैं कि चूंकि कविता में प्रत्येक शब्द का विशिष्ट महत्त्व होता है, इसमें प्रयुक्त प्रत्येक शब्द सटीक एवं व्यंजक होगा ही। कविता शब्दों में आबद्ध रहती है, शब्दों में ही लिखी जाती है इसलिए कवि को सोच विचारकर प्रत्येक शब्द-नग को काव्य के सुष्ठु कलेवर में इस प्रकार जड़ना पड़ता है कि वह अशोभन प्रतीत न हो। समग्रत कविता पार्थिव सृष्टि है, भौतिक है। इसकी रचना दैवी प्रेरणा से नहीं, मनुष्य की निजी अनुभूतियों से (जिनका उद्दीपन ऐहिक वस्तुएँ करती हैं) होती है। इसका स्रष्टा कोई अत्यंत असाधारण दिव्य पुरुष नहीं होता वह तो एक ऐसा व्यक्ति होता है जिसे अनुभूति की तीव्र संवेदना एवं कल्पना-शक्ति प्राप्त होती है और 'जिसे लोक हृदय की पहचान हो"।

शुक्लजी की इस भौतिकता पर पाश्चात्य विज्ञान-मनोविज्ञान का प्रभूत प्रभाव है। वे रिचड्‌स द्वारा समर्थित उस विचार का पोषण करते हैं जिसके अनुसार कला से उद्‌भूत आनन्द लोकोत्तर नहीं होता। ब्रडले, क्लाइव बेल और

of his own day adopts an arcane vocabulary drawn from a remote age or from an unfamiliar branch of learning —John Pres- op cit p 12

१ चिंतामणि, भाग २, पृ० १०६।

गोरी के मत उन्हें स्वीकार्य नहीं हैं, क्योंकि इन समीक्षकों के मतानुसार "कविता का क्षेत्र जीवन-क्षेत्र से बिल्कुल अलग है। कविता का विचार करते समय जीवन की बातों को तो लाना ही न चाहिए। कला की कृति का मूल्य निर्धारित करने में बाहरी बातों के मूल्य का विचार व्यर्थ है। कला का तो अपना मूल्य अलग ही है।'[1] इस प्रकार के मतवाद "कलावादी हमारी धारणा के प्रतिकूल हैं।[2] काव्यरचना के स्वरूप के संबंध में "नक्काशी और बेलबूटों की भावना" को प्रश्रय देना समीचीन नहीं। काव्य का प्रभाव उस प्रकार का नहीं होता, जिस प्रकार बेलबूटों की सजावट और नक्काशी का है। रिचर्ड्स ने कलावादियों के मतों एवं सिद्धान्तों का खण्डन किया है — 'हर्ष की बात है कि इस मत का, तथा इसी प्रकार के और प्रचलित प्रवादों का निराकरण रिचर्ड्स ने अपने 'काव्य समीक्षा के सिद्धान्त' में बहुत अच्छी तरह कर दिया है।'[3] एक अन्य स्थल पर शुक्लजी ने रिचर्ड्स की प्रशंसा इन शब्दों में की है — 'आजकल के प्रसिद्ध अँगरेजी समालोचक रिचर्ड्स, जो योरपीय साहित्य में समीक्षा के नाम पर फैलाए हुए बहुत से अर्थशून्य वाग्जाल को हटाकर शुद्ध विवेचनात्मक समीक्षा का रास्ता निकाल रहे हैं, हमारे यहाँ के शब्द-शक्ति निरूपण के ढर्रे पर अर्थ-मीमांसा को लेकर चले हैं।'[4] 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' शीर्षक निबंध में पुनः कहा है — 'जो कुछ उसका अवशेष था ('कला के लिए ही कला' वाले वाद का अवशेष) उसे इंगलैंड के अत्यन्त निर्मल-दृष्टि वर्तमान समालोचक रिचर्ड्स ने योरपीय समीक्षा-क्षेत्र के बहुत से निरर्थक शब्दजाल और कूड़ा करकट के साथ हटा दिया है और साफ कह दिया है कि सदाचार से कला का घनिष्ठ संबंध है।'[5]

इस प्रशंसा के मूल में सबसे बड़ी बात यह है कि शुक्लजी रिचर्ड्स की तरह कविता को जीवन ही में उत्पन्न मानते हैं और उनका यह निश्चित विश्वास है कि कविता जीवन की सीमाओं के भीतर ही अपनी विभूति प्रकाशित करती है। 'उसे जीवन से विच्छिन्न बताना कहाँ की बात कहीं लगाना है।' 'कलावाद' और 'अभिव्यंजनावाद' समीक्षा के नाम पर अर्थशून्य वागाडम्बर हैं जिनके कारण समीक्षा-क्षेत्र में तरह-तरह की अर्थशून्य पदावली का प्रचलन हो गया है।

---

१ उपरिवत, भाग २, पृ० १०६ १०७।
२ उपरिवत, भाग २, पृ० ८२।
३ उपरिवत, पृ० १०७।
४ उपरिवत, पृ० १६४।
५ उपरिवत, पृ० १८५, १८९, १९२।

आचार्य शुक्ल को डा० ब्रेडले की यह उक्ति कि "कविता एक आत्मा है" हास्यास्पद लगती है। उन्हें टी० के० ह्लिप के विचार ग्राह्य हैं, क्योंकि ह्लिप्स भी रिचर्ड्स की तरह विशुद्ध कलावाद का विरोध करता है और कहता है कि कविता मनुष्य के जन्म की अनुभूति है, जो मनुष्य के ही हृदय में पहुँचाई जाती है। ह्लिप स्पिनगार्न के विचारों का निराकरण करता है और "कला स्वन" को निरर्थक घोषित करता है। इस कारण शुक्ल जी ह्लिप्स का समर्थन एवं स्पिनगार्न का खंडन करते हैं। इस प्रकार जान पड़ता है कि विचार-साम्य के कारण ही उन्होंने ह्लिप्स एवं रिचर्ड्स की प्रशंसा की है। पाश्चात्य समीक्षा में अपने पूर्व निर्धारित सिद्धान्तों का समर्थन पाकर वे आश्वस्त हुए होंगे अथवा जहाँ दुविधा रही होगी और विचार अपक्व रहे होंगे, वहाँ सशक्त प्रमाण पाकर उनमें आत्मविश्वास का उन्मीलन हुआ होगा। अतः परोक्ष रूप से रिचर्ड्स, ह्लिप्स प्रभृति आधुनिक पाश्चात्य समीक्षकों ने उन्हें अवश्य प्रभावित किया है। उन्होंने रिचर्ड्स में ऐसे अनेक सिद्धांत पाये जो उनके मनोनुकूल थे : (१) शुक्लजी और रिचर्ड्स की समीक्षा मनोविज्ञान से प्रभावित है (२) दोनों 'कला ही के लिए कला' वाले सिद्धांत का निराकरण करते है और कला को जड़ जीवन में व्याप्त पाते हैं (३) दोनों ही मानते हैं कि वैज्ञानिक या विचारात्मक समीक्षा ही कला निरूपणी समीक्षा है कल्पनात्मक या भावात्मक पदावली में लिखी गई समीक्षा निम्नकोटि की हवाई समीक्षा होती है और (४) इन दोनों समीक्षकों के मतव्यानुसार कला में उद्भूत आनंद लोकोत्तर नहीं होता। जहाँ तक शुक्लजी का संबंध है, प्रमाता के मन में ऐसी धारणा दृढ़तर होती जाती है कि उन पर देश-काल की आवश्यकताओं का जितना प्रभाव है, उतना किसी व्यक्ति विशेष का नहीं। शुक्लजी के समीक्षा सिद्धान्त वस्तुतः राष्ट्रीय भावनाओं से आप्लावित हैं, जिसे ध्यान में रखकर ही हम उनका सच्चा मूल्यांकन कर सकते हैं। उनकी पार्थिवता के मूल में राष्ट्रहित की ज्वलन्त भावना है। बेकन, सिडनी और बेन जॉनसन की तरह उन्होंने भी समालोचना के विकास के लिए अनादरणीय परम्पराओं के अंधानुकरण की प्रवृत्ति के त्याग की आवश्यकता समझी थी। इसलिए कई स्थलों पर उन्होंने उन लोगों का विरोध किया है, जो आधुनिकता के नाम पर पाश्चात्य सम्प्रदायों को हिन्दी-साहित्य पर आरोपित कर रहे थे। ऐसे पाश्चात्यीकरण को हेय घोषित करते हुए उन्होंने प्रभाव-ग्रहण का एक भव्यतम आदर्श उपस्थित किया है। वे जानते थे कि प्राच्य साहित्य के विकास में पश्चिम के अपूर्व अवदान की उपेक्षा नहीं हो सकती और न कोई समीक्षक उसके प्रभाव से सर्वथा वंचित ही रह सकता है। इसलिए उन्होंने बुद्धि विवेक की तुला पर पश्चिमी वादों और सिद्धांतों को

होना। जो भारतीय परिवेश में उचित, अनुकूल और खरे उतरे, उनको ग्रहण किया और शेष सब का त्याग। आवश्यकतानुसार पाश्चात्य ग्रन्थों से उद्धरण देकर उन्होंने अनेक मतों का मन्थन किया और समय-समय पर उनके विचारों की कटु आलोचना भी की। सबसे बड़ा तत्त्व परिस्थिति की आवश्यकताओं के आधार पर विभिन्न समस्याओं को विश्लेषित करने का प्रयत्न किया गया है। पराधीन देश के साहित्यिक समीक्षकों पर कवियों और औपन्यासिकों की अपेक्षा कम दायित्व नहीं होता। उनकी भी कृतियाँ राष्ट्रीयता से ओत प्रोत होती हैं। शुक्लजी में इस प्रवृत्ति की बड़ी ही सजीव अभिव्यक्ति हुई है। प्रगतिवादी समालोचकों की तरह उन्होंने समीक्षा पर राजनीति आरोपित करने की ओर न इसकी भाषा-शैली को राजनीति की पारिभाषिक दुरूहताओं और उलझनों में भाराक्रान्त ही किया। उन्होंने अपनी समीक्षा को देश की अवस्था के अनुकूल ढाला और अपने समीक्षात्मक कृतित्व से यही कर दिखाया जो भारतेन्दु, मैथिलीशरण गुप्त, 'प्रसाद', माखनलाल चतुर्वेदी, 'निराला' आदि ने अपनी कविताओं के माध्यम से किया। उनकी पाश्चात्य सभ्यता या कविताओं की कटु आलोचना और रीति-युग की महत्ता के सारे रहस्य इसी बात में निहित हैं। मनोविज्ञान की उपपत्तियों के आधार पर कवि और उसके कृतित्व का समझने-समझाने का जो प्रयास उन्होंने किया है, उसमें भारतवासियों का वास्तविकता से परिचय कराने का ही सदुद्देश्य छिपा है।

'काव्य में रहस्यवाद' के कितने ही अनुच्छेद इन निष्कर्षों की प्रामाणिकता सिद्ध करते हैं। शुक्लजी को यूरप का वर्तमान लोकादर्शवाद—ह्यूमैनिटेरियन आइडियलिज्म—पसंद नहीं पड़ता क्योंकि यह केवल प्रेम और भ्रातृभाव की भीतरी शक्ति द्वारा क्रूरता, क्रोध, स्वार्थमय हिंसावृत्ति आदि की चिर शांति में काव्य का उत्कर्ष मानता है। इस कारण वे न ईसाई टालस्टाय के साहित्यिक उपदेशों को स्वीकार करते हैं, न हिन्दू धर्मावलम्बी रवीन्द्रनाथ ठाकुर के विचारों को। वस्तुतः वे भारतवासियों को रोष से प्रज्वलित करना चाहते हैं और उनकी यह सतत अभिलाषा रही है कि भारतवासी अत्याचारियों के बीच उत्साहपूर्वक खड़े हों। 'स्वप्न और जागरण दोनों काव्य के पक्ष हैं। इन दोनों पक्षों का सामंजस्य काव्य का चरम उत्कर्ष है। काव्य में हम 'वादों' का बाहर से आना ठीक नहीं समझते। पर यदि 'वाद' शब्द के बिना किसी पक्ष की पहचान न हो सकती हो तो हमें कहना पड़ेगा कि हमारा पक्ष है 'अभिव्यक्तिवाद' और 'सामंजस्यवाद'।'[1] तदनंतर ब्राउनिंग के "प्रयत्न-सौन्दर्य" को मनोनुकूल पाकर

१ चिंतामणि, भाग २, पृ० ४९।

उन्होंने उसकी "रैबाई बेन एजरा" की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की हैं और यह दिखाया है कि प्रयत्न ही जीवन की शोभा है। 'जगत की विघ्न-बाधा, अत्याचार, हाहाकार के बीच ही जीवन के प्रयत्न-सौंदर्य की पूर्ण अभिव्यक्ति तथा भगवान् की मंगलमय शक्ति का दर्शन होता है। अतः जो आँख मूँदकर काव्य का एक जगत् अलग जीवन से बाहर रखाने निकलते हैं वे काव्य के धोखे में या उसके बहाने से, किसी और ही चीज के फेर में रहते हैं।"[1]

इन मूल एवं सशक्त शब्दों में लेखक की एक निश्चित और विशिष्ट धारणा की अभिव्यक्ति हुई है। शुक्लजी के समीक्षात्मक निबंधों का प्रधान गुण है उनकी आधारभूत विचार-संगति और समरसता—उनमें सर्वत्र व्याप्त सध्वनि (हॉर्मनी)। सभी सिद्धांत विचार सामंजस्यतया परस्पर निबद्ध हैं। उनमें कहीं कोई कर्कश अभाव नहीं दीखता। उनकी पार्थिवता प्रयत्न-सौन्दर्य आदि से ही संपृक्त उनकी यह धारणा है कि हमारी अनन्त-रूपात्मक कल्पना व्यक्त और गोचर है। यहाँ उन्हें आई० ए० रिचर्ड्स के 'साहित्यालोचन के सिद्धांत" में अपने मत के प्रतिपादन में सहायता मिलती है। शुक्लजी काव्यानुभूति को —जिसे वे "इस्थेटिक मोड" अथवा "स्टेट" कहते हैं— कोई निराली अनुभूति नहीं मानते। काव्यानुभूति को एक स्वतंत्र आध्यात्मिक अनुभूति घोषित करने के कारण यूरोपीय समीक्षा क्षेत्र में जो "अथशून्य वाग्विस्तार" फैला है उस पर उन्होंने खेद प्रकट किया है परन्तु साथ ही वे इस बात से प्रसन्न होते हैं कि रिचर्ड्स ने काव्यानुभूति को एक निराली अनुभूति माननेवाले मत का खंडन किया है।[2] उनके अनुसार कविता का संबंध गोचर जगत् से है जहाँ की अव्यक्त सत्ता से नहीं। इस कारण वे क्रोचे के अभिव्यंजनावाद को भी स्वीकार नहीं करते। अभिव्यंजनावाद कला की आध्यात्मिक मानसिक अभिव्यक्ति पर बल देता है और कहता है कि कला एक सहज स्वतंत्र आध्यात्मिक क्रिया है और कलाकृति उसका मूर्त प्राकृतिक रूप। शुक्लजी वक्रोक्तिवाद को भी, जिससे अभिव्यंजनावाद की तुलना की जाती है संदेह की दृष्टि से देखते हैं और, जैसा पूर्व पृष्ठों में कहा जा चुका है भावप्रेरित वक्रता का ही समर्थन करते हैं। 'चिंतामणि' में एक स्थल पर वे प्रायः प्लेटो के शब्दों में कविता को "टवाइस रिमूव्ड फ्राम रियलिटी" कहते दीख पड़ते हैं— जगत् अव्यक्त की अभिव्यक्ति है और काव्य इस अभिव्यक्ति की भी अभिव्यक्ति है।[3] प्लेटो का प्रभाव कितनी दूर तक पहुँचा है इसका

१ उपरिवत्, भाग २, पृ० ५०-५१।
२ उपरिवत्, पृ० ५१, द्रष्टव्य रस-मीमांसा, पृ० २१५।
३ उपरिवत्, पृ० ५४।

अनुभाव इस पात्र में लिया जा सकता है। धीरे धीरे इसी अनुभूति-भाव की साधना से कुछ अन्तर्दृष्टि सम्पन्न महात्माओं को इस विशाल विश्वक्षेत्र के भीतर 'परम हृदय' की झलक मिली जिससे कविता और ऊँची भूमि पर आई।[1] वाल्मीकि मुनि के मुँह से काव्यधारा के फूटने की जो बात कही गई है वह इन्हीं के काव्य-सम्बन्धी विचारों से सम्पुष्ट है। वाल्मीकि की ये पंक्तियाँ—

> मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।
> यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

कवि की अन्तश्चेतना से उसी प्रकार निःसृत हैं जिस प्रकार, इनके मतानुसार, पुरानी कविता के हृदय से वही प्रभावपूर्ण कविता की सुधा धारा फूट पड़ती है। शुक्लजी ने एक बार फिर रिचर्ड्स की सराहना करते हुए कहा है

> सामञ्जस्य काव्य और जीवन दोनों की सफलता का मूल मन्त्र है। काव्य का जो स्वरूप महर्षि वाल्मीकि ने अपने प्राचीन काल में तमसा के किनारे प्रतिष्ठित किया था आज ईसा की बीसवीं शताब्दी में इंगलैंड के अत्यन्त विभिन्न दृष्टि सम्पन्न आचार्य रिचर्ड्स भारतीय समीक्षा-क्षेत्र का बहुत-सा निरर्थक शब्दजाल और कूड़ा-करकट पार करते हुए उसी स्वरूप तक पहुँचे हैं।[2]

इन पंक्तियों में रिचर्ड्स का प्रशंसात्मक स्वर बहुत कुछ वैसा ही है जैसा आधुनिक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित विज्ञापनों का स्वर और यहाँ समीक्षा विशुद्ध साहित्यिक समीक्षा न रहकर पत्रकारिता हो जाती है, प्रभावाभिव्यंजन मात्र रह जाती है। ऐसे भावोद्गारों और रिचर्ड्स की प्रशंसा में बार-बार लिखी गई इन पंक्तियों से ऐसा जान पड़ता है कि शुक्लजी के लिए रिचर्ड्स की समीक्षा एक अद्भुत खोज (डिसकवरी) थी और इस कारण उनकी प्रतिक्रिया में ईषत् अतिरंजना भी देखी जाती है। उनके ऊपर रिचर्ड्स का कुछ वैसा ही प्रभाव पड़ा है जैसा चपमन-द्वारा अनूदित होमर के काव्य के अनुशीलन का प्रभाव कीट्स पर पड़ा था।[3] रिचर्ड्स के आलोचनात्मक सिद्धान्तों की खोज 'रेल्म आव गोल्ड' की 'डिसकवरी' न सही 'रेल्म आव क्रिटिसिज्म' की खोज अवश्य थी। परन्तु हम यह नहीं भूल सकते कि जहाँ रिचर्ड्स का अँगरेजी समीक्षा पर प्रभूत

---

१ उपरिवत्।

२ उपरिवत्, पृ० ५६।

३ दे० 'ऑन फर्स्ट लुकिंग इण्टु चपमन्स होमर' शीर्षक कविता। ("द गोल्डेन ट्रेजरी" में इसकी क्रमसंख्या १६६ है।)

प्रभाव है और जहा उसने मनोवैज्ञानिक, विश्लेषणात्मक तथा "टेक्सचुअल" आलोचना के क्षेत्र म अनन्य योगदान किया है, वहीं, समग्रत, एलियट का प्रभाव अधिक व्यापक रहा है और उसकी समीक्षात्मक कृतिया अपेक्षया अधिक क्रातिकारी रही हैं। एलियट की पहली पुस्तक "द सेक्रेड वड" का प्रकाशन सन् १६२० ई० म हो चुका था और इसम ही 'ट्रेडिशन एड दि इण्डिभिडुअल टैलेण्ट" नामक वह निबंध सम्मिलित है जो सन १६१८ म प्रकाशित हुआ था और जिसकी लोकप्रियता आज भी अक्षुण्ण है।[1]

जहा तक काव्य-सबधी सिद्धाता का प्रश्न है, शुक्लजी तथा एलियट के सिद्धाता मे भी किंचित साम्य दीखता है। एलियट ने सत्रहवीं शती के "मेटाफिजिकल" सम्प्रदाय के कवियो की सराहना की है और उनकी सघटित सयोजित सवदनशीलता ("यूनिफायड सेंसिबिलिटी") म उनकी काव्यगत सफलताओ का रहस्य देखा है। शेक्सपियर की 'सेंसिबिलिटी" भी ऐसी ही थी जिसके फलस्वरूप वह "थोडी सी मनोवृत्तियो" तक ही अपने काव्यक्षेत्र को सीमित नही रखता। गद्य लेखको म "अन बेरियल' 'द गार्डेन ऑव सायरस" तथा 'रेलिजियो मेडिकी" के विश्व-विश्रुत रचयिता टॉमस ब्राउन का नाम सर्वोपरि है। स्पेन्सर (पायटस पोयट) तथा मिल्टन ('द ग्रण्ड स्टाइल", "सब्लिमिटी") के प्रभाव के कारण सत्रहवी शती म ड्रायडन और अठारहवी शती म पोप प्रभति कवियो की "सेंसिबिलिटी" का वियोजन ("डिस्सोसिएशन') हुआ, जो बीसवी शती तक क कवियो की रचनाओ म देखा जा सकता है। हयूम पाउड और एलियट आदि ने अपनी कविताओ म "मेटाफिजिकल' कवियो की रचनाओ की-सी अनेकभावात्मकता का पुन सचार किया और कविता के विषयगत भावगत आयाम का विस्तार किया। एलियट को पेट्रारकन सॉनेटियरों की भावात्मक एकरूपता अथवा स्वच्छदतावादी कवियो की विषयगत एकरसता पसद नहा है। वह नही चाहता कि कविता अपने को केवल प्रेम और विरह तक ही सीमित रखे। स्वच्छदतावादी कविताओ मे विभिन्न भावो का सम्यक् सयोजन अथवा विभिन्न रसो का युगपद् परिपाक नही मिलता। "ओड टु ए नाईटिंगेल' का कवि मम-व्यथा से कविता का आरम्भ करता है और ऐसी ही वेदना मे कविता का अत करता है। सपूण रोमाटिक काव्य पर अज्ञात और अगोचर की खोज से उद्भूत नैराश्य की छाया वतमान है। इसी से "रोमाटिक ऐगनी" की उत्पत्ति हुई

---

१ आई० ए० रिचड स की पुस्तक 'प्रिंसिपुल्स ऑव लिटररी क्रिटिसिज्म' का प्रथम सस्करण सन १९२४ मे प्रकाशित हुआ था।

है। शुक्लजी ने काव्य के व्यापारों की व्यापकता और कई कार्यों के प्रति प्रेम पर हर्ष प्रकट किया है, परन्तु चूंकि रोमांटिक प्रवृत्ति ही रहस्यवाद को जन्म देती है (इंग्लैंड और बंगाल में रहस्यवादी प्रवृत्ति का पुनराविर्भाव उद्भावित हुआ है) उन्हें रोमांटिक काव्य का यह पक्ष अच्छा नहीं लगता। आगे वे पूछते हैं

> अब विचारने की बात है कि किसी अगोचर और अज्ञात के प्रेम में आँसुओं की आकाशगंगा में तैरने, शून्य का नगाड़ा या सितार बजाने, प्रियतम के असीम आँगन में अनन्त का ताण्डव करने या मुँह खोलकर ... के भीतर किसी रहस्य का गुलमय चित्र दर्शन करने ही—'कवि' होता क्या कोई हर्ज न था—कविता कहलाती नहीं तो ठीक है? काव्य और ... बदलकर हमारे छोटे-छोटे कल्पनाओं से भला कविता कब तक टिक सकती है?[1]

इन पंक्तियों में जिस कसौटी की ओर संकेत है उस पर मध्ययुग की रहस्यवादी रचनाओं को अधिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता। पहले प्रश्न में 'को ही' पर पर्याप्त ध्यान दिया गया है—क्या रहस्यवादी कविता को ही कविता कहेंगे? 'व्यक्त पक्ष में भी वही असीमता और वही अनन्तता है। व्यक्त और अव्यक्त में कोई पारमार्थिक भेद नहीं। अज्ञात की जिज्ञासा ही का कुछ अर्थ होता है, उसकी लालसा या प्रेम का नहीं।'[2] शुक्लजी की मनोदृष्टि स्पष्ट है। वे गोचर और ज्ञात को ही कवि के लिए अधिक उपयोगी मानते हैं तथा कविता को अनेकभावात्मक बनाना पसन्द करते हैं। इस संदर्भ में उनकी ये पंक्तियाँ उद्धरणीय हैं

> पहले कहा जा चुका है कि जिस प्रकार जगत् अनेकरूपात्मक है उसी प्रकार काव्य भी अनेकभावात्मक है। प्रेम, अभिलाष, विरह, औत्सुक्य, हर्ष आदि थोड़ी सी मनोवृत्तियों का एक छोटा सा घेरा सम्पूर्ण काव्यक्षेत्र नहीं हो सकता। इन भावों के साथ और दूसरे भाव—जैसे क्रोध, भय, उत्साह, घृणा इत्यादि—ऐसी जटिलता से गुम्फित हैं कि सम्यक् काव्यदृष्टि उनको अलग नहीं छोड़ सकती चाहे उनका सामंजस्य शेष अन्तःप्रवृत्तियों के साथ कभी कभी मुश्किल से ही क्यों न बैठता हो।[3]

---

१ चिंतामणि, २, पृ० ५६।
२ उपरिवत, २, पृ० ५७।
३ उपरिवत।

रीतिकालीन कविता, पुनर्जागरण-युग के अँगरेजी "सॉनेट", यहाँ तक कि अठारहवीं शती की व्यंग्यप्रधान रचनाएँ जिनकी भाषा-शैली पर मिल्टन की उदात्तता का व्यापक प्रभाव पड़ा है, और उन्नीसवीं शती की रोमांटिक विक्टोरियन कविताएँ अनेक भावात्मक नहीं हैं और न इनमें वर्णित भावों के साथ दूसरे भाव ही जटिल रूप में गुम्फित हैं। इस कारण शुक्लजी की समीक्षा रीति-काव्य के दोषों के प्रति उतनी ही सजग है जितनी पेट्रार्कन सानेट-परम्परा तथा स्वच्छंदतावादी काव्य के दोषों के प्रति एलियट की समीक्षा। एलियट के इन शब्दों का भावार्थ प्राय वही है जो शुक्लजी के उपर्युक्त उद्धरण का है

> "काव्य में विषयगत भिन्नता और विजातीयता कवि के मन में समन्वित होने को बाध्य हो जाती हैं। ऐसी भिन्नता कविता में सर्वत्र देखी जाती है। विचार और अनुभूति के प्रति सच्चाई के कारण जो विभिन्नता देखी जाती है, उसके फलस्वरूप संगीत में भी विभेद उत्पन्न होता है। (जान) डन के लिए विचार ही अनुभव था—इससे उसकी संवेदनशीलता अपरिवर्तित होती है। जब कवि का मन काव्य निष्पत्ति के लिए पूर्णतया भरा-पूरा होता है उस समय वह विभिन्न अनुभवों को निरंतर समामेलित (संश्लिष्ट) करता रहता है साधारण व्यक्ति की अनुभूति अव्यवस्थित अनियमित तथा अपरूपित हुआ करती है। वह प्रेम करता है स्पाइनजा पढ़ता है परन्तु इन दोनों अनुभवों का एक-दूसरे से कोई संबंध नहीं रहता और न इनका संबंध मुद्र-लेखन-यन्त्र से निःसृत ध्वनि या रसोई से आती हुई गंध से ही होता है कवि के मन में ये अनुभूतियाँ परस्पर गुम्फित होकर नई संपूर्ण अनुभूतियों का सृजन करती हैं।[1]

---

१ But a degree of heterogeneity of material compelled into unity by the operation of the poet s mind is omnipresent in poetry as this fidelity induces variety of thought and feeling so it induces variety of music A thought to Donne was an experience it modified his sensibility When a poet s mind is perfectly equipped for its work it is constantly amalgamating disparate experience the ordinary man s experience is chaotic irregular fragmentary

टी० एस० एलियट के और समालोचनात्मक प्रतिमान टी० ई० ह्यूम के विचारों से प्रभावित हैं। टी० ई० ह्यूम ने स्वच्छन्दतावाद पर क्लासिक के प्रभाव का आक्रमण करते हुए कहा है कि चूँकि स्वच्छन्दतावादी कवि मनुष्य की शक्तियों को अपार और असीम मानता है वह शून्य और सतत असीम की ही चर्चा करता है।[1] ह्यूम के इस दृष्टिकोण का प्रतिफलन शुक्लजी के 'काव्य में रहस्यवाद" शीर्षक निबन्ध में हुआ है। शुक्लजी भी नहीं चाहते कि कोई कवि शेली और ह्यूगो की तरह बराबर असीम और अज्ञात की ही चर्चा करता रहे और "स्वप्न अनिल" तथा "स्वप्निल आभा" जैसी कविताएँ रचे। परन्तु अनुसन्धाता की दृष्टि शुक्लजी की समीक्षा के उन स्थलों पर केन्द्रित होती है जहाँ वे भी असीम और अज्ञात की ही चर्चा करते हैं। उनकी करुणा "रोमांटिक मलेंकालिया" का ही प्रतिच्छाया है और चराचर में सामान्य हृदय की अनुभूति एक प्रकार का रहस्यवाद। वह स्वयं में हमारे आदिकवि की तरह अपने हृदय का प्रसार कर जगत् में भावरूप में रम जाने की स्वाभाविक प्रतिभा थी। उन्नीसवीं शती की रोमांटिक कविताओं में मनुष्येतर प्राणियों के प्रति अगाध उत्कट प्रेम की मूक व्यंजना हुई है। कीट्स के "ओड टु अ नाइटिंगेल", "ओड आन अ ग्रेसियन अर्न" "ओड टु आटम" इस तथ्य के चिर-ज्वलन्त उदाहरण हैं। ऐसा जान पड़ता है कि शुक्लजी की निम्नलिखित पंक्तियाँ

> "यहाँ पर इतना ही कहना है कि भाव-साहित्य में मनुष्येतर चर-अचर प्राणियों को थोड़ा और प्रेम का स्थान मिलना चाहिए। वे हमारी उपेक्षा के पात्र नहीं हैं। हम ऐसे आख्यान या उपन्यास की प्रतीक्षा में बहुत दिनों से हैं, जिसमें मनुष्यों के वृत्त के साथ मिला हुआ किसी कुत्ते बिल्ली आदि का भी कुछ वृत्त हो घटनाओं के साथ

The latter falls in love or reads Spinoza and these two experiences have nothing to do with each other or with the noise of the typewriter or the smell of cooking in the mind of the poet these experiences are always forming new wholes—T S Eliot *Selected Essays* (London 1949) pp 283 287

१ The romantic because he thinks man infinite must always be talking about the infinite *Speculations* 1960 p 119.

किसी चिरपरिचित पेड़ भाड़ी आदि का भी कुछ सम्बन्ध दिखाया गया हो।'[1]

टामस हार्डी के उपन्यासों और कथाओं के अनुशीलन के पश्चात् ही लिखी गई होगी। हिंदी में ऐसे उपन्यासों का अवतरण न हुआ हो, पर उन दिनों हार्डी के उपन्यास और उसकी कविताएँ उचित आदर पा चुकी थीं और भारतीय विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में भी निर्धारित होने लगी थीं। "द रिटर्न आँव द नेटिव' 'फार फ्राम द मैडिंग क्राउड', 'वुडलैण्ड्स" आदि उपन्यासों में मनुष्यों के वस्त्र के साथ 'प्रकृति के अटूट संबंध की बड़ी ही मर्मस्पर्शी अभिव्यक्ति हुई है। "एग्डन हीथ" की मूर्त व्यंजना और मानव क्रियाकलापों पर उसके सूक्ष्म प्रभाव के निदर्शन के लिए "द रिटर्न ऑव द नेटिव' ख्यात है।

यद्यपि शुक्लजी की इस स्वीकृति से कि 'अपनी-अपनी रुचि है"[2] प्रचुर अभिव्यक्त सहिष्णुता का बोध होता है फिर भी शेले तथा रीतिकालीन एवं छायावादी कवियों के प्रति उनमें उदारता का उन्मीलन न होना कुछ विचित्र सा लगता है। टाल्स्टाय और रवीन्द्रनाथ ठाकुर के प्रति भी उनकी दृष्टि किंचित अनुदार है। टाल्स्टाय की दृष्टि को "बहुत संकुचित" कहकर उन्होंने असहिष्णु पत्रकारिता का परिचय दिया है, सत्समालोचना का वह ज्वलंत उदाहरण उपस्थित नहीं किया जिसके लिए वे ठीक ही ख्यात हैं। इसी प्रकार 'चिंतामणि" में यूरोपीय समीक्षकों की एकांगदर्शिता का उल्लेख है,[3] जिसे हम एक अतिसामान्य उक्ति के रूप में ही स्वीकार करेंगे। इन एकांगदर्शी समीक्षकों के नाम नहीं बताये गए। इनकी जगह यहीं पाद टिप्पणी में आई० ए० रिचर्ड्स की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत हैं जिनसे यूरोपीय समीक्षा-क्षेत्र में परिव्याप्त अर्थशून्य वागाडम्बर और गड़बड़झाले का पता चलता है। प्रस्तुत विवेचन का संबंध दो प्रकार के विधानों से है (न कि उपर्युक्त वागाडम्बर आदि से) कुछ कवि प्रकृति का यथातथ्य संश्लिष्ट चित्रण करते हैं और कुछ प्रकृति की अभिव्यंजना द्वारा गृहीत तथ्यों का रमणीय वर्णन प्रस्तुत करते हैं। दोनों विधानों का महत्त्व, शुक्लजी के मतानुसार, बराबर है परंतु कुछ यूरोपीय समीक्षक एक को उच्च और दूसरे को मध्यम कहकर एक आदर्श बद्ध कर लेते हैं। ऐसे एकांगदर्शी समीक्षक कौन कौन से हैं इसका उल्लेख नहीं हुआ। अन्यत्र उन्होंने लिखा है कि अँगरेजी कविताओं के

१ चिन्तामणि, पृ० ६१।

२ उपरिवत्।

३ उपरिवत्, पृ० ६४।

अनुवाद से हिन्दी कविता करना नहीं आ सकता। अँगरेजी कविता करना क्या कोई हिंदी कविताओं का अनुवाद करके सीख सकता है?"[1] यह एक ऐसी प्रवृत्ति का सशक्त विरोध है जिसकी अतिशयता से हिंदी भाषा-साहित्य की अपार क्षति होती रही है फिर भी हम यह कहने का लोभ संवरण नहीं कर पाते कि "रुचि अपनी अपनी है" और यह कि सभी अनुवादकों के संबंध में शुक्लजी के ये कथन सार्थक न होंगे। अनुवाद की सफलता भाषांतरकार की बहुविज्ञता, प्रतिभा आदि पर निर्भर होती है। यूरोप के पुनर्जागरण युग से लेकर आज तक इंगलैंड में इस मत के अनेक समर्थक हुए हैं कि कवि को लैटिन और ग्रीक कवियों की रचनाओं के भाषांतर से अपने कवि जीवन का समारंभ करना चाहिए। राजर ऐस्कम सिडनी पटनम आदि ने "इमीटेशन' और अनुकृति पर जो बल दिया था, उसकी प्रतिध्वनि पब्लिक स्कूलों में निर्धारित और प्रचलित पाठ्यक्रमों में सुनी जा सकती है। आज भी विश्वविद्यालयों में भाषांतरण पर प्रभूत बल दिया जाता है। ड्रायडन, पोप राबर्ट ग्रेव्ज, एजरा पाउंड आदि ने अन्यदेशीय काव्य के अनुवाद से बहुत कुछ सीखा है। ऐसा जान पड़ता है कि शुक्लजी का मंतव्य केवल भाषांतरित कविताओं की गर्हणा करना नहीं है वे हिंदी भाषा साहित्य की रुचि और प्रकृति के अनुकूल ही अनुवादों के प्रणयन का समर्थन करेंगे। लैटिन और यूनानी कविताओं के अनुवाद से कोई अँगरेजी कविता करना भले ही सीख ले परंतु अँगरेजी कविताओं के अनुवाद से हिंदी कविता करना नहीं सीख सकता कारण दोनों की प्रकृति सर्वथा भिन्न है। फिर भी यह निर्विवाद है कि जिन कविताओं के विषय सुवर्णस्वप्न, 'स्वप्न अनिल, "स्वप्निल आभा' आदि हों अथवा जिनमें ये शब्द प्रयुक्त हों वे सब की सब हेय नहीं हो सकती। शुक्लजी द्वारा निर्धारित निकष पर भी इनमें कितनी ही कविताएँ अनूदित होकर भी सफल उतर सकती हैं। वस्तुतः शुक्लजी और टी० ई० ह्यूम को असीम और अस्पष्ट' से स्वाभाविक चिढ़ है, जिसके कारण वे स्वच्छंदतामूलक डीमीनेस वगनेस का विरोध करते हैं।

डा० गुलाबराय (१८८७ १९६३)

डा० गुलाबराय का कर्तृत्व उनकी मौलिक आलोचनात्मक उपलब्धियाँ इधर कुछ दिनों से विवाद का विषय बन गई हैं। एक ओर डा० नगेंद्र हैं जिनके रस सिद्धांत' में श्रद्धास्पद बाबू साहब का उल्लेख नय संश्लिष्ट काव्यशास्त्र

१ उपरिवत, पृ० १५०।

के उनायको म हुआ है।[1] बाबू साहब सश्लिष्ट काव्यशास्त्र के मेरुदण्ड नहीं हैं—यह सौभाग्य तो आचाय शुक्ल को ही मिला है, पर "उल्लेखनीय"[2] अवश्य है और जहा रस का स्वरूप विवचन होता है, वहाँ आचाय केशवप्रसाद मिश्र प० रामदहिन मिश्र, डा० भगवानदास, डॉ० श्यामसु दरदास और आचाय हजारी प्रसाद द्विवेदी के साथ डा० गुलाबराय का नाम भी लिखा मिलता है।[3] हिंदी के जिन वरेण्य आधुनिक आचार्यो ने रसा का मनावैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया है उनम आचाय रामचद्र शुक्ल और डा० नगेन्द्र निस्सदेह सर्वाधिक महत्वपूण हैं किंतु इनके बाद डा० श्यामसुन्दरदास, रामदहिन मिश्र और डॉ० लक्ष्मीनारायण सुधाशु के साथ डा० गुलाबराय का भी नाम आता है।[4] इधर कुछ नये आलोचको ने इस कथन की सत्यता म सदेह प्रकट किया है कि डॉ० गुलाबराय आलोचक हैं 'गुलाबरायजी ने अच्छी अच्छी पाठय पुस्तकें ही लिखी हैं। इतने से उन्हे आलोचक नही माना जा सकता।"[5] इसमे प्रभाकर माचव के निम्नलिखित कथन की प्रतिध्वनि सुनाई पडती है

> इसी एकत्रीकरण की और सबसे अच्छे सग्रथ बनाय रखने की इच्छा के कारण गुलाबरायजी की आलोचना कही भी विद्यार्थियो को जानकारी दनेवाले मत-सग्रह स ऊपर उठकर कोई विशेष नवीन उद्‌भावना अथवा विचारोत्तेजक, सृजनात्मक आलोचना का रूप ग्रहण नही करती।[6]

---

१ रस सिद्धात (दिल्ली, १९६४), पृ० ९३। डा० रामगोपालसिंह चौहान ने 'स्वातत्र्योत्तर हिंदी आलोचना' शीषक निबध मे कहा है कि 'भारतीय एव पाश्चात्य काव्यशास्त्र तथा आधुनिक हिंदी-समीक्षा सिद्धाता का अध्ययन प्रस्तुत करते हुए बाबू गुलाबराय की कई रचनाएँ प्रकाश मे आई हैं।' आचाय हजारीप्रसाद द्विवेदी (प्र० सपा०), काव्यशास्त्र (दिल्ली, १९६६), प० ४६६।

२ रस सिद्धात, प० ७३।

३ उपरिवत, प० ९९।

४ डा० सच्चिदानद चौधरी, हिंदी काव्यशास्त्र मे रससिद्धात (कानपुर, १९६५), प० ४६५, ४७२ और ४९३।

५ डा० हरिमोहन मिश्र। दे० डा० कुमार विमल (सम्पा०), अत्याधुनिक हिंदी-साहित्य (पटना, १९६५), प० ४६।

६ प्रभाकर माचवे, समीक्षा का समीक्षा (दिल्ली, १९५३), पृ० ५२।

पाठ्य ग्रन्थों में स्थान पा सकी तो इसमें हर्ज ही क्या है ? एलियट और गुप्तजी की कतिपय पुस्तकें भी पाठ्यक्रमों में निर्धारित होती रही हैं और दो-ढाई वर्ष हुए, सन् १९६४ में राबर्ट पेन वैरेन तथा क्लीन्थ ब्रुक्स की "अंडर्सटैंडिंग पोयट्री" नामक कृति को पटना विश्वविद्यालय की एम० ए० (अँगरेजी) परीक्षा के पाठ्य ग्रन्थों में स्वीकृत किया गया था और तभी से उक्त विश्वविद्यालय के पाठ्य ग्रन्थों में इस पुस्तक का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। फिर भी विश्व के बड़े से बड़े समीक्षक 'फाउस्टेर पार्टी' और "सेलेक्टेड प्रोज" को अँगरेजी की ममारणीय रचनाओं में परिगणित करते हैं, हिंदी के आलोचक "रस मीमांसा" के महत्त्व को स्वीकार करते हैं और विश्वविद्यालय के प्राध्यापक 'अंडरस्टैंडिंग पोयट्री' में निर्दिष्ट व्यावहारिक समीक्षा-पद्धति का अनुसरण करते हैं। इतना अवश्य माना जा सकता है कि बाबू साहब की आलोचनाओं में कोई गंभीर और मौलिक निरूपण नहीं मिलता—उनमें गवेषणात्मक विवेचन का सर्वथा अभाव दीख पड़ता है। इस कारण वे उच्चकोटि के समीक्षकों में परिगणनीय नहीं हो सकते। उनका स्थान हिंदी-आलोचना के आधार-स्तंभों के नीचे है।

जासूसी कहानियों के वर्तमान युग में प्रमाता रोमांचकारी घटनाओं को ही चाव से नहीं पढ़ते समवतः औत्सुक्यवर्द्धक समीक्षा भी पसंद करते हैं। नये आलोचकों में कुछ लोग ऐसे ही हैं जो सस्ती उत्तेजनात्मक समीक्षा लिखने में दत्तचित्त दीखते हैं। एफ० आर० लीविस और 'कैम्ब्रिज स्कूल' के समीक्षक रॉबर्ट गाडन, एडमण्ड गॉस प्रभृति को समीक्षक ही नहीं मानते—इन्हें संपादकों की श्रेणी में रखते हैं।[1] परन्तु यहाँ हम एडवर्ड डाल्बर्ग-जैसे लेखकों को भी नहीं भूल सकते जो स्वयं एलियट और पाउंड को आलोचक तथा कवि नहीं मानते।[2]

पाश्चात्य प्रभाव

'यद्यपि मैं बी० ए० में एक बार संस्कृत में फेल हो गया था तथापि मुझे

---

१ दे० *Scrutiny* vol XII No 1, 1943 (Q D Leavis 'The Discipline of Letters) *Scrutiny* vol XIX 1 52 53 pp 82 *et sqq* (R G Cox ; The New Scholarship) *Scrutiny* vol I No 3 (F R Leavis What s Wrong with Criticism)

२ दे० Edward Dahlberg and Herbert Read *Truth is More Sacred A Critical Exchange on Modern Literature*

उपस्थित हुआ है, बाबूजी का अपना स्वभाव ही बन गया, और अंत तक उनके साथ रहा।"[1]

कहीं-कहीं बाबूजी के "नवरस" में डा० नगेंद्र के "रस सिद्धांत" की पूर्वानुभूति होती है। आचार्य शुक्ल और बाबूजी डा०नगेंद्र के पूर्वानुभावकों में हैं। नवरसों के विवेचन में बाबूजी ने इस बात का यथाशक्य उद्योग किया है कि उनके "वर्णन में जो गूढ़ मनोवैज्ञानिक सिद्धांत अप्रस्तुत रूप से वर्तमान हैं, उनका पूर्णतया उन्धाटन" कर दिया जाय।[2] शरीर विज्ञान के आलोक में भावों और मनोविकारों की व्याख्या प्रस्तुत की गई है जो शुक्लजी से भी प्रभावित है। बाबू साहब ने हिंदी-समालोचना में मनोविज्ञान को समाहित कर साहित्य की इस विधा को पर्याप्तरूपेण समृद्ध किया है।

"द्वितीय संस्करण" की भूमिका में कहा गया है कि वर्तमान समाज में काव्य का यथोचित आदर नहीं होता, कवियों का यथोचित सम्मान नहीं मिलता और यह कि काव्य तथा नाटकों के अनुशीलन से मनुष्यों में सहानुभूति का सहज उन्मेष होता है, वे दयालु तथा सहिष्णु बनते हैं। इस मतवाद के मूल में विज्ञान के वर्धमान प्रभाव तथा यंत्रयुगीन भौतिकवादिता के प्रति आतिशयिक चेतना है। स्थूल भौतिकवादी दृष्टि से काव्य निष्प्रयोजन दीखता है किंतु उसमें ही मानवता का कल्याण निहित है। इस भावधारा पर काव्यविषयक उस विक्टोरियन दृष्टिकोण का प्रभाव है जिससे देखने पर काव्य धर्म का स्थानापन्न[3] प्रतिरूप हो जाता है और जिसकी मूर्त्त अभिव्यक्ति आर्नल्ड, जे० एस० मिल आदि की रचनाओं में हुई है।

आवश्यकता पड़ने पर बाबू साहब पाश्चात्य और प्राच्य विचारों का ही समीक्षण नहीं करते, अँगरेजी हिंदी के समानार्थी शब्दों पर भी दृक्पात करते हैं। उनके अनुसार "भाव शब्द अँगरेजी के 'फीलिंग' और 'इमोशन'" में अधिक व्यापक अर्थ रखता है।[4] वे इस बात से परिचित हैं कि विभाव, अनुभाव आदि के विषय में अमरीकी मनोविज्ञानवेत्ता विलियम जेम्स द्वारा उद्भावित कल्पना अत्यंत विवादास्पद बन गई है। जेम्स की कल्पना के अनुसार अनुभाव का नाम ही भाव है। मुक्तिबोध और नलिनजी होते तो जेम्स के कल्पनाविषयक सिद्धांतों में ही उलझे रह जाते। परंतु बाबू साहब ऐसा नहीं करते। वे कल्पना-

---

१ उपरिवत।
२ नवरस (१९३४), पृ० ९ (द्वितीय संस्करण की भूमिका)
३ सब्सटिट्यूट।
४ नवरस, पृ० ३२।

विषयक भारतीय मतों का भी उल्लेख करते हैं।[1] उनके द्वारा प्रस्तुत भावों का समस्त वर्णानिक विवरण स्वभावतः पाश्चात्य मनोविज्ञान और शरीरविज्ञान से प्रभावित है।[2] उनका उद्देश्य न तो भारतीय मनीषा और साहित्य चिंतन को हीनतर घोषित करना है और न पाश्चात्य दर्शन चिंतन को श्रेष्ठतर। चूंकि वे समन्वयवादी हैं इसलिए समन्वय के लिए समतुल्यता की सपुष्ट आधार भूमिका के अन्वेषण में ही सर्वाधिक रत दीखते हैं। उनकी प्रतिनिधि समन्वयवादी आलोचना पद्धति इन पंक्तियों में प्रतिफलित है

> (१) यदि शृंगार मनुष्य जीवन की एकमात्र संचालन शक्ति नहीं है तो मुख्य शक्तियों में अवश्य है। आजकल मनोविश्लेषणशास्त्रियों (psychoanalysts) ने लैंगिक उत्तेजन (sex urge) को बड़ी प्रधानता दी है और यह लोग वैज्ञानिक होते हुए भी किसी अंश में अत्युक्ति की ओर चले गए हैं।[3]

यहां 'यह लोग' फ्रायडीय मनोविश्लेषणशास्त्रियों के लिए तथा 'किसी अंश में' अँगरेजी के 'इन सम मेजर' (*in some measure, to some extent*) के लिए प्रयुक्त हुए हैं।

> (२) आजकल के मनोविश्लेषणशास्त्रियों ने शृंगार भाव को बहुत प्रधानता दी है और उनका कथन है कि हमारी अनुद्बुद्धावस्था (subconscious state) में जो कामभाव रहता है उसके द्वारा हमारी सब क्रियाओं की व्याख्या हो सकती है। मनोविश्लेषणशास्त्रियों का कहना है कि हमारे सब स्वप्न कामवासना मूलक हैं। इसी प्रकार हमारी बहुत-सी क्रियाओं का जिनको हम आकस्मिक कहते हैं मूल आधार कामवासना में है।[4]

स्पष्ट है कि (१) यहां शृंगार के महत्त्व के प्रतिपादन के लिए फ्रायडीय मनोविश्लेषण का उपयोग हुआ है। (इसी प्रकार हास्यरस के विवेचन में बाबू साहब हैजलिट बर्गसा और मैक्डूगल से प्रभावित हैं।) (२) जो आलोचक बाबू साहब को समीक्षक नहीं मानते उन्हें ऐसे विवेचनों को ध्यान में रखना चाहिए। बाबूजी हिंदी में फ्रायडीय मनोविश्लेषणशास्त्र के आद्य व्याख्याताओं

---

१ उपरिवत्, पृ० ३३।

२ उपरिवत्, पृ० ११८ १२३।

३ उपरिवत्, पृ० १४२।

४ उपरिवत्, पृ० १५४।

म हैं। उन्होने मनोविश्लेषणशास्त्र के आधारभूत सिद्धांतो की यहा व्याख्या नहीं की है प्रत्युत उन्हें भारतीय काव्यशास्त्र से समन्वित भी किया है, जो सर्वथा श्लाघनीय है। ऐसा ही प्रयत्न उनके परवर्ती रसवादियो ने किया है।

'सिद्धात और अध्ययन', "काव्य के रूप", "हिंदी नाट्य विमर्श" आदि ग्रन्थो म बाबूजी ने भारतीय विषयो के विवेचन म यथावसर पाश्चात्य मत-मतान्तरो का उल्लेख किया है। जहा उन्होने मम्मटाचार्य, आचार्य विश्वनाथ पडितराज जगन्नाथ आदि के काव्यतत्त्व विषयक विचार उद्धृत किये हैं उन्होन शेक्सपियर से लेकर हडसन तक के महत्त्वपूर्ण समीक्षको के एतद्विषयक विचारो को भी प्रस्तुत किया है।[1] भारतीय आचार्यो एव पाश्चात्य कवियो और आलोचको के मतो के यथावत उल्लेख के पश्चात् बाबू साहब ने 'सब मतो को एक परिभाषा के सकुचित घेरे म' बाँधने का प्रयास किया है और यह 'समन्वित' परिभाषा रखी है 'काव्य ससार के प्रति कवि की भाव प्रधान (किंतु क्षुद्र वैयक्तिक सबधो से मुक्त) मानसिक प्रतिक्रियाओ की कल्पना के ढाचे म ढली हुई श्रेय की प्रेयरूपा प्रभावोत्पादक अभिव्यक्ति है।[2] इसी प्रकार 'काव्य और साहित्य कला की परिभाषा'[3] 'दृश्य काव्य',[4] "महाकाव्य"[5], "गीतकाव्य"[6] जैसे दर्जनो विषयो के विवेचन म उन्होने पाश्चात्य साहित्य का उपयोग किया है। पाश्चात्य प्रभाव की दृष्टि से 'सिद्धात और अध्ययन' "साहित्य की मूल प्रेरणाएँ' रस और मनोविज्ञान' 'अभिव्यजनावाद और कलावाद' और समालोचना के मान' शीर्षक निबध तथा काव्य के रूप' के सभी निबध पठनीय एव महत्त्वपूर्ण हैं।

परतु बाबूजी की समन्वयवादी दृष्टि नितात भारतीय है। पश्चिम के अ यधिक बुद्धिवाद ने हमारी दृष्टि को भेदो की ओर अधिक प्रेरित किया है। भारतीय दृष्टि भेदो के बीच म बसनेवाली एकता की ओर मानव का ध्यान आकर्षित करती है।"[7] आत्मविश्लेषण करते हुए उन्होने कहा है कि वे पराये भावो को तभी स्वीकार करते हैं जब उन्हें पूर्णतया आत्मसात् कर लेते हैं। इस आत्मीकरण की

---

१ डा० गुलाबराय, सिद्धात और अध्ययन (छठा स० १९६५), पृ० ४६ ४७।
२ उपरिवत, प० ५०।
३ ४ उपरिवत, पृ० ५१, ५६ ५७।
५ ६ डा० गुलाबराय, काव्य के रूप (१९४७)।
७ डा० गुलाबराय, मेरे निबध (आगरा, १९५५), पृ० १९४ १९५।

प्रक्रिया म स्वकीय-परकीय का समन्वय हो जाता है। दूसरा के सार-तत्व का ग्रहण करने के लिए वे सदव तयार रहते हैं, परतु अपनी बाता को भी हेय नही समझते। भारतीय समन्वयवाद उनके जीवन का लक्ष्य रहा है। इस समन्वयवाद से एकनिष्ठ लोग अप्रसन्न भी रहते हैं किंतु बाबूजी के मतानुसार यह समन्वय वादिता उन्हे सत्य की प्रतिष्ठा की ओर ले जाती है।[1] उनकी "आलोचनाओ म भी यही सारग्राहिता रहती है।"[2] साथ ही व यह भी जानते हैं कि उनकी समीक्षाओ म तलस्पर्शी गाभीर्य नही होता। इसका कारण, उनके ही शब्दों म, यह है कि वे "नियमशीलता मे सिद्धातत विश्वास रखते हुए और गभीर अध्ययन म मनोयोग नही दे पाते थे। 'ज्ञान मन्दिर की देहली' से ही उन्होने उसकी —ज्ञान की—सौम्य मूर्ति के दशन किये थे। उसके भीतर प्रवेश करने के लिए उन्होने परिश्रम अवश्य किया था पर 'प्राप्त' करने म 'असमर्थ' रहे थे। "मेरे ज्ञान मे भी, बाबूजी कहते हैं 'एकनिष्ठता नहीं है। इसलिए मैं साहित्य और आलोचना के विषय मे अपने को पिछडा हुआ पाता हू। इसलिए इन वयक्तिक निबधा म मन रमा लेता हूँ और कभी मनोविज्ञान और दशन की चर्चा कर लेता हूँ।"[3]

बाबूजी के हास्य-व्यग्यात्मक और गभीर लेखा का एक सरस सग्रह 'कुछ उथले कुछ गहरे'[4] नाम स अभिहित हुआ है। बाबूजी की समस्त आलोचनात्मक कृतिया के लिए यह नाम अत्यत उपयुक्त है। इनम कुछ निबध उथले और कुछ गहरे मिलेंगे। एक ही निबध मे ही कुछ उथले और कुछ गहरे स्थल मिल सकते हैं। 'आलोचना कुसुमाजलि' (१९४६) के अधिकाश निबधा मे तथा "आलोचक रामचद्र शुक्ल' (सपादक डा० गुलाबराय और डा० विजयेंद्र स्नातक) म सकलित 'आचाय शुक्ल और रहस्यवाद और शुक्लजी के मनोवज्ञानिक निबध म ईषत् गहराई मिल सकती है पर कुछ उथले कुछ गहरे के अधिकाश निबधो म गहराई के स्थान पर तलोपरिक्ता ही अपेक्षया अधिक दीख पडती है।

---

१ उपरिवत्, पृ० १२ १३।
२ उपरिवत, पृ० १३।
३ उपरिवत।
४ डा० गुलाबराय, कुछ उथले कुछ गहरे, (आगरा, १९५५), सुधारानी गुप्ता, विदुषी, प्रभाकर द्वारा सकलित।

पडित रामदहिन मिश्र (१८९६-१९५२)

प० रामदहिन मिश्र की रचनाओ पर पाश्चात्य काव्यशास्त्र और दर्शन का प्रभाव अत्यल्प भारतीय साहित्य-मनीषियो एव विचारको का प्रभाव सर्वाधिक दीख पडता है। भारतीय काव्यशास्त्र विषयक उनकी मर्मोद्घाटनक्षमा रचनाएँ पश्चिम के प्रति उधारजीवी न होकर 'सस्कृत आचार्यों के आकर ग्रन्थो को ही मूलाधार"[1] बनाती है।" काव्यालोक" (द्वितीय उद्योत) के आरभ मे सहायक ग्रन्थो की अनुक्रमणी म जहा सस्कृत के बयालीस और हिंदी के पचीस ग्रन्थो के नाम लिखे मिलते हैं वहा अँगरजी के दो ग्रन्थो और एक छोटे से निबध का ही उल्लेख हुआ है। जहाँ पडितजी काव्य प्रयोजन के भिन्न भिन्न सिद्धातो का निर्देश करते हैं, वहा वे तुलसीदास के एतद्विषयक विचारो के बाद हारेस का यह कथन भी उद्धत करते हैं कि कवियो का उद्देश्य या तो शिक्षा देना होता है या आनद देना, अत ययाय और उपयोगी का आनद से मिला दो।[2] तदुपरान्त वे कवीन्द्र रवीन्द्र और रावर्ट पी० डाउस के विचार उपस्थित करते हैं। डाउस के अनुसार कला का काय किसी भी मानवीय आदर्श को कलात्मक नैपुण्य द्वारा साकार रूप प्रदान करना है।[3] कुछ लोग साहित्य-शास्त्र के रहस्यो का ज्ञान अनावश्यक मानते हैं। मिश्रजी उसका सीधा-सा उत्तर एतद्देशीय आचार्य की इन पक्तियो से देते हैं

अज्ञातपाण्डित्यरहस्यमुद्रा
ये काव्यमार्गे दधते निमानम ।
ते गारुडीयाननधीत्य मन्त्रान
हालाहलास्वादनमारभन्ते ॥ श्रीकण्ठचरित[4]

साहित्य-स्रष्टाओ के लिए ऐसा ज्ञान अपेक्षित तथा अत्यावश्यक है। इस कथन को अधिकाधिक विश्वसनीय बनाने के हेतु मिश्रजी जर्मन कवि रेनर मारिया रिल्के की ओर उन पाठको का ध्यान आकृष्ट करते हैं, जो साहित्य-स्रष्टाओ द्वारा शास्त्रीय नियमो के पालन को इनमे जकडे जाने का पर्याय समझते हैं—नियमो म जकडा जाना परमुखापेक्षिता एव पराधीनता का द्योतक है।[5] रिल्के ने कविता

---

१ प० रामदहिन मिश्र, काव्य-दर्पण (पटना, १९४७), पृ० ख (आत्मनिवेदन)।
२ प० रामदहिन मिश्र, काव्यालोक (पटना, स० २००१), पृ० १६।
३ उपरिवत ।
४ उपरिवत, प० १७ ।
५ उपरिवत ।

वे एक-एक पद के लिए घोर अध्ययन और निरीक्षण को आवश्यक बतलाया है।

मिश्रजी काव्यहेतुओं में ईश्वरप्रदत्त प्रतिभा की अनिवार्यता में विश्वास करते हैं पर साथ ही वे उसके सदुपयोग के लिए कवि में शास्त्रीय ज्ञान का होना अत्यावश्यक बतलाते हैं— प्रतिभाप्रसूत पंक्तियाँ ज्ञानालोक से ही आलोकित हो सकती हैं।"[1] साहित्यशास्त्र की विवेचना केवल अँगरेजी के बल पर जस-तस नहीं हो सकती। इसके लिए संस्कृत का गंभीर ज्ञान अपेक्षित और अनिवार्य है। (यहाँ पंडितजी का यह कथन ध्यातव्य है कि "जो लोग साहित्य शास्त्र की विवेचना करते हैं, वे प्रायः संस्कृत के मर्मज्ञ विद्वान् नहीं होते।"[2] वे जान-बूझकर 'साहित्य शास्त्र' की बात कहते हैं किसी विशिष्ट साहित्य शास्त्र की नहीं। अर्थात् उनकी दृष्टि में पाश्चात्य साहित्यशास्त्र की विवेचना भी संस्कृत के गहन-गंभीर ज्ञान से लाभान्वित हो सकती है।) अँगरेजी के बल पर जैसे-तैसे संस्कृत-काव्यशास्त्र की व्याख्या प्रस्तुत करना शास्त्रीय मर्यादा भंग करना है। मिश्रजी भारतीय साहित्य शास्त्र की वरिष्ठता का निदर्शन सिल्वाँ लेवी जैसे पाश्चात्य विद्वान् के इस कथन में करते हैं कि 'कला के क्षेत्र में भारतीय प्रतिभा" ने संसार को एक नूतन और श्रेष्ठ दान दिया है जिसे प्रतीक रूप से 'रस' शब्द द्वारा प्रकट कर सकते हैं और जिसे एक वाक्य में इस प्रकार कह सकते हैं कि कवि प्रकट नहीं करता व्यंजित या ध्वनित करता है।'[3]

स्पष्ट है कि मिश्रजी की रचनाओं में संस्कृत साहित्यशास्त्र के ज्ञान पर ही सर्वाधिक बल दिया गया है—वे भारतीय साहित्यशास्त्र की ओर अधिक प्रवृत्त हुए हैं। मिश्रजी और डा० देवराज—दोनों दो छोरों पर खड़े दीखते हैं। जहाँ एक मुख्यतः भारतीय सिद्धांतों का ही प्रस्तोता और प्रयोक्ता है वहाँ दूसरा पश्चिम की ओर अत्यधिक झुका है। फिर भी मिश्रजी उस अतिवादिता से सर्वथा मुक्त हैं जो समीक्षक को अनुदार एवं अनमनीय बना देती है। इसलिए वे प्राच्य-प्रतीच्य साहित्यशास्त्रों के समन्वय और एकीकरण का समर्थन करते हैं। दोनों के सम्मिलित रूप को अपनाकर तथा "हिंदी साहित्य की सूक्ष्म परीक्षा करके ही हिंदी में साहित्य-शास्त्र के निर्माण की आवश्यकता है।'[4] इसके लिए संस्कृत

---

१ उपरिवत, पृ० १८।

२ उपरिवत।

३ उपरिवत, पृ० १८-१९।

४ उपरिवत, पृ० १९। "प्राच्य और पाश्चात्य साहित्य शास्त्र की विवेचना को सम्मिलित रूप से अपना कर, दोनों दृष्टिकोणों से देखकर ही कविता का स्वाद लेना होगा।" काव्यालोक, (पटना, १९४७), आत्म निवेदन।

को तिलांजलि देना उतना ही अशोभन है जितना "अँगरेजी का मधुमय" समन्वय रटना। "तुलनात्मक दृष्टि से काव्यशास्त्र का नया प्रतिसंस्कार करना होगा।"[1]

परन्तु मिश्रजी ने साहित्यशास्त्र के ऐसे नूतन संस्करण की रचना नहीं की। सिद्धान्ततः वे समन्वयवादी हैं, व्यवहारतः संस्कृत साहित्यशास्त्र की ओर सर्वाधिक प्रवृत्त। कहीं-कहीं भारतीय आचार्यों के मतों का विवेचन कर चुकने के पश्चात् वे पाश्चात्य व्याख्याकारों के भी मत उद्धृत कर देते हैं—परन्तु उनके विवेचन में उनका मन नहीं रमता। पाश्चात्य आचार्यों के मत मिश्रजी के ग्रंथों पर ऊपर से आरोपित दीखते हैं उनके अविभाज्य अंग के रूप में प्रकट नहीं होते।[2] यह भी उल्लेखनीय है कि मिश्रजी पाश्चात्य साहित्यशास्त्र के सामान्य तथ्यों का ही उल्लेख करते हैं उस शास्त्र की गहराइयों में नहीं जाते। उदाहरणार्थ, पाश्चात्य समालोचना के मुख्य भेदों का वे बड़ा ही संक्षिप्त इतिवृत्त प्रस्तुत करते हैं उनका सोदाहरण समीक्षण एवं अध्ययन नहीं।[3] फिर भी कहीं-कहीं उनकी समीक्षा शोधपरक एवं गवेषणामूलक हो गई है। उन्होंने "काव्यालोक" की तेरहवीं किरण में हिंदी काव्य पर अँगरेजी मुहावरों के प्रभाव का बड़ा ही सूक्ष्म एवं रोचक वर्णन प्रस्तुत किया है।[4]

"काव्य-दर्पण" भी "काव्यालोक" की तरह संस्कृत आचार्यों के आकर ग्रन्थों पर ही आधृत है। यद्यपि इसके लेखक ने पाश्चात्य समीक्षा से भी लाभ उठाया है, फिर भी उसके आधारभूत प्रतिमान और सिद्धान्त पौरस्त्य हैं न कि पाश्चात्य। इसका कारण लेखक की दृष्टि में यह है कि 'पाश्चात्य विचार या सिद्धान्त चक्कर काटकर' इन्हीं पौरस्त्य सिद्धान्तों पर लौट आते हैं।

काव्यदर्पणकार ने यत्र-तत्र पाश्चात्य मनीषियों के अनेकशः मत उद्धृत किए हैं किन्तु कहीं भी ऐसा प्रतीत नहीं होता कि वे उनसे प्रभावित हैं। वचनबद्ध हुए बिना, निरपेक्ष भाव से एवं तुलनार्थ पाश्चात्य मतों को उद्धृत करना उनसे प्रभावित होना नहीं है। पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों एवं मतवादों के प्रति काव्यदर्पणकार का यही दृष्टिकोण है। उनके ग्रन्थों में अँगरेजी के प्रभूत उद्धरण

---

१ उपरिवत्। काव्यालोक, आत्म निवेदन।
२ उदाहरणार्थ, काव्यालोक, द्वितीय उद्योत, पृ० २६-२७ पर रस्किन और शेली के विचार।
३ उपरिवत, पृ० ४६-४७।
४ उपरिवत, पृ० ४४४८ (तेरहवीं किरण)

लेखक के उनसे प्रभावित होने का द्योतन न कर उनसे परिचित होने का द्योतन करते हैं।

काव्यानंद के विदग्ध और सचेतस उपभोक्ताओं के संबंध में "काव्य-दर्पण" में आनंदवर्धनाचार्य और दण्डी के बाद प्लेटो का वह कथन उद्धृत है जिसके अनुसार काव्यानंद का अधिकारी वही व्यक्ति होता है जो संस्कृति और शिक्षा में महान है। मिश्रजी फ्रायड द्वारा प्रतिपादित कतिपय सिद्धान्तों को स्वीकार नहीं करते। फ्रायड के अनुसार "वात्सल्य में जो रति है, वह कामवासनामूलक ही है। चाहे वह सहेतुक हो या अहेतुक। इसकी पूर्ति स्पर्श, आलिंगन चुंबन आदि से की जाती है।'[1] कुछ लोग यह कह सकते हैं कि लेखक 'अपनी संस्कृति सभ्यता तथा शिक्षा-दीक्षा के कारण' फ्रायड के इस सिद्धान्त को अस्वीकार करता है। किंतु, मिश्रजी कहते हैं, बात ऐसी नहीं है। मैग्डूगल आदि अनेक मनोवैज्ञानिक *फ्रायड के उक्त सिद्धांत को नहीं मानते।* विवेच्य ग्रंथ में अनेक पाश्चात्य मतों एवं सिद्धांतों का सन्निवेश पाया जाता है। समानान्तर पश्चिमी विचारों के प्रस्तुतीकरण के निमित्त मिश्रजी सरलतम पद्धति का अनुसरण करते हैं—

कीट्स की भी यही उक्ति है (पृ० १८),
यहीं वर्ड्सवर्थ का भी कहना है (पृ० १६)
शेली ने भी कहा है (पृ० १८),
एमर्सन का कहना है (पृ० २०),

आरिस्टाटल के टीकाकार बूचर ने भी लिखा है (पृ० २२)।

मिश्रजी द्वारा प्रयुक्त पाश्चात्य आकर ग्रंथों के शतशः नाम "काव्य दर्पण" में बिखरे पड़े हैं। इनसे ऐसा प्रतीत होता है कि मिश्रजी को पाश्चात्य रोमांटिक काव्यशास्त्र का अच्छा अध्ययन था। वे वर्ड्सवर्थ, शेली, कीट्स, कार्लाइल, पेटर, हैजलिट आदि के विचारों से पूर्णतया परिचित थे। उन्होंने क्रोचे के 'ईस्थटिक' का तथा रिचर्ड्स के "साहित्यालोचन के सिद्धांत और व्यावहारिक आलोचना' जैसे ग्रन्थों का भी अनुशीलन किया था। इसी प्रकार ब्रैडले के 'आक्सफोर्ड लेक्चर्स आन पोएट्री' तथा कैरिट के 'द थियरी आव ब्यूटी" नामक ग्रन्थों का भी उन्होंने उपयोग किया है। 'काव्य-दर्पण' में इंगलिश क्रिटिकल एसेज, टाल्सटोय-कृत *'ह्वाट इज आर्ट', आग्डेन-कृत 'ए बी सी ऑव साइकालोजी' तथा वेन रचित "रेटरिक' से भी उद्धरण लिये गए हैं। 'काव्य में अप्रस्तुत योजना' (१८४८)* में एक ओर तो क्रोचे पोप और फ्रायड के काव्यशास्त्रीय सिद्धांत उद्धृत हैं वहीं

---

१ काव्य दर्पण, पृष्ठ ४।

दूसरी ओर लक्ष्मीनारायण-सदृश सामान्य एवं अविपक्व समीक्षकों के विचारों से भी लेखक ने यथावसर अपने मत की पुष्टि की है। "भाषा की उत्तमता" के विवेचन क्रम में उल्लिखित "एक अंग्रेज समीक्षक"[1] वस्तुतः ईस्ट ऑक्सफोर्ड स्कूल का प्रधानाध्यापक ई० ए० ग्रीनिंग लैम्बन है।

इन सभी पाश्चात्य ग्रन्थों और ग्रन्थकारों से परिचित रहने पर भी मिश्रजी इन पर ही एकान्त भाव से निर्भर नहीं रहते[2] और न इनसे प्रभावित ही होते हैं। समन्वयप्रिय होकर भी वे एक निश्चित दूरी और ऊँचाई से पाश्चात्य साहित्य का अध्ययन करते हैं। इसका कारण उनकी यह अविचल धारणा है कि हमारा काव्यशास्त्र अत्यन्त समृद्ध है। तुलनात्मक पद्धति के प्रयोक्ताओं का लक्ष्य तुलना की प्रक्रिया में तादात्म्य का आद्यंत निर्वाह होना चाहिए। मिश्रजी तुलनात्मक अध्ययन के प्रस्तोता हैं, उनके अनुसार प्रगतिवादी आलोचकों ने संस्कृत-साहित्यशास्त्र का न तो यथेष्ट अध्ययन किया है और न मनन ही किया। "केवल अंग्रेजी समालोचना ग्रन्थों का ही उन्हें भरोसा है। यदि ये मित्र तुलनात्मक अध्ययन करते तो कभी ऐसी बातें न कहते। ... आप प्राचीन आचार्यों को लेकर अपना नया दृष्टिकोण उपस्थित कीजिए। उनका सामंजस्य बढ़ाइए।"[3]

डा० धीरेन्द्र वर्मा (ज० १८९७)

डा० धीरेन्द्र वर्मा की कृतियाँ ऐतिहासिक एवं गवेषणामूलक होने के कारण वैज्ञानिक एवं विश्लेषणात्मक हैं। उनमें प्रामाणिक तथ्यों के संचयन और अभिव्यंजन पर विशेष बल दिया गया है। 'मध्यदेश : ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक सिंहावलोकन' एक ऐसा ऐतिहासिक ग्रन्थ है जिसकी उपजीव्य सामग्री गंभीर अध्ययन-मनन एवं शोध से उपलब्ध हुई है। लेखक की अधिकांश रचनाएँ ऐसी ही शोधपरक हैं और जिन ग्रन्थों ने उसे यशस्वी बनाया है, वे अधिकांशतः भाषा विज्ञान से संबद्ध हैं। इस संदर्भ में 'मध्यदेश' का उपशीर्षक 'ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक सिंहावलोकन' उल्लेखनीय है। 'ब्रजभाषा'

---

१ काव्य में अप्रस्तुत योजना (पटना १९४८), पृ० ४३।

२ उन्होंने 'एक प्रगतिवादी साहित्यिक' के विचारों की आलोचना यह कहकर की है कि "यह केवल अंग्रेजी साहित्य पर निर्भर रहने का ही परिणाम है।" (काव्य-दर्पण, पृ० ४)

३ उपरिवत्, पृ० १७।

भी इसी कोटि के ग्रन्थों में परिगणनीय है इसे भी व्रजभाषा एवं व्रजप्रदेश का मौलिक ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक सर्वेक्षण कहा जा सकता है। आचार्य वर्मा के फ्रांसीसी भाषा में प्रकाशित शोध प्रबंध 'ला लाँग-व्रज' का यह हिन्दी रूपांतर है जिस पर उन्हें पेरिस विश्वविद्यालय ने सन् १८३५ में 'डाक्टरेट' की उपाधि दी थी। ग्रियर्सन और ज्यूल ब्लाख द्वारा उद्घाटित परंपरा को कायम रखते हुए उन्होंने हिंदुस्तानी बोलियों का प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत किया है और नागरी प्रचारिणी पत्रिका में एतद्विषयक कई गंभीर तथा तथ्यपरक निबंध प्रकाशित किए हैं। "हिंदी भाषा और लिपि" नामक पुस्तक डा० वर्मा की शोध-प्रतिभा की अनन्य परिचायिका है।

इसमें संदेह नहीं कि संहिताओं को समझने समझाने के लिए रचित प्रातिशाख्यों से ही भारतवर्ष में भाषा विज्ञान, विशेषतः ध्वनि विज्ञान के अध्ययन का शुभारंभ हुआ है। जब संहिताओं के मंत्र अनद्यतन होने लगे तब इनके अप्रचलित शब्दों की व्याख्या के लिए शब्दकोश तथा व्युत्पत्ति विषयक ग्रंथ रचे गए जिनमें यास्क का निरुक्त अत्यंत महत्वपूर्ण माना गया है। इसके साथ ही व्याकरणों की रचना भी होने लगी। सर्वप्रथम पाणिनि ने अष्टाध्यायी की रचना की और उनके बाद पतंजलि का 'महाभाष्य' प्रणीत हुआ जो पाणिनि की अष्टाध्यायी का पूरक कहा जाता है। किंतु भारतवर्ष में आधुनिक भाषावैज्ञानिक अध्ययन सर विलियम जोन्स, कोर्डो, ग्रिम, हार्नले, ग्रियर्सन, काल्डवेल, ज्यूल ब्लाख, राल्फ टर्नर प्रभृति पाश्चात्य विद्वानों के शोधों तथा कृतियों में उन्मेषित होता है। इनसे प्रेरणा पाकर डा० भण्डारकर, डा० तारापुरवाला, डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या, डा० एस० एम० कत्रे आदि ने भाषावैज्ञानिक अध्ययन के क्रम को जीवित तथा गतिशील रखा है और भारतवर्ष में ऐसे अध्ययन का बल प्रदान किया है। डा० धीरेन्द्र वर्मा, डा० बाबूराम सक्सेना, डा० उदयनारायण तिवारी आदि के भाषाविज्ञान विषयक अध्ययन से हिन्दी भाषा-साहित्य समृद्ध हुआ है और साथ ही इनके माध्यम से पाश्चात्य भाषाविज्ञान से प्रभावित भी। डा० गाइन एच० फेयरबैंक्स, डा० एच० ए० ग्लीसन के विद्यार्थी तथा राकफेलर फाउण्डेशन की सहायता से शिक्षाप्राप्त अनेक भारतीय विद्वान् भाषा विज्ञान-विषयक शोध में बहुश: दत्तचित्त हैं।

डा० धीरेन्द्र वर्मा के निबंध[1] तथ्यार्पण तथा प्रचुर उपयोगी सामग्री

---

1 उदाहरणार्थ, देखिए "विचार धारा" (प्र० सं० सं० १९९८, नवीन सं० सन् १९५६) के हिंदी-साहित्य तथा आलोचना विषयक निबंध।

के प्रस्तुत करण म अप्रतिम हैं। उनके 'आधुनिक हिंदी काव्य', "सूरसागर सार", "परिषद् निबंधावली" आदि ग्रन्थों की भूमिकाएँ संक्षिप्त होती हुई भी विचारोत्तेजक, पांडित्यपूर्ण तथा गंभीर हैं। विश्व के अनेक महान् समीक्षक—ड्राइडन, वेर, आर्नल्ड, एलियट रामचन्द्र शुक्ल आदि—निपुण सम्पादक और भूमिका लेखक रहे हैं। हिंदी म डा० वर्मा की भूमिकाओं का स्थान पाउंड, किप्लिंग, विल्सन नाइट, जेम्स ग्रायम हेनरी फ्लूशियर और वलरी की कतिपय रचनाओं के सग्राहक और परिचायक एलियट की भूमिकाओं के समकक्ष है। उनके संपादकत्व म प्रकाशित 'हिंदी साहित्य' और 'हिंदी साहित्य कोश' का स्थान वही है जो अँगरेजी म जॉन बट के संपादकत्व म प्रकाशित पोप की कृतियों का, बोरिस फोर्ड के संपादकत्व म प्रकाशित "द पेलिकन गाईड टु इंग्लिश लिटरेचर" (७ खंड) का और एफ० पी० विल्सन तथा बोनामी डाब्री के संपादकत्व म प्रकाशित 'ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑव इंग्लिश लिट्रेचर' का है। इस कथन म अतिरंजना नहीं है कि जो कार्य हिंदी समीक्षा के क्षेत्र में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने किया हिंदी शोध के क्षेत्र म वही कार्य डा० धीरेंद्र वर्मा का है। वस्तुत अपनी संश्लिष्ट चिंतन दृष्टि के कारण इन्होंने भाषा और साहित्य को सदा संस्कृत के व्यापक परिवेश म ग्रहण किया। यही कारण है कि इन्होंने हिंदी शोध-कार्य को जो दिशा दी है, वह बहुत व्यापक है।'[1]

आचार्य बलदेव उपाध्याय (ज० सन् १८९९)

आचार्य बलदेव उपाध्याय-कृत 'संस्कृत आलोचना' (१९३२) हिंदी और संस्कृत दोनों म परम व्युत्पन्न भारतीय आचार्य की हीनभावना का मत प्रतीक है। इसम ऐसा लगता है लेखक पाश्चात्य वाङ्मय के चाकचिक्य से कहीं तो पूर्णत अभिभूत जान पड़ता भारतीय सांस्कृतिक जीवन पर उसके वर्तमान दुर्दमनीय प्रभाव के कारण आतंकित और क्षुब्ध है। वह स्वयं पाश्चात्य साहित्य की उपेक्षा नहीं कर सकता क्योंकि आज के युग म न तो एकदेशीय विचारों का महत्त्व है और न पाश्चात्य लेखकों के निर्णयों एवं निष्कर्षों से अपनी महनीय रचनाओं को मंडित किए बिना कोई भी लेखक लोकप्रिय हो सकता है। इसलिए उपाध्याय जी बार-बार पश्चिमी लेखकों के मत उद्धृत करते और अपने निष्कर्षों को प्रामाणिकता प्रदान करते हैं। जहाँ पाश्चात्य कवियों से संस्कृत के कवियों की तुलना

1 हिंदी-अनुशीलन (धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक), ३० मई, १९६०, पृ० १६।

की जाती है, वहाँ लेखक का मन्तव्य और उसकी आत्महीनता अपने स्पष्ट हो उठती है। बिना पाश्चात्य प्रमाण-पत्र पाये यह अपने अधिकांश निष्कर्षों को प्रामाणिक नहीं मानता। उदाहरणार्थ 'संस्कृतकविचर्चा' से निम्नलिखित वाक्य द्रष्टव्य हैं

१—पश्चिमी विद्वानों ने भी इसे अत्युत्तम नाटक माना है। (पृ० ३९)

२—कालिदास की तरह शेक्सपियर ने भी क्या ही अच्छा कहा है। (पृ० ६०)

३—परन्तु डा० फ्लीट जैसे प्रामाणिक पुरातत्ववेत्ताओं की सम्मति में यह लेख बिल्कुल जालसाजी है। (पृ० २४१)

४—व्याख्याता के इस पद्य में पिटरसन तथा याकोबी की सम्मति में उपेन्द्र की छाया देख पड़ती है। (पृ० २५०)

५—परन्तु भवभूति का यह वर्णन अग्रज महाकवियों के समान विस्तृत तथा वास्तविक है। (पृ० ३२४)

उपाध्यायजी ने पीटर्सन, हार्नली, ऑफ्रेक्ट पिशल आल्डनबर्ग याकोबी ब्यूलर आदि विद्वज्जनों की गवेषणाओं का समुचित उपयोग किया है और उनके निष्कर्षों को चाहे सश्रद्ध अपनाया है या यथावसर उनका खंडन किया है। "कालिदास" शीर्षक कविचर्चा में उन्होंने काव्य प्रयोजन विषयक भिन्न भिन्न सम्मतियों का उल्लेख किया है। इनमें स्विनबर्न, मैथ्यू आर्नल्ड और रस्किन की भी सम्मतियाँ उल्लिखित हैं।

"आचार्य सायण और माधव" (१९४६) 'श्री शंकराचार्य' (१९५०) जैसे ग्रन्थों में पाश्चात्य प्रभाव का अनुसंधान स्वभावतः निरर्थक है। इनमें प्रथम ग्रंथ में लेखक ने पाश्चात्य वैदिक अनुसंधानों की प्रशंसा[1] की है और पाश्चात्य विद्वानों के हम भारतीयों के बड़े उपकार को स्वीकार किया है। इन लोगों ने भारतीय ग्रन्थों के प्रकाशन करने में अपना अमूल्य समय और अर्थ लगाया है तथा इनकी बहिरंग परीक्षा करने में विशेष अध्यवसाय और गाढ अनुराग का परिचय दिया है। इनका विद्याप्रेम श्लाघनीय है।[2] केवल इस अर्थ में वह पाश्चात्य अनुसंधाताओं से प्रभावित है कि उनके समादरणीय निष्कर्षों

---

१ दे० आचार्य सायण और माधव (प्रयाग, १९४६), पृ० ११७।

२ उपरिवत।

पर अपने विवेचन को आधृत एव यथावकाश उनके विचारो को उद्धृत कर अपने मत की पुष्टि करता है।[1] जहाँ उसने आनदवर्द्धन, "मगल", राजशेखर प्रभृति के प्रतिभा एव व्युत्पत्ति विषयक सिद्धातो का उल्लेख किया है, वहाँ वह यह कहना नही भूलता कि लटिन मे भी एक कहावत है जिसके अनुसार कवि पैदा होते हैं, गढे नही जाते—Poetanasci, tur non fit[2]। "कवि और काव्य" म भी उसने यूरोपीय भाषातत्त्ववेत्ताओ के योगदान की सराहना और, विशेषत, डॉक्टर पिशल के प्रति भारतीय विद्वानो की कृतज्ञता ज्ञापित की है। "प्राकृत भाषाओ के ज्ञाताओ मे," लेखक कहता है, "जर्मनी के प्रसिद्ध विद्वान् डाक्टर पिशेल का नाम अग्रगण्य है। इनका प्राकृत भाषा का असीम ज्ञान उनके प्राकृत व्याकरण[3] के प्रत्यक्ष पठ से स्पष्ट ज्ञात होता है।'[4]

"भारतीय साहित्यशास्त्र" के अनुशीलन स उपयुक्त निष्कर्षों को अतिरिक्त प्रामाणिकता मिलती है। इसका लेखक पाश्चात्य गवेषको, पुरातत्त्वान्वेषियो और इतिहासकारो स प्रभावित है और पाश्चात्य आलोचना की गरिमा को स्वीकार करता है। तभी तो वह पाश्चात्य आलोचको के मतो को उद्धृत ही नही करता, उनके द्वारा प्रतिपादित महत्वपूर्ण विषयो का भी मार्मिक विवेचन प्रस्तुत करता ह और अपनी विवेचन पद्धति को तुलनात्मक बनाने का यथेष्ट उद्योग करता है।[5] उसकी दृष्टि मे "भारतीय साहित्यशास्त्र" "भारतीय आलोचना

---

१ उदाहरणार्थ—'परम हर्ष का विषय है कि पाश्चात्य अनुसधान-कर्ता भी सायण के परम महत्त्व से अपरिचित नहीं हैं। ऋग्वेद के प्रथम अनुवादक प्रसिद्ध अँगरेजी विद्वान विल्सन की यह उक्ति भुलाई नहीं जा सकती कि निश्चय रूप से सायणाचार्य का वेदज्ञान इतना अधिक था जितना कोई भी यूरोपियन विद्वान रखने का दावा नहीं कर सकता और चाहे स्वय अपनी जानकारी से या अपने सहायको के द्वारा वेद क परपरागत अर्थों से नितान्त परिचित थे। सायण भाष्य के प्रथम यूरोपियन सपादक डाक्टर (मोक्षमूलर भट्ट) मैक्सम्यूलर का यह कथन भी यथार्थ ही है कि यदि सायण के द्वारा की गई अर्थ की लडी हमे नहीं मिलती, तो हम इस दुर्भेद्य किले के भीतर प्रवेश ही नहीं पा सकते थे।" उपरिवत, पृ० १३१।

२ आचार्य बलदेव उपाध्याय, कवि और काव्य (कलकत्ता, १९४७), पृ० ५।

३ Grammatik der Prakrit Sprachen

४ कवि और काव्य, प० २११।

५ भारतीय साहित्यशास्त्र (काशी, १९५०), प० ८ (वक्तव्य)।

की व्यवस्था की सुदृढ़ नींव पर रखने का श्लाघनीय प्रयास यथाशक्ति कर रहा है।"[1] उपाध्यायजी की तुलनात्मक पद्धति समन्वयवादियों की पद्धति है। इसलिए इस ग्रंथ में वाल्टर रैले की रीति विषयक मान्यताओं, "स्टाइल" शब्द की व्युत्पत्ति और महत्त्व, पाश्चात्य आलोचना में वक्रोक्ति, रिचर्ड्स के अनुसार अर्थ के प्रकार, काव्यप्रेरणा और नवीन मनोविज्ञान, फ्रायड, एडलर, युंग के काव्य प्रेरणा विषयक मत आदि का गंभीर तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस विवेचन का उद्देश्य भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों द्वारा उद्भावित समीक्षा-सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन है जिसके क्रम में लेखक अपने निजी विचार भी व्यक्त करता जाता है। स्वभावतः उपाध्यायजी को प्राच्य सिद्धान्त ही अपेक्षाकृत अधिक मान्य हैं और पश्चिमी सिद्धान्तों में वे उन्हीं का समर्थन करते हैं जो पूर्व प्रतिपादित भारतीय मतों से मिलते-जुलते हैं। उनका दृष्टिकोण 'संस्कृत आलोचना' (१९५७) के निम्नलिखित वक्तव्य में स्पष्टतः व्यंजित हुआ है:

> आजकल के नवयुवक विद्वान केवल पाश्चात्य साहित्य पढ़ा है बहुधा यही समझते हैं कि ग्रीक और लैटिन में और तत्पश्चात् फ्रेंच और अंग्रेजी में जो पुस्तकें हैं, उनमें ही साहित्यिकता का सब ज्ञान संचित है और बहुधा उन्हीं में समाविष्ट सिद्धान्तों की कसौटी पर साहित्य की समालोचना हो सकती है। उनका यह विश्वास भ्रमपूर्ण है। आजकल हिन्दी साहित्य की नव्य आलोचना भी संस्कृत आलोचना से पराङ्मुख ही दीख पड़ती है। इसका एक कारण तो यह प्रतीत होता है कि भारत में अंग्रेजी भाषा सुलभ हो जाने से नवीन आलोचक पश्चिमी साहित्यशास्त्र से जितना सुपरिचित हो जाता है उतना संस्कृत साहित्यशास्त्र से नहीं।[2]

इस प्रकार उपाध्यायजी के आलोचना-ग्रंथों का एक उद्देश्य यह दिखाना भी है कि समालोचना की भारतीय परंपरा भी अतिशय वरिष्ठ एवं गरिमामयी रही है। जिस क्षेत्र में पश्चिम के वरेण्य मनीषियों ने श्लाघ्य श्रमदान किया है उसमें वे उनके विचारों का ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत हैं पर यह मानने को तैयार नहीं हैं कि पश्चिम का समीक्षा-शास्त्र अपेक्षया अधिक जीवंत एवं गत्यात्मक

---

१ भारतीय साहित्यशास्त्र (काशी, १९५०), पृष्ठ ८ (वक्तव्य)।

२ संस्कृत आलोचना (सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, १९५७), पृ० ५ (वक्तव्य)

है। उपाध्यायजी क्रोचे, कोलरिज, क्रोचे, रिचर्ड स, फ्रॉयड आदि के सिद्धांतो से परिचित होकर भी इनसे प्रभावित नहीं हुए हैं।

"काव्यानुशीलन"[1] मे "कलाकार की प्रेरणा", "काव्य का प्रयोजन" आदि निबंध "भारतीय साहित्यशास्त्र" से ही अविकल रूप मे उद्धृत हैं।

---

१ काव्यानुशीलन (जयपुर, १९५६)।

४

हिन्दी की सैद्धांतिक आलोचना पर पाश्चात्य प्रभाव—२



"वर्तमान साहित्य-जगत में पाश्चात्य आलोचना के मान प्रतिमान इतने अधिक रम गये हैं कि आज का साहित्य-मनीषी उन्हीं के माध्यम से चिंतन और मूल्यांकन करता है।"

—डा० नगेंद्र, रस सिद्धांत, पृ० ७३।

पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र (ज० १९०६—)

मिश्रजी की साहित्य-साधना को समग्रता में देखने पर उनके पाठ-संपादन-विषयक कार्य इयत्तया अधिक प्रतीत होते हैं। इनका विवेचन 'हिंदी पाठालोचन पर पाश्चात्य प्रभाव' शीर्षक परिच्छेद में हुआ है। किंतु मिश्रजी हिंदी के उन वरेण्य आलोचकों में परिगणित हैं जिन्होंने प्राचीन भारतीय वाङ्मय का गंभीर आलोडन किया है और जो प्राचीन हिंदी-साहित्य के गंभीर अध्येता हैं। उनके साहित्यालोचन की आधारभूमि भारतीय साहित्यशास्त्र है फिर भी वे पाश्चात्य प्रभाव से सर्वथा अस्पृष्ट नहीं हैं। यहाँ उसी यत्किंचित प्रभाव का विवेचन उद्दिष्ट है।

मिश्रजी द्वारा संपादित 'पद्माकर-पंचामृत', 'घनआनंद-कवित्त', 'पद्माकर-ग्रंथावली', "भूषण' आदि ग्रंथों की भूमिकाएँ और 'बिहारी की वाग्विभूति', 'हिंदी का सामयिक साहित्य', 'वाङ्मय विमर्श' जैसे समीक्षात्मक ग्रंथ गांभीर्य से आच्छादित एवं उनके स्पृहणीय वैदुष्य से आपूर्ण हैं। उन्होंने पाश्चात्य आलोचनाशास्त्र का विशेषतया ऐबरक्रॉम्बी, हडसन, जेम्स स्काट और रिचर्ड्स की रचनाओं का मनोयोगपूर्वक अध्ययन किया है और वे इनसे ही अल्पाधिक प्रभावित

भी हुए हैं।[1] फिर भी उनकी आधारभूमि भारतीय है—उनकी रचनाएँ भारतीय परपराओं म ही बद्धमूल हैं ("नीव मे सब भारतीय हैं ऊपर काच शीशा विलायती आवश्यकता पडने पर हैट भी पहन ले सकता हूँ, पट भी")। नये लेखकों के माध्यम से उन्होने प्राचीन यूरोपीय समीक्षको का भी अध्ययन किया है और पाश्चात्य समीक्षा-सबधी विविध सूचनाएँ सेंटसबरी-कृत आलोचना के इतिहास से सगृहीत की है। सभवत उन्होने पाश्चात्य समीक्षा से सबद्ध अन्यान्य ग्रन्थो का भी अनुशीलन किया है, परन्तु उनके अध्ययन की भूमिका उक्त ग्रथकारो की कृतियो से ही निर्मित हुई है। चूंकि मिश्रजी मे जडता नही है ("यहाँ सनातन धर्म नही है"), वे पश्चिम का सहारा लेकर यहा की बातो को भी स्पष्ट" करने म विश्वास करते हैं। उनके कथनानुसार पश्चिम के आतिशयिक प्रभाव के कारण हमारी स्वतन चेतना का विकास नहीं हो रहा है। ज्ञान तो हम किसी का भी ले सकते हैं पर साथ ही इसम हमारे चिन्तन का भी योग वाछनीय है।

उपर्युक्त कथनो की प्रामाणिकता आचार्य मिश्र के "वाङमय विमर्श" मे सहज ही सिद्ध हो जाती है। इस ग्रन्थ के 'उपस्करण" म अपनी सधी निखरी शैली

---

१ मिश्रजी ने १० अक्टूबर १९६६ को लेखक के कतिपय प्रश्नों के जो उत्तर दिये वे द्रष्टव्य हैं

लेखक क्या आप स्वीकार करेंगे कि आपकी समीक्षाएँ पश्चिम से प्रभावित हैं ?

मिश्रजी—यह नहीं कह सकता कि मैं पश्चिम से प्रभावित नहीं हुआ हूँ। (मिश्रजी के शब्द थे यह नहीं कह सकते कि प्रभाव नहीं पडा है।) मुझमे जडता नहीं है।

लेखक पश्चिम के किन किन समीक्षको से आपने प्रभाव ग्रहण किया है ?

मिश्रजी मैंने कुछ पाश्चात्य समीक्षको की, 'चुनी हुई पुस्तकें' पढी हैं—जैसे, ऐबरक्रॉम्बी, हडसन, जेम्स स्कॉट और रिचर्ड स की पुस्तकें।

लेखक प्राचीन पाश्चात्य मनीषियो का भी ?

मिश्रजी मैं प्राचीनो से अनभिज्ञ नहीं हूँ। नये लेखकों के माध्यम से मैंने उनके विचार ग्रहण किए हैं। (नये लेखकों मे उन्होने 'सेंटसबरी' की ओर सकेत किया।) स्नातकोत्तर विद्यार्थियो को मैं साहित्यालोचन पढाता हूँ। कभी-कभी पश्चिम का सहारा लेकर यहाँ की बातों को भी स्पष्ट करने की आवश्यकता पड जाती है।

मेटाफिजिकल-युग (डन और मिल्टन का युग) के केन्द्रवर्ती मानेगए और प्रगीतों में प्रमुख संगीत-तत्त्व मिलते हैं।

मिश्रजी ने वाङ्मय विमर्श में पाश्चात्य आधार पर काव्य में दृष्टिगत पाश्चात्य प्रभावों का भी संकेत किया है। पाश्चात्य समीक्षाशास्त्र में काव्य के दो प्रकार माने गए और प्रचलित हैं—एक आत्माभिव्यंजक (सब्जेक्टिव) और दूसरा वस्तुनिष्ठाभिव्यंजक (ऑब्जेक्टिव)। मिश्रजी द्वारा प्रस्तुत प्रगीतों का स्वरूप निरूपण बहुत कुछ सूक्ष्म एवं प्रामाणिक है परन्तु उनके इस कथन से सहमत नहीं कि 'पाश्चात्य देशों में इन प्रगीतों के विरुद्ध प्रबल आन्दोलन उठ खड़ा हुआ है और परिणामस्वरूप प्रगीतों की रचना बहुत कम हो गई है।' पाश्चात्य समीक्षाक्षेत्र में किया जानेवाला उपर्युक्त वर्गीकरण तात्त्विक नहीं प्रतीत होता। क्योंकि आत्माभिव्यंजक रचनाओं में भी कवि का व्यक्तित्व प्रच्छन्न रूप से व्याप्त रहता है।[1] पश्चिम में रोमांटिक प्रगीतों के विरुद्ध ह्यूम और पाउंड ने जिस प्रबल आन्दोलन का नेतृत्व किया था, उसका प्रभाव इमेजिस्ट के जीवन काल में ही स्वयं इमेजिस्ट की परवर्ती रचनाओं में क्षीण हो चला था।[2] संगीत गुण के हट जाने से ही काव्य की रागात्मकता का ह्रास नहीं हो जाता और न पश्चिम में संगीत की आवश्यकता में कमी रसज्ञता कविताओं का ही अभाव है। इसके अतिरिक्त पश्चिम के अनेक विचारशील आलोचकों का भी यही मत

---

१ वाङ्मय विमर्श, पृ० ४४-४५।

२ "फोर क्वार्टेट्स" से उद्धृत कुछ पंक्तियों के संबंध में मैक्सवेल की यह टिप्पणी ध्यातव्य है "द इण्टलेक्चुअल कॉण्टेंट ऑव दिस पैसेज इज सबोर्डिनेटेड टु द इमपेक्टरी एलिमेन्ट—डिराइव्ड, वन फील्स फ्राम द इम्पक्ट ऑन एलियट ऑव द टोनल क्वालिटीज आव लिटर्जी—एण्ड द पैटर्न ऑव साउण्ड इज द प्राइमरी फैक्टर इन द कम्यूनिकेशन ऑव एक्सपेरियन्स ऑव द मोमेण्ट इन एण्ड आउट ऑव टाईम हिच इज मिस्टिकल वीजन।" डे० डी० ई० एस० मैक्सवेल, द पोयट्री ऑव टी० एस० एलियट (लंदन, १९५२), पृ० १५९। काव्य में संगीत के महत्त्व के लिए दे० क्लीन्थ ब्रुक्स और रॉबर्ट पेन वरेन, अण्डरस्टैण्डिंग पोयट्री (न्यूयार्क, १९६०), पृ० ११९-१८०, एम० एल० रोजन्थल तथा ए० जे० एम० स्मिथ, एक्सप्लोरिंग पोयट्री (न्यूयॉर्क, १९५९), पृ० ६६-७५, हैलेट स्मिथ, एलिजाबेथन पोयट्री (केम्ब्रिज, १९५२), प० २५७-२८९ ('पोयट्री फॉर म्युजिक')।

सर्वाधिक सम्भाव्य है कि बाह्यार्थनिरूपक रचनाओं में भी कवि का व्यक्तित्व प्रच्छन्न रूप से ओतप्रोत रहता है।

"वाङ्मय विमर्श" का "पश्चिमी समालोचना" शीर्षक प्रकरण ऐबरक्रॉम्बी, वर्सफोल्ड, स्कॉट जम्स और सेंटसबरी से प्रभावित है। मिश्रजी का सारग्राही मनन समीक्षक जानता है कि 'हिंदी में भारतीय साहित्यशास्त्र की परंपरा का कुछ भी ज्ञान न रखते हुए केवल अंगरेजी ज्ञान के भरोसे जो महानुभाव क्रोचे की अभिव्यंजना का प्रशस्ति पाठ करते नहीं थकते, उन्हें अब अपना व्यापार बंद कर देना चाहिए। हिंदीवालों में अब समझ आ गई है और वे क्रोचे की हकीकत जान गए हैं। क्रोचे की मान्यता भारतीय परंपरा में खप नहीं सकती।' ("वाङ्मय-विमर्श', पृ० २७६)

'हिंदी साहित्य का अतीत', 'हिंदी का सामयिक साहित्य", 'बिहारी की वाग्विभूति' आदि ग्रंथों से स्पष्ट है कि मिश्रजी की समीक्षाओं की आधार-भूमि, निस्संदेह भारतीय है। उन्होंने यत्रतत्र पाश्चात्य साहित्य का उपयोग अवश्य किया है—प्रेमचंद की तुलना हार्डी से की है('हिंदी का सामयिक साहित्य" पृ० १५८)और स्वच्छंदतावाद का मार्मिक रहस्योद्घाटन किया है। किंतु, मूलत, उनका दृष्टिकोण और उनके प्रतिमान भारतीय हैं। "वीरकाव्य—हल्दीघाटी" और प्रबंध-कविता कुरुक्षेत्र' का मूल्यांकन भारतीय काव्यशास्त्रियों द्वारा निर्मित निकषों पर हुआ है। पर ऐसी समालोचनाएँ स्वभावत व्यावहारिक समीक्षा के अंतर्गत आती हैं अत इनका विवेचन वहीं हुआ है।

शांतिप्रिय द्विवेदी (ज० १९०६)

हमारे साहित्य निर्माता", कवि और काव्य", संचारिणी', "सामयिकी" "ज्योति विहग' आदि ग्रंथों के रचयिता की समीक्षात्मक कृतियों में भाव अपनाव की प्रवृत्ति[1] नहीं दीखती और न ऐसा प्रतीत ही होता है कि इनके लेखक ने पाश्चात्य साहित्य का गंभीर अंतलस्पर्शी अध्ययन ही किया है। अपनी अभिरुचि एवं शिक्षा-दीक्षा के संबंध में द्विवेदीजी ने कहा है

> मेरी शिक्षा-दीक्षा हिन्दी की साक्षरता तक ही सीमित होने के कारण अन्त प्रांतीय और अंतर्राष्ट्रीय साहित्य का सहयोग मुझे उतना ही प्राप्त है जितना अपनी भाषा के माध्यम से संभव है। लेकिन अति घन की तरह अति अध्ययन पर मेरा विश्वास नहीं है।

---

१ दे० कवि और काव्य (प्रयाग, १९३६), पृ० ९-१०।

ज्ञान के आश्रम का मैं केवल लव-कुश बना रह सकूँ यही मेरी अभिलाषा है।[1]

"युग और साहित्य" की भूमिका म उन्होंने अपने आलोचक को वातावरण से ही अधिक प्रभावित एव निर्मित कहा है

> अपने जीवन म मैं जिस प्रकार धनाढ्यता से वचित हूँ उसी प्रकार विद्वत्ता से भी। मेरी शिक्षा-दीक्षा साक्षरता से अधिक नहा है। अतएव मैं अपने चारा ओर के वातावरण से ही प्रेरणा ग्रहण करता हूँ जीवित जगत का अध्ययन ही मेरा मनन चिंतन है।[2]

द्विवेदीजी की तरल-मृदुल, भाव प्रवण एव प्रभावाभिव्यजक भाषा शैली म अँगरेजी शब्दा का प्रयोग अत्यल्प परतु तत्सम शब्दा का प्रयोग सर्वाधिक हुआ है और उनके द्वारा प्रस्तुत विवेचनो मे ऐसे सकेत नही मिलते, जिनसे उनके पाश्चात्य साहित्यकारा से प्रभावित होने का पता चले। उनका "काव्य चिंतन" सिडनी, टामस लाज, शेली प्रभृति पाश्चात्य समीक्षको की याद दिलाता है। इन समीक्षका द्वारा काव्य के वशिष्ट्य का सविस्तर वणन ऐसे ही पुरजोर शब्दा म हुआ है और इन्होने भी काव्य की श्रेष्ठता और अमरत्व की घोषणा के क्रम मे ऐसे ही तक उपस्थित किए हैं। चूँकि द्विवेदीजी की प्रतिभा काव्य से प्रस्फुटित होकर गद्य की ओर उन्मुख हुई है वे, प्रत्यक्षत, वर्णनात्मक एव इतिवृत्तात्मक शैली न अपनाकर भावप्रवण एव कवि-सुलभ सरस शैली मे अपनी समीक्षाओ की रचना करते हैं। दूसरी बात यह है कि वे कविता को विज्ञान की अपेक्षा अधिक महत्व देते हैं। विज्ञान, उनकी दृष्टि म, 'पश्चिम के दुर्द्धप पुरुप के रूप म मस्तिष्क को उदबुद्ध कर देता है, कविता आर्य-नारी की भाति हृदय को सहज सजग करती है।[3] 'मनुष्य के शरीर पर जितना भार इन्द्रिया का नही है, उससे कही अधिक दुर्वह भार विज्ञान नित नई-नई आवश्यकताओ के आविष्कार द्वारा मनुष्य के जीवन पर लादता जा रहा है। बढती हुई आवश्यकताओ की पूर्ति करके भी विज्ञान हृदय को शाति नही दे पाता। किंतु कवि वशी के रिक्त रध्रा-जसे अभावमय जीवन

---

१ क्षेमचन्द्र 'सुमन (सपा०), जीवन-स्मृतिया (दिल्ली, १९५३), पृ० १९७।

२ मोहनलाल एव सुरेन्द्रचद्र गुप्त, आलोचना और आलोचक (दिल्ली, १९५७), पृ० ८८।

३ कवि और काव्य पृ० १०

को भी हृदय के माधुर्य से परिपूर्ण कर देता है।[1] इस दृष्टिकोण के समर्थक में पश्चिम के अनेक लेखक और वैज्ञानिक मिलेंगे। आर० एल० लिण्ड ने अपनी पुस्तक 'नॉलेज फॉर व्हाट' (१८३६) में कहा है कि ज्ञान विज्ञान के आत्यंतिक प्रचार के बावजूद हम आज उत्तरोत्तर अशिक्षित ही होते जा रहे हैं। एक ओर तो विज्ञान हमारी असहायता दूर करने में लगा हुआ है वहीं दूसरी ओर इसके कारण हमारा वैकल्य क्षिप्र त्वरा से बढ़ता जा रहा है।[2] कला और विज्ञान में अधिकाधिक सहयोग का समर्थन करके भी सी० एच० वडिंगटन यह स्वीकार करते हैं कि मानवीय संभावनाओं के मापन में लेखक और कलाकार की अभिरुचि अत्यन्त दुर्गम है।[3] सन १८२४ में प्रकाशित बेसिल विली की पुस्तक 'द सेवण्टीथ सेन्चुरी बैकग्राउण्ड' का प्रतिपाद्य विषय यह है कि विज्ञान के विकास के कारण सत्रहवीं शती के अँगरेजी काव्य (और धर्म) के स्वर में अनास्था एवं नैराश्य का स्वाभाविक प्रवेश हो जाता है।[4]

विज्ञान के प्रति द्विवेदीजी का दृष्टिकोण डॉ० एच० लारेंस ई० एम० फॉस्टर जैसे अनेक मानवतावादी लेखकों के दृष्टिकोण के अनुरूप दीखता है। पश्चिम में विज्ञान की वस्तुपरक उन्नति और मस्तिष्क का आत्यंतिक विकास

---

१ कवि और काव्य, पृ० १८।

२ Dr Lynd concludes we are cumulating our disabilities and the resulting strains incident to daily living at a rate faster than social legislation education and all the agencies for reform are managing to harness our new knowledge in the reduction of these disabilities We are becoming culturally illiterate faster than all these agencies are managing to make us literate in the use of the potentialities of the culture *Scrutiny* Vol X, no 3, Jan 1942 pp 318 *et sec*

३ उपरिवत, पृ० ३२१।

४ I have left myself but little room to speak of Mr Willey s main thesis that the new philosophy necessarily depressed the tone both of religion and poetry H J C Grierson in *Scrutiny* Vol III no 3 Dec 1934, p 302

सा हा सका है किंतु वहाँ हुन्य का उपेक्षा दर्शी रही है। जब स मौद्योगिक क्रांति का मारम्भ मौर यन्त्रयुग का माविर्भाव हुमा तभी से पश्चिम के 'स्वच्छन्द' कवि यूरप की भौतिकवादी मौलिकता की गहणा करते रहे हैं। वर्ड स्वर्थ ने विज्ञान का घोर विरोध किया था

एनफ ऑव सायन्स एण्ड ऑव आर्ट,
क्लोज अप दोज बरेन लीव्ज
कम फाय एण्ड ब्रिंग विद यू अ हार्ट
दैट वाचेज एण्ड रिसीव्ज[1]

अ पोयट्स एपिटाफ (१७९८) शीर्षक कविता में वर्ड स्वर्थ के इन प्रश्नों पर ध्यान दीजिए

फिजिशियन आर्ट दाउ ? —वन आल आइज,
फिलासफर ! —अ फिंगरिंग स्लेव
वन दैट वुड पीप एण्ड बाटनाइज
अपान हिज मदर्स ग्रेव ?[2]

आचार्य शांतिप्रिय द्विवेदी का नाम उसी परंपरा से अनुस्यूत है जिसमें स्वच्छन्दतावादी कवि आते हैं। स्वच्छन्दतावाद से प्रभावित छायावादी कवियों के समर्थकों में विज्ञान के प्रति वैसी ही दृष्टि होगी जैसी द्विवेदीजी की है। और इसमें संदेह नहीं कि द्विवेदीजी छायावाद के अनन्य समर्थकों में हैं

१— इधर द्विवेदी-युग के सीनियर कवियों के बाद जो नवयुवक कवि आ रहे थे उन्होंने बाह्य चेतना को तो गौणरूप में ग्रहण किया, अंतश्चेतना को प्रमुख रूप में। चूँकि अंतर्दिशा को ही लेकर वे चले थे इसलिए द्विवेदी-युग की अपेक्षा वे उस दिशा में अधिक उन्नत कलाकार और भावोन्मादक हुए।[3]

२— छायावाद केवल एक काव्यकला नहीं है। जहाँ तक साहित्यिक टेक्निक से उसका संबंध है वहाँ तक वह कला है और जहाँ दार्शनिक अनुभूतियों से उसका संबंध है वहाँ वह एक प्राण है एक सत्य है। अतएव छायावाद, काव्य की केवल एक

१ द पोयटिकल वर्क्स ऑव वर्ड स्वर्थ (आक्सफोर्ड, १९४६), पृ० ४८२।
२ उपरिवत, पृ० ४८५।
३ संचारिणी (१९४१), पृ० १७९।

अभिव्यक्ति ही नहीं, बल्कि इसके ऊपर एक श्रेष्ठ अभिव्यक्ति भी है।[1]

३— लोक-साधन के लिए छायावाद गांधीवाद में लय होकर प्रवृत्तियों को जीवन का कलात्मक कमेशन दिला सकेगा और तब गांधीवाद प्रगतिवाद में समाविष्ट होकर प्रवृत्तियों पर आत्मनियंत्रण बनाये रख सकेगा।[2]

स्वच्छंदतावादी पाश्चात्य विचारक और साहित्यकार प्रमीथियस-जैसे टाइटनों को अपना आदर्श बनाते हैं और विद्रोह के प्रति उनमें स्वाभाविक भावजना पायी जाती है। इसलिए उनके लिए केन और सेटन रोमांटिक वीर-पुरुष हैं। फिर भी पूर्णतया रोमांटिक होने के लिए यह भी अत्यावश्यक है कि विद्रोही सहृदय हो। जहाँ उसमें अत्याचार से संघर्ष करने की अपूर्व मूलशक्ति एवं ऊर्जस्विता हो वहाँ उसमें अत्याचारी द्वारा संत्रस्त व्यक्तियों के प्रति अपार सहानुभूति का होना भी अपेक्षित है। ह्यूगो की एक कविता में मेक्सिको के एक ऐसे अग्निपर्वत का उल्लेख है जो एक राजकीय सपच्छ्या[3] के सदस्यों की निष्ठुरता से क्षुब्ध हो उन पर मूराल—लावा—उडेल देता है। यह सहृदय अग्निपर्वत रोमांटिक आदर्शों का प्रतीक है और यही कारण है कि शिलर का 'रावस' अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति पा सका है तथा उस कान मूर के अनगिनत प्रतिरूप देखने को मिल रहे हैं जो लूट-खसोट से उपलब्ध धन-सम्पदा को कॉलेज के मेधावी छात्रों के प्रशिक्षण में लगाता है। द्विवेदीजी के कवि का पौरुष वज्रादपि कठोर और उसका नारी-सुलभ हृदय पुष्पादपि कोमल होता है। यदि उन्होंने अर्द्धनारीश्वर शिव को कवि का ही स्वरूप कहा है और उसके हृदय की तुलना नारी-हृदय से की है तो यह भी रोमांटिक भावधारा की ही एक जानी पहचानी विशेषता है। रूसो के संबंध में इर्विंग का यह कथन ध्यातव्य है

> Hence the absence in his [Rousseau s] personality and writing of the note of masculinity There is indeed much in his make up that reminds one less of a man than of a high strung

---

१ संचारिणी (१९४१), पृ० २२१–२२२।

२ सामयिकी (१९४४), पृ० २०६।

३ इन्क्विज़िशन।

impressionable woman Woman most observers would agree, is more temperamental than man One should indeed always temper these perilous comparisons of the sexes with the remark of La Fontaine that in this matter *he knew a great many men who were women*[1]

सी० ई० गाडन ने रस्किन की मनोवृत्ति में नारी-सुलभ कोमलता देखा है। कठोर वास्तविकता से पलायन और कल्पित लोकों में आवास स्त्रियों के गुण हैं। बजहाट ने स्पष्ट और ठोस कल्पनाओं की अपेक्षा धुंधली कल्पना प्रसूत कल्पनाओं के सर्वाधिक प्रचार का कारण स्त्रियों का बढ़ता प्रभाव कहा है।[2]

'ठेठ जीवन और जातीय काव्य-कला' में द्विवेदीजी ने पं० रामचंद्र शुक्ल के शब्दों में कमिंग्ज के अभिनव प्रयोगों का निरसन किया है[3] और कहा है 'भगवान न करें कि हम पश्चिम का काव्यानुकरण करना पड़े।'[4] परंतु 'वृन्त और विकास' (१९५८) तक आते आते द्विवेदीजी यह महसूस करने लगते हैं कि 'इस अंतर्राष्ट्रीय युग में हम बाहर भीतर की संकीर्णता अभीष्ट नहीं है।'[5] वे केवल अनुकृति का समर्थन नहीं करते और स्पष्टतया घोषित करते हैं कि अनुभूति की तरह अभिव्यक्ति में भी कृतिकार की अपनी मौलिकता होना चाहिए। दुर्भाग्यवश (और वे इस बात से पूर्णरूपेण अवगत हैं) उनके सामयिक नये कवियों ने उनके इस सत्परामर्श पर ध्यान नहीं दिया है, यहाँ तक कि उनकी अनुभूति की पृष्ठभूमि विदेशी रही है और उनकी भाषा की घड़न (SIC), उसका ढाल और साँचा (भी) विदेशी है।[6] 'ठेठ जीवन और जातीय काव्य-कला' शीर्षक निबंध में ही पश्चिमी सभ्यता की विभीषिका[7] की ओर हमारा ध्यान

---

१ इर्विंग बबिट, रूसो एण्ड रोमांटिसिज्म (न्यूयार्क, १९५५), पृ० १३०।
२ उपरिवत, पृ० १३१।
३ इस संदर्भ में "यन्त्र युग की कविता" शीर्षक निबंध भी द्रष्टव्य है। दे० वृन्त और विकास, पृ० ११९।
४ कवि और काव्य, पृ० २००।
५ वृन्त और विकास, पृ० ११८।
६ उपरिवत।
७ कवि और काव्य, पृ० २००।

आकृष्ट किया गया है और कहा गया है कि विज्ञान हमारे जीवन को बोझिल बनाता जा रहा है जीवन के क्षेत्र में विज्ञान का प्राधान्य हो गया है, विज्ञान-ग्रस्त जीवन की भाँति कला की इस एकच्छत्र विपुलता से हमारे साहित्य की भी सहज साँस अवरुद्ध न हो जाय, यही भारतीय कलाकार के लिए सांस्कृतिक तकाजा है।[1] 'कवि की करुण-दृष्टि' शीर्षक निबंध पर रोमांटिक छायावादी काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों का प्रभाव परिलक्षित होता है। द्विवेदीजी के लिए भी कविता Magie der Einbildungskraft[2] है। वे कहते हैं 'हाँ कवि का व्यक्तित्व ऐसा ही है—एक ओर संसार के लिए उसके अधरों पर प्रेम हँसता रहता है दूसरी ओर संतप्त विश्व के लिए उसकी आँखों से करुणा के हिमजल टपकते रहते हैं।'[3] पाश्चात्य रोमांटिक कवियों और आलोचकों के विचार इससे भिन्न नहीं है। उनके अनुसार सौंदर्य ठीक उन्हीं गुणों से गुरुतर होता है जिनमें सौंदर्य का लेश भी नहीं होता जिन वस्तुओं से भय तथा विकर्षण उत्पन्न होता है उन्हीं से सौंदर्य भी बनता है। उनके लिए जो जितना ही दुखद एवं करुणाजनक है वह उतना ही आस्वादनीय भी। Welch eine Wonne! welch ein Leiden![4]

द्विवेदीजी के दर्जनों निबंध पढ़ जाइये कहीं भी उनमें अतलस्पर्शी गंभीरता का भाव नहीं होता। द्विवेदीजी नीतिकाव्य के आलोचक हैं और इसमें संदेह नहीं कि उनकी समीक्षात्मक दृष्टि सूक्तियों और गीता को ही अपेक्षाकृत अधिक समग्रता से परख सकी है। उनका हिंदी काव्य विषयक अध्ययन निस्संदेह गंभीर है और पश्चिम की कतिपय साहित्यिक प्रवृत्तियों से भी वे हिंदी पुस्तकों के माध्यम से, विशेषतः आचार्य शुक्ल के ग्रंथों के माध्यम से परिचित हैं। कला में जीवन की अभिव्यक्ति में यथार्थवाद और कला कला के लिए की तथा यंत्र-युग की कविता में प्रगतिवाद यथार्थवाद और प्रयोगवाद की चर्चा हुई है पर विवेचन सर्वत्र बहिरंग अधिक अंतरंग कम दीखता है। द्विवेदीजी जीवन के कारण ही कला को रसमय और सहृदय-संवेद्य मानते हैं।[5] "संचारिणी के अधिकांश निबंधों में सरस सूक्तियों की भरमार है 'समय के प्रवाह के साथ ज्यों-ज्यों

---

१ कवि और काव्य, पृ० २०६।
२ मैजिक ऑव दि इमजिनेशन।
३ कवि और काव्य, पृ० २०७।
४ मेरियो प्राज, द रोमांटिक ऐगनी (१९६०), पृ० ४३।
५ संचारिणी (१९४१), पृ० ८५।

मनुष्य की सरलता नष्ट होती जाती है ज्यों ज्यों उसमें विषमताएँ बढ़ती जाती हैं त्यों-त्यों उसका मनोविज्ञान भी जटिल होता जाता है।[1] 'भारतेन्दु युग की भूमिका पर खड़ी बोली के प्रयास में गौरव था।[2] 'नन्ददासों की कविता की यह प्रारम्भिक प्रगति हास्यपूर्ण अवश्य है परन्तु उसकी वर्तमान उन्नति देखकर उसके प्रति अवज्ञा नहीं होती।[3] परन्तु धीरे धीरे सामयिकता और इसका परवर्ती रचनाओं में द्विवेदीजी की भाषा और शैली के प्रौढ़तर रूप दर्शन को मिलने लगते हैं। इनमें पिष्टोक्तियों के स्थान पर गहन-गंभीर सूत्रवत वाक्य और सस्ते भावोद्गारों के स्थान पर सुविचारित तर्कसम्मत निष्कर्ष आ जाते हैं।[4]

नन्ददुलारे वाजपेयी (१९०६)

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के बाद वर्तमान हिन्दी-समीक्षा को जिन साहित्य-महारथियों ने अधिकाधिक समृद्ध किया है उनमें वाजपेयीजी का नाम महत्वपूर्ण माना जाता है। शुक्लजी के पास ज्ञान की जैसी बहुमूल्य धरोहर थी वैसी ही वाजपेयीजी के पास भी दीखती है दोनों की रचनाओं से महान् प्रतिभा एवं प्रकाण्ड वैदुष्य का आभास मिलता है और दोनों की साहित्यिक समीक्षाओं में व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों[5] का पर्याप्त प्रतिबिंबन हुआ है। परंतु जहाँ शुक्लजी नवीनतम पाश्चात्य प्रवृत्तियों से (मनोविज्ञान आई० ए० रिचर्ड्स आदि से) प्रभावित दीखते हैं वहाँ वाजपेयीजी इनसे पूर्णतया परिचित होकर भी स्वच्छंदतावादी विचार-सरणियों पर ही अपेक्षाकृत अधिक अग्रसर हुए हैं। दोनों ने साहित्यिक सिद्धान्त के सारगर्भ प्रणयन और प्रस्तुतीकरण में रुचि दिखलाई है और हिंदी की ऐतिहासिक आलोचना पद्धति को सपुष्ट भूमिका पर ला बिठाया है। इसके अतिरिक्त दोनों ने भारतीय काव्यशास्त्र के परिपार्श्व में पाश्चात्य काव्यमतों का सुंदर समंजित आकलन एवं अनुशीलन प्रस्तुत किया है और दोनों इनसे प्रभावित रहे हैं। परंतु जहाँ पूर्वाग्रहों के कारण भिन्न रुचि और शैलियों पर लिखे गए साहित्य के प्रति

१ सर्वारिणी (१९४१), पृ० ८७।
२ उपरिवत, पृ० १३४।
३ उपरिवत, पृ० १३५।
४ उदाहरणार्थ—पथ और विकास के निम्नलिखित पृष्ठ देखिये ५६, ५७, ५९, ११७, १२०, १२८।
५ दे० डा० बलभद्र तिवारी, आधुनिक साहित्य की व्यक्तिवादी भूमिका (वाराणसी, १९६२), पृ० २२५–२२८।

शुक्लजी म उत्कट अनुदारता देखी जाती है वहा वाजपेयीजी की समीक्षा अपेक्षया अधिक उदार और उनकी लेखनी अधिक सयत तथा अनुशासित है। 'गोस्वामी तुलसी के सामाजिक और साहित्यिक आदर्शों के साथ आज की नवीन सामाजिक परिस्थिति और प्रेरणा और उसमे विकास पाने वाली नई काव्य धारा का मेल मिलान म भी शुक्लजी को असुविधा रही।'[1] किंतु वाजपेयीजी म न तो ऐसा दुराग्रह पाया जाता है और न अपने प्रतिमानो के प्रति आवश्यकता से अधिक आकर्षण। उनका साहित्य-बोध अधिक नमनशील है और उनम अपेक्षाकृत अधिक शालीनता, निर्वैयक्तिकता और प्रौढता का समाहार देखा जाता है। इसका यह अथ नही कि वाजपेयीजी म निर्णयात्मक कसौटी एव सुधी समालोचक की अन्त प्रवेशिनी तत्त्वदृष्टि तथा साहस का अभाव है जिसके फलस्वरूप उनके लिए निकृष्ट रचनाएँ भी उतनी ही अभिवाद्य होती है जितनी सफल कला-कृतिया। वस्तुत वाजपेयीजी की प्रतिभा उतनी ही रहस्योन्मेषिणी ह जितनी शुक्लजी की, साथ ही वह व्यवहारविद भी है और उसम प्राच्य प्रतीच्य समीक्षा-सस्कारो की आवजना है जिसके फलस्वरूप वह अत्यधिक व्यजक है और उससे उद्भूत समीक्षा ऊपर से सरल दीखकर भी तत्त्वत बहुत ठोस-गभीर एव विचार-सकुल है।

यहाँ इस बात का उल्लेख आवश्यक हो जाता है कि उपर्युक्त निष्कष वाजपेयी जी की समस्त आलोचना-कृतिया पर समान रूप स लागू नही होते। उनम अन्त-र्निहित मूल्यक समीक्षक उत्तरोत्तर विकसित होता रहा है जिसके परिणामस्वरूप उनकी पूववर्ती कृतिया में जहा 'तलस्पर्शी एकागिता' देखी जा सकती है, वही उनकी उत्तरवर्ती समालोचनाएँ उनके ही शब्दो म, अधिक प्रामाणिक, वैज्ञानिक और सतुलित कही जायँगी। 'उनकी आरम्भिक रचनाओ मे सशोधन और परिष्कार के लिए यथेष्ट स्थान रह गया है' उनकी वस्तुमुखी अभिरुचि व्यक्त नही हो सकी है और उनका समीक्षक प्रगल्भ भावोन्मेष को ही प्रोत्साहन देता रहा है। उदाहरणाथ, वाजपेयीजी का प्रौढ समीक्षक जब प्रसाद के 'आसू' काव्य को देखता है तब उसमे अग-सघटन की बडी कमी दिखाई देती है परतु

---

१ नन्ददुलारे वाजपेयी, आधुनिक साहित्य (इलाहाबाद, स० २००७), पृ० १९। इसी सदभ मे द्रष्टव्य नन्ददुलारे वाजपेयी, हिंदी साहित्य बीसवीं शताब्दी (लखनऊ, १९४५), पृ० २८।

२ नन्ददुलारे वाजपेयी, नया साहित्य नये प्रश्न (वाराणसी, १९६३), पृ० ५।

अपनी पुस्तक 'हिंदी साहित्य बीसवीं शताब्दी' में उसने इस त्रुटि का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है। वाजपेयीजी ने स्वीकार किया है कि

> और भी एकांगिताएँ और अपूर्णताएँ मेरी इस पहली पुस्तक में हैं, जिनमें कुछ का तो मुझे वर्षों बाद ज्ञान हुआ और कुछ अब भी अज्ञात ही रह गई होंगी। प्रेमचन्दजी के संबंध में लिखते हुए मैंने इस पुस्तक में अपनी अभिरुचि को इतनी प्रमुखता दे दी है कि सिक्के का एक ही पहलू प्रकाश में आ पाया है। उनके संपूर्ण स्वरूप को उपस्थित करते हुए मैंने उन पर एक दूसरी पुस्तक लिखी, तब जाकर इसकी क्षति पूर्ति हुई। इसी प्रकार विभिन्न शैलियों, विचार धाराओं और भाव भूमियों के कवियों और स्रष्टाओं को अपनी ही निगाह से देखने में असंगतियाँ आ ही जाती हैं। परंतु एक नया लेखक जिसके पीछे समीक्षा-संबंधी कोई लंबी परंपरा न हो, कहाँ तक वस्तुमुखी और तटस्थ रह सकता है?[1]

"वस्तुमुखी और तटस्थ" रहने के लिए समीक्षा की तथा "परिपुष्ट निर्माण और संतुलन" के लिए क्या साहित्य की दीर्घ-परम्परा का होना आवश्यक है। वाजपेयीजी ने प्रेमचंद में निर्माण तथा संतुलन के अभाव को अधिक महत्त्व नहीं दिया है और 'उपन्याससम्राट' की प्रशंसा में कहा है कि "इस प्रकार का आरोप करनेवाले यह नहीं देखते कि प्रेमचंद हिंदी के सामाजिक और साहित्यिक क्षेत्र की अत्यंत आरम्भिक विकासावस्था में काम कर रहे थे।"[2] इस प्रकार वाजपेयीजी किसी कलाकृति के मूल्यांकन के पहले उसकी ऐतिहासिक पूर्वपीठिका और आवेष्टन पर विचार करते हैं जिससे उनकी उदारता प्रोद्भासित होती है और विवेच्य लेखक अथवा कृति के प्रति समुचित न्याय करने का उन्हें अवसर मिलता है। सन् १८३२-३३ के पश्चात् उनका विवेचन-न्याय प्रगीत-काव्य के सीमित क्षेत्र से निकलकर नाटक, उपन्यास, प्रबंध काव्य आदि अनेक साहित्यिक विधाओं के व्यापक क्षेत्र में प्रविष्ट होता है। इससे उनकी समीक्षा उत्तरोत्तर तटस्थ और वस्तुमुखी होती जाती है और उनमें सहिष्णुता का अपेक्षाकृत अधिक उन्मेष होता है। अब 'यथार्थवाद' का समर्थन होने लगता है और समीक्षक को इस

---

१ नन्ददुलारे वाजपेयी, नया साहित्य : नये प्रश्न (वाराणसी, १९६३), पृ० ८। द्रष्टव्य : श्री नर्मदाप्रसाद खरे, "आचार्य वाजपेयीजी : एक इंटरव्यू"। दे० डा० रामाधार शर्मा (संपा०), आचार्य नंददुलारे वाजपेयी : व्यक्ति और साहित्य (कानपुर, १९६५), पृ० ९१।
२ आ० सा०, पृ० १५।

ब्यात का ज्ञान होता है कि "प्रसाद" के नाटकों की समीक्षा नये प्रतिमानों से, नये तत्त्वों के आधार पर, की जानी चाहिए। उनके आरम्भिक विवेचन में प्रेमचंद पर यह आरोप था कि उनके उपन्यास बहुत अधिक वर्णनात्मक और बोझीले हैं। परंतु अपनी तीसरी पुस्तक 'प्रेमचंद' के विवेचन में वाजपेयीजी ने प्रेमचंद के उपन्यासों के सबल पक्ष का उद्घाटन किया। सामयिक पाठकों का ध्यान इस पक्ष की ओर आकृष्ट करते हुए उन्होंने कहा कि 'प्रेमचंद के उपन्यासों के इस दुर्बल पक्ष की ओर तो मेरी दृष्टि गई थी, पर उनमें एक सबल पक्ष भी है—अत्यधिक सबल पक्ष—यह मुझे कुछ समय बाद आभासित हुआ। उनका सबल पक्ष है भारतीय परिस्थितियों और विशेषकर भारतीय ग्रामों का विशाल अनुभव और उससे भी बढ़कर ग्रामीण जनसमाज के प्रति उनकी अपार सहानुभूति।'[1]

स्पष्ट है कि यदि वाजपेयीजी की समस्त समीक्षात्मक कृतियों का एक बृहत संग्रह प्रकाशित किया जाय तो उसमें अनेकानेक असंगत तथा परस्पर विरोधी तत्त्वों का समावेश मिलेगा। परंतु इससे प्रमाता को नैराश्य के स्थान पर इस बात की प्रतीति होगी कि लेखक एक विकासशील प्राणी है[2] और उसके विचारों के विरोधी तत्त्व उसके मानसिक विकास के ही द्योतक हैं। पाल वैलरी विरचित artpoetique की भूमिका में टी० एस० एलियट ने वैलरी की रचनाओं में पाया जानेवाली पुनरुक्तियों और असंगतियों का यही कारण समर्थन किया है कि इनमें लेखक के विकास का द्योतन होता है, और कहा है 'वैलरी की रचनाओं में अनेकत्र आपको एक ही लेखांश की यथावत पुनरावृत्ति मिलेगी और उसके लिए लेखक न क्षमा-याचना करेगा, न उसकी व्याख्या। मुझे इस बात पर कोई आपत्ति नहीं। मैं आलोचनात्मक निबंधों को उनके मूल रूप में पढ़ना अधिक पसंद करता हूँ न कि जब बाद में कृत्रिम अन्विति के लिए उन्हें अभिनव रूपाकृति प्रदान की जाती है। यदि मैं अपने विचारों में असंगति या परस्पर विरोध पाता हूँ तो यह इस बात का प्रमाण है कि मेरे विचार बदल गए हैं, यदि पुनरावृत्ति करता हूँ तो इससे यह साफ जाहिर है कि मेरे विचार आज भी वही हैं जो पहले थे। अनजाने ही जो पुनरावृत्तियाँ होती हैं उनसे लेखक के दृढ़मता और निश्चयों का प्रमाण मिलता है।'[3]

---

१ न० सा० न० प्र०, पृ० १३।

२ द्रष्टव्य "मानव-जीवन विकासशील वस्तु है, इसीलिए साहित्य भी विकासशील है।" (उपरिवत, पृ० ३)

३ Here and there among Valery's writings you will find

वाजपेयीजी ने 'अंग्रेजी के आलोचना साहित्य का विशेष रूप से अनुशीलन किया है और उसका उपयोग व अपने साहित्यिक लेख में करते हैं।"[1] पारिवारिक सूत्रों से सकलित एक निबंध में कहा गया है कि जब वाजपेयीजी एम० ए० के विद्यार्थी थे, अपने विषय (हिन्दी) के अतिरिक्त वे अंग्रेजी साहित्य की अनेकानेक पुस्तकें भी पढ़ा करते थे। उन दिनों उन्हें हिन्दी की पढ़ाई हल्की और अपर्याप्त लगती थी।[2] जिन विषयों का उन्होंने गंभीर अध्ययन किया है उनमें पाश्चात्य स्वच्छन्दतावादी समीक्षा बड़े महत्त्व की है, पर वे मैथ्यू आर्नल्ड की भाँति काव्य साहित्य के मूलभूत गंभीर, नैतिक आदर्शों को भी स्वीकार करते हैं।[3] पश्चिम का अंधानुकरण उन्हें मान्य नहीं है इसलिए वे भारतीय नवलेखन का विरोध करते हैं। साथ ही यह भी स्मरणीय है कि वे उन साहित्यिक आदर्शों को सामने रखकर नयी कविता पर विचार नहीं करते जिन आदर्शों को सामने रखकर शुक्लजी ने छायावादी काव्य का विरोध किया था। कविता चाहे

---

the same passage repeated almost verbatim without apology or explanation I do not myself object to this I prefer to read critical essays in their original form not reshaped at a later date into an artificial unity Indeed I regard repetitions and contradictions in a man s writing as valuable clues to the development of his thought For if I find a contradiction it is evidence that I have changed my mind, if there is a repetition it is the best possible evidence that I am of the same mind as ever An unconscious repetitior may be evidence of one s firmest convictions or of one s most *abiding interests* T S *Eliot s introduction to Paul* Valery *The Art of Poetry* (London 1958) p ix

ऐसे ही भावों की अभिव्यक्ति टी० एस० एलियट के "द म्यूजिक आव पोयट्री" शीर्षक निबंध में हुई है। दे० आन पोयट्री एण्ड पोयटस (लंदन, १९५७), पृ० २६।

१ डॉ० रामाधार शर्मा, उल्ल० ग्र०, पृ० ११। वाजपेयीजी के निबंधों से डा० श्यामसुंदरदास के इस कथन की प्रामाणिकता में संदेह नहीं रह जाता।

२ उपरिवत, पृ० २३।

३ उपरिवत, पृ० ४४।

नयी हो अथवा पुरानी वह उनके 'विराग या उपेक्षा का विषय नहीं हो सकती।' नयी कविता के दुर्बल पक्षों की ओर संकेत करने का उनका एकमात्र लक्ष्य नये कवियों का ध्यान राष्ट्र और साहित्य के प्रति उनके दायित्व की ओर आकृष्ट करना है। दुर्भाग्यवश 'हमारा नवलेखन ऐसा हो रहा है जैसे हमने यूरोपीय विभीषिकाओं का स्वयं झेला है। यह एक आरोपित विभीषिका है। कला शैली सदैव वस्तु सापेक्ष्य होती है। जब हमारी वस्तु, हमारी समस्याएँ भिन्न हैं तब कला शैली में पश्चिम की अनुकृति हमारे अनुरूप कैसे होगी? नवीनता आकांक्षित वस्तु है, परन्तु हम पूर्ण नवीनता के प्रयासी हैं न कि पश्चिमी अनुकृति के।[2]

शुक्लजी के काव्य सिद्धांत प्रबंध और कथात्मक काव्य के सूक्ष्म अनुशीलन से उपलब्ध और निर्मित हुए थे, जिसके कारण उनका ध्यान सदैव काव्य के उदात्त स्वरूप और उसमें निहित लोकादर्शवाद की ओर था।[3] वाजपेयीजी के काव्य सिद्धांतों के मूलाधार सगबद्ध लंबी रचनाएँ नहीं प्रगीतकाव्य हैं। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में प्रगीत-काव्य की विशेषताओं का उल्लेख किया है और कहा है कि जहाँ प्रबंध-काव्य में जीवन के भावात्मक संघर्ष और चरित्रों की रूपरेखा रहा करती है वहाँ प्रगीतों में ही कवि के अन्तस्तल का उद्घाटन संभव होता है। प्रबंध-काव्य में दृश्यचित्रण और वस्तुचित्रण के साथ बहुत-सा इतिवृत्त भी लगा रहता है परन्तु प्रगीत रचना में कविता इन समस्त उपचारों से विरत होकर केवल कविता या भावप्रतिमा बनकर आती है। प्रबंध-काव्य यदि कोई रसीला फल है, जिसका आस्वादन छिलके रेशे और बिए आदि निकालने पर ही किया जा सकता है तो प्रगीत रचना उसी फल का द्रव रस है जिसे हम तत्काल घूंट घूंट पी सकते हैं।[4]

प्रगीत और प्रबंध के इस पृथक्करण से, प्रथमत, इस बात का द्योतन होता है कि वाजपेयीजी की समीक्षा शैली कभी-कभी अत्यंत "प्रवाहपूर्ण और स्वच्छंद हो उठती है ("मानो आप अपने मन की बात कह रहे हैं"), और दूसरे इससे साफ जाहिर है कि उनकी समीक्षात्मक मान्यताएँ रोमांटिक समीक्षा से उद्भूत हैं। प्रगीत-काव्य-संबंधी उनकी उपपत्तियां और स्थापनाएँ यूरोप के उस प्रगीत-

---

१ डा० रामाधार शर्मा, उल्ल० ग्र०, पृ० ८९।
२ उपरिवत्, पृ० १००।
३ हि० सा० बी० श०, पृ० २८।
४ आधुनिक साहित्य, पृ० २४।

आंदोलन[1] से अनुस्यूत हैं जिसने महाकाव्यों की लोकप्रियता के स्थान पर छोटे छोटे प्रगीतों के महत्त्व की संस्थापना की। कालरिज के अनुसार लंबी कविताएँ न तो आद्यंत कविता हो सकती हैं और न उन्हें कविता होनी चाहिए।[2] उसके प्रायः तीस वर्ष बाद पो ने कहा था : मेरा विश्वास है कि लंबी कविता नाम की कोई चीज नहीं होती, मेरा यह भी ख्याल है कि 'लंबी कविता' के दोनों शब्द—'लंबी' और 'कविता'—परस्पर विरोधी हैं। इसी प्रकार जे० एस० मिल के अनुसार प्रगीत-काव्य ही काव्य की अन्यान्य विधाओं की अपेक्षा सर्वाधिक काव्यात्मक होता है: सहृदय कवियों के लिए प्रगीतात्मक अभिव्यक्ति ही प्रकृत अभिव्यक्ति है और यही एक ऐसी विधा है जिसकी अनुकृति प्रतिभाशून्य व्यक्ति नहीं कर सकते। न्यूमन तथा जान केब्ल की प्रगीत-संबंधी मान्यताएँ भी किंचित ऐसी ही हैं।

वाजपेयीजी की प्रगीत-संबंधी मान्यताओं से यह भी स्पष्ट होता है कि वे कविता को सच्ची आत्माभिव्यंजना मानते हैं। उनकी दृष्टि में प्रगीत-काव्य में *कवि की अनुभूतियों की पूर्ण अभिव्यक्ति होती है, उसके अंतस्तल का पूर्ण उद्घाटन* होता है, इसलिए वह अभिनंदनीय है। इस विचारधारा का मूलस्रोत रोमांटिक समीक्षा के ऐसे कथनों में ही परिलक्षित नहीं होता कि 'कविता बलवती भावनाओं का सहज उच्छलन होती है,'[3] 'कविता सर्वाधिक सुखी एवं श्रेष्ठतम मनों के *श्रेष्ठतम और सबसे अधिक सुखी क्षणों का लेखा-जोखा है*'[4] प्रत्युत रोमांटिक युग की अधिकांश सर्जनात्मक कृतियों में इसे देखा जा सकता है। यूरोपीय साहित्य में आत्माभिव्यंजना 'अहम्' की अभिव्यक्ति दो महत्त्वपूर्ण वैचारिक क्रांतियों से संबद्ध है। सर्वप्रथम नवजागरणयुगीन कवियों और कलाकारों ने मध्ययुग की

---

१ "लिरिक मूवमेण्ट"।

२ "इन शार्ट, ह्वाटएवर स्पेसिफिक इम्पोर्ट वी अटैच टु द वर्ड पोयट्री, देयर विल बी फाउण्ड इनवाल्वड इन इट, ऐज अ नेसेसरी कन्सिक्वेंस, दैट अ पोयम आव एनी लेंग्थ नाइदर कैन बी, नार आट टु बी, आल पोयट्री।" बायोग्राफिया लिटरेरिया, अध्याय १४, पृ० १७३।
(जार्ज वाटसन द्वारा संपादित)।

३ "पोयट्री इज द स्पोण्टेनियस ओवरफ्लो आव पावरफुल फीलिंग्ज।" वर्ड्स्वर्थ, प्रिफेस टु द लिरिकल बलेड्स।

४ "पोयट्री इज द रेकार्ड आव द बेस्ट एण्ड हैपिएस्ट मोमेण्ट्स आव द हैपिएस्ट एण्ड बेस्ट माइण्ड्ज"—शेली, अ डिफेंस आव पोयट्री।

अंधधर्मानुयायिता तथा तत्युगीन मानमूल्यों के स्थान पर मानवतावाद की घोषणा की। लूथर ने कहा 'मैं स्वतन्त्र होना चाहता हूँ। किसी के प्रभावाधीन रहना या किसी का सत्ताधिकार मुझे स्वीकार्य नहीं है।'[1] ऐसी ही घोषणाओं से यूरोप में उस धर्म-सुधार के आंदोलन का सूत्रपात होता है जिसका नेतृत्व सेवनारोला, लूथर, केलविन आदि ने किया था। पेट्रार्क पिको डेला मिरण्डोला पाम्पोनजी, वाव आदि ने, नवजागरणकाल में, मनुष्य के प्रकृत गौरव की ओर अपने सामयिकों का ध्यान आकृष्ट किया। वाव की एक रचना[2] में कहा गया है कि जूनो ने अपने पति और भाई जूपिटर से एक रंगमंच बनाने का अनुरोध किया। जूपिटर की आज्ञा पाते ही रंगमंच तैयार हो गया और उस पर भिन्न भिन्न अभिनेता एक-एक कर उपस्थित हो गए। जूनो ने देवताओं से पूछा कि अभिनेताओं में कौन उन्हें सर्वश्रेष्ठ दीखता है। सभी ने एकस्वर से कहा कि मनुष्य ही सर्वश्रेष्ठ कलाकार है और वही एक ऐसा अभिनेता है जो स्वयं जूपिटर से मिलता-जुलता है।[3]

इसी प्रकार रूसो की 'सोशल कान्ट्रैक्ट' नामक पुस्तक तथा उसकी अन्यान्य कृतियों ने स्वच्छंदतावादी विचारधारा के उन्मेष में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। उनके कारण अठारहवीं शती के बौद्धिक बुद्धिवाद के स्थान पर स्वेच्छाप्रणोदित भावमयता को प्रमुख महत्त्व मिला, कविता एवं गद्य में प्रमाणमान, स्निग्ध पदावली की प्रतिष्ठा हुई।[4]

---

१ "आई विश टु बी फ्री। आई डु नाट विश टु बिकम द स्लेव आव एनी आथारिटी, वेदर दट ऑव अ काउंसिल आर आव एनी अदर पावर, आर आव द यूनिवर्सिटी आर द पोप।" के० जे० ब्रोनोस्की और ब्रूस मजलिश, द वेस्टर्न इण्टलैक्चुअल ट्रेडिशन (न्यूयार्क, १९६२), पृ० ८६।

२ "अ फेबल्स अबाउट मैन"। इस संदर्भ में पिको रचित "ओरेशन आन द डिग्निटी ऑव मन" भी उल्लेखनीय है। इनके लिए देखिये अर्न्स्ट कैजिरर, पाल ऑस्कर क्रिस्टेलर तथा जान हर्मन रेण्डल, जूनियर, द रेनसांस फिलॉसफी आव मैन (फिनिक्स बुक्स, १९५६)।

३ "द रेकग्नाइज्ड इन मैन हिमसेल्फ अ ग्रेट रिजेम्ब्लेन्स टु जूपिटर, सो दट इन द ग्रेटेस्ट ऑव गाड्ज माइट हैव नोन दट मन वाज वन ऑव जूपिटर।" उपरिवत, पृ० ३८८।

४ अठारहवीं शती के नव्यशास्त्रवादी लेखकों और उनकी रचनाओं के संबंध में सेंटसबरी ने अपनी 'द पीस आव द ऑगस्टन्स' नामक पुस्तक में कहा है 'There are of course many things for which you must

स्तांदाल के अनुसार जहाँ स्वच्छन्दतावाद आज का और अद्यतन कला है वहाँ अभिजात्यवाद कल की, अर्थात् अनद्यतन कला है। वाजपेयीजी का स्वच्छन्दतावादी आलोचक आज का कलाकार है किंतु भविष्य में भी, जब उनकी रचनाएँ कल के साहित्य का अविच्छिन्न अंग हो गई रहेंगी, हमारे समीक्षक उन्हें स्वच्छन्दतावादी ही कहेंगे। विक्टर ह्यूगो के मतानुसार स्वच्छन्दतावाद वैषम्य और वैलक्षण्य का पर्याय है। ईसाई धर्म में अंतःप्रतिष्ठित पाप भावना से संसार में विषण्णता का प्रादुर्भाव हुआ। मनुष्य को अपनी अपूर्णता के विरोधाभास का ज्ञान हुआ

धूल से हम बने मर्त्य
नभ से नीचे अधागत।[1]

इसी विषण्णता के साथ (ह्यूगो द्वारा सृष्ट कुब्जक की तरह) विरूप और विलक्षण की भावना का भी उन्मेष हुआ। वाजपेयीजी के स्वच्छन्दतावाद में न कुछ विरूप है और न विलक्षण। उनका काव्य विषयक दृष्टिकोण मूलतः रोमांटिक है छायावादी काव्य के अनुशीलन से उसी प्रकार निर्मित हुआ है जिस प्रकार टेनिसन, पालग्रेव और ऐबरक्रोम्बी की अभिरुचि उन्नीसवीं शती के अंगरेजी काव्य से निर्मित हुई थी।

---

not look in the century many sources of rest and refreshment from which you will be cut off In vain will you look for (I quote from a book-catalogue which reached me while I was writing this chapter) 'the glittering prose and extraordinary power of perfect expression of which Mr — is complete master Open the volume where you will and the romantic glory of the printed word makes reading as ecstatic as the joy experienced in listening to a highly trained orchestra There was nobody in the eighteenth century who could produce sensations of this sort George Saintsbury *The Peace of the Augustans* (The world s Classics 1951), pp 391 et seq

१ "मेग्निफिसेण्ट आउट आव द डस्ट वी केम,/ एण्ड ऐब्जेक्ट फ्रौम द स्फीयस।" दे० La Princesse Lointaine F L Lucas *The Decline and Fall of the Romantic Ideal* (Cambridge 1954) p 10

यद्यपि 'हिंदी साहित्य बीसवीं शताब्दी' में संकलित निबंधों का संबंध व्यावहारिक समीक्षा से है फिर भी इस ग्रंथ की विज्ञप्ति व आलोच्य साहित्य-धारा पर लिखे गए निबंधों में भी वाजपेयीजी के समीक्षात्मक सिद्धांत-सूत्र बिखरे मिलते हैं। इन निबंधों के रचना-काल में वे साहित्य को "सदैव हमारे अबाध और अपराजित जीवन का संगीत कहते हैं"।[1] उनकी दृष्टि में "प्रयोग' शब्द में ही एक प्रकार की कृत्रिमता और अभ्यास की व्यंजना है। परिश्रम के द्वारा कलापूर्ण और सुरुचिपूर्ण साहित्य का निर्माण हो सकता है, प्राणपूर्ण और जीवन-प्रद साहित्य का नहीं।'[2] काव्य कवि की उद्भावनात्मक या सर्जनात्मक शक्ति का परिणाम है।[3]

इस प्रकार के कथन अभिजात समीक्षकों द्वारा समर्थित न होंगे। अभिजात काव्य में आयास का निरसन नहीं होता, अभ्यास और व्युत्पत्ति की स्वीकृति होती है। काव्य मानव की उद्भावनात्मक या सर्जनात्मक शक्ति से अनायास ही उत्पन्न नहीं होता वह तो श्रमपूर्वक किया गया निर्माण है कला है। वाजपेयीजी ने साहित्य को जीवन का संगीत कहकर रोमांटिक प्रगीतों की ही याद दिलायी है अभिजात अथवा या नव्यशास्त्रवादी व्यंग्य रचनाओं की नहीं।

कहीं-कहीं व्यक्तिवादी मनोवृत्ति पर वाजपेयीजी ने निष्ठुर प्रहार भी किए हैं। उनके मतानुसार काव्य-क्षेत्र में प्रयोगवादी कवियों की-सी निष्ठुर व्यक्ति-वादिता पनप नहीं सकती।[4] हमारा साहित्यिक निर्माण व्यक्ति-केंद्रित नहीं होना चाहिए और न केवल वैयक्तिक प्रतिक्रियाओं को ही साहित्य में मूल्य और महत्त्व मिलने चाहिए।[5] इस प्रकार की स्थापनाएँ आतिशयिक व्यक्तिवादिता का, न कि स्वच्छंदतामूलक आत्माभिव्यक्ति का विरोध करती हैं और, संभवतः इनके मूल में प्रयोगवादियों के आत्यंतिक व्यक्तिवाद का आतंक है। प्रयोगवाद के आविर्भाव के परिणामस्वरूप व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों का प्रचार हो चला है और 'हमारी साहित्यिक सृष्टि व्यक्तिमुखी हो गई है।[6] यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि परवर्ती रचनाओं में अपेक्षया अधिक मुखर इन स्थापनाओं के कारण

१ हिंदी साहित्य बीसवीं शताब्दी, पृ० २ (विज्ञप्ति)।
२ उपरिवत, पृ० ४।
३ उपरिवत पृ० ८।
४ आधुनिक साहित्य, पृ० २१।
५ राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबंध (वाराणसी, १९६५)।
६ उपरिवत।

वाजपेयीजी ने छायावादोत्तर स्वच्छन्दतावादियों [illegible] में कोई अंतर नहीं देखा। इनमें भी वे काव्य की प्रक्रिया को आत्ममूलक ही मानते हैं और प्रयोगवादियों की पाश्चात्य बौद्धिकता का विरोध करते हैं। उन्हें बुद्धिरस का बाहुल्य अरुचिकर और अग्राह्य लगता है और वे कहते हैं

> नये रचनाकार काव्य की सहज और अंतरंग प्रेरणाओं से मर्यादित नहीं हैं। वे अधिकांश में श्रमसाध्य और गढ़े हुए कवि हैं, जिन्होंने पश्चिम का बाना ग्रहण किया है।[1]

अठारहवीं शती के कवियों के संबंध में [illegible] के विचार ऐसे ही थे। आर्नल्ड ने अठारहवीं शती के [illegible] कवियों की आलोचना एक ही शब्द में की थी। वाजपेयीजी के अनुसार कालजयी कविताएँ प्रतिभा प्रसूत सहज और अंतरंग प्रेरणाओं से संचालित होती हैं उनमें भावना एवं आत्मानुभूतियों का सहज उन्मेष होता है श्रम और आयास नहीं। जब से इस नये प्रकार की कविता का प्रारम्भ हुआ वे कहते हैं

> *तब से इस शती के कवि स्वयं समालोचक बन गए हैं और अपनी कविता का मर्म आप ही बतलाया करते हैं। स्थिति यहाँ तक आ पहुँची है कि इन कविताओं का मर्म और मूल्य प्रकट करने के लिए इन कवियों का अपना ही सहारा रह गया है कदाचित् अन्यों को इन सृष्टियों से कोई रुचि या सरोकार नहीं रहा।*[2]

पश्चिम में प्रत्येक नये काव्यगत वाद के समर्थक और उन्नायक ऐसे कवि हुए हैं जिन्होंने अपनी कविताओं का मर्म और मूल्य प्रकट करने के लिए अपना ही सहारा लिया है। ड्राइडन, वर्ड्सवर्थ, आर्नल्ड, इलियट प्रभृति ने अपनी अपनी कविताओं का मर्म आप ही बतलाया है। आविर्भूत होते ही नयी कृतियाँ आस्वाद्य एवं गृहीत नहीं हो जातीं इसके लिए अध्येताओं की रुचि का परिमार्जन करना पड़ता है। इस कारण नये कवियों ने प्रत्येक युग में अपने पाठकों के लिए अपनी कविताओं के मर्म का उद्घाटन किया है। छायावादी कवियों ने भी अपनी गद्य-रचनाओं में छायावादी नयी कविता का पुरजोर समर्थन और पक्षग्रहण किया है।

वाजपेयीजी गंभीर संवेदनाओं के प्रेमी हैं। उन्होंने किसी अध्यात्मवाद को *एकान्ततः नहीं पकड़ा है।*[3] *उनके अनुसार नये कवि की कुंठाएँ पराजय की*

---

१ राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबन्ध (वाराणसी, १९६५), पृ० ६९, द्रष्टव्य नया साहित्य नये प्रश्न, पृ० १८।
२ उपरिवत्।
३ उपरिवत्, पृ० १३२।

यानन करता हैं और आधुनिक कविता की व्यक्तिवादी प्रवत्तियाँ केवल-स्वातन्त्र्य की पर्याय नहीं हैं। 'जब तक कुंठा और अनास्था का कविता पर अधिकार है तब तक स्वातन्त्र्य का प्रश्न ही कहाँ है'।[1] वाजपेयीजी का स्वच्छंदतावादी कवि-समीक्षक[2] जिस महानुभूतिपूर्ण दृष्टि से छायावादी कविता का मूल्यांकन करता है, उस दृष्टि से नये प्रगतिशील और प्रयोगवादी साहित्यकारों का नहीं करता। प्रसाद उनके अनुसार वर्ड्सवर्थ की तरह मानवतावादी हैं, निराला और शेली—दोनों ही क्रांतिप्रिय हैं पंत और कीट्स सौंदर्यवादी हैं तथा महादेवी विलियम ब्लेक की भांति रहस्यवादी हैं।[3] पाश्चात्य साहित्य द्वारा हुए अहित के प्रति भी वाजपेयीजी सतत जागरूक हैं उदाहरणार्थ हिंदी साहित्य की विकासोन्मुख परंपरा में पश्चिम की ऐकांतिक एवं व्यक्तिवादी विचारधाराओं का आयात उन्हें बहुत कुछ अटपटा लगता है। परंतु वे यह भी जानते हैं कि यत्न करके भी हम अपने को पाश्चात्य विचारधाराओं के प्रभाव से विमुक्त नहीं रख सकते। नवीन साधनों के विकास के कारण विश्व के विविध राष्ट्रों की समस्याएँ और स्थितियाँ क्रमशः समन्वित होती जा रही हैं।[4] इस बढ़ती हुई समीपता के कारण ही आधुनिक हिंदी-समीक्षा में प्रचलित विचार-पद्धतियों और लेखन-शैलियों पर पाश्चात्य समीक्षा और सर्जन शैली की गहरी छाया दिखाई देती है।[5] हिंदी-साहित्य में प्रचलित विविध वाद—प्रतीकवाद प्रतिबिंबवाद, अवचेतनावाद, अस्तित्ववाद आदि—ऐसे विदेशी प्रभावों की सूचना देते हैं जो ह्रासोन्मुख जीवन के अंग हैं। 'इसलिए इन वादों का पल्ला पकड़कर काव्यरचना करने में न तो वास्तविक मौलिकता ही आ सकती है और न हिंदी-काव्य राष्ट्रीय वातावरण की सच्ची प्रतिक्रियाओं को ग्रहण कर सकता है। अतिशय व्यक्तिवादी और अंतर्मुख प्रवत्तियाँ हिंदी-काव्य के लिए ही क्या किसी भी काव्य के लिए स्वस्थ और उपादेय नहीं कही जा सकती हैं।'[6] वस्तुतः हमारा समाज और साहित्य विकासोन्मुख स्थिति में है।

---

१ उपरिवत, पृ० १३३।

२ वाजपेयीजी "सुकवि और सुलझे हुए कहानीकार भी रह चुके हैं।" दे० डा० रामाधार शर्मा (सपा०) उल्ल० ग्र०, पृ० ६।

३ राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबंध, पृ० १०८।

४ प्रकीर्णिका (कानपुर, १९६५), पृ० ५६।

५ उपरिवत, पृ० ५७।

६ उपरिवत, पृ० २१।

हिंदी-समीक्षा भी तदनुकूल होनी चाहिए। जिस प्रकार पश्चिम का नया साहित्य वहाँ के समाज का प्रतिबिंब है उसी प्रकार हमारे नये साहित्य को यहाँ के समाज का प्रतिबिंब होना चाहिए। परन्तु नये वादों के अनुयायी इस बात को भली भाँति समझ नहीं पाते। उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि आज यूरोपीय जीवन में जो विचारधाराएं प्रचलित हैं वे सबकी सब हमारे लिए उपादेय नहीं है। हम अपना रास्ता अपने आप तय करना होगा?'[1] व्यक्तिवाद की विचारधारा यूरोप के लिए भले ही उपयुक्त हो हमारे लिए वह कथमपि उपयुक्त नहीं है। इसका कारण वाजपेयीजी के शब्दों में यह है कि हमारे देश में समाज और व्यक्ति का वह विच्छेद घटित नहीं हुआ, जो योरप और अमेरिका की राष्ट्रीय चिंता में घटित हो चुका है।'[2] उनका सौष्ठववादी स्वच्छन्द आलोचक यूरोपीय बुद्धिवाद का (और इसी बुद्धिवाद पर आधृत नयी कविता का) प्रबल विरोधी है। इसलिए उसकी एक उल्लेखनीय और महत्त्वपूर्ण उपपत्ति यह है कि नवीन बुद्धिवाद, जो हमारे देश और साहित्य में प्रवेश पा रहा है, "यहाँ की प्राकृतिक प्रेरणाओं से उद्भूत नहीं है।[3] वाजपेयीजी यह भी स्वीकार करते हैं कि हिंदी समीक्षा में ही नहीं अन्य भारतीय भाषाओं की समीक्षा में भी व्यवहृत शब्दावली अधिकांशतः पश्चिमी है।[4]

वाजपेयीजी हिंदी साहित्य और समीक्षा पर पश्चिम के व्यापक प्रभाव को खंडनात्मक आलोचना ही नहीं करते अपितु ठोस सत्परामर्श भी देते हैं। उनके मतानुसार जहाँ सैद्धांतिक चिंतन के क्षेत्र में हम अपनी इकाई बनाए रखनी होगी, वहाँ यह भी अपेक्षित है कि हम प्राचीन भारतीय सिद्धांतों के वशवर्ती न हों और न यही समझ बैठें कि प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र में जो कुछ है वह अप्रतिम है। इस प्रकार वाजपेयीजी समीक्षा क्षेत्र में रूढ़िवादिता या गतानुगतिकता का समर्थन नहीं करते।[5] समग्रतः, वे सभी क्षेत्रों में प्रतिवादिता

---

१ नया साहित्य नये प्रश्न (१९६३), पृ० १३६।
२ प्रकीर्णिका, पृ० ४५।
३ दे० नया साहित्य नये प्रश्न, पृ० २३७–२५४।
४ उपरिवत्, पृ० ९९। द्रष्टव्य "विचारों के क्षेत्र में साहित्य निर्माण संबंधी जो चर्चा पश्चिम में हो रही है, वह सबकी सब हमारे लिए हितकर नहीं है। हमें वहाँ भी चुनाव करना होगा।" नया साहित्य नये प्रश्न, पृ० १३ (दे० पश्चिमी अनुकरण), आधुनिक साहित्य, पृ० ५०।
५ नया साहित्य नये प्रश्न, पृ० १३५।

का ही विरोध करते हैं। अतिशय प्रभाव-ग्रहण, पश्चिमी सिद्धातो का अतिशय प्रयोग, अतिशय बुद्धिवाद, मतवादो की अधिकता—इनका समर्थन कोई अतिवादी ही कर सकता है। वाजपेयीजी का दृष्टिकोण इस वाक्य मे स्पष्टतया प्रतिफलित है 'किसी भी मतवाद को किसी समय साहित्य जगत् मे आतिशयिक प्रमुखता नही दी जानी चाहिए।' "राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबध की भूमिका (साहित्य की राष्ट्रीय चेतना") मे उन्होने पुन कहा है कि 'रचना और समीक्षा के बीच उचित सतुलन आवश्यक है मतवादो की अधिकता से न केवल साहित्य मे दल और सम्प्रदाय बढते हैं बल्कि साहित्य-जगत में सशय और फूट उत्पन्न होती रहती और पनपती है।'[1] भारतीय रस सिद्धात की ओर, रोमाटिक रसवाद की ओर वे किंचित अधिक उन्मुख और उसके प्रति अधिक उदार है। उनके समीक्षा प्रतिमान रस सिद्धात से ही उद्भूत एव उसी पर आधृत हैं। काव्य के मर्म और उसकी विविध प्रक्रियाओ और स्वरूपो को समझने के लिए रस सिद्धात वाजपेयीजी के अनुसार, अत्यन्त समीचीन है। कठिनाई केवल यही है कि इनकी व्याख्याएँ प्राचीन काव्य से सबद्ध एव आदर्शोन्मुख हैं। इसलिए वाजपेयीजी चाहते है कि उन्हे अभिनव मनोवैज्ञानिक आधार दिया जाय और नये साहित्य की समीक्षा के अनुकूल बनाया जाय। तभी वे आज के स्वच्छन्दतावादी और यथार्थवादी काव्य के मूल्याकन के लिए प्रयोजनीय हो सकते हैं।[2]

वाजपेयीजी के आलोचनात्मक निबधो मे लेखक द्वारा पाश्चात्य साहित्य के गभीर आलोडन का आभास मिलता है। उन्होने पाश्चात्य समीक्षा के सैद्धान्तिक विकास पर एक विशद, गभीर एव तथ्यपरक निबध लिखा है जो समीक्षा के इतिहासो पर आधृत न होकर समीक्षको की मूल या सपादित अनूदित कृतियो के यथाशक्य अनुशीलन पर आधृत है।[3] इसी प्रकार उन्होने पश्चिम की अधुनातन

---

१ राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबध, पृ० अ-आ (भूमिका)।

२ उपरिवत, पृ० १७१। "जिस प्रकार पश्चिमी समीक्षा के प्राचीन सिद्धात वहा के पुराने साहित्य की व्याख्या और विवेचन के लिए निर्मित हुए थे, फिर भी उनके स्थायी तत्त्वो का आधुनिक समीक्षा मे उपयोग किया गया है और उन सिद्धातो के साथ उनका नये सिद्धातो मे समाहार किया गया है, वसी ही परिपाटी हम अपने देश के पुरातन समीक्षा सिद्धात के सबध मे भी अपना सकते है।" (उपरिवत)

३ दे० पाश्चात्य समीक्षा सैद्धातिक विकास, "नया साहित्य नये प्रश्न," पृ० ५८–९६, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, "काव्यशास्त्र" (पं० जगन्नाथ तिवारी अभिनदन ग्रथ, १९६६), पृ० ४८४–५२१।

साहित्यिक प्रवृत्तियों का, अभिव्यंजनावाद,[1] मानवतावाद और राष्ट्रीय अभिव्यंजनाओं का यथार्थवाद तथा आदर्शवाद का भी गम्भीर अध्ययन किया है और वे प्राचीन भारतीय अनुभूतियों[2] से भी परिचित हैं पर इन मान्यताओं से प्रभावित नहीं। उन्होंने बार-बार पश्चिम की नवीनतम साहित्यिक प्रवृत्तियों का मूल्यांकन किया है

(१) आधुनिक युग में अभी अभी जो नवीनतर प्रवृत्तियाँ उभरी हैं उनको हम अभीष्ट नहीं मानते। काव्य में एक निराशा का संचार हो गया है। यह नया साहित्य कुंठाओं से ग्रस्त है।
(राष्ट्रभाषा की कुछ समस्याएँ, १९६२ पृ० ८२)

(२) साहित्य में अब मध्यवर्ग की कुंठा की प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होने लगी हैं। यूरोप के सामाजिक वातावरण के टूटने से जिस व्यक्तिगत विमूढ़ता का भाव हमारे साहित्य में आया यद्यपि हमारा आधुनिक साहित्य पश्चिमी साहित्य से प्रभावित है।
(उपरिवत् पृ० ८८)

पश्चिम के साहित्यकार यथार्थवादी विचार-सरणियों का नये सिरे से निरीक्षण कर रहे हैं पर इधर हम हैं जो अब भी उन्हें अन्तिम वाक्य मानने की सी स्थिति में हैं।[3] पाश्चात्य प्रभाव के प्रति ऐसी धारणाओं के बावजूद वाजपेयीजी के साहित्य चिंतन और समीक्षा की भाषा शैली पर प्रमुख पाश्चात्य प्रभाव पड़ा है। उन्होंने यत्र तत्र अँगरेजी शब्दों का उन्मुक्त प्रयोग किया है और यथावसर पाश्चात्य साहित्य से उदाहरण लेकर अपने विचारों की पुष्टि की है। उन्होंने औचित्य मत और पश्चिम के कतिपय काव्यादर्शों में समानता पाई है 'क्लासिक विचारकों ने इस बात का आग्रह किया है कि काव्य का नायक असाधारण गुणोंवाला व्यक्ति होगा।' इस विचार का प्रतिवादी स्वरूप भी सोलहवीं सत्रहवीं शताब्दी के नियोक्लासिक विचारकों में देखा जाता है। उदाहरण के लिए शेक्सपियर के एक खल पात्र इएगो के विषय में यह आक्षेप किया गया है कि वह सैनिक है, अतएव किसी प्रकार का दुष्कर्म कर ही नहीं सकता।[4] यहाँ वाजपेयीजी राइमर सरीखे अभिजात समीक्षक की ओर संकेत

---

१ आधुनिक साहित्य, पृ० ३७८–३८५, नन्ददुलारे वाजपेयी तथा रामलाल सिंह, निबंध चयन (प्रयाग, प्र० सं० २०), पृ० १४५–१५४।
२ दे० आधुनिक साहित्य, पृ० ३७२–३७७।
३ राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबंध, पृ० ३७।
४ प्रकीर्णिका, पृ० ३७।

कर रहे हैं यद्यपि उन्होंने उसका नाम नहीं लिया है। हिंदी के छायावादी कवियों में उन्होंने पाश्चात्य टेक्नीक या निर्माणकौशल की झलक पायी है और इसमें तथा यूरोप के 'रेनेसां' में समानता देखी है। इस प्रकार के सहस्राधिक उदाहरण दिये जा सकते हैं। इनसे और उपरिलिखित विवेचन से यह स्पष्ट है कि आचार्य वाजपेयीजी भारतीय समीक्षा और यूरोपीय समीक्षा के विविध सिद्धांतों के बीच समन्वय और संतुलन का संधान करते रहे हैं और उन्हें इस कार्य में अभीप्सित सफलता भी मिली है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी (१९०७)

हिंदी आलोचना के आधुनिक आधार-स्तम्भों में द्विवेदीजी का स्थान मूर्धन्य है। हंसापम सारग्राहिता व्यापक एवं अतलस्पर्शी अध्ययन तथा सूक्ष्म-स्वस्थ विश्लेषणात्मक मनोदृष्टि से मंडित इस तत्त्वाभिनिवेशी समीक्षक की तुलना यदि पश्चिम के किसी सघन मेधावी कृतधी से करनी हो तो सबसे पहले डब्ल्यू० पी० केर का स्मरण हो आता है। केर के समान द्विवेदीजी ने भी विपुल मध्ययुगीन साहित्य एवं तत्युगीन विचार धाराओं का सर्वांगीण और गंभीर अनुशीलन किया है। केर के समान ही उन्होंने जो कुछ लिखा है, वह अधिकारपूर्वक तथा भरपूर आत्मविश्वास के साथ, ओजपूर्ण भाषा शैली में, लिखा है। केर की प्रांजल विशद विषयानुकूल शैली जो कभी भी अतिशय बोझिल नहीं होती, उसके अनेकानेक समीक्षात्मक निबंधों में प्रतिबिंबित है द्विवेदीजी की स्वस्थ सजीव एवं सुसंस्कृत भाषा शैली उनके 'हिंदी साहित्य की भूमिका', हमारी साहित्यिक समस्याएँ', विचार और वितर्क सूर-साहित्य', कालिदास की लालित्य योजना', कबीर' आदि ग्रंथों में स्थापित है।

समग्रत, द्विवेदीजी की समीक्षा अभिजात्यवादी है डा० नगेंद्र की समीक्षा की तरह यह न तो रसात्मक ('रसनीय तथा पुरस्सर") है न वाजपेयीजी की समीक्षा की तरह समन्वयवादी। अभिजात समीक्षकों की विचार सरणियों पर चलनेवाले इस आलोचक के अनुसार साहित्य की मान्यताएँ जीवन की मान्यताओं से विच्छिन्न नहीं होतीं।[1] अभिजात समीक्षा-मूल्यों के पोषक-समर्थक

---

१ हजारीप्रसाद द्विवेदी, "साहित्य की नई मान्यताएँ', दृष्टिकोण, जून, १९५२, पृ० १७।

द्रष्टव्य 'हजारीप्रसादजी एकदम क्लासीकल विद्वान हैं।" डा० नगेंद्र, 'विचार और अनुभूति।

एलियट[1] ने कहा है कि प्रत्येक नये युग में प्रयोगों के साथ नयी मान्यताओं की अभिव्यक्ति होती है और चूँकि आधुनिक सभ्यता अत्यन्त जटिल और विच्छिन्न है इसलिए अभिव्यक्ति का रूप भी दुरूह और विच्छिन्न हो जाता। द्विवेदीजी इन परिस्थितियों के गम्भीर तथा व्यापक प्रभाव से अवगत रहते हैं और जानते हैं कि जब मनुष्य नये अनुभव प्राप्त करता है तो आंतरिक व्यापारों और नैतिक धारणाओं तथा विश्वासों के मूल्य उसके मन में घट या बढ़ जाते हैं। साथ ही वे पाश्चात्य सभ्यता के विश्वव्यापी समर्थित प्रभावों के प्रति भी जागरूक हैं और इस सभ्यता के प्रति तर्क ऐसे अस्वीकार या अपनाने का सत्परामर्श देते हैं जो समुचित तथा समयानुकूल हो। द्विवेदीजी का अभिजात संस्कार आत्मकेन्द्रित न होकर परम्परा और अनुशासन को भी स्वीकार करता है इसलिए वह कहता है 'ऐसी सम्भावनाओं को मना करना वांछनीय ही नहीं होता और सदा नये सिरे से गृहीत मान्यताएँ अच्छी सदा ही नहीं होतीं।'[2]

समीक्षागत भाषा शैली की दृष्टि से भी द्विवेदीजी अभिजात मूल्यों के ही समर्थक ठहरते हैं। नपे-तुले सटीक शब्दों में जैसा भावाभिव्यंजन उनकी रचनाओं में दृष्टिगत होता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ प्रतीत होता है। वस्तुतः उनकी भाषा अत्यन्त परिमार्जित और अंगरेजी शब्द मात्रा से यथाशक्य विमुक्त है। द्विवेदीजी पोप के समान छोटे मोटे काज काट का प्रेषण कथमपि नहीं करते प्रत्युत नेवर सा खेल—एकमप्ररड को ही आदर्श बनाकर चलते हैं। उनके मतानुसार साहित्य जीवन का यथावत छायाचित्र नहीं है कारण कलाकृति में कुछ सुचिन्तित प्रयत्न होते हैं। 'कलाकार जीवन के समग्र व्यापारों में से कुछ को चुनता है और एक निश्चित उद्देश्य से उनकी योजना करता है।'[3] पश्चिम के अनेक कलाविदों और सौन्दर्यशास्त्रियों ने यथार्थ जीवन को कलाकार के लिए प्रयाण बिन्दु मात्र माना है सम्पूर्ण कला नहीं। 'रिपब्लिक' में प्लेटो ने कहा है कि कवि और चित्रकार सभी सृष्टि वस्तुओं की रचना कर सकते हैं उन्हें केवल आईने को लेकर सभी दिशाओं में घुमाने की आवश्यकता है।[4] शेक्सपियर ने 'हेमलेट'

---

१ डी० ई० एस० मैक्सवेल के अनुसार एलियट आधुनिक आभिजात्यवादी समीक्षक का एक ज्वलंत उदाहरण उपस्थित करता है। दे० 'द पोयट्री आव टी० एस० एलियट' (लंदन), पृ० २४।
२ दृष्टिकोण, जून, १९५२, पृ० १८।
३ उपरिवत, पृ० १८।
४ रिपब्लिक, ५९६, अनुवादक कॉर्नफोर्ड (न्यूयार्क, १९५५), पृ० ३२५–३२६।

में प्लेटो के इस कथन की प्रतिध्वनि सुनी जा सकती है। इस नाटक में अभिनेताओं से हैमलेट ने कहा है (अंक ३, दृश्य २) कि अभिनय का उद्देश्य प्रकृति (जीवन) का यथावत प्रतिबिम्बन था और है ('द एण्ड ऑव ऐक्टिंग वाज ऐण्ड इज, टु होल्ड, ऐज इट वयर, द मिरर अप टु नेचर')। किंतु सौंदर्यशास्त्री ऐसे विचार का समर्थन नहीं करते। किसी नीरस वार्तालाप के यथातथ्य इतिवृत्त अथवा नखशिखयुक्त मानचित्र द्वारा लिये गए आलोकचित्र ललित कला के नाम से अभिहित नहीं हो सकते। आदर्श (मॉडल) को किसी न किसी प्रकार सुव्यवस्थित करना ही पड़ता है, उसे अर्थवत्ता प्रदान करनी पड़ती है और उसकी रोचकता की अल्पाधिक वृद्धि करनी पड़ती है। यथार्थ जीवन, जैसा मिल्ने[1] ने निम्नलिखित पंक्तियों में दिखाया है, सामान्यतः नीरस एवं विरूप होता है :

> Imagine yourself putting your head in at the window of a strange house and listening to the conversation for three-quarters of an hour. There would be long silences, people would go in and out without explanation, there would be references to unknown Johns and Marys, private, unintelligible jokes, and even if the scene suddenly became intensely dramatic the cook would spoil it by putting her head into it and asking whether there were any orders for the butcher.[2]

इसमें संदेह नहीं कि हेमिंग्वे की लघुकथा 'द किलर्स' और वान गॉग का विख्यात कालजयी चित्र 'द स्टारी नाइट' ललित कला-कृतियाँ हैं। इनमें न जीवन का अविकल रूपांकन हुआ है और न प्रकृति का हू-ब-हू प्रतिबिंबन। कलाकार किस प्रकार व्यापारों का चयन करता है, इसका एक शब्दमूर्त प्रमाण चित्रकार सीज़ान पर लिखी गई एक ऐसी पुस्तक[3] में मिलता है जिसमें कलाकार के चित्रा-

---

१ ए० ए० मिल्ने, ईयर इन, ईयर आउट (न्यूयार्क, १९५२)

२ उपरिवत्, पृ० ७१।

३ Erle Loran, Cezanne's Composition (University of California Press, 1947)

के साथ ही उन दृश्यों के चित्र भी सजाये हैं जिन्हें कलाकार ने आसमान में देखा था ।

द्विवेदीजी कला और जीवन के संबंध को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि 'मानव के नाना उद्गारों में एक प्रकार का सौंदर्य-सा प्रकट होता है, किंतु साधक की कला गुण-विशिष्ट शक्तियों का ऐसा सुनियोजित रूप होती है जो उनमें नियंत्रण और संतुलन के—ताल और लय के—आधार पर विशिष्टता भरती है और उनके द्वारा दर्शक के चित्त में उल्लास का संचार करती है। शताब्दियों पहले भारतीय नाट्यशास्त्रियों ने इस बात का अनुभव कर लिया था ।'[1] यहाँ द्विवेदीजी ने भरतमुनि द्वारा नाट्य रचना के दो भागों में विभक्त किए जाने का उल्लेख किया है और बताया है कि भरतमुनि ने उन रूढ़ियों की विस्तृत विवेचना की है जो नाटकों में प्राण-संचार करती हैं । इस स्थल पर नलिनजी-जैसे आलोचक पाश्चात्य साहित्य से उदाहरण देते । द्विवेदीजी और नलिनजी-जैसे समीक्षकों में यही तात्त्विक अंतर है । किंतु इसका अर्थ यह नहीं कि द्विवेदीजी ने पाश्चात्य साहित्य का अध्ययन नहीं किया है । पाश्चात्य साहित्य और मनोविज्ञान की अधुनातन प्रवृत्तियों से वे सुपरिचित रहे हैं और उन्होंने अपनी समीक्षाओं में यथावसर उनकी ओर ऐसा निर्देश भी किया है जिसमें उनकी बहुज्ञता और असाधारण परिपक्व ज्ञान चिंतन का बोध होता है ।

पाश्चात्य प्रभाव के संबंध में द्विवेदीजी के विचार

पाश्चात्य प्रभाव के संबंध में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीजी ने कहा है —

> इसमें कोई सन्देह नहीं कि देश विशेष की सहजात संस्कृति में विश्वास रखकर हर वस्तु को पाश्चात्य प्रभाव से प्रभावित, अतएव गर्हित समझना उलझे दिमाग की ही बात है ।[2]
>
> इस पाश्चात्य प्रभाव की ठीक-ठीक जानकारी आवश्यक है । तभी हम अपने देश के आधुनिक मानस गठन को भी समझ सकेंगे और उस विकृत मानसिक प्रतिक्रिया का भी रहस्य समझ सकेंगे जो हर नवीन साहित्यिक प्रयत्न को 'पाश्चात्य प्रभाव' कहकर गर्हित करार देती है और बराबर ही हमारे यहाँ का ब्रह्मास्त्र तानकर अपरिपक्व मस्तिष्क के बाल साहित्यिकों को

---

१ दृष्टिकोण, जून १९५२, पृ० १८ ।

२ उपरिवत, पृ० २१ ।

डराया करती है।[1]

ऊपर इस बात की चर्चा की गयी है कि द्विवेदीजी पाश्चात्य सभ्यता के प्रति सतुलित दृष्टिकोण को अपनाने की सलाह देते है। पश्चिम से प्रभावित सभी मान्यताएँ उनके लिए गर्हित नही हैं और न "हमारे यहा" के सभी साहित्यिक प्रयत्न इन विजातीय मान्यताओ से प्रभावित ही। इसी प्रकार वे इस बात से भी सहमत नही हैं कि "हमारे यहाँ" की सभी वस्तुएँ उच्च कोटि की तथा ग्राह्य हैं और पश्चिम की सभी वस्तुएँ हेय तथा त्याज्य। उन्होने पश्चिम के प्रति अपनी मनोदृष्टि का सुस्पष्ट शब्दो म व्यक्त किया है "भारतीय शास्त्रो के अध्ययन के लिए भी आवश्यक है कि हम आधुनिक वैज्ञानिक चित्त लेकर उसका अध्ययन करें। आधुनिकता का समर्थन करते हुए द्विवेदीजी ने, ठीक ही, घोषित किया है कि नये युग की मनोदृष्टि नयी होनी चाहिए, मध्ययुगीन नही 'मध्यकाल म जिस प्रकार आप्तवाक्यो के रूप म पुराने साहित्य का अध्ययन हुआ था, उसी रूप मे यदि हम आज भी करेंगे तो यह पुराना महान ज्ञान हमारी उतनी सहायता नही कर सकेगा जितनी सहायता की उससे आशा की जा सकती है। बल्कि कभा-कभा बाधक हो जायगा।[2]

---

१ उपरिवत।

२ उपरिवत, पृ० २२। इससे न तो यही ध्वनित होता है कि हमे पुराने ज्ञान की उपेक्षा करनी चाहिए और न हमारे इस निष्कर्ष का ही खडन होता है कि द्विवेदीजी ड्राइडन और डा० जानसन के समान सरवत अभिजात समीक्षक हैं। यहा द्विवेदीजी का यह कथन द्रष्टव्य है "(पुरानी काव्यालोचन) परपरा को एकदम भुलाना अत्यत भयकर भूल है। मुझे यह समझ मे नहीं आता कि आधुनिक समालोचना पद्धति क्यो नहीं पुराने अनुभवों से अपने को समृद्ध कर सकती। नवीन परिस्थितियो के अनुसार पुराने अनुभवो का प्रयोग सर्वत्र हितकर होगा—जीवन मे भी और साहित्य मे भी।" (विचार और वितर्क, पृ० २५७) इन पक्तियो से प्राचीन और आधुनिक साहित्य-मनीषियों के प्रति ड्राइडन के दृष्टिकोण का खयाल हो आता है। ड्राइडन वैज्ञानिको की उस सस्था का सदस्य था जो "रायल सोसाइटी" के नाम से ख्यात है और जो आधुनिकता का समर्थन करती थी। यो तो प्राचीन आधुनिक के विवाद मे ड्राइडन ने आधुनिको का ही साथ दिया, फिर भी वह मूलत अभिजात्यवादी था और काव्यकला विषयक उसकी बहुत मान्यताएँ प्राचीन साहित्य के अवलोकन-अध्ययन से उपलब्ध हुई थीं।

पश्चिम की वैचारिक क्रांतियों और साहित्येतिहास की अद्यतन प्रवृत्तियों से द्विवेदीजी कितना परिचित हैं इसका अनुमान उनके अनेकानेक तद्विषयक विवेचनों से किया जा सकता है। जिस निबंध का यहाँ विश्लेषण प्रस्तुत किया जा रहा है उसमें ही उद्धरण वहां है

> जिन बातों को आजकल इस देश में "पाश्चात्य प्रभाव" कहा जाता है वे पश्चिमी देशों में भी बहुत पुरानी नहीं हैं। वहां के समाज में वे बहुत संघर्ष और कशमकश के बाद धीरे धीरे गृहीत हुई हैं।

ऐसे निष्कर्ष पाश्चात्य देशों के इतिहास के सामान्य अध्ययन अनुशीलन से प्राप्त नहीं हो सकते। इनके लिए श्रमपूर्वक किये गए अध्ययन के साथ दीर्घकालीन चिंतन मनन का संयोग अत्यावश्यक है।

द्विवेदीजी का अरोचकी मत्सरहीन समीक्षक प्राप्त तथ्यों को निरपेक्ष भाव से विश्लेषित तथा उनका सूक्ष्म परीक्षण करता है। इसी कारण उसके निबंधों के घोर दुर्दमनीय चिंतन मनन से उद्भूत होने का बोध होता है। द्विवेदीजी किसी भी साहित्यिक मूल्य मान्यता या तथ्य को अपरिचित नहीं रहने देते और न अतर्क्य भाव से उन्हें ग्रहण ही करते हैं। उनके निबंधों में इसी सहज चिंतन के फलस्वरूप अद्भुत कसावट मिलती है और युगांतरकारी वैचारिक क्रांतियों के इतिहास को भी वे अत्यंत संक्षिप्त किंतु बोधगम्य ढंग से उपस्थित करने में समर्थ होते हैं। प्रस्तुत संदर्भ में उनकी निम्नलिखित पंक्तियाँ ध्यातव्य हैं

> सोलहवीं शताब्दी से ही इसकी भूमिका तैयार हो रही थी। उस समय यूरोप में धर्म और कला का ही प्रमुख था, विज्ञान यद्यपि इन दोनों के प्रतिद्वंद्वी के रूप में ही उत्पन्न हुआ था, पर अट्ठारहवीं शताब्दी के पहले वह सच्चा प्रतिद्वंद्वी नहीं बन सका। इस शताब्दी में प्रत्येक सुसंस्कृत व्यक्ति के चित्त पर इसका प्रभाव पड़ा और उन्नीसवीं शताब्दी में विविध ऐतिहासिक कारणों के दबाव में वह सुविधाप्राप्त वर्ग के हाथ से सरक कर साधारण जनता के हाथ में आ गया। उन्नीसवीं शताब्दी के दूसरे चरण में अनेक मानविक और भौतिक विज्ञान की शाखाओं का युगपत और समानांतर विकास बड़े ही महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक परिवर्तन और विचारगत उथल पुथल का कारण बना।[1]

उपर्युक्त पंक्तियों में पाश्चात्य वैज्ञानिकों और साहित्यकारों के नाम नहीं

---

[1] उपरिवत्, पृ० २३।

गिनाए गए, अंग्रेजी शब्दों का आधिक्य भी देखने को नहीं मिलता, फिर भी उनकी प्रभविष्णुता तथा लेखक के प्रगाढ़ वैदुष्य को प्रतिफलित करने की क्षमता स्तुत्य है। तीन युगों के इतिहास का सघन एवं संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत करके भी लेखक कहीं भी दुरूह नहीं हुआ और न उसने अपने पांडित्य का अनावश्यक प्रदर्शन ही किया। संभवतः लैंगलैंड की भाँति द्विवेदीजी भी कहेंगे

मेजर इज मेडिसिन दो दाउ यन फॉर मच।
आल इज नाट गुड फॉर द स्पिरिट देट दगटम आस्केथ

(पीयर्स द प्लाउमन, पासस १)

संतुलित, सरल एवं परिमार्जित भाषा शैली में ही गूढ़ातिगूढ़ भावों का विश्लेषण और अभिव्यंजन उनका लक्ष्य रहा है। "समीक्षा में संतुलन के प्रश्न"[1] पर उन्होंने स्वयं विचार वितर्क किया है और कहा है कि संतुलित दृष्टिकोण एकांगी दृष्टियों की प्रतिवादिता से विनिर्मुक्त और इन सबमें पायी जानेवाली सचाई पर आधारित समग्र दृष्टि है। द्विवेदीजी की यही समग्र दृष्टि किसी भी पक्ष को आवश्यकता से अधिक महत्त्व नहीं देती और न किसी पक्ष की सचाई की उपेक्षा करती है। लेखक के 'मानवतावादी समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण"[2] से संयुक्त होने के कारण यह संस्कृति को शाश्वत या एकस्थायी वस्तु नहीं मानती। द्विवेदीजी के अनुसार संस्कृति प्रगतिशील परिवर्तनशील और परंपरा नैरन्तर्य से युक्त है।' सभ्य शिक्षित जगत् में प्रचलित कोई भी विचार-पद्धति आद्यंत सदोष नहीं है। इस प्रकार समग्र मानवतावादी दृष्टि से कम से कम दो सुपरिणाम अत्यंत स्पष्ट दीखते हैं एक तो द्विवेदीजी मानवमात्र की एकता में विश्वास करने के कारण पाश्चात्य संस्कृति तथा पौर्वात्य या भारतीय संस्कृति के भेद को कृत्रिम मानते हैं[3] और दूसरे अपनी समग्र दृष्टि के कारण एफ० आर० लीविस, एल० सी० नाइट्स, टी० एस० एलियट की तरह उन्होंने आलोचना के क्षेत्र में इतिहास, धर्मविज्ञान, पुराणविज्ञान, प्राच्यविद्या, जीवनविज्ञान, मनोविज्ञान, प्रजननशास्त्र, नृतत्त्व-शास्त्र, पुरातत्त्वशास्त्र नीतिशास्त्र आदि से भरपूर लाभ उठाया है।[4] 'भारत

१ डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, विचार और वितर्क (इलाहाबाद, १९६१), पृ० २५३।
२ रामेश्वरलाल खंडेलवाल और सुरेशचंद्र गुप्त (संपा०), 'हिंदी-आलोचना के आधार स्तम्भ' (दिल्ली, १९६६), पृ० १६१।
३ उपरिवत, पृ० १६३।
४ उपरिवत, पृ० १६४।

We expect a literary education to expand their range of human awareness and sympathy, to enlarge their imagination beyond the limits of their own class and country to show them that our problems and obsessions are part of a larger pattern of human experience and assume a new meaning within the larger pattern [1]

इयन लिस्टर ने द्विवेदीजी के भावों को इन शब्दों में व्यक्त किया है

In schools as in the world ours is an era with a concern for majorities and it is the task of the humanities to educate those majorities in humanitarianism tolerance and international understanding [2]

स्पष्ट है कि द्विवेदीजी एक ऐसे मानवतावादी समीक्षक हैं जिनके लिए सभी प्रकार की, सभी क्षेत्रों की संकीर्णताएं त्याज्य हैं। ऐसे उदार मानवतावादी समीक्षक से सरसरी आलोचना की आशा कथमपि नहीं करनी चाहिए।

ऐसा प्रतीत होता है कि द्विवेदीजी पाश्चात्य साहित्य से उतना प्रभावित नहीं हैं जितना पाश्चात्य विचारधाराओं और दर्शन चिंतन से। वे डार्विन की युगांतरकारी उपपत्तियों और स्थापनाओं तथा शिलर स्पेंसर मासल लाग फील्ड[3] प्रभृति विचारकों के कला शिक्षा-संबंधी विचारों से पूर्णतया अवगत हैं। पश्चिम (और अब पूरब) में जैसे प्रमाणात्मक नैराश्यपूर्ण चकर ऊपर काव्य का प्रणयन हो चला है, उससे भी वे अच्छी तरह परिचित हैं। किंतु वे (टवायनबी तथा स्पेंगलर-जैसे) निराशावादियों की कोटि में अपने को ठीक ही, नहीं रखते। इसलिए वे जानते हैं कि मानवता की आत्मा उद्बुद्ध की जा सकती है। उन्हें विश्वास है कि यदि साहित्य चाहे तो मनुष्य की पशु सामान्य आदिम मनोवृत्तियों का परिष्कृत कर सकता है। आभिजात्यवादी दृष्टिकोण मनुष्य की सामान्यता का समर्थन करता है इसलिए द्विवेदीजी कहते हैं कि मनुष्य में पशु-सामान्य

१ Graham Hough Crisis in Literary Eduction J H Plumb (ed) Crisis in the Humanities (Penguin Books 1964) P 107

२ Ian Lister The Teaching of the Humanities in the Schools Ibid P 168

३ दे० आलोचना, अप्रैल १९६४ (शिक्षा का स्वरूप—द्विवेदी), पृ० ११।

आदिम मनोवृत्तियां जीवित हैं। उनके अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।"[1] व पाश्चात्य साहित्य की प्रमुख भावधाराओं और प्रवृत्तियों के विवेचन में अपूर्व आत्म विश्वास और दृष्टि की सुस्पष्टता का परिचय देते हैं। साहित्य के नये मूल्य[2] में उन्होंने अँगरेजी साहित्य की रोमांटिक भावधारा की विशेषताओं का विशदीकरण किया है किंतु विवेचन अत्यंत सामान्य स्तर पर हुआ है, न दृष्टांत प्रस्तुत किये गए हैं और न विवेचन को प्रामाणिक समीक्षा की भूमिका पर अवस्थापित करने का प्रयास ही किया गया है। रोमांटिक और क्लासिकल का पार्थक्य कुछ वैसा ही है, जैसे टी० ई० ह्यूम का एतद्विषयक वह निबंध जो 'स्पेक्युलेशंस' में संकलित है। दोनों में अंतर इतना ही है कि जहां द्विवेदीजी का विवेचन ऐतिहासिक घटनाओं—'नये विज्ञान द्वारा उपस्थापित परिस्थितियों—के आलोक में हुआ है, वहां ह्यूम के विवेचन में बाह्य परिस्थितियों का विश्लेषण नहीं हुआ है। चूंकि साहित्य जन-जीवन से अनुप्राणित होता है और पोष्य सामग्री ग्रहण करता है साहित्यिक प्रवृत्तियों को ऐतिहासिक घटनाओं और वैचारिक क्रांतियों से विच्छिन्न नहीं किया जा सकता। इसलिए द्विवेदीजी साहित्यिक प्रवृत्तियों के प्रसव का कारण साहित्य में नहीं वरन् इंगलैंड की बाह्य परिस्थितियों में ढूंढते हैं।

यों तो द्विवेदीजी अपने मनोगत भावों को वाणी देते समय औचित्य का सदैव खयाल रखते हैं और कल्पना तथा आवेगों के अविरल उद्दाम प्रवाह में बह नहीं जाते फिर भी जहां वे आतंक देखते हैं वहां उनकी भाषा शैली अत्यंत मुखर और विक्षोभ से आपूरित हो उठती है। लगता है, क्षणभर के लिए उस संतुलन का विलोप हो गया है जिसकी प्रशंसा ऊपर की जा चुकी है। हिंदी उपन्यासों में यथार्थवाद के आतंक[3] से क्षुब्ध लेखक उबल पड़ता है "मुश्किल से दो या तीन पात्र ऐसे मिले हैं जिनके मानसिक संघर्ष हृदय पर कुछ छाप छोड़ गए हैं, परंतु उन पात्रों में भारतीय सहानुभूति जगा देने की शक्ति तो मिली है पर ऐसा वीर्य या उत्साह नहीं दिखा है जो संघर्षों में विजयी होने की प्रेरणा दे सके और जो जैसा-कुछ मिल गया है, उसे वैसा-कुछ मिलना चाहिए था में बदला देने की उमंग में मर मिटने का उल्लास पैदा कर सके।[4] लेखक के संचित क्षोभ

१ विचार और वितर्क, पृ० ६०।
२ उपरिवत, पृ० ७९–८०।
३ उपरिवत, पृ० १०२–१०८।
४ उपरिवत, पृ० १०२।

की अभिव्यक्ति एम ही सन्दर्भ मिश्रित वाक्य से सभव था। इसलिए यहाँ एव नमनीय सर्व वाक्य की रचना हुई है। पश्चिम की महत्त्वपूर्ण साहित्यिक प्रवृत्तिया और प्रेरणाओं म शायद ही कोई एसा हो जिससे द्विवेदीजी परिचित नहीं हैं। "हिंदी उपन्यासो म यथार्थवाद का आतक शीर्षक निबध म उन्होंने पश्चिमी प्रकृतिवाद और यथार्थवाद का तथा 'तत किम्?' शीर्षक निबध म मानवतावाद (ह्यूमनिज्म) का प्रामाणिक तथ्य-परक विवरण उपस्थित किया है।

ऊपर जिन निबधो का विश्लेषण हुआ है, व द्विवेदीजी की प्रौढतर रचनाएँ हैं। उनकी प्रारम्भिक रचनाओं म स्वभावत, वसा परिपक्व विचार चिंतन और सतुलन नही मिलता जसा उनकी परवर्ती प्रौढ रचनाओ म देखा जाता है। 'हमारी साहित्यिक समस्याएँ' नामक ग्रथ के पहले निबध[1] म उन्होंने पश्चिम के, विशेषत अँगरेजी भाषा साहित्य के, आत्यतिक प्रभाव पर क्षोभ प्रकट किया है। अँगरेजी भाषा के कारण ही सस्कृत का सर्वाधिकार छिन गया है। हमारी सबसे बडी पराजय इसी बात से द्योतित होती है कि भारतीय विद्याओ का जमी विवेचना अँगरेजी भाषा म है उसकी आधी चर्चा का भी दावा कोई भारतीय भाषा नही कर सकती। स्वाधीनता के पूव लिखे गए इस निबध म द्विवेदीजी ने यह भी कहा है कि राजनीतिक सत्ता का छिन जाना उतना अपमानजनक नहीं है जितना तक दशन अध्ययन और भाषा का छिन जाना।

जिस प्रकार उनकी परवर्ती रचनाओं म परिवतन का आतक देखा जाता है उसी प्रकार उनकी प्रारभिक रचनाओ म भी परिवतन के प्रति प्रभूत सजगता मिलती है। वस्तुत परिवतन के प्रति ऐसी जागरूक मनोदृष्टि उनके निबधो को विचारगत विराट एकता प्रदान करती है और उन्ह परस्पर सूत्रित ग्रथित करती है। उदाहरणाथ

विचार और वितक

> 'वस्तुत आज भारतवष का चित्र भी ससार के अन्य देशो की तरह एक महा परिवतन की ऊर्मि प्रत्यूर्मि से आदोलित हो उठा है।"
> (पृ० १८)
> यह ठीक है कि जमाना बदल गया है। (पृ० ५५)
> 'बदलती हुई परिस्थितियो ने मानव चित्र को कुछ नया रूप दिया है।' (पृ० ५८)

---

१ "सस्कृत और हिंदी"।

'विनान के प्रभावशाला रूप धारण करन के बाद क्रमश मनुष्य की साचन विचारन की प्रणाली म परिवतन हात गए हैं।' (पृ० १०५)

हमारी साहित्यिक समस्याएँ

"अब दुनिया बदल गइ है।" (पृ० १०)

'अब मशीनो के उत्पात न दुनिया बदल दी है।"(पृ०२२)

'दुनिया बडा तेजी से बदल रही है और अगर हम अभी से सावधान नहीं हा जात ता परिवतन का रथ घघर बुरी तरह से हमार सुख-स्वप्ना और वया दु स्वप्ना को एक ही साथ पीस डालेगा।" (पृ० ५०)

साहित्य म बडी तजी स परिवतन हा रहा है।'(पृ० १७४)

हिंदी साहित्य की भूमिका

साहित्य के उपरिलिखित बाह्यरूप म जो परिवतन हुआ है वह उसके आभ्यतर रूप का देखते हुए बहुत मामूली है। साहित्य का स्पिरिट ही बदल गया है। (पृ० १३३)

'हिंदी के साहित्यिक भी गतिशील हैं।' (पृ० १३५)

सिसक्षा का स्वरूप (आलोचना, २८२ १९६३)

म-ग के आरभ म अत तक उच्चारण करन मे समय लगता है। इसीलिए वह काल के आयाम म व्यक्त हाता है। वह गतिशील है। कविता का यही आयाम है—काल। ' (पृ० ६)

साहित्य का मम शीषक निबध म द्विवदीजी न गति पर निम्नलिखित भावोद्गार व्यक्त किय ह "गति ता जड पिण्ड म भी होती है। यह धरित्री खड न जान कब स गतिशील है लेकिन जडता उसकी गति म बाधा पहुँचाती है। जड पिंड घूम फिरकर एक ही स्थान पर आ जाता है चेतन आगे निकल जाता है। गति क साथ आगे बढना भी आवश्यक है। इसी को 'प्रगति' कहते हैं।[1] काल गति और परिवतन क प्रति ऐसी उत्कट चेतना आधुनिक विनान की देन है। पश्चिम म काल चेतना का आधिक्य (और आतक)एलियट

---

१ हजारीप्रसाद द्विवेदी और श्रीकृष्ण लाल (सकलनकर्ता) निबध-सग्रह (इलाहाबाद, १९५६), पृ० १८४।

की रचनाओं में मिलता है। द्विवेदीजी और एलियट दोनों काल पर की भावना से मर्यादित प्रतीत होते हैं। ... की [illegible] भावना में काव्य की महत्ता को ही नहीं उनके [illegible] का भी महत्व [illegible] है। एलियट द्वारा प्रतिपादित परम्परा के सिद्धांत [illegible] में सन्नद्ध हैं ... इसी [illegible] उद्भावना से पूर्व उसका अनुक्रम [illegible] में पूर्ण होता है परन्तु उसकी दृष्टि में भी [illegible] अनुक्रम का [illegible] है—यह परिवर्तन [illegible] ही [illegible] न हो।[1] ... परम्परा, परिवर्तन—इनके परस्पर संबंध का निर्धारण ही एलियट और द्विवेदीजी के चिन्तन का मुख्य हेतु प्रतीत पड़ता है।

ऊपर द्विवेदीजी के कतिपय निबंधों से उनकी काव्य-धारणा के कुछ दृष्टान्त उपस्थित किए गए हैं। उनके निबंधों के शीर्षक भी इस सन्दर्भ में कम व्यंजक नहीं जान पड़ते

"कविता का भविष्य"
"नया साहित्यिक दृष्टिकोण
साहित्य का नया रास्ता
"इतिहास का सत्य'
हमारे पुराने साहित्य के इतिहास की सामग्री
"नयी समीक्षा प्रणाली
"नयी समस्याएँ
साहित्य में नये मूल्य"
"साहित्य की नई मान्यतायें
गतिशील चिन्तन
"प्राचीन और मध्यकालीन हिंदी साहित्य का अनुशीलन
'आधुनिक लेखकों का उत्तरदायित्व इत्यादि इत्यादि ।

अब एलियट की काल चेतना के कुछ उदाहरण यहाँ समीचीन होंगे । एलियट की सर्वप्रथम कविता जो एक अपूर्व ऐतिहासिक महत्व और गरिमा से मंडित है, 'द लव सॉंग ग्राव जान ग्राल्फ्रेड प्रूफ्राक' है जिसका आरम्भ 'लेट अस गो देन, यू एण्ड आई ह्वेन दि इवनिंग इज स्प्रेड आउट अगस्ट द स्काई' से होता है। 'पोर्ट्रेट ग्राव ग्र लेडी' का आरंभ 'अमंग द स्मोक एण्ड फाग ग्राव ग्र डिसेम्बर

---

१ डा० नगेंद्र (प्र० संपा०), पाश्चात्य काव्य शास्त्र की परंपरा (दिल्ली, प्र० सं० २०), पृ० २८२।

(दिसम्बर) आफ्टर्नून' ने तथा उसके तीसरे खंड का आरंभ 'दि ऑक्टोपर नाइट कम्स डाउन' से होता है। "प्रील्यूडस के पहले खंड का आरंभ जाड़े की संध्या से होता है और दूसरे का आरंभ इन पंक्तियों से "द मौर्निंग कम्स टु कान्श-सनेस ऑव फेंट स्टेल स्मेल्स आव बीयर।' 'रप्सडी ऑन ए विण्डी नाइट' का आरंभ 'बारह बजे' (टवेल्व ओ क्लाक) से होता है और इसके भिन्न भिन्न छंद इस प्रकार आरंभ होते हैं

हाफ-पास्ट वन"
'हाफ पास्ट टू'
"हाफ पास्ट थ्री'
'द लम्प सेड
फोर ओ क्लाक'

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि सत्रहवीं शती के मेटाफिजिकल कवियों से प्रभावित एलियट ने अपने इन्हीं प्राग्भूत कवियों की तरह काल के प्रति कभी हा जागरूकता प्रदर्शित की है जैसी हिंदी में द्विवेदीजी ने। वैज्ञानिक अनुसंधानों से जीवन में जो व्यस्तता, चंचलता और त्वरा आ गई है उसके प्रभाव से ही ये आधुनिक और संवेदनशील साहित्यकार सुधी-अन्वेषक, समय निरीक्षक (टाईम कीपर) हो गए हैं। साथ ही यह भी स्मरणीय है कि इनके जीवनकाल में ही विश्व ने दो-दो महायुद्ध देखे, विनाश और विघटन की शक्तियों का विश्वव्यापी प्रभुत्व देखा। जिस युग में जीवन मरण का कोई विशेष महत्त्व न रह गया हो उस युग का समयशील कवि यदि उत्कट काल चेतना से अभिभूत रहे तो इसमें आश्चर्य नहीं।

द्विवेदीजी के निबंधों में पायी जानेवाली दूसरी विचार धारा, जो उनके निबंधों को परस्पर संग्रथित करती है, उनके मानवतावाद से संबद्ध है। उनके अधिकांश निबंधों की टेक है "इस युग का मुख्य उद्देश्य मनुष्य है।"[1] इसके अंतर्भूत भाव की अभिव्यक्ति भिन्न भिन्न रूपों में अनेकत्र हुई है, यथा —

> 'साहित्य की सबसे बडी समस्या मानव जीवन है। (विचार और वितर्क, पृ० ६५)
>
> 'साहित्य की सबसे बड़ी समस्या मानव जीवन है।[2] (हमारी साहित्यिक समस्याएँ, पृ० ८१)

---

१ हमारी साहित्यिक समस्याएँ, पृ० १७।
२ "साहित्य निर्माण का लक्ष्य" शीर्षक निबंध से उद्धृत। इस निबंध को

'मनुष्य ही बड़ी चीज है। भाषा उसी की बनाई हुई है। (हमारी साहित्यिक समस्याएँ, पृ० ८८)

'यह मनुष्य जीवन का, समग्र जीवन का, जो बाह्य नाना भाव से प्रकाशित होता है। (साहित्य का मर्म, विचार-प्रवाह, पृ० १७८)

मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूँ।" (अशोक के फूल पृ० १७८)[1]

इस भावधारा के साथ जिसे बुद्ध, ईसा, बर्ट्रेण्ड रसल और रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसे मनीषियों ने स्थापित किया है द्विवेदीजी के उस अभिजात दृष्टिकोण का, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है कोई सामंजस्य नहीं दीखता। द्विवेदीजी, रूसो और शेली की तरह मनुष्य की अतुलनीय शक्ति पर विश्वास रखते हैं[2] और उसी विश्वास के बल पर यह आशा करते हैं कि हम अपनी भाषा और साहित्य के द्वारा इस विषम परिस्थिति को अवश्य बदल देंगे। अभिजात्यवादी साहित्य-

---

यह पंक्ति "नयी समस्याएँ" शीर्षक एक अन्य निबंध में भी हू-बहू मिलती है।

१ अशोक के फूल (दिल्ली, १९४८) का वह निबंध भी द्रष्टव्य है जिससे यह पंक्ति उद्धृत है। निबंध का शीर्षक है "मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है।"

२ साहित्य निर्माण का लक्ष्य। दे० हमारी साहित्यिक समस्याएँ, प० ९९। तुलना कीजिये —

There was and here I get my definition of romanticism They had been taught by Rousseau that man was by nature good that it was only bad laws and customs that had suppressed him Remove all these and the infinite possibilites of man would have a chance Here is the root of all ramanticism that man the individual is an infinite reservoir of possibilities One can define the classical quite clearly as the exact opposite to this Man is an extraordinarily fixed and limited animal whose nature is absolutely constant T E Hulme *Speculations* (London, 1960), p 116

बार मनुष्य की सीमाओं से अवगत और उनके प्रति सजग रहता है। वस्तुत द्विवेदीजी शब्द के उसी अर्थ में आभिजात्यवादी हैं जिस अर्थ में ह्यूम ने शेक्सपियर को आभिजात्यवादी कहा है। दोनों गतिशील, ऊर्जस्वी आभिजात्यवादी हैं। नीत्से के अनुसार अभिजातवाद के दो प्रकार हैं—स्थैतिक (स्टटिक) तथा गत्यात्मक (डाइनेमिक)। द्विवेदीजी गतिशील आभिजात्यवादी लेखक हैं।

द्विवेदीजी की रचनाओं से ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने बर्ट्रेण्ड रसेल के अतिरिक्त वर्ग्सन, शेला, स्पिनोज़ा, मार्क्स आदि का तथा पश्चिम की वैचारिक क्रांतियों के इतिहास और उनकी प्रेरक शक्तियों का गंभीर अध्ययन किया है उनसे यथावश्यक भाव विचार ग्रहण किये हैं। उन्होंने प्लेटो के 'डायलाग्ज' की तरह संवाद लिखे हैं और ड्राइडन के 'एसे आव ड्रमेटिक पोयजी' के आदर्श पर 'रीतिकाव्य' और 'इतिहास का सत्य' शीर्षक आलोचनात्मक संवादों की रचना की है।

तीसरी भावधारा जो द्विवेदीजी के निबंधों को एक महत्त्वपूर्ण स्थापत्य प्रदान करती है पाश्चात्य प्रभाव और लेखक की संतुलित मनोदृष्टि से संबद्ध है। द्विवेदीजी ने बार बार स्वीकार किया है कि (१) प्रभाव ग्रहण अपने में कोई बुरी चीज (लज्जा की बात) नहीं है। भारतवर्ष ने यदि यूरोपीय जीवन में व्याप्त ऐश्वर्य के आलोक को उसकी आभा को ग्रहण किया है तो इससे उसका—हमारा—महत्त्व कम नहीं हो जाता यूरोपीय विचारधारा से प्रभावित होने मात्र से कोई चीज अस्पृश्य नहीं हो जाती। 'आज हम साहित्य की जिस ढंग से चर्चा करते हैं वह पुराने भारतीय ढंग के अनुरूप न होकर यूरोप के आधुनिक ढंगों के अनुरूप है। हमारे समाचार पत्र और साहित्यिक पत्रिकाएँ, यूरोपियन प्रभाव हैं हमारी विश्लेषणात्मक आलोचना शैली यूरोपीय प्रभाव है, हमारे नाना पुस्तकाकार तक में यूरोपियन प्रभाव है। प्रभाव तो मनुष्य पर तब तक पड़ेगा जब तक उसमें जीवन है'[१]। (२) किंतु अंधानुकरण हीनता का परिणाम है बुरी चीज है। विवेक को ताक पर रखकर प्रभाव ग्रहण करना मानसिक दैन्य और सांस्कृतिक दारिद्र्य का परिचय देना है।[२] (३) भारतीय जनता के चित्त में हीनता-ग्रंथि उत्पन्न हो गई है। दाम बटोरने की हमारी 'हास्यास्पद प्रवृत्ति' उग्र रूप धारण कर चुकी है और हमारी मानसिक दासता की परिचायिका है। इसी प्रकार कुछ लोग भी भारतीय हैं जो अंगरेजी शासन के निकल जाने के कारण

१ "साहित्य का मर्म", दे० निबंध-संग्रह, पृ० १८९।
२ उपरिवत, पृ० १९०।

अपने को अनाथ और अरक्षित पाते हैं। इसलिए द्विवेदीजी न अंधानुकरण के पक्ष में हैं और न अंगरेजी प्रभावों के अबाधुध निष्कासन के पक्ष में। इन दो चरम अंतों से बचने का प्रयत्न होना चाहिए।[1] द्विवेदीजी की समीक्षा इन दो अंतों के मध्य से निकलती हुई "अबाध भाव" से गतिमान रहती है।

'साहित्य सहचर' (१९६५) में संगृहीत निबंध उपर्युल्लिखित निष्कर्षों का समर्थन करते हैं, उन्हें प्रामाणिकता प्रदान करते हैं। द्विवेदीजी अपने इस विचार की पुष्टि कि साहित्य और मानव-जीवन में अन्योन्याश्रय संबंध है और दोनों एक दूसरे से संजीवन शक्ति ग्रहण करते हैं, 'एक पश्चिमी समालोचक' के इस कथन से करते हैं कि भाषा के माध्यम से जीवन की अभिव्यक्ति का नाम ही साहित्य है।[2] यह पश्चिमी समालोचक कौन है? द्विवेदीजी इस प्रश्न का उत्तर नहीं देते। यह डि बोनाल्ड भी हो सकता है और टेन भी। टामस वार्टन ने भी जो अंगरेजी कविता का पहला सच्चा इतिहास लेखक है कहा था कि युग की विशेषताओं का यथार्थ रूपांकन और आचार विचार रहन सहन का शब्दमूलक अभिलेखन साहित्य का विशिष्ट गुण रहा है। आधुनिक पाठकों की विदेशी समाज-संबंधी धारणाएँ सिंक्लेयर लूइस, गाल्सवर्दी, बाल्जाक और तुर्गनेव-जैसे औपन्यासिकों के अध्ययन से निर्मित होती हैं। यदि सामाजिक अभिलेख के रूप में साहित्य का उपयोग किया जाय तो उससे सामाजिक इतिहास का कुछ न कुछ ज्ञान अवश्य हो सकता है। चासर और लगलैंड की रचनाओं से चौदहवीं शती के आंग्ल समाज का परिचय होता है। चासर विरचित 'कैंटरबरी टेल्स' के प्रोलाग के संबंध में शुरू से ही यह धारणा रही है कि इसमें चित्रित यात्री समाज के भिन्न भिन्न वर्गों का सम्यक् प्रतिनिधित्व करते हैं। 'मेरी वाइव्ज आव विण्डसर' से बेन जानसन के अनेकानेक नाटकों से तथा टामस डिलानी की कृतियों से एलिजाबेथयुगीन मध्यवर्गीय अंगरेजों के आचार विचार का परिचय मिलता है। इसी प्रकार ऐडिसन, फील्डिंग और स्मॉलेट अठारहवीं शती के नये बुर्जुओं का, जेन आस्टिन के उपन्यास उन्नीसवीं शती के देहाती कुलीनों और पादरियों के जीवन का, ट्रोलोप, थैकरे और डिकेन्स विक्टोरियन युग का तथा एनिमय आन्ल मैकनीस आदि कवि बीसवीं शती के जीवन और समाज का प्रतिबिंबन करते हैं। इसी प्रकार मिसेज स्टो और ट्रॉल्प से लेकर फरल तथा स्टाइनबेक तक के औपन्यासिकों की रचनाओं से अमरीकी जीवन का परिचय

---

१ 'साहित्य का मर्म', दे० निबंध-संग्रह, पृ० १९१।
२ 'साहित्य-सहचर' (१९६५) पृ० ३।

में जानकारी प्राप्त कर लेने से हमें अनेक सुविधाएँ मिल जाती हैं।"

डा० लक्ष्मीनारायण सुधांशु (१९०६–)

डा० सुधांशु हिंदी के उन सद्धांतिक आलोचकों में हैं जिनमें अपूर्व अध्ययनशीलता, गंभीर मनन, अनुशीलन से उपलब्ध ज्ञान का आत्मसात करने की प्रतिभा और भावों की सूक्ष्मातिसूक्ष्म वीचियों को अन्वेषण करने की क्षमता दीख पड़ती है। एतदर्थ, उन्होंने पाश्चात्य साहित्य से मनानुकूल विचार सिद्धांत लेकर भी उन्हें अविकसित एवं अविकल रूप से व्यक्त नहीं किया और न उन पर अपने व्यक्तित्व की छाप छोड़े बिना ही प्रकाश में आने दिया। जहाँ वे मनोविज्ञान एवं कला विषयक पाश्चात्य सिद्धांतों का विवेचन करते हैं, वहाँ भी उनका ध्यान अपनी भाषा और विचार की सांस्कृतिक विशेषता की ओर रहता है। दूसरी स्मरणीय बात यह है कि सुधांशुजी का साहित्यिक व्यक्तित्व सदैव विकासशील एवं गत्यात्मक रहा है, इसलिए उनमें जहाँ अपनी मौलिक शक्ति के लिए स्थान है, वहीं दूसरों की शक्ति को लेकर आगे बढ़ने की क्षमता भी है।[1] इसी प्रकार यह भी ध्यातव्य है कि कतिपय अतिश्रद्धाव्यग्र समीक्षकों के विपरीत वे हिंदी साहित्य को पाश्चात्य प्रभाव से अस्पृष्ट नहीं मानते और न प्रभावित साहित्य को हेय समझते हैं। उनके विचारानुसार 'आधुनिक हिंदी-काव्य पर उन सभी भाषाओं का प्रभाव पड़ा है, जिनसे हिंदी का किसी न किसी तरह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष संबंध रहा है। यह प्रभाव साहित्य के लिए स्वास्थ्य वर्द्धक है।'[2] ऐसे विचारों के समर्थक सुधी आलोचक प्रभाव के प्रति अत्यंत उदार होते हैं और उनका जन प्रभविष्णु साहित्य भिन्न भिन्न विचार सरणियों एवं भिन्न भिन्न अन्यदेशीय पयस्विनियों का संयोग स्थल होता है।

'काव्य में अभिव्यंजनावाद' की प्रथम आवृत्ति की भूमिका में डाक्टर साहब ने स्वीकार किया है कि यद्यपि ग्रंथ प्रकाशन की प्रेरणा उन्हें आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से मिली थी, फिर भी ग्रंथ की रचना में उन्होंने अनेकानेक ग्रंथों से सहायता ली है। इन ग्रंथों में हिंदी और संस्कृत के ही ग्रंथ नहीं हैं, अंगरेजी के भी हैं। उक्त ग्रंथ के प्रथम अध्याय में उन्होंने यह भी कहा है कि अभिव्यंजनावाद पाश्चात्य साहित्य जगत की उपज है, किंवा भारतीय साहित्य शास्त्र के सिद्धांत से इसका

१ लक्ष्मीनारायण सुधांशु, काव्य में अभिव्यंजनावाद (पटना, सं० २०१६), प्रथम आवृत्ति की भूमिका।

२ उपरिवत।

पूरा-पूरा मेल नहीं है। ध्वनि और वक्रोक्ति से इसकी थोड़ी-सी समता है, किंतु यह समता स्वतंत्र रूप से आई है।[1] यहां अंतिम वाक्यांश ध्यातव्य है। हो सकता है, कुछ लोग ध्वनि और वक्रोक्ति से अभिव्यंजनावाद के ईषत साम्य को देखकर यह कह बैठें कि या तो ध्वनि और वक्रोक्ति-सम्प्रदायों पर इस पाश्चात्य मतवाद का प्रभाव पड़ा है या अभिव्यंजनावाद ध्वनि और वक्रोक्तिवाद से प्रभावित है। ऐसे दिग्भ्रमित प्रमाताओं को यह जानना चाहिए कि ध्वनि और वक्रोक्ति से संबद्ध भारतीय सिद्धांत अत्यंत प्राचीन हैं और अभिव्यंजनावाद अभी कल की बात है।" यहां यह भी उल्लेखनीय है कि हिंदी काव्य जगत पर क्रोचे के अभिव्यंजनावाद की छाया सर्वथा विशुद्ध नहीं है इस पर भारतीय वाङ्मय का संस्कार और इसी का प्रभाव है। भारतीय साहित्यिक परंपराओं की स्पृहणीय गौरव-गरिमा के प्रति सतत जागरूक समीक्षक यह जानने को प्रस्तुत नहीं है कि पाश्चात्य परंपराएँ भी उतनी ही वरिष्ठ और संपन्न हैं जितनी भारतीय। कम-से-कम रस और अलंकार के क्षेत्र में भारतीय साहित्य शास्त्र की समता विश्व का कोई भी साहित्य नहीं कर सकता। सुधांशुजी का स्वत्वप्रतिपादन बड़ा ही सार्वधिक एवं परिमित है 'रस और अलंकार का जितना सूक्ष्म निरीक्षण हमारे साहित्य में है उतना यूरोपीय साहित्य में कहां मिलता है।'[2]

अभिव्यंजनावाद की व्याख्या प्रस्तुत करने के पूर्व सुधांशुजी भारतीय काव्य-शास्त्र का विशद सारगर्भ परिचय देते हैं अभिव्यंजनावाद की व्याख्या के लिए उचित परिप्रेक्ष्य का निर्माण करते हैं और साथ ही प्रमाता के मन में अपने इस कथन की प्रामाणिकता में संदेह रहने नहीं देते कि भारत की काव्यशास्त्रीय परंपरा अत्यंत पुरातन एवं गरिमामयी रही है। सुधांशुजी के विवेचन में अपूर्व ओजस्व और वैशद्य मिलता है पर साथ ही इससे इस बात की प्रतीति भी हो जाती है कि भारत के प्राचीन साहित्य मनीषियों ने काव्य के समस्त अंगा-उपांगों की पुष्टता के लिए भिन्न भिन्न सिद्धांतों का प्रतिपादन और एतद्विषयक सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषयों पर भी दृक्पात किया था। उनके काव्य-सौन्दर्य-परिदान के समक्ष पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सूक्ष्मतम नियम भी अत्यंत स्थूल और बालसुलभ लगते हैं।

उक्त भूमिका के पश्चात् षष्ठ एकत्रीस (चतुर्थ संस्करण) से काव्य में

---

१ लक्ष्मीनारायण सुधांशु काव्य में अभिव्यंजनावाद (पटना, सं० २०१६), प्रथम आवृत्ति की भूमिका, पृ० १।

२ उपरिवत्।

अभिव्यंजनावाद के तात्कालिक पुनरुत्थान का आरम्भ होता है। सर्वप्रथम क्रोचे के प्रथम अध्याय की प्रतिवस्तु का संक्षिप्त विवेचन है। सुधांशुजी क्रोचे के विचारों को बड़े ही सरल ढंग से प्रस्तुत करते हैं, यथा—

सुधांशुजी (काव्य में अभिव्यंजनावाद)	Croce (Aesthetic)
१—(पृष्ठ ३२) अभिव्यंजनावाद के प्रवर्तक क्रोचे के अनुसार समस्त मानव ज्ञान दो खंडों में विभक्त किए जा सकते हैं—एक कल्पना-जनित और दूसरा तर्क-जनित। पहले खंड के ज्ञान का आधार कल्पना है और दूसरे का विचार। कल्पना से हम जगत के नाना रूपों और क्रियाओं के उन प्रभावों को, जिन्हें वे हमारी ज्ञानेंद्रियों की सहायता से निरंतर हमारे मस्तिष्क पर डालते रहते हैं, एक विशिष्ट भावों के अनुकूल बिंब अपने अंतःकरण में उपस्थित करते हैं।	1 (Page 1) Knowledge has two forms: it is either *intuitive* knowledge or *logical* knowledge; knowledge obtained through the imagination or knowledge obtained through the *intellect*; knowledge of the individual or knowledge of the universal; of *individual things* or of the *relations* between them: it is in fact productive either of images or of *concepts*.
२—(पृ० ३८) प्रायः सब काव्यों में सहजानुभूति और विचार मिले हुए रहते हैं। भेद इतना ही है कि जो विचार इस प्रकार सहजानुभूति में आकर मिलते हैं उनको अपनी स्वतंत्र सत्ता का पूर्णतः परित्याग कर उसका ही अंग बनकर रहना पड़ता है, तिल-तंडुल की तरह नहीं, दूध पानी की भाँति मिलकर। जो विचार कभी पृथक् सत्तावाले थे उनको सहजानुभूति का एक तत्त्व मात्र बन जाना पड़ता है। दृष्टांत के लिए किसी नाटक के एक पात्र के मुँह से निकला	(p 2) Those concepts which are found mingled and fused with the intuitions are no longer concepts in so far as they are really mingled and fused, for they have lost all independence and autonomy. They have been concepts, but have now become simple elements of intuition. The philosophical maxims placed in the mouth of a personage of tragedy or comedy perform there

हुआ सिद्धांत या वचन वास्तव में किसी सिद्धांत का निरूपण नहीं करता, प्रत्युत उस वचन से उस पात्र के व्यक्तिगत चरित्र-द्योतन का ही काम होता है।

the function not of concepts, but of characteristics of such personage

३—(पृ० ४०) सहजानुभूति या सहजात्मक ज्ञान व्यक्ति की अंतर्वृत्ति पर निर्भर करता है। उसके लिए किसी दूसरे व्यक्ति की सहायता अपेक्षित नहीं। दूसरे की आँखें उसे देख नहीं सकतीं अपने अंतश्चक्षु से ही उसके स्वरूप का बोध किया जा सकता है। सहजानुभूति बौद्धिक ज्ञान से स्वतंत्र है। यह संभव है कि कुछ सहजानुभूतियों में तर्क सिद्ध ज्ञान अंतर्भूत रहे, किंतु ऐसी बहुत-सी सहजानुभूतियाँ हैं जिनमें बौद्धिक प्रत्यभावना के सम्मिश्रण की अनिवार्यता लक्षित नहीं होती। जब कोई कलाकार ज्योत्स्ना धवलित रात्रि की सुषमा से विमुग्ध होता है, हरी भरी पर्वतश्रेणियों पर चलते फिरते मेघ-खंडों को देखकर जब उसका मन मयूर मत्त होकर नाच उठता है विहग की तान सुनकर जब उसके हृदय की रागिणी विकल हो उठती है, तब ऐसी सहजानुभूतियों में बौद्धिक या तर्क सिद्ध ज्ञान की छाया भी नहीं मिलती।

(p 2) Now, the first point to be firmly fixed in the mind is that intuitive knowledge has no need of a master nor to lean upon any one she does not need to borrow the eyes of others for she has excellent eyes of her own Doubtless it is possible to find concepts mingled with intuitions But in many other intuitions there is no trace of such a mixture which proves that it is not necessary The impression of a moonlight scene by a painter the outline of a country drawn by a cartographer, a musical motive tender or energetic the words of a sighing lyric or those with which we ask, command and lament in ordinary life may well all be intuitive facts without a shadow of intellectual relation

४—(पृ० ५०) कुछ लोग कहा करते हैं कि हमारे पास सहजानुभूतियाँ तो बहुत हैं, पर हम उन्हें अभिव्यक्त नहीं

(p 9) One often hears people say that they have many great thoughts in their minds but

कर सकते। ऐसे कथन म सत्य का लेश भी नही रहता। यदि व्यक्त करने को कुछ है तो चाहे जसा हो वह निश्चय ही व्यक्त होगा। कसे कहनवाले का सभय है निराभरण विशद हो व उन्हे ही अनुभव भी करत हो किंतु उनके प्रति अत्यत सहजानुभूति रखत हुए भी कहना पडता है कि उन्ह सहजानुभूति नहीं होती।

that they are not able to express them But if they sealły had them they would have coined them into just so many beau tiful sounding words, and tl us have expressed them

इन उद्धरणो से यह भी स्पष्ट है कि सुधाशुजी ने कहा-कहा क्रोचे के शब्दो का अविकल हिंदी रूपातर प्रस्तुत किया ह पर 'काव्य मे अभिव्यजनावाद' क्रोचे की पुस्तक (इस्थटिक) का अविकल अनुवाद नही है। इसी कारण 'काव्य मे अभिव्यजनावाद' और 'इस्थेटिक' के भिन्न भिन्न पष्ठो से उपयुक्त उद्धरणो का चयन हुआ है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि सुधाशुजी की पुस्तक म पर्याप्त नइ सामग्री का समावश हुआ है उसम अनक नये उदाहरण जोडे गए हैं जो भारतीय वाङमय से लिए गए अथवा लेखक की व्यक्तिगत अनुभूति पर आधत है। पुस्तक मे इतस्तत बिखरे हुए आलोचनाश सुधाशुजी के स्वीय दष्टिकोण का प्रतिफलन करत ह। ढाइ पष्ठो म (प० ३२ ३४) उन्होन लाक बक्ले बेकन डेकाट प्रमति पाश्चात्य दाशनिको के ज्ञान के भेद और प्रकार विषयक सिद्धातो का सक्षिप्त सारगभ विवेचन उपस्थित किया है जो क्रोचे पर आधत नही दीखता। (इस्थटिक के चौथ अध्याय म क्रोचे न कार्टेसियन तथा लाइबनिशियन सम्प्रदायो के काव्यशास्त्रीय मतो और सिद्धातो का वणन किया है।) इससे स्पष्ट है कि सुधाशुजी ने पाश्चात्य दशन का भी अनुशीलन किया है और वे चाहत है कि उस दशन के परिप्रेक्ष्य म क्रोचे का अभिव्यजनावाद परखा जाय। सहजानुभूति के विवेचन क्रम म उन्होन मनोविज्ञान का भी आश्रय लिया है।[1] क्रोचे के अनुसार नाटक के पात्रो के मह स निकले हुए वचन या सिद्धात वस्तुत किसी सिद्धात का निरूपण नही करत। इस कथन की प्रामाणिकता सिद्ध करने के हेतु सुधाशुजी अभिज्ञानशाकुतलम के चतुथ अक से एक उदाहरण देते है।[2] इसी प्रकार क्रोचे के इस कथन के लिए कि सहजानुभूति कला का बोध पक्ष है

---

१ काव्य म अभिव्यजनावाद, प० ४६।

२ उपरिवत, प० ३९–४०।

और विचार तक का वाय-पक्ष सुधाशुजी अपनी ओर से एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।[1] एक छोटी बालिका अपने भाई के पास गाय के नवजात बछड़े का एक सुदर स्वाभाविक और स्नेहपूर्ण वर्णन लिख भेजती है। इस वर्णन में बछड़े का जो चित्र मन में अंकित होता है उसको यदि इस रूप में रख दें कि 'बछड़े सुदर होते हैं', तो सहजानुभूति और विचार का प्रकृति भेद स्पष्ट हो जाता है।[2] इस प्रकार के उदाहरण क्रोचे में नहीं हैं।

सुधाशुजी ने सहजानुभूति में 'वस्तु का महत्त्व' और 'आकृति की विशेषता' पर भी विशेष प्रकाश डाला है। तत्पश्चात् भारतीय काव्यशास्त्र में भाव-पक्ष पर जो विशेष ध्यान दिया गया है उसकी ओर वे हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं। इस भाव-पक्ष की भित्ति पर ही रसवाद का ऐसा अद्भुत निर्माण-कार्य हुआ है जो विश्व-वाङ्मय में अप्रतिम है। पाश्चात्य साहित्याचार्यों ने काव्य में कल्पना को विधायक अवयव मानकर इसकी महत्ता पर अत्यधिक बल दिया है जिसके परिणामस्वरूप वहा भाव बिल्कुल गौण हो गया है। इसके विपरीत भारतीय आचार्यों ने कल्पना-पक्ष को न छोड़कर उसे विभाव एव अनुभाव में सम्मिलित कर लिया है। जहा तक क्रोचे का सबध है, उसने कल्पना के बोध-पक्ष पर ही सर्वाधिक ध्यान दिया है, 'भावों की सत्ता' को उन्होंने विशेष महत्त्व नहीं दिया है।[3]

काव्य में अभिव्यजनावाद के दूसरे अध्याय में सुधाशुजी ने उस मतवाद पर विचार किया है जिसके अनुसार कला कला के लिए होती है। इस विवेचन में कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ के भी विचार समाहित हैं और इसी सदर्भ में ब्रैडले और रिचर्ड्स के विचार भी प्रस्तुत किए गए हैं। जहा ब्रैडले ने आक्सफोर्ड के अपने कविता विषयक व्याख्यान में तर्कों के विराट् आयोजन के साथ 'कला कला के लिए' वाले सिद्धान्त का समर्थन किया है, वहाँ 'रिचर्ड्स महोदय ने अकाट्य तर्कों और मार्मिक युक्तियों से कलावाद की इस बढ़ती हुई प्रवृत्ति पर अच्छा कुठाराघात किया है।'[4] सुधाशुजी ने कला और सहजानुभूति की जो समीक्षा प्रस्तुत की है उसका आधार क्रोचे है। यहाँ भी क्रोचे की कुछ महत्त्वपूर्ण पंक्तियों का भावानुवाद हुआ है। सुधाशुजी के विचारानुसार अभिव्यजनावाद का वाद्य-

१ काव्य में अभिव्यजनावाद, पृ० ३७।
२ उपरिवत, पृ० ३७।
३ उपरिवत, प ४४।
४ उपरिवत, प० ६२।
५ उपरिवत, प० ६४, इस्थटिक, पृ० १२-१३।

तोरसताय के अनुसार कला मनुष्यों को एक ही भाव-सूत्र में पिरोने का एक साधन है, पर सुधांशुजी इस परिभाषा को अतिव्याप्तिपूर्ण मानते हैं।[1] वस्तुत सुधांशुजी का सच्चा कलाकार एक ऐसा व्यक्ति होता है जिससे हम शक्ति-ग्रहण करते हैं — ज्ञान प्राप्त नहीं करते।' 'काव्य की शक्ति हमें ऊँचा उठाती है और ज्ञान हमें आगे बढाता है। जीवन की सारी सवेदनाओं को हिलाकर शक्तियों का विकास करनेवाली काव्य-कला का स्थान उस ज्ञान-ग्रथ से कहीं ऊँचा है जो हमारे मस्तिष्क में केवल सस्कार-वृद्धि करता है।'[2] निस्सदेह सुधांशुजी की ऐसी मान्यताओं का उत्स अभिव्यजनावाद है जिसके अनुसार कला-सृष्टि न तर्कपूर्ण बौद्धिक ज्ञान से होती है न इन्द्रियज ज्ञान से और न साधारण लौकिक भावात्मक ज्ञान से। इसका सबध हृदय के उस सहज स्वत स्फूर्त अनुभावात्मक ज्ञान से है जो अपनी तीव्रता के कारण अभिव्यक्ति के लिए बाध्य होता है। बेन जानसन और एजरा पाउड के सदृश सुधांशुजी भी कलाकार को उस समीक्षक से उच्चतर स्थान देने के पक्ष में हैं जो स्वय कलाकार नहीं है। 'जीवन के किस अग को, किस रूप में काव्य में लिया जाना चाहिए—इस बात का सबसे सच्चा निर्णेता कलाकार ही होता है। समीक्षक तो उसके बाद अपना निर्णय देता है।'[3] एलियट की 'परपरा और वयक्तिक प्रज्ञा' की प्रतिध्वनि इन पक्तियों में सुनाई पडती है

> काव्य के विधान में इस बात पर सदा ध्यान रखना पडता कि वह अतीत से असबद्ध न रहे। जिस काव्य में किसी-न-किसी रूप से अतीत प्रतिध्वनित नहीं होता वह भविष्य के निर्माण में समर्थ नहीं हो सकता। वर्तमान को अतीत ही सजीवित रखता है।
> यदि हम अपने वर्तमान जीवन की परपरा के मूल सूत्र का अनुसधान करें, तो हमें, न मालूम कितने हजार वर्ष पीछे जाना पडेगा। काव्य भी अपनी वर्तमान जीवनी शक्ति को सुदूर अतीत से ढोता आ रहा है।[4]

एलियट के परपरा विषयक सिद्धातों पर बर्गसा का प्रभाव है।[5] इसी प्रकार

---

१ लक्ष्मीनारायण सुधांशु, जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धांत (पटना, १९६३), पृ० ३०–३१।
२ उपरिवत, पृ० ३५।
३ उपरिवत, पृ० २४।
४ उपरिवत, पृ० २६–२७।
५ T S Eliot's well known view 'seems to derive from the Bergsonian conception of duree Vide A A Mendilow *Time and the Novel* (1952) pp 94 et seq

"जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धांत" का चौथा अध्याय (कला का उद्भव और काव्य का रूप) शिलर स्पेन्सर और मार्शल से प्रभावित है। क्रीड़ा भाव और उसका उपयोग [illegible] सिद्धांत[1] पर ही आधृत है। [illegible] सिद्धांत का शिलर ने [illegible] प्रवर्तित किया था और स्पेन्सर ने इसका अनुमोदन किया था। काव्यानुभूति का क्रम और कलात्मक की प्रवृत्तियों के कई स्तर (पृ० १९८–१६५ [illegible]) [illegible] अनुकरण [illegible] सर्वाधिक से प्रभावित है। सुधांशुजी उसकी कला परिभाषा का समर्थन [illegible] नहीं करते उनके कथन का अनुमान भी करते हैं।

समग्रतः "जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धांत" में सुधांशुजी की समीक्षा मार्क्सवादी [illegible] स्थान-स्थान पर मनोवैज्ञानिकता तथा दार्शनिक है। इस विवेचन की पुष्टि उनके प्रतिभा विषयक मान्यता से होती है। प्रतिभा के अतिरिक्त समीक्षक के पास ऐसा कोई साधन नहीं जिसके द्वारा वह जीवन की क्रियाओं की जटिलता तथा सम्पन्नता को जान [illegible] समन्वय हो जाए। बुद्धि की सीमा को पार कर प्रतिभा का उदय होता है।[2] इसी प्रकार कला की उनकी परिभाषा तत्त्वतः दार्शनिक है — जहाँ बहिर्जगत् के साथ हमारे हृदय के संबंध में [illegible] स्थापित रहता है वहाँ कला की सृष्टि होती है। जहाँ हमारा व्यक्तित्व अपने चमत्कार का अनुभव करता है, वहाँ क्रीड़ा के रूप में कला व्यक्त हो जाती है।[3] शिलर के अनुसार क्रीड़ा भावना उस शक्ति मात्र का व्यापार मात्र है जो [illegible] की अपेक्षा रखता है।[4] सुधांशुजी के लिए काव्य का विषय भाव है बुद्धि नहीं और काव्य विचार की [illegible] भावना से उत्पन्न नहीं हो सकती।[5] वे काव्य में [illegible] लिए वे सूक्ष्म विश्लेषण की सिफारिश करते हैं और कहते हैं कि जब तक ऐसा नहीं होता तब तक काव्य की उपयोगिता नहीं मानी जा सकती। साथ

---

१ A theory proposed by the poet Schiller and supported by Spencer which explains play activities as due to surplus energy, particularly as the expression of surplus energy in the young and growing organism

२ जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धांत, पृ० २४।

३ उपरिवत, पृ० २९।

४ दे० "द प्ले इम्पल्स", बर्नार्ड बोसांक्वे, अ हिस्ट्री ऑव इस्थटिक्स (लंदन, १९३४), पृ० २९४–२९५।

५ जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धांत, पृ० ४४।

ही यह भी उल्लेखनीय है कि व उन स्वच्छदतावादी आलोचका म नहीं हैं जो काव्य म आत्मभाव की प्रतिष्ठा के लिए परपरा का उपेक्षित किया जाना पसद करते हैं। सुधाशुजी कवि और परपरा मे सबध विच्छेद नही चाहते[1] और न नये-नये छद निर्माण के प्रति किसी प्रकार की आसक्ति ही दिखाते हैं। कहा जाता है कि नये-नय भावा का अभिव्यक्ति देने के लिए नई-नई विधिया, नये-नये छद निर्मित होन चाहिए। सुधाशुजी नयी विधाओं की उद्‌भावना के लिए उत्सुक नहीं दीखते, कारण मानव हृदय, उनके अनुसार, पुरातन है, उसम केवल अनुभव ही नया भरा गया है। अनुभव के क्षेत्र नये-नये है किंतु हृदय पुराना है हमारा भय, हमारा इत्यादि पुराना है।[2] यहा भी व नव्यशास्त्रवाद की ओर ही अधिक उन्मुख जान पडते है और ऐसा लगता है कि यहा उन्होंने अठारहवी शती के अगरेज अभिजात लेखका की तरह यह मान लिया है कि काव्यगत विधाओं की सख्या परिमित है और इनमे प्रत्येक का नियमन विशिष्ट सिद्धाता के अनुसार होता है। नव्यशास्त्रवादी कवि इन विधाओं म ही किसी एक का आवश्यकतानुसार चयन करता है और उसमे ही अपनी कविता की सृष्टि भी।

ऊपर हमने सुधाशुजी की आलोचना को प्रभावाभिव्यजक कहा है। 'साहित्यिक निबध' नामक पुस्तक के निबधो से इस मत की पुष्टि मे अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। 'साहित्य म व्यक्तित्व' शीर्षक निबध के अनुशीलन स ऐसा लगता है कि लेखक अपने भावो को त्वरित क्रम स उडेलता जा रहा है उन्हे समुचित स्थापत्य दन का प्रयास नहीं करता। इसका यह अर्थ हुआ कि सुधाशुजी अपनी सूत्रवत स्थापनाओं का समुचित पल्लवन और उनका अपेक्षित विवेचन विश्लेषण नही करते। उनकी मेधा से अनगिनत विचार-स्फुलिंग स्पृहणीय त्वरा से निकलते जाते हैं, परतु व परस्पर अच्छी तरह सबद्ध नहीं होते—मूल विचारसूत्र म पिराये नहीं जाते। इसलिए उनकी रचनाओं के भिन्न भिन्न अनुच्छेद बटे ही अलग होते हैं। (पेटर और स्विनबर्न की प्रभावाभिव्यजक समीक्षा की यह विशेषता उनके अध्येताओं से छिपी नहीं है।) उनके भाषणो और परवर्ती रचनाओं म, वाक्यो और अनुच्छेदो मे, अपेक्षया अधिक सूत्रात्मक सबध पाया जाता है।

सुधाशुजी के सभी निबधो म भारत की सनातन चिंतनधारा के साथ ही

१ जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धात, पृ० ३५।
२ उपरिवत, पृ० ३६-३७, साहित्यिक निबध (१९३४), पृ० २४।

आधुनिक विचार-सरणि का भी योग है।[1] साथ ही यह कहना असंगत न होगा कि धीरे धीरे उनके समीक्षण में रम्यता के स्थान पर दुरूहता आ गई है और ग्राह्यता का प्रभाव जाता रहा है। राजनीति के प्रभाव का प्राबल्य होने से साहित्य की रमणीयता का कुछ हद तक तिरस्कार हो गया जान पड़ता है। परवर्ती रचनाओं में विचारों का संगठित सानुक्रमिक विकास और हिन्दी साहित्य के बृहत् इतिहास में 'परिस्थितियों का इतिवृत्त'[2] समन्वय, इसी बात का द्योतक है। परिस्थितियों का संग्रह इसी कारण, काव्य में अभिव्यंजनाओं के संग्रह से भिन्न है। परिस्थितियों का संग्रह विचारों से उतना प्रभावित नहीं है जितना काव्य में अभिव्यंजनाओं का संग्रह। हिन्दी साहित्येतिहास के प्रथम भाग का संपादक आवश्यकतानुसार हर्बर्ट रीड[3] और टी० एस० इलियट[4] के विचारों से अपने मत की पुष्टि करता अवश्य है किन्तु साथ ही वह यह भी कहता है कि जो अंग्रेजी का हिमायती है वह हमारा नेता नहीं रह सकता। हिन्दी भाषी राज्यों की जनता में अंग्रेजी तथा अंग्रेजी-परस्तों के विरुद्ध एक विप्लव के आक्रोश की आवश्यकता है। महात्मा गांधी ने अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध जिस पुण्य प्रकोप का प्रयोग किया था उसी पुण्य प्रकोप का प्रयोग हिन्दी भाषी राज्यों में अंग्रेजी के विरुद्ध होना चाहिए।[5] क्रोध के इस समर्थन में संपर्क भाषा हिन्दी तक आते आते स्पष्टतया 'एक सनातनिक अथवा रूढ़िवादी संकीर्णता की अंगड़ाई दीख पड़ती है।

डा० दशरथ ओझा (१९०९)

१ हिंदी की नाट्य समीक्षा पर पाश्चात्य प्रभाव

यद्यपि हिन्दी-साहित्यालोचन प्रधानतया काव्यालोचन रहा है, इसमें उपन्यासालोचन, नाटकालोचन आदि का स्वतंत्र सर्वांगीण विकास प्रायः न के बराबर हुआ। नाट्य-समीक्षा की ओर जिन आलोचकों का ध्यान गया है वे परिमाणतः कम हैं फिर भी उनका विवेचन-मूल्यांकन आवश्यक है।

---

१ साहित्यिक निबंध (पटना, १९६४), दो शब्द।
२ लक्ष्मीनारायण सुधांशु (संपा०), हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास (ना० प्र०, स० १९६५), भा० १३, पृ० ३–४४।
३ उपरिवत्, पृ० २३।
४ उपरिवत्, पृ० २५।
५ संपर्क भाषा हिंदी (दिल्ली, १९६५), पृ० ८०।

नाट्यालोचन पर लिखते समय भारतेंदु का नाम प्रथम आता है। जिस प्रकार हिंदी-काव्यालोचन पर पाश्चात्य मतवादों एवं सिद्धांतों का प्रभाव पड़ा है उसी प्रकार आधुनिक हिंदी नाट्य-समीक्षा पाश्चात्य नाट्यालोचन से प्रभावित हुई है। प्रस्तुत प्रबंध के प्रथम अध्याय में कहा जा चुका है कि भारतेंदु ने अपने 'नाटक' शीर्षक निबंध के "लिखित विषय" केवल दशरूपक, भारतीय नाट्यशास्त्र, साहित्यदर्पण, काव्यप्रकाश आदि में ही नहीं लिये, उन्होंने 'विल्सन हिंदू थिएटर्स', 'लाइफ आव दि एमिनेंट परसन्स', ड्रामेटिस्ट्स एँड नावेलिस्ट्स', 'हिस्टरी ऑव इटालिक थियेटर'[1], कीथ कृत 'द इंडियन ड्रामा' आदि का भी अध्ययन किया था। यद्यपि 'नाटक' की आधारभूत सामग्री भारतीय नाट्य-शास्त्र से ही उद्भूत है फिर भी इसमें संदेह नहीं कि लेखक ने नाटकों के शिल्प, कथानक, कथोपकथन, चरित्र चित्रण, अभिनय आदि पर लिखते समय पाश्चात्य नाटकों को भी ध्यान में रखा है। उसने कई स्थलों पर शेक्सपियर के नाटकों की ओर—विशेषतः मकबेथ और हैमलेट की ओर—संकेत किया है और निबंधान्त में यूरप में नाटकों के प्रचार पर एक अत्यंत सारगर्भ और प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत किया है।

श्रीनिवासदास रचित "संयोगिता-स्वयम्वर" की "सच्ची समालोचना"[2] की भाषा शैली पर तो पाश्चात्य प्रभाव पड़ा ही है, साथ ही वह पाश्चात्य नाट्य समीक्षा की पद्धतियों का भी अनुसरण करती है। इसके लेखक के मतव्यानुसार 'किसी पुराने समय के ऐतिहासिक पुरावृत्त की छाया लेकर नाटक लिख डालने ही से वह ऐतिहासिक' नहीं हो जाता।[3] 'किसी समय के लोगों के हृदय की क्या दशा थी, उनके आभ्यंतरिक भाव किस पहलू पर ढुलके हुए थे, अर्थात् उस समय मात्र के भाव—स्पिरिट ऑव द टाइम्ज—क्या थे—इन सब बातों को ऐतिहासिक रीति पर पहले समझ लीजिए तब उसके दरसाने का भी यत्न नाटकों के द्वारा कीजिए।' 'नाटक के पात्रों का परस्पर भिन्न होना चाहिए स्वाभाविक और विशिष्ट होना चाहिए ... हमने जहाँ तक नाटक देखे उनमें पात्रों की व्यक्ति ... के भिन्न भिन्न होने ही में नाटक की शोभा देखी।"[4]

---

१ ब्रजरत्नदास (सपा०), भारतेंदु-ग्रंथावली (बनारस, सं० २००७), खंड १, परिशिष्ट (उपक्रम)।
२ दे० हिंदी प्रदीप, १ अप्रैल १८८६, पृ० १६–१८।
३ उपरिवत पृ० १६।
४ उपरिवत, पृ० १७।

हिन्दी में नाट्यसमीक्षा की ओर आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का भी ध्यान गया था। नाटककारों तथा दर्शकों को नाट्यकला का परिचय कराने के निमित्त उन्होंने 'नाट्यशास्त्र' (१९०१) की रचना की। उनके अनुसार 'नाट्यकला का फल उपदेश देना है। उसके द्वारा मनोरंजन भी होता है और उपदेश भी मिलता है।'[1] संभवतः, यह पुस्तक उत्तरार्द्ध का एक ऐसा निबंध है जिसमें संस्कृताचार्यों के मतों विचारों का ही प्रामुख्य मिलता है जिससे संस्कृत नाट्य शास्त्र का सम्यक् ज्ञान होता है। बलदेव प्रसाद मिश्र-कृत 'नाट्य प्रबंध' (१९०३), चन्द्रराज भंडारी कृत 'नाट्यकला ज्ञान' (१९२८) और रमाशंकर शुक्ल-कृत 'नाट्यनिर्णय' (१९३०) आदि इसी प्रकार की रचनाएँ हैं। हिन्दी पाठकों या लेखकों को उनसे किसी प्रकार की सहायता नहीं मिली।[2]

श्यामसुन्दरदास और पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने अपने 'रूपक रहस्य' (१९३१) में भारतीय नाट्यशास्त्र के विभिन्न तत्त्वों तथा तथ्यों का वर्णन और विवेचन किया है। इसमें रूपक के विकास और परिचय, वस्तु विन्यास, पात्र प्रयोग, वृत्ति विचार, रूपक का रूप रचना, रूपक और उपरूपक, रसों में रहस्य, भारतीय रंगशाला या प्रेक्षागृह आदि का शास्त्रसम्मत एवं सर्वांगीण पांडित्यपूर्ण विवेचन प्रस्तुत है। स्पष्ट है कि ग्रंथकारों ने भारतीय दृष्टिकोण से विवेच्य विषय का प्रतिपादन किया है। 'साहित्यालोचन' में डाक्टर श्यामसुंदरदास ने पाश्चात्य दृष्टिकोण से नाटक के भिन्न भिन्न तत्त्वों का मनोरम विश्लेषण प्रस्तुत किया है।[3]

सेठ गोविन्ददास रचित 'नाट्य-कला मीमांसा'[4] (१९३५) पाश्चात्य नाट्य समीक्षकों से अत्यंत प्रभावित है। लेखक पश्चिमी नाट्यशास्त्र एवं नाट्य इतिहास से परिचित है और जानता है कि 'इंग्लैंड और फ्रांस के जगत्प्रसिद्ध नाटककार शेक्सपियर और मोलियर के समय से वहाँ की रचनाओं का यथार्थवादी होना आरंभ हुआ और इंग्लैंड के प्रसिद्ध उपन्यासकार डिकिन्स और थैकरे के समय वह यथार्थवाद पराकाष्ठा को पहुँच गया।'[5] उसने प्लेटो और ऐरिस्टॉटल

---

१ निर्मल तालवार (सपा०), आचार्य द्विवेदी (आगरा, १९६४), पृ० १५०।
२ डा० सोमनाथ गुप्त, हिंदी नाटक साहित्य का इतिहास (जालंधर और इलाहाबाद, १९५८), पृ० ७।
३ साहित्यालोचन (१९४९), पृ० ११७–१७४।
४ जबलपुर, १९३५ (सं० १९९२)।
५ नाट्य-कला-मीमांसा, पृ० ६।

के कला-सबधी विवेचना का अध्ययन किया है और काट, हीगेल, शेलिंग, शोपेनहावर, वॉल्टेयर, टेन, हर्बर्ट स्पेंसर जॉन रस्किन और क्लाइव बेल आदि के मतो से वह परिचित है। पुस्तक मे पाश्चात्य मनीषियो के अनेकश मत उद्धृत हैं।[1]

ब्रजरत्नदास रचित हिंदी-नाट्य-साहित्य (१९३८) को पाश्चात्य प्रभावो से यथाशक्य मुक्त रखा गया है। नाटककारो के काल निर्धारण मे यत्र-तत्र, यूरोपीय विद्वानो की गवेषणाओ से लाभ उठाया गया है।[2] लेखक का यह कथन ध्यानस्थ है कि 'यवनिका' शब्द को लेकर भारतीय नाटको पर यूनानी प्रभाव का समर्थन किया जाता है पर यह असगत कथन है।[3] श्री जी० पी० श्रीवास्तव-जैसे प्रहसनकारो पर उसने पाश्चात्य प्रभाव का अच्छा निदर्शन किया है और इस बात पर क्षोभ प्रकट किया है कि श्रीवास्तवजी ने अपनी भाषा को हिंदुस्तानी कहा है हिंदी नहीं। 'परतत्रता प्रिय हिंदुओ ही मे कुछ ऐसे लोग हैं विशेष जाति के या प्रांत निवासी जो हिंदू होते हुए भी अपनी मातृभाषा को हिंदी बतलाने मे क्या हिचकते हैं, नहीं कहा जा सकता। सभ्य अग्रेजी को मातृभाषा कह नहीं सकते क्योकि प्रत्यक्ष झूठ होगा पर समय आ रहा है जब कि ऐसा भी कुछ कह बैठेगे।'[4] ब्रजरत्नदासजी उच्चकोटि के सपादक तो थे ही इन पक्तियो से उनके भविष्यवक्ता होने का भी परिचय मिलता है। सचमुच वह समय आ गया है जिसकी ओर ब्रजरत्नदासजी ने इगित किया है।

अपने 'हिंदी नाट्य विमर्श' (१९४०) मे नाटको की उत्पत्ति के सबध मे डा० गुलाबराय पाश्चात्य विद्वानो के गवेषणामूलक निष्कर्षो पर ही सर्वाधिक निर्भर रहे हैं। उन्होने मैक्समूलर लेवी, हर्टेल रिजवे हिलेब्रा और कोनो की एतद्विषयक उपपत्तियो को प्राधान्य दिया है। इसी प्रकार कठपुतलियो के नाच की कल्पना के सबध मे पिशेल और कीथ के मत उद्धृत हैं। पश्चिमी देशो के नाटक के प्रसार, यूनान के प्रभाव, सकलनत्रय और पाश्चात्य नाटको के विकास का सक्षिप्त सामान्य वर्णन उपस्थित किया गया है। हिंदी नाट्य विमर्श कोई मौलिक विद्वत्तापूर्ण रचना नहीं है।

डा० नगेन्द्र की 'आधुनिक हिंदी-नाटक' (१९४०) नामक पुस्तक मे प्रयुक्त

---

१ उदाहरणार्थ, दे० पृ० ३–४, ५ और ६।
२ उदाहरणार्थ, दे० पृ० ७।
३ हिंदी-नाट्य-साहित्य, पृ० ९।
४ उपरिवत्, पृ० १८४।

आलोचना में आधारभूत मान पाश्चात्य नाट्यसमीक्षा से, विशेषतः अंगरेजी से, आये हैं, पर साथ ही इसमें नवोद्भावना भी पर्याप्त मात्रा में है। निम्नलिखित वाक्य पाश्चात्य प्रभाव के ज्वलंत उदाहरण हैं

> प्रसाद की ट्रेजडी नारी ट्रेजेडी है। (पृ० ५)
> उनमें कोई दूर तक जानेवाला वैशिष्ट्य नहीं था। (पृ० ५)
> (प्रसाद के नाटकों में) अनावश्यक दृश्यों की संख्या भी बहुत है।
> दूसरा बड़ा दोष है एकता (यूनिटी) का अभाव। (पृ० १७)
> इतिहास पाठक की एतिहासिक भावना (हिस्टॉरिकल सेंस) को आघात नहीं पहुँचाता। (पृ० २८)
> (गीति नाट्य में) नाटकीय आकस्मिकता (ड्रमैटिक ऐबरप्टनेस) नहीं होती। (पृ० १२३)

पश्चिम के कतिपय आलोचकों ने रोमांटिक कलाकारों की कला रोमांटिक समीक्षा को नारी समीक्षा कहा है। कांग्रीव आदि के संबंध में कहा जाता है कि "द वे ऑव द वर्ल्ड"—जैसे नाटकों में अनावश्यक दृश्यों की संख्या बहुत है। शेक्सपियर के नाटकों के संबंध में कई रोमांटिक समीक्षकों ने (डा० जानसन ने भी) यही कहा है जो डा० नगेंद्र ने प्रसाद के नाटकों के संबंध में। पश्चिम से आमूल प्रभावित हिन्दी एकांकियों और नाटकों की समीक्षा स्वभावतः पश्चिमी मानदंडों का प्रयोग करेगी। किंतु डा० नगेंद्र की समीक्षात्मक कृतियों की एक प्रधान विशेषता यह भी रही है कि उनमें प्रभावों का पूर्ण विलयन हो जाता है अपनी नवनिर्माणक्षम प्रतिभा की सहायता से वे प्रसाद की तरह 'भारतीय आत्मा को सुरक्षित'[1] रखते हैं। इसलिए उनकी कृतियों से कहीं भी प्रभावों के बलात आरोपण का बोध नहीं होता।

जयशंकर प्रसाद ने अपने नाटकों की विद्वत्तापूर्ण भूमिकाओं में, जिन पर पाश्चात्य नाट्य समीक्षा का प्रभाव नहीं पड़ा है, पाठ विश्लेषणवाली परिचयात्मक पद्धति का परिचय दिया है। इसी प्रकार सन १९४३ में प्रकाशित डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा कृत 'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन' पर भी पाश्चात्य नाट्यालोचन का प्रभाव नाममात्र का है। इस ग्रंथ में भी सूक्ष्म एवं पांडित्यपूर्ण विश्लेषणमूलक एवं परिचयात्मक पद्धति का ही अनुसरण हुआ है।

---

१ डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा, प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन (बनारस, १९४३), पृ० २ (आमुख)।

डा० रामकुमार वर्मा के एकांकियों पर और इनकी भूमिकाओं में एकांकियों के विवेचन पर प्रमाता का पाश्चात्य प्रभाव के अनवानर चिह्न वतमान मिलेंगे। 'पथ्वीराज की आँखें' शीर्षक एकांकी के 'पूर्वरंग' में उन्होंने कहा है कि उनके नाटकों में कहीं-कहीं काव्य की छाया रहती है। यह उनकी दृष्टि में, 'स्वाभाविक है। इस क्षेत्र में जेम्स बरी के ट्वेल्व पौंड लुक और लेडीज़ क्रुएल्टी आदि नाटकों ने मुझे बल प्रदान किया है। पी० बी० शेली की ससी (चेंची) रचना भी मुझे विशेष रुचिकर है। शा के यथार्थवाद से तो कोई भी नाटककार प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता।' (पृ० १२) उनकी हास्य-संबंधी मान्यताएँ मेरिडिथ से प्रभावित हैं। एकांकी नाटकों के क्षेत्र में उनके प्रयोग "पश्चिम की प्रवृत्तियों से प्रभावित होकर भी भारतीय नाट्य शास्त्र के क्रोड में पोषित हुए हैं।' (रिमझिम, १८५५, "ये मेरे छोटे नाटक" पृ० १०)। पाश्चात्य हास्य भेदों के अनुसार ही उन्होंने अपने नाटकों का वर्गीकरण किया है। (उपरि०, पृ० १२ १३) 'शिवाजी', 'ऋतुराज' आदि की भूमिकाएँ और एकांकी-कला भी पाश्चात्य प्रभाव की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

जगदीशचन्द्र माथुर का 'एमेचर' रंगमंच के सभी विषयों का अनुभव रहा है। कई नाटकों के आयोजन में वे केवल 'प्राम्पटर' रहे हैं, कुछ में निर्देशक और कुछ में अभिनेता।[1] उनके समीक्षात्मक निबंध और संस्मरण ("मैं भी खेल चुका हूँ") बड़े ही मनोरंजक और भावोत्तेजक होते हैं।[2] "कोणार्क" के परिशिष्ट १ में इन्होंने उपक्रम और उपसंहार के नये प्रयोग की ओर संकेत करते हुए कहा है कि इनमें पाठक (और दर्शक) संस्कृत नाटकों की प्रस्तावना और पाश्चात्य नाटकों के 'प्रोलाग' और 'एपिलाग' एवं "कोरस' की झलक पायेंगे।[3] माथुरजी की समीक्षा शैली अंग्रेजी से प्रभावित है

> प्रथम अंक के प्रारम्भिक अंश में पुरानी कथा का उल्लेख और बातचीत अधिक है—ऐक्शन कम।[4]
>
> अन्तिम अंश में संवाद और नाटकीय गति ('ऐक्शन') का तारतम्य

---

१ जगदीशचंद्र माथुर, ओ मेरे सपने (प्रयाग, १९५३), पृ० १७६ (परिशिष्ट-मैं भी खेल चुका हूँ)।

२ उदाहरणार्थ, दे० उपरिवत, पृ० १७६–१७७, कोणार्क (सं० २००८), परिशिष्ट, २, पृ० ८५।

३ कोणार्क (सं० २००८), परिशिष्ट १, पृ० ७९।

४ उपरिवत, पृ० ८१।

भलीभाँति तभी निबाहा जा सकता है जब अभिनेताओं को प्राम्पटर के सहारे की बिलकुल जरूरत न पड़े। यदि 'पार्ट' भलीभाँति याद न हो तो तीसरा अंक तो सफल हो ही नहीं सकता।[1]

गत दो दशकों से विद्वानों का एक महत्त्वपूर्ण वर्ग नाट्यशास्त्र पर गवेषणात्मक ग्रंथों की रचना में दत्तचित्त है। इसके अधिकांश लेखक अरस्तू और शेक्सपियर, इब्सन और शा, गाल्सवर्दी और मेरिडिथ के नाट्य सिद्धांतों से प्रभावित हैं। डा० सोमनाथ गुप्त-कृत 'हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास' (१९४८) परिचयात्मक इतिवृत्त है। इसी प्रकार शिवनाथ रचित 'हिंदी नाटकों का विकास' (१९५१) हिंदी नाट्य-साहित्य के क्रमिक विकास का संक्षिप्त वर्णन है। इसमें प्रायः हिंदी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव का भी उल्लेख हुआ है। एकांकी नाटकों की विशेषताओं का वर्णन पाश्चात्य नाट्य सिद्धांतों के आलोक में किया गया है। 'समस्या नाटक' शीर्षक अध्याय में शिवनाथ ने बर्नार्ड शा के नाटकों की कतिपय विशेषताओं का उल्लेख किया है। जान पड़ता है, यह विवेचन शेक्सपियर और शा के नाटकों के गहन अध्ययन पर आधृत है।[2] डा० बच्चन सिंह के 'हिंदी नाटक' (१९५८) में समस्या नाटकों तथा गीतिनाट्यों का विवेचन शा, निकल, मास, एलियट, यट्स आदि से प्रभावित है। उनकी भाषा शैली और आलोचना के मानदंडों पर भी पश्चिम का प्रभाव है और कहीं कहीं ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक को मूल विचार अँगरेजी में ही प्राप्त हुए थे। गीति-नाट्य का संपूर्ण विवेचन पाश्चात्य नाट्यशास्त्र से अधिक अनुकूल दिखाई पड़ता है। रघुवंश का 'नाट्यकला' (१९६१) नामक ग्रंथ ग्रनविल बार्कर, इ० के० चेम्बर्स, निकाल टी० एच० डिकिन्सन मिडल्टन डब्ल्यू० करल आदि की नाट्य-समीक्षा से प्रभावित जान पड़ता है। 'रंग विधान तथा आहार्य' शीर्षक में आरम्भ में यूरोपीय इतिहास की रूपरेखा प्रस्तुत की गई है (दे० पृ० १८५)। आधुनिक रंग विधान में प्रतिपादित सिद्धांतों के मूल स्रोत एडवर्ड गार्डन क्रेग गाल्स्न

१ कोणार्क (सं० २००८), परिशिष्ट १, पृ० ८३।

२ नाटक-संबंधी अन्यान्य आलोचनात्मक ग्रंथों में डा० रामचरण महेन्द्र रचित "हिंदी एकांकी और एकांकीकार" तथा "एकांकी उद्भव और विकास" में पश्चिम का प्रभूत प्रभाव देखा जा सकता है। दे० "हिंदी एकांकी उद्भव और विकास" की संदर्भ ग्रंथ सूची और (इस ग्रंथ की समीक्षा के लिए) डा० सिद्धनाथ कुमार, "हिंदी एकांकी की शिल्पविधि का विकास" (कानपुर, १९६६), पृ० ग–घ (प्राक्कथन)।

चेनी, हर्शल एल० श्रीवर आदि की रचनाओं और संपादित ग्रंथों में देखे जा सकते हैं। रघुवंश की यह पुस्तक, तत्त्वतः, 'समन्वयवादी' है और इसमें पाश्चात्य नाटकों एवं नाट्यसिद्धांतों का भी वैसा ही विशद विवेचन हुआ है जैसा भारतीय नाटकों एवं नाट्यसिद्धांतों का। डा० सिद्धनाथ कुमार ने अपने शोध प्रबंध 'हिंदी एकांकी की शिल्पविधि का विकास' में जहाँ एकांकियों के स्वरूप, तत्त्व और रचना विधान का वर्णन किया है वहाँ वे डा० रामकुमार वर्मा डा० दशरथ ओझा आदि से तो प्रभावित हुए ही हैं, साथ ही उन पर मार्जरी बोल्टन, डब्ल्यू० ई० विलियम्स, विलियम आर्चर आदि का भी प्रभाव पड़ा है। हिंदी एकांकियों की शिल्पविधि पर यह एक महत्त्वपूर्ण, प्रामाणिक ग्रंथ है।

(२) डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी

'नाट्यशास्त्र की भारतीय परंपरा और दशरूपक' (१९६३) की भूमिका में भारतीय वाङ्मय के मर्मज्ञ आचार्य डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने पौरस्त्य नाट्यशास्त्र की दृष्टि से रूपकों के भेदक तत्त्वों, विभिन्न रूपकों की कथावस्तु आधिकारिक और प्रासंगिक कथाओं, अर्थ प्रकृतियों आदि का गंभीर एवं पांडित्य-पूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया है। इस भूमिका के किसी भी स्थल से ऐसा ध्वनित नहीं होता कि लेखक नाट्य सिद्धांतों से प्रभावित है। इसके विपरीत 'नाटक ही श्रेष्ठ रूपक है', 'नाट्य शास्त्र और यावनी परंपरा' आदि के अनुशीलन से ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक ने पाश्चात्य नाट्यशास्त्र का भी गहन-गंभीर एवं तटस्थ अध्ययन किया है। वह पिशेल, विंडिश, सिल्वा लेवी, कीथ प्रभृति के भारतीय नाटकों की परंपरा-संबंधी मतों एवं टिप्पणियों से सर्वतोभावेन परिचित है, परंतु प्रभावित नहीं। उनकी अपनी धारणा है कि 'भारतीय नाटकों' के विकास में बाहरी प्रभाव की बात विशुद्ध अटकल पर आधारित है और नाट्य शास्त्र के विकास में तो किसी विदेशी परंपरा का नाममात्र का भी संबंध नहीं दिखाया जा सकता। नाट्य शास्त्र की परंपरा बहुत पुरानी—हजरत ईसा के जन्म से सैकड़ों वर्ष पुरानी है।[१]

(३) डा० दशरथ ओझा

डा० दशरथ ओझा-कृत 'हिंदी नाटक : उद्भव और विकास' नामक प्रबंध

---

१ हजारीप्रसाद द्विवेदी और पृथ्वीनाथ द्विवेदी, नाट्यशास्त्र की भारतीय परंपरा और दशरूपक (राजकमल, १९६३), पृ० ७४–७५।

गवेषणा के पांडित्य का परिचय तो मिलता ही है साथ ही उनके वैज्ञानिक विश्लेषण एवं विवेचन-पद्धति का भी पता होता है। उन्होंने इस ग्रंथ के द्वितीय संस्करण की भूमिका में कहा है कि 'हमारी आज की नाट्य-संबंधी धारणाएँ शेक्सपियर, इब्सन, बर्नार्ड शॉ आदि पश्चिमीय नाटककारों की रचनाओं के आधार पर बनी हैं।'[1] ग्रंथ के पहले अध्याय में आरंभ में ही ओझाजी ने पाश्चात्य कला-संबंधी दृष्टिकोण का संक्षिप्त परिचय दिया है जो अत्यंत सार-गर्भ एवं प्रामाणिक है। साहित्य और कला के विषय में उन्होंने प्लेटो से पश्चिम की इस धारणा का सूत्रपात माना है कि काव्य भी कला है। प्राचीन पौरस्त्य आचार्यों के मतानुसार जहाँ कला का उद्देश्य केवल मनोरंजन है वहाँ काव्य का ध्येय इससे कहीं उदात्त है।[2] काव्य-कला विषयक पौरस्त्य एवं पाश्चात्य मतों के पृथक्करण के अनंतर डा० ओझा ने भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के अनुसार नाटक की परिभाषा उपस्थित की है। तत्पश्चात् अरस्तू द्वारा की गई नाट्य की परिभाषा उद्धृत है। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में एतद्विषयक परिभाषा से यह मिलती-जुलती है। भरतमुनि और अरस्तू दोनों के शास्त्रानुसार नाटक-रचना का क्षेत्र अत्यंत विस्तृत प्रतीत होता है। इसमें उत्तम, मध्यम और अधम सभी श्रेणी के व्यक्तियों के कर्म का आश्रय मिलता है। यही ब्रह्मा ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया है और अरस्तू ने भी इसी पर बल दिया है।[3]

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी और डा० नगेन्द्र की तरह ओझाजी भी समन्वय-वादी हैं। लोकनाटकों के विवेचन में उनके तत्वदर्शी समीक्षक की दृष्टि पौरस्त्य नाटकों और नाट्येतिहास तक ही सीमित नहीं रहती। भारतीय विषयों का विवेचन करते समय पाश्चात्य वाङ्मय को न भुलाना—यही उनके समन्वयवाद की मूल भित्ति जान पड़ती है। चाहे वैदिकयुगीन नाटकों की चर्चा हो रही हो या उनके आन्दोलनों का अन्वेषण हो रहा हो, पाश्चात्य मनीषियों के नाम आयेंगे ही। भारतीय नाट्य के आन्दोलनों के परीक्षण में मैक्समूलर, सिलवाँ ल्ईवी, आल्डेन बर्ग, कीथ आदि के विचार प्रयुक्त हुए हैं। जननाटकों के संबंध में ग्रियर्सन साहब की खोज का उल्लेख हुआ है।[4] ओझाजी ने पाश्चात्य नाट्यशास्त्र एवं नाट्य-साहित्य-

---

१ डा० दशरथ ओझा, हिंदी नाटक : उद्भव और विकास (दिल्ली, सं० २०१८), पृ० १३, प्रस्तावना (द्वितीय संस्करण)।
२ उपरिवत, पृ० ३१।
३ उपरिवत, पृ० ३४।
४ उपरिवत, पृ० ५१।

विषयक सूचनाएँ "द कम्ब्रिज हिस्टी ऑव इगलिश लिटरेचर' (खड ४) तथा निक्ल के अगरेजी नाटयतिहासा से ली है। उन्हान स्थान-स्थल पर अपन मना एव निष्कर्षों की पुष्टि पाश्चात्य विद्वाना के भिन्न भिन्न प्रसगानुकूल कथना स की ह। उनका अनुमान है कि भारत के मूल निवासी अपन आराध्यदव की प्रतिमा का जुलूस निकालत समय जिस नत्यगीत तथा नाटय का अभिनय किया करत थ वही कालान्तर म यात्रा नाम से पुकारा जान लगा होगा।[१] इस मत की पुष्टि उन्हाने ई० पी० हॉविज के एक कथन से की है।[२] प्राचीन भारतीय नाटका से सबद्ध विभिन्न मत-मतातर जहा श्री डी० एन० विद्याभूषण डा० जयकान्त मिश्र आदि से उद्धत एव सपुष्ट है, वही डा० ओझा कीथ के भी ऋणी हैं। उन्हाने काय और नाटक के अतर को ऑलरडाइस निक्ल की "नाटयसिद्धात' की भूमिका[३] से लिए गए एक उद्धरण से स्पष्ट किया है।[४] यहा यह कह दना अप्रासागिक न होगा कि हिंदी क अधिकाश नाटयसमालोचका न निकल की पुस्तका का उपयाग किया है। इसका कारण निकल के विवचन की विशदता पूणता और उसक ग्रन्था की लोकप्रियता है। यद्यपि ये ग्रथ अप्रचलन हो चले है फिर भी अगरेज समीक्षका द्वारा वे आज भी समादत हैं।

हिंदी नाटका के उदभव और विकास म पश्चिम का योगदान विस्मत नही किया जा सकता। डा० ओझा के साक्ष्यानुसार यरोप म सस्कृत नाटका की प्रशसा दखकर ही भारतीय लखका और अध्यताओ का ध्यान पुन उनकी ओर आकृष्ट हुआ था। 'अभिज्ञानशाकुतल' के अँगरजी अनुवाद का सफल अभिनय होन और उसकी चर्चा चलने से सस्कृत नाटका क प्रति श्रद्धा बढी थी।[५]

'हिंदी नाटक उदभव और विकास म समाविष्ट व्यावहारिक समीक्षा पर पाश्चात्य प्रभाव का विश्लेषण अन्यत्र, व्यावहारिक समीक्षा पर पाश्चात्य प्रभाव' शीषक अध्याय म हुआ है।

ओझाजी के समीक्षा शास्त्र म भारतीय एव पाश्चात्य समीक्षा सिद्धाता का विवेचन हुआ है। ग्रथ के प्रथम अध्याय म ही उन्हान पाश्चात्य समीक्षका

---

१ उपरिवत, पृ० ५३।
२ उपरिवत।
३ इण्ट्राडक्शन टु ड्रमटिक थियरी।
४ हिंदी नाटक उदभव और विकास, पृ० १३८। द्रष्टव्य पृ० १८७ की पाद टिप्पणी, सख्या ४।
५ उपरिवत, पृ० १४०–१४१।

द्वारा निरूपित साहित्य और समाज के संबंध का विश्लेषण किया है। 'कुछ समीक्षा'[1] में वे अपना अभिमत बताकर कहते हैं कि सामयिक साहित्य, मुख्यतः 'प्रचारक साहित्य' है 'जिस साहित्य में देश की स्थिति-विशेष का प्रधान उद्देश्य होगा और साहित्य की सार्वभौम भावना गौण स्थान धारण करेगी, वह साहित्य तत्कालीन समाज का भले ही क्षणिक उत्तेजना प्रदान करे किन्तु स्थायी साहित्य नहीं बन सकता। समाज की स्थिति में परिवर्तन होते ही वह पुराना पड़ जाता है। और सच्चा साहित्य वह है जो कभी पुराना न पड़े।'[2] तत्पश्चात् उन्होंने साहित्य और विज्ञान-दर्शन के अन्तर को स्पष्ट करते हुए कहा है कि साहित्य का स्थान दर्शन और विज्ञान से ऊँचा है। इसका कारण यह है कि जहाँ दर्शन और विज्ञान समय की गति के अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं, वहाँ साहित्य प्रत्येक युग के लिए समान रूप से आनन्ददायक होता है और हृदय का स्पन्दन सदा एक-सा रहता है।'[3]

"समीक्षा शास्त्र" में नाटक और सामाजिक जीवन के संबंध का निरूपण प्रधानतया, पाश्चात्य नाट्य-साहित्य के आधार पर हुआ है। लेखक ने शॉ, पिनरो, आस्कर वाइल्ड, गाल्सवर्दी आदि के नाटकों की ओर इंगित करते हुए यह बताया है कि इन नाटककारों के प्रभाव से साहित्य में सामाजिक जीवन का यथार्थ चित्र अंकित करने का प्रयास हुआ है। दूसरे अध्याय ('काव्य में कवि के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति') में कवि की महत्ता का कीर्तिगान, मुख्यतः पाश्चात्य साहित्यकारों के कथनों पर ही आधृत है। इमर्सन, गेटे, दान्ते, हडसन, ऐबरक्राम्बी आदि के विचार उद्धृत किए गए हैं और यह दिखाया गया है कि कवि के व्यक्तित्व और समाज के प्रति उसके दायित्व में क्या संबंध है। हर्बर्ट रीड, टी० एस० एलियट और फ्रायड के व्यक्तित्व एवं आत्माभिव्यंजन विषयक विचारों से डा० ओझा अच्छी तरह परिचित हैं। पुस्तक के चतुर्थ अध्याय में पाश्चात्य विद्वानों द्वारा प्रस्तुत काव्य की विविध परिभाषाएँ उपस्थित की गई हैं। जानसन का मत है कि काव्य वह कला है जो श्रेय और प्रेय का गठबंधन कराती है। इस गठबंधन का साधन है कल्पना और विवेक।[4] कालरिज का मत है कि कवि बनने में दर्शनशास्त्र अत्यंत सहायक होता है। उनका कथन है कि कोई व्यक्ति तब तक शक्ति-संपन्न

---

१ डा० दशरथ ओझा, समीक्षा शास्त्र (दिल्ली, १९५५), पृ० ८।

२ उपरिवत्।

३ उपरिवत्, पृ० ९।

४ उपरिवत्, पृ० ६२।

कवि नहीं बन सकता, जब तक वह गहन दार्शनिक नहीं होता।[1] इत्यादि, इत्यादि। जिस स्थल पर उन्होंने काव्य में प्रकृति-वर्णन के महत्त्व का निरूपण किया है, वहाँ उन्होंने छायावादी कवियों के प्रकृति प्रेम का ही वर्णन नहीं किया वे इस बात से अवगत हैं कि वर्ड्सवर्थ ने भी मानव और प्रकृति में आत्मिक साम्य स्वीकार किया था।[2] काव्य में सामाजिक जीवन की व्याख्या[3] के कितने ही उद्धरण टेनिसन, ब्राउनिंग, आर्नल्ड आदि की रचनाओं से लिये गए हैं। इस प्रकार ओझाजी ने काव्य और आलोचना का वर्गीकरण पौरस्त्य एवं पाश्चात्य, दोनों दृष्टिकोणों से किया है।[4] सत्समालोचक के लिए अपेक्षित गुणों के वर्णन पर भी पाश्चात्य प्रभाव स्पष्ट है।

ओझाजी का "समीक्षा शास्त्र" विविध निबंधों का ऐसा संग्रह है जिसमें समीक्षा का स्तर अतिसामान्य और विवेचन, समासतः, सतही है। नाटकों अथवा नाट्यालोचन का प्रसंग आते ही उनका समीक्षक रूप अपेक्षया अधिक निखर उठता है। नाट्य समीक्षा में ही उनकी प्रतिभा अधिक प्रभावशाली एवं आकर्षक दीख पड़ती है। इसलिए उनकी तीसरी महत्त्वपूर्ण कृति "नाट्य-समीक्षा" है। इसमें संगृहीत 'समस्यानाटक का उत्स और रूप'[5], स्वभावतः, पश्चिम से प्रभावित है। चूँकि समस्यानाटक की विधा पाश्चात्य साहित्य की देन है, इसके विवेचन में सर्वत्र पाश्चात्य तत्त्वों का विनियोग हुआ है। "नाट्य-समीक्षा" के निबंधों का स्तर अपेक्षया अधिक ऊँचा है। इस ऊँचाई के मूल में लेखक का प्रकृत अथवा स्वागत विकास-मात्र नहीं है, इसका मूल कारण यह है कि नाट्य-समीक्षा ही लेखक का नियत निश्चित क्षेत्र है—इसमें ही वह अपेक्षित सफलता की आशा कर सकता है।

डा० नगेन्द्र (१९१५–)

हिंदी आलोचना-साहित्य में डा० नगेन्द्र का वही स्थान है जो पाश्चात्य आलोचना-साहित्य में एफ० आर० लीविस का। दोनों गंभीरचेता आचार्यों की मर्मोद्घाटनक्षम प्रतिभा अपरिमेय है और दोनों की पूर्वाग्रहों से विमुक्त तथा तत्त्वतः उदार दृष्टि में (आचार्य रामचंद्र शुक्ल के लिए प्रयुक्त डा० नगेन्द्र के ही

१ डा० दशरथ ओझा, समीक्षा शास्त्र (दिल्ली, १९५५), पृ० ६२।
२ उपरिवत्, पृ० ७१।
३ उपरिवत्, पृ० ७२।
४ उपरिवत्, पृ० ७७ और २०९।
५ डा० दशरथ ओझा, नाट्य-समीक्षा (दिल्ली, १९५९), पृ० १०९–१२२।

ज (पृ॰ १६) अनुभव तत्त्वों तथा अनुभव की तन्मयता और अभिव्यक्ति के अनुरूप होता है।[1] जिस प्रकार टी॰ एस॰ इलियट ने मानववादी रुचि के शेक्सपियरवाद और स्वच्छन्दतावादी रुचि के मध्यकालीनवाद, रूसो की मान्यताओं का खण्डन करते हुए मुक्त विवेचन किया है उसी प्रकार स्वच्छन्द आवेग में नैतिकता के ह्रास के वैशिष्ट्य एवं संतुलन का सांस्कृतिक प्रतिपादन किया है। प्रत्येक विचार के आलोचना-पद्धतियों के समन्वय एवं सम्पृक्ति के रूप में ही नगेन्द्र की सार्वभौमिकता अन्तर्दर्शी प्रतिभा विशेषतया तथा अनुभव का उचित स्थापन देखा जा सकता है। इलियट का स्वच्छन्दतावाद विरोधी अभिजात्यवादी है किन्तु वर्तमान युग में आचार्य शुक्ल के अनुभव योगियों से सर्वथा पृथक तथा समय स्वच्छन्दतावाद एवं प्रगतिशील होने के कारण डा॰ नगेन्द्र सम्पूर्ण स्वच्छन्दतावादी हैं। 'साहित्य का प्रयोजन'[1] में उन्होंने स्वच्छन्दतावादी आधार को अपना प्रकृत आधार मानकर व्याख्या की है। उनके अनुसार पश्चिम में क्लासिसिज्म और रोमांटिसिज्म में साहित्य की श्रेष्ठ प्रवृत्ति निरन्तर चलती रहती है।[3] आधार की यह पद्धति डा॰ नगेन्द्र की समन्वयवादी प्रगतिशील पद्धति है। इनका पाण्डित्य तथा पौरस्त्य सिद्धान्तों के विवेचन का विचार निरन्तर रसगत एवं व्यापक होता है। डा॰ नगेन्द्र पाश्चात्य काव्यशास्त्र से प्रभावित हैं तभी तो (और साथ ही पाठक वर्ग को हिन्दी-वाङ्मय में सम्पादित आलोचनात्मक सिद्धान्तों और मानदण्डों से परिचित कराने के निमित्त) वे केवल भारतीय पक्ष के विवेचन से ही सन्तुष्ट न होकर पाश्चात्य समीक्षा सिद्धान्तों का भी विद्वत्तापूर्ण विवेचन प्रस्तुत करते हैं। जिस प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति ने कभी अंग्रेजी भाषा-साहित्य का अध्ययन अध्यापन किया वह पाश्चात्य समीक्षाशास्त्र के सभी अंगों और उपांगों से परिचित तो होगा ही अन्य समीक्षाशास्त्रों के विवेचन-क्रम में भी वह अपने सम्पन्न साहित्य ज्ञान का समुचित उपयोग करेगा। डा॰ नगेन्द्र का 'गहन रहस्यदर्शी मस्तिष्क' भारतीय समीक्षागत विषयों तक ही अपने को सीमित रखकर एकांगी विवेचन प्रस्तुत नहीं करता। इस समीक्षक की सुयोजित एवं संश्लिष्ट संवेदनशीलता टॉमस ब्राउन और जॉन डन की संगठित एवं संबद्ध संवेदनशीलता के अनुरूप है। वह एक साथ ही भिन्न भिन्न प्रदेशों में रहने तथा भिन्न भिन्न अनुभूतियों को इस प्रकार व्यवस्थित एवं समीकृत करने में समर्थ है कि मूल अनुभूति में उनका पूर्ण

१ विचार और अनुभूति (दिल्ली, प्र॰ सं॰ २०), पृ॰ ९४।
२ उपरिवत, पृ॰ ३–१०।
३ उपरिवत, पृ॰ ६।

विलयन हो जाता है और वे एक नयी अनुभूति का स्वरूप लेकर आविर्भूत होती हैं।

"विचार और अनुभूति' के उक्त निबंध में ही श्वनजटाश्मश्रु आचार्य रसविमुग्ध जिज्ञासु सुंदरी की आँखों में प्रश्नवाचक संकेत देखकर "अपना मन्तव्य' व्यक्त करते हुए कहते हैं ' मैं जीवन का अहं का जगत् से या आत्म का अनात्म से संघर्ष मानता हूँ। साहित्य इसी संघर्ष के मानस-रूप की अभिव्यक्ति है।[1] आचार्य के इस मन्तव्य पर फ्रायड, ऐडलर एवं रिचर्ड्स का प्रभाव दीखता है। आई० ए० रिचर्ड्स के अनुसार कला मुख्यतः रागात्मक अभिव्यक्ति (इमोटिव) है।[2] फ्रॉयड के मतानुसार कला में कलाकार की दमित वासनाओं और अचेतन मन की अभिव्यक्ति होती है। डा० नगेन्द्र यह भी स्वीकार करते हैं कि "आत्म के निर्माण में काम-वृत्ति का और उसकी प्रतिक्रियों का योग है इसलिए इस प्रेरणा में उनका विशेष महत्त्व मानना भी अनिवार्य समझता हूँ।' स्पष्ट है कि यह मत फ्रायड के उस सिद्धांत पर आधृत है जिसके

---

१ उपरिवत्, पृ० ९। तुलना कीजिए (१) The work of art is therefore the product of psychic forces which are in opposition to each other such as desire and inner prohibition It represents a reconciliation between these conflicting forces and has therefore the character of compromise The fundamental dynamic force at the root of a work of art is an unfulfilled wish of the artist Richard Sterba The Problem of Art in Freud s Writing *Problems in Aesthetic* (New York 1959) P 629 (२) 'During the 1920 s he, (Freud) developed what he called the structural approach— an analysis of the process whereby the ego (mainly rational) and the superego (mainly moral) are crystallized out of it (primitive instinctual) Ruth L Munroe 'School of Psychoanalytic Thought (1955), p 32

२ "ऑन द वन हैण्ड, वो हव राइटस सच ऐज आई० ए० रिचर्ड्स, हू इन्सिस्ट दट आर्ट इज प्राइमरली इमोटिव " मेल्विन रेडर, अ माडर्न बुक आव इस्थेटिक्स (न्यूयार्क, १९६२), पृ० २६ (भूमिका)।

अनुसार [illegible] था। [illegible] वर्ष में इसके [illegible] भिन्न-भावना का मूल [illegible] है।[1] डा० नगेन्द्र के अनुसार [illegible] की अभिव्यक्ति [illegible] स्वच्छन्दता होती है [illegible] है। [illegible] कल्पना को छूकर [illegible] की पूर्ति करता है।[2]

इसी प्रकार [illegible] के मूल में [illegible], व्यक्तित्व की प्रेरणा मानता हूँ, सामाजिक मर्यादाओं और नैतिक की [illegible] रखनेवाली दृष्टि का ही [illegible] किया जा सकता है। उन्नीसवीं शती के यूरोपीय साहित्यकारों में यह भावना स्पष्ट झलकती है उसी की [illegible] भावों का स्वच्छ और [illegible] प्रकाशन का माध्यम है। विलियम ब्लेक [illegible] शेली आदि की कृतियों में इस भावना का मूल [illegible] हुआ है। अठारहवीं शता का शास्त्रवाद कला में भावना के सहज उद्गार का परित्याग करता था। उसके लिए भावावेश का [illegible] औचित्य का अतिक्रमण था। उसके अनुसार भावावेश शास्त्रविष्ठ [illegible] में [illegible] है जब कि [illegible] यही कला विशेष [illegible] की जिसमें सभी गुणविधान [illegible] सामान्य कार्य-भाव का प्रतिबिम्बित रहता है। इतना ही नहीं शास्त्रवादी [illegible] उन्हीं विषयों पर लिखने की अनुमति देता था जो उचित, शास्त्रानुसार तथा प्राचीन यूनानी रोमीय साहित्य द्वारा समर्थित थे। इसी [illegible] के अनुसार [illegible]-नुरंजन नहीं हो सकती। इसलिए यह अठारहवीं शती के कवियों के संबंध में लिखता है

> दे स्वेट मयाउन्ट पर्नासस [illegible]
> एण्ड [illegible] ।

स्लीप एण्ड पोयट्री

रोमांटिक कवियों ने कला में स्वच्छ स्फूर्तिमय ओजस्विता के पुनर्निवेश के लिए सफल प्रयास किया। इस कारण उनकी कृतियाँ शास्त्रवादियों की रचनाओं की अपेक्षा अधिक भावदीप्त एवं ओजपूर्ण हैं। रोमांटिक काव्यशास्त्र में कलाकृति को कलाकार के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति कहा गया है—जीवन व्यक्तिवाद रोमांटिक कला का मूलभूत सिद्धान्त है। गेटे ने कहा है कि कला और कविता में

---

1. "द सेक्सुअल इन्सटिंक्टस, दस ऑडली डिफाइण्ड, आर मेर स्प्रिंग्स ऑव ऐक्शन" एफ एल मनरो, उल्ल० ग्र०, पृ० ७६।
2. विचार और अनुभूति, पृ० ८

व्यक्तित्व ही सब कुछ है ("इन आर्ट एण्ड पोयट्री, पर्सनलिटी इज एवरीथिंग")। (द० जार्ज सेण्ट्सबरी, अ हिस्ट्री ऑव क्रिटिसिज्म, १८२३, तृतीय भाग, पृ० ३००) कलाकार अपने आवेगों और भावों को निर्बाध रूप से अभिव्यक्त कर सकता है, चाहे वे आवेग और भाव कितना ही अपारंपरीण और क्रान्तिकारी क्यों न हों। इससे ही कलाकारों के जीवन में हमारी रुचि का उन्मेष होता है और इसी कारण हम बायरन के प्रेम और बेटहोवन के क्रोध की कहानियाँ पढ़ते-सुनते हैं। सन् १८७८ ई० में यूजीन वेरॉ ने लिखा कि समस्त सौंदर्यशास्त्र का एक अद्भुत और सबल-सम्पुष्ट पृष्ठाधार कृति के ऊपर उसके रचयिता के व्यक्तित्व का प्रभाव है।[1] वेरॉ के मतानुसार किसी घटना या वस्तु द्वारा प्रोद्दीप्त कलाकार की प्रतिक्रियाओं का अभिलेख ही कलाकृति है।[2] इसी प्रकार टाल्स्टॉय और क्रोचे भी कला को हृद्गत उद्गारों की अभिव्यक्ति मानते हैं। अंतर इतना ही है कि टॉल्स्टाय कला को आवेगों की अभिव्यक्ति-मात्र न मानकर उसे आवेगों का सम्प्रेषण भी मानते हैं। कला श्रोताओं और दर्शकों तक जब तक अपने अंतर्भूत आवेगों का सम्प्रेषण नहीं कर लेती तब तक उसके लक्ष्य की सिद्धि नहीं होती।

डॉ० नगेन्द्र का स्वच्छन्दतावाद 'व्यक्तित्व' के यशःस्थापन (ग्लोरिफिकेशन) में भी निर्दिष्ट दीखता है :

१—कोई रचना रसवती तभी हो सकती है जब रचयिता उसमें अपने व्यक्तित्व को पूर्णतः अनूदित कर दे। अपने व्यक्तित्व का अनुवाद ही रचयिता के लिए सबसे बड़ा आनंद है। 'साहित्य और समीक्षा' "विचार और अनुभूति", प०१४।

२—दिनकर का व्यक्तित्व इन दोनों की अपेक्षा अधिक शक्तिमान है। दिनकर के व्यक्तित्व की सफलतम उद्भूतियाँ हैं 'हुंकार' और "रसवन्ती" की विशिष्ट कविताएँ। 'यौवन के द्वार पर", उपरिवत्, पृ० ७८।

३—अपने को पूर्णता के साथ अभिव्यक्त करना—चाहे वह कर्म द्वारा हो अथवा वाणी द्वारा या किसी भी अन्य उपकरण

१ (The) influence of man's personality upon his work is the unique and solid basis of all aesthetics Eugene Veron *Aesthetics* trans Armstrong (London 1879), p 104 n I, cf also p 139

२ उपरिवत्, प० ७३, १०६।

के द्वारा हो, व्यक्तित्व की सबसे बड़ी सफलता है।

'साहित्य में आत्माभिव्यक्ति', विचार और विवेचन पृ०५४।

४—महान् व्यक्तित्व के अभाव में चाहे कृति महान् साहित्य नहीं हो सकती, पर विकृत अभिव्यक्ति के प्रसार में तो वह साहित्य ही नहीं रहती, केवल व्यक्तित्व की महत्ता उस साहित्य को गौरव नहीं दे सकती।

उपरिवत् पृ० ५८।

५—साधारण दस्तकारी में भी जहाँ रचना प्रक्रिया सर्वथा यान्त्रिक है, रचयिता के व्यक्तित्व का स्पर्श बचाया नहीं जा सकता—फिर कला जहाँ संपूर्ण प्रक्रिया ही मानसिक है, व्यक्ति-तत्त्व से अस्पष्ट कैसे रह सकती है?

"टी० एस० इलियट का काव्यगत अव्यक्तिवाद, उपरि०, पृ० ६७।

६— मैं यह मानता हूँ कि प्रत्येक साहित्यिक कृति का संबंध कृतिकार के व्यक्तित्व से है।

मेरी साहित्यिक मान्यताएँ—१, आलोचक की आस्था, पृ० २।

७—आलोचना भी मूलतः आत्माभिव्यक्ति ही है—यहाँ भी आलोचक कला-कृति के विवेचन विश्लेषण के माध्यम से आत्मलाभ करता है।

मेरी साहित्यिक मान्यताएँ—३ उपरिवत पृ० १८

८—आत्माभिव्यक्ति का अर्थ है सर्जनशील कलाकार के व्यक्तित्व की पूर्ण अभिव्यक्ति—और सर्जना के क्षणों में कलाकार का व्यक्तित्व समर्जित हो जाता है यह कला एवं सर्जना दोनों का अनिवार्य नियम है।

साहित्य का स्तर उपरि० पृ० २६ २७।

विवेच्य आचार्य के कथनानुसार साहित्य साधारण व्यक्तित्व की साधारण अभिव्यक्ति न होकर विशेष व्यक्तित्व की विशिष्ट अभिव्यक्ति है।[1] वेरों के सिद्धान्तों का विश्लेषण करते हुए जेरम स्टालनिज ने कहा है कि वेरों के अनुसार कला-कृति की विशेषता और महत्ता उस विशिष्ट व्यक्तित्व में निहित होती है जो

१ विचार और अनुभूति, पृ० १०।

कलाकृति म ग्रभिव्यजित होता है।[१] स्पष्टत डॉ० नगेन्द्र और उक्त सौंदयशास्त्र-विद् पाश्चात्य ग्राचाय के मता मे साम्य है। इसका कारण यह है कि दोनो साहित्य को रागात्मक ग्रात्माभिव्यक्ति मानत है और दोना की साहित्य विषयक मान्यताएँ मूलत रोमांटिक हैं। 'मेरी साहित्यिक मान्यताएँ-१" मे ग्राचाय नगेन्द्र उन ग्रनेक "कला ममना" को सकेतित करते हैं जो काव्यगत ग्रव्यक्तिवाद का समथन-पोषण करते हैं। इन ग्रनव कलाममना मे एलियट का स्थान मूधन्य है और यहा सकेत भी उसी की ग्रोर है। उसके "परपरा ग्रौर वैयक्तिक प्रतिभा' (ट्रेडिशन एण्ड दि इण्डिविडुग्रल टलेण्ट) शीषक निबध के दूसरे खड के ग्रतम दो वाक्य इस सदम म विचारणीय हैं 'कविता ग्रावेगा का सहज उच्छलन नही हैं उनसे पलायन है कविता व्यक्तित्व की ग्रभिव्यक्ति नही, प्रत्युत व्यक्तित्व से मुक्ति है। फिर भी यह सत्य है कि जिनके पास व्यक्तित्व ग्रौर ग्रावेग हैं वे ही यह समझ सकते हैं कि इनसे पलायन चाहना क्या होता है।'[२] डॉ० नगेन्द्र द्वारा प्रयुक्त "वमन", मोचन, उदगार" ग्रादि शब्द एलियट के 'टर्निग लूस" के लिए व्यवहृत

---

१ He (Veron) does hold however that what is most important and valuable about the work is the distinctive personality which it reveals 'It is the manifestation of the faculties and qualities (the artist) possesses which attracts and fascinates us ' These 'faculties and qualities are of two kinds first the distinctive emotional and intellectual make up of the artist noted above and second, the skill with which he has expressed himself in the work, or as Veron puts it ' the power with which he depicts his impression

जेरम स्टॉलनिज, इस्थेटिक्स एण्ड फिलॉसफी ऑव आर्ट क्रिटिसिज्म (बोस्टन, १९६०), पृ० १६२।

२ 'Poetry is not a turning loose of emotion but an escape from emotion it is not the expression of personality, but an escape from personality But, of course only those who have personality and emotions know what it means to want to escape from these things T S Eliot, *The Sacred Wood* (London, 1957), p 58

हुए हैं। उन्होंने एलियट के "एस्केप फ्रॉम इमोशन" के लिए 'भाव से पलायन' तथा 'एस्केप फ्रॉम पर्सनालिटी' के लिए 'मनुष्य का विसर्जन' का प्रयोग किया है।[1] इस स्थल पर बड़े ही मार्मिक ढंग से शास्त्रनिष्णात रहस्यदर्शी आचार्य ने एलियट के विचारों के साथ अपने इस व्यक्तिवादी आधारभूत सिद्धांत का सामंजस्य स्थापित किया है

> अभिव्यक्ति सिद्धांत का इस स्थापना से कोई विरोध नहीं है, उसके अनुसार भी व्यक्तिगत राग द्वेष का उद्गार कविता नहीं है। अभिव्यक्ति अर्थात् कला-सृजन की प्रक्रिया में पड़कर व्यक्तिगत भाव भी स्व पर की सीमाओं से मुक्त होकर व्यापक चेतना—शास्त्रीय शब्दावली में, निर्विघ्न प्रतीति—का विषय बन जाता है। अतः कविता भाव का वमन नहीं है यह तो मैं भी मानता हूँ किंतु यह मान्यता आत्माभिव्यक्ति के सिद्धांत के विरुद्ध नहीं है, क्योंकि अभिव्यक्ति वमन नहीं है।[2]

डॉ० नगेन्द्र का समन्वयवाद सतहपरक एवं बहिरंग न होकर तलस्पर्शी और अंतरंग है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल और आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी की समन्वयवादिता प्राच्य प्रतीच्य को एक साथ विवेचित करने में है उनके पूर्ण एकीकरण एवं सामंजस्य प्रदर्शन में नहीं। डॉ० नगेन्द्र की प्रतिभा कोलरिज की प्रतिभा के समान है। कोलरिज के संबंध में कहा जाता है कि दो सीमाओं पर अवस्थित भिन्न भिन्न वस्तुओं के अंतर्भेदन में ही वह अस्तित्व की सार्थकता और इसका अंतरतम प्रक्रिया का साक्षात्कार करता था। उसके अनुसार, सूक्ष्म रूप से दो चरम सीमाओं पर संस्थित ऐसे विरोधी तत्वों के परस्पर संघर्ष का नाम ही जीवन है जिसमें एक अनेक में तथा अनेक एक में परिवर्तित होता रहता है।[3] डॉ० नगेन्द्र भी किसी समस्या की परीक्षा उसी तक अपने को निबद्ध रखकर नहीं करते व उसे प्रशस्त भूमिका पर व्यवस्थापित कर उसका सर्वांगीण विवेचन

---

१ आलोचक की आस्था (दिल्ली, १९६६), पृ० ३।

२ उपरिवत।

३ द्रष्टव्य and all opposition is a tendency to reunion The identity of thesis and antithesis is the substance of all being It is the object of mechanical, atomistic philosophy to confound synthesis with synartesis Basil Willey *Nineteenth Century Studies* (London 1961) p 20

इस सिद्धान्त का बुद्धिवाद के साथ उतना विरोध नहीं है जितना कि प्रायः कहा या समझा जाता है।[1]

७—इस सिद्धान्त का कलावादी मूल्यों के साथ पूर्ण सामंजस्य है।[2]

८—रूपवाद में भी रसवाद का योग है।[3]

९—स्वच्छन्दतावादी दृष्टि में प्रभाववाद और रसवाद के परिणाम है।[4]

डॉ० नगेन्द्र के अनुसार कला के क्षेत्र में स्वच्छन्दतावाद की अपनी परिभाषा यही है— वह बहिरंग अनुपात को कला का धर्म उतना नहीं समझता है सामंजस्य का उसके लिए अत्यन्त गंभीर और आध्यात्मिक अर्थ है। सामंजस्य उसके लिए बहिरंग तथा दैहिक धर्म न होकर कवि की चेतना का धर्म ही रहा है— वह सामंजस्य मूलतः कवि की चेतना में संपन्न होकर शब्द-अर्थ में अनायास ही घटित हो जाता है।[5] सामंजस्य स्थापित करने की रोमांटिक प्रवृत्ति का एक उत्तम उदाहरण जर्मन कवि नोवालिस का Heinrich von Ofterdingen नामक उपन्यास है जिसमें, कवि के ही शब्दों में, स्वप्नलोक यथार्थ जगत् की तरह दृश्यमान और वस्तुजगत् स्वप्नलोक की तरह निरूपित होता है।[6] वस्तुतः

---

१ उपरिवत, पृ० ३४८–३४९।

२ उपरिवत, पृ० ३५१।

३ उपरिवत, पृ० ३३५।

४ उपरिवत, पृ० ३४०।

५ उपरिवत पृ० ३३१। जर्मन साहित्येतिहास में अर्नस्ट रोज ने रोमांटिक प्रवृत्ति की विशेषताओं का वर्णन इन शब्दों में किया है The romantic mood can be described as ceaseless longing *seeking and aiming for harmony* without the possibility of ever attaining it permanently Only for brief moments were the contradictions of life overcome and *these moments were the moments of artistic creation* Only in the imaginative world of poetry could the romanticists forget themselves and experience that fullness of life which the classicists could still find in practical activity

अर्नस्ट रोज, अ हिस्ट्री ऑव जर्मन लिटरेचर (लंदन, १९६१), पृ० २१०।

६ उपरिवत, पृ० २१४–२१५।

और यथार्थ का ऐसा ही अपूर्व संयोग Heinrich von Kleist की कृतियों में विशेषतः Der zerbrochene Krug तथा Penthesilea में, पाया जाता है। सामंजस्य में विश्वास रखनेवाले साहित्यकार का दृष्टिकोण अत्यंत नमनशील एवं उदार होता है। डॉ० नगेन्द्र ने रसवाद की व्याख्या ऐसे ही महत् उदार दृष्टिकोण से की है। उन्होंने रस सिद्धांत को किसी संकुचित सीमित अर्थ में प्रयुक्त न कर उसे व्यापकता और नमनशीलता प्रदान की है, इसके लिए भिन्न भिन्न शब्दों (यथा, रागतत्त्व, रस, भावना आदि विषयक धारणा, रसानुभूति, रागात्मकता, मानवीय अनुभूति, रागबंध इत्यादि-इत्यादि) का प्रयोग किया है, जो लेखक की उक्त नम्यता का द्योतक है। प्रधानतः स्वच्छंदतावादी होने के कारण डॉ० नगेन्द्र मानव-स्वभाव और मानव विकास की ऐतिहासिक प्रक्रिया और व्यक्ति के विकास के मूल में सांघटिक एकता देखते हैं।[1] साहित्य के क्षेत्र में इस एकता की अभिव्यक्ति विश्वजनीन रसवादी

---

१ द्रष्टव्य One of the qualities that marks the romantic from the classical attitude derives from this difference in the feeling for time Classicism had developed the spatial sense and conceived even literature in terms of the plastic arts it saw the past as an accreting cumulation of independent events and states which were complete in themselves and could be laid as it were side by side, fixed in a uniform medium for the curious to survey of value chiefly as providing precedents for present or future claims of interest only as a lesson to guide future action to point a moral or adorn a tale The Romantics, on the other hand, saw significance rather in the creative temper that went to the forming of one state out of another They tended to look on human nature and human development in terms of the organic unity underlying the process of history the growth of the individual, and the constantly self adjusting equilibrium that determines the pattern of behaviour of men in groups A A Mendilow *Time and the Novel* (London, 1952), p 4

सिद्धान्त में हुई है। जिस की परिणति कार्ल डिके प्रवृत्तियों रसवादी है क्योंकि मार्क्सवाद ... है। इसी व्यावहारिक भूमि पर डॉ० नगेन्द्र का रसवाद अवस्थित है। साथ ही ... गंभीर अध्ययन किया और आधुनिक मनोविज्ञान में रस की व्याख्या की है और इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि इस युग के सर्वाधिक प्रामाणिक[1] आलोचक आई० ए० रिचर्ड्स के ... सिद्धान्त तथा आधुनिक मनोविज्ञान से डॉ० नगेन्द्र का गहरा प्रभाव परिलक्षित है।

रस सिद्धान्त के अन्तिम अध्याय में लेखक ने रस सिद्धान्त का नवीन और सीमाओं के विचारपूर्ण विवरण-क्रम में रागतत्व और बुद्धितत्व में सामंजस्य स्थापित किया है और कहा है कि रागतत्व नयी कविता में भी वर्तमान है। यूरप में भिन्न भिन्न अधुनातन साहित्यिक विचारों और वादों में भी इसी कारण रस सिद्धान्त का विरोध नहीं है। फ्रांस का यह कलात्मक-साहित्यिक आन्दोलन जिसे le mouvement Dada कहते हैं, बुद्धि-तत्त्व के विरुद्ध कवि की रागात्मक वृत्ति का ही विद्रोह था। इसके समर्थकों में परवर्ती विचारधारा के जो वासना-जन्य प्रचंड विरोधियों में यह धारणा मिलती है कि विपरीत गुणविशिष्ट पदार्थों में भी मौलिक एकरूपता होती है और यह कि यथार्थ यथार्थता वास्तव अनुभूतियों से परे है। यहाँ तक कि बुद्धितत्त्व और विश्लेषण के माध्यम से हम उसे ग्रहण नहीं कर सकते। उसका ज्ञान सहजानुभूति से अथवा सपनों में होता है। इसलिए हमारा लक्ष्य स्वतः प्रेरित अचेतनावस्था की प्राप्ति होनी चाहिए और इसके लिए यह अत्यावश्यक है कि हम शब्दकोशों में प्रचलित जीवन वास्तव के प्रचलित अर्थ को भूलकर इस पर एक भिन्न अर्थ आरोपित करें। उक्त दल के सदस्य इस नये अर्थ को 'ऐंती-पोयतिक रेजा' (l anti poetique raison) कहते हैं। शनै शनै दादावाद (der Dadaismus) की ताजगी जाती रही और यह एक नये आंदोलन में, अतिवस्तुवाद (der Surrealismus) में, समाहित हो गया। इस नये वाद पर फ्रायड के अवचेतनावाद का प्रभूत प्रभाव है किंतु साथ ही इसका मूल दर्शन नितान्त निषेधात्मक है। इसकी व्युत्पत्ति इस धारणा से हुई है कि मनुष्य एक ऐसे संसार में निकाल बाहर किया गया है (Geworfensein) जिस पर वह बुरी तरह निर्भर है और यदि वह इस निष्कासन से उद्भूत क्षोभ की कलात्मक अभिव्यक्ति चाहता है तो वह ऐसा

---

१ रस सिद्धांत, पृ० ३२२।

इसवर ही धर सकना है।[1] वुद्धितत्त्व के विरुद्ध इन आंदोलनों का मूलोद्देश्य रागतत्त्व की पुनर्स्थापना है। अत रस सिद्धात का इन नये वादों से कोई विरोध नहीं हो सकता।

डॉ० नगेन्द्र इस बात से पूर्णतया अवगत हैं कि पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय परंपरा अत्यंत वरिष्ठ और गौरवमयी रही है तथा उसे दर्शन, मनोविज्ञान आदि का सबल प्राप्त रहा है। इसलिए ऐसे काव्यशास्त्र की उपेक्षा हमारे साहित्य-मनीषी नहीं कर सकते। परिस्थितिवश वर्तमान साहित्य-जगत् में पाश्चात्य आलोचना के मान प्रतिमान इस प्रकार रम गए हैं कि हमारे समीक्षक उन्हीं के माध्यम से चिंतन और मूल्यांकन करने लगे हैं।[2] उनके इस प्रयास से एक नये अभिनव काव्यशास्त्र का आविर्भाव हो चुका है। हिंदी में डॉ० नगेन्द्र के मतानुसार "इस प्रवृत्ति के सबसे समर्थ उन्नायक आचार्य शुक्ल थे जिन्होंने अत्यंत आत्म विश्वास के साथ एक ओर वर्धमान ज्ञान का उपयोग करते हुए प्राचीन सिद्धांतों को व्यापक आधार प्रदान किया है और दूसरी ओर पाश्चात्य वादों एवं मतों की कुज्झटिका में न दिग्भ्रांत होकर, केवल ऐसे ही प्रकाश कणों का ग्रहण किया जिनके पीछे विवेक का दृढ़ आधार था और जो भारत की मूलवर्ती चिंताधारा के अनुकूल थे।"[3] डॉ० नगेन्द्र शुक्लजी द्वारा उद्घाटित परंपरा में परिगणित होंगे। शुक्लजी के बाद इस प्रवृत्ति के सबसे समर्थ उन्नायक वे ही हैं।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र के प्रति डॉ० नगेन्द्र के आकर्षण का एक और कारण रहा है। चूंकि वे रसवाद के अधुनातन समर्थकों में अग्रणी हैं, उन्हें उन सभी सिद्धांतों में स्वाभाविक रुचि है जो उनके रसवाद के अनुकूल हैं। पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र में भी, संयोगवश, कल्पना और अनुभूति के तत्त्वों का ही प्राधान्य रहा है। वहाँ के साहित्य सर्जक और साहित्य चिंतक अनुभूति के कल्पनात्मक आस्वाद को ही साहित्य का प्राणतत्त्व मानने को बाध्य रहे हैं।[4]

तीसरी बात यह है कि डॉ० नगेन्द्र रस को —काव्यास्वाद को— आनंदस्वरूप मानते हैं। पश्चिम में प्राचीन आचार्यों का बहुमत इसी पक्ष में रहा है कि रस आनंदस्वरूप है। इस संदर्भ में यह ध्यातव्य है कि डॉ० नगेन्द्र भारतीय काव्य

---

१ Jethro Bithell *Modern German Literature* (1880-1950), London, 1959, pp 448 et seq

२ रस सिद्धांत, पृ० ७३।

३ उपरिवत, पृ० ७३।

४ उपरिवत, पृ० ७४।

चितकों के मतों को उद्धृत करने के अनंतर पाश्चात्य साहित्य-मनीषियों की रस-विषयक मान्यताओं का सविस्तार विवरण प्रस्तुत करते हैं।[1] इसी प्रकार जहाँ वे आनंद के स्वरूप का विवेचन प्रस्तुत करते हैं, वहाँ भी उनकी पद्धति स्पष्ट रही है 'भारत के सभी प्राचीन तथा अनेक आधुनिक आचार्य और उधर पश्चिम के भी अनेक मनीषी रस को एक प्रकार का अलौकिक आनंद या अनुभव मानते हैं। प्राचीन आचार्यों ने रस की अलौकिकता की सिद्धि अत्यंत आग्रहपूर्वक और प्रबल तर्कों के आधार पर की है।'[2] वर्तमान मनोविज्ञान की सहायता से ही वे अपने कतिपय सिद्धांतों की पुष्टि करने में सफल हुए हैं। रस के स्वरूप का विवेचन करते हुए उन्होंने पाँच विकल्पों की परीक्षा की है। दूसरा विकल्प यह है कि रस सुखात्मक भी है और दुखात्मक भी। इसके सूक्ष्म विश्लेषण-परीक्षण के पश्चात् वे मनोविज्ञान का सहारा लेते हैं और तीसरे तथा पाँचवें विकल्प की समीक्षा में मनोवैज्ञानिक स्थापनाओं की ओर संकेत करते हैं। रिचर्ड्स के काव्यास्वाद-विषयक निर्णयों का उल्लेख कर डॉ० नगेन्द्र अपने मत की पुष्टि करते हैं।

किंतु जैसा कि पहले निवेदन किया गया है डा० नगेन्द्र का काव्य-दर्शन स्वच्छन्दतावादी मनोदृष्टि से ही उद्भूत हुआ है। अतः उसमें विधान की स्वीकृति अत्यल्प है। यदि डॉ० नगेन्द्र पर रिचर्ड्स का प्रभाव है तो इसका यह अर्थ नहीं कि वे अवसर पाकर भी रिचर्ड्स का विरोध नहीं करते, नहीं कर सकते। उदाहरण के लिए "रस सिद्धांत" में रस के स्वरूप का विवेचन द्रष्टव्य है। इसमें कई स्थलों पर रिचर्ड्स के निष्कर्षों का उल्लेख है, परन्तु साथ ही एक स्थल पर यह भी लिखा मिलता है कि "अपनी मान्यताओं के पूर्वग्रह के कारण दोनों (रिचर्ड्स और शुक्लजी) न केवल आनंद शब्द को बचाते ही गये हैं वरन् उसका निषेध भी करते रहे हैं।[3] स्वच्छंदतावाद सत्ताधिकार (आथोरिटी) का समर्थन नहीं करता। आलोचना के क्षेत्र में वह प्राचीन अभिजात लेखकों का अपना आदर्श नहीं मानता और न अरस्तू द्वारा उद्भावित मान्यताओं को समर्थित करता है। डा० नगेन्द्र के लिए शुक्लजी आधुनिक हिंदी-समीक्षा के मेरुदण्ड भले ही हों, पर उनके निर्णय निष्कर्ष प्रत्येक स्थल पर मान्य नहीं हो सकते। डा० नगेन्द्र के ग्रन्थों में शुक्लजी के प्रति अपार श्रद्धा का प्रकाशन तो हुआ ही है साथ ही शुक्लजी के कतिपय सिद्धांतों का जैसा सशक्त एवं विश्वासप्रद खंडन डा०

१ उपरिवत्, पृ० १०३–१०५।
२ उपरिवत्, पृ० १११।
३ उपरिवत्, पृ० १०९।

नगेन्द्र ने किया है, वैसा कीर्तिलब्ध आधुनिक समीक्षकों में अन्य किसी ने नहीं किया।[1]

जहाँ विश्व के वरेण्य समीक्षकों से डॉ० नगेन्द्र को सहायता नहीं मिलती, जहाँ उनके विचार डॉ० नगेन्द्र को ग्राह्य नहीं दीखते अथवा जहाँ डॉ० नगेन्द्र के आधारभूत सिद्धांतों से उनके विचारों का सामंजस्य नहीं होता वहाँ वे प्रत्यक्ष अनुभव[2] 'सामान्य अनुभव'[3] और 'लोकानुभव'[4] से प्रमाण एकत्र करते हैं, प्रचलित मतों के विरुद्ध 'व्यावहारिक शंकाएं' उठाते हैं और अंततः यह प्रमाणित करते हैं कि रस की अनुभूति प्रीतिकर ही है—वह आनंदमयी चेतना ही है विवाद शाब्दिक है तात्त्विक नहीं। उनका विवेचन कहीं भी पल्लवग्राही नहीं है। इस दृष्टि से वह रिचर्ड्स की समीक्षा की तरह अतलस्पर्शी एवं अत्यंत विद्वत्तापूर्ण है। सर्वत्र सटीक उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं, विश्व वाङ्मय का आलोडित कर उससे पर्याप्त तथ्यों का चयन किया गया है। विवेचनक्रम में नये-नये साहित्यिक रहस्यों का उद्घाटन होता है, नयी-नयी समस्याओं की ओर संकेत और नव्यालोक में उनका समाधान होता है। इसी क्रम में शुक्लजी के इस कथन पर कि "रस-दशा हृदय की मुक्तावस्था का नाम है" डॉ० नगेन्द्र ने हमें बताया है कि शुक्लजी की यह स्थापना अरस्तू के विरेचन सिद्धांत से प्रभावित है।

डॉ० नगेन्द्र के अनुसार 'काव्य का सीधा संबंध "जीवन की आन्तरिक प्रवृत्तियों"[5] से है। मार्क्सवाद (प्रगतिवाद) जीवन की भौतिक अवस्थाओं और परिस्थितियों पर, आर्थिक समस्याओं और तदुद्भूत सामाजिक प्रतिक्रियाओं पर अधिक क्या अपना संपूर्ण बल देता है। डॉ० नगेन्द्र का विवेचन मनोवैज्ञानिक तो है ही इसमें बौद्धिक आध्यात्मिक एवं रागात्मक प्रतिफलन पर अधिक बल दिया गया है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वे हमेशा अपनी दृष्टि केवल इन्हीं अन्त:प्रवृत्तियों तक सीमित रखते हैं। 'रीतिकाव्य की भूमिका' के दूसरे अध्याय में रीतिकाव्य के शास्त्रीय आधार का साधारणतः ऐतिहासिक और विशेषतः सैद्धांतिक विवेचन उपस्थित किया गया है। परंतु काव्य में अभिव्यक्त अन्त:प्रवृत्तियों के प्रति डॉ० नगेन्द्र में जो विशेष आग्रह और काव्य के संबंध में उनका जो मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण है उसके फलस्वरूप वे 'भारतीय काव्यशास्त्र के मूल

---

१ उदा०, दे० रस सिद्धांत, पृ० १०८–१०९।
२ उपरिवत, पृ० १०९।
३ उपरिवत, पृ० ११८।
४ उपरिवत, पृ० १०६।
५ रीतिकाव्य की भूमिका (दिल्ली, १९६४), पृ० क (भूमिका)।

सिद्धातो और उन पर आश्रित सम्प्रदायो का नवीन साहित्यशास्त्र तथा आधुनिक मनोविज्ञान व मनोविश्लेषणशास्त्र के प्रकाश म ' ही विश्लेषण एव स्पष्टीकरण करते हैं।[1] हिंदी म ऐसा प्रयास जिसम प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र का अध्ययन पाश्चात्य मनोविज्ञान एव अद्यतन काव्य सिद्धातो के प्रकाश म हो सचमुच बडे महत्त्व का है। टी० एस० एलियट ने स्वच्छन्दतावाद की ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियो से प्रभावित वर्तमान शती के तीसरे दशक म काव्यशास्त्रवादी काव्यधारा के महत्त्व की प्रतिष्ठा की, 'क्लासिसिज्म' का समर्थन किया। डा० नगेन्द्र ने रीतिकाल के प्रति ऐसा ही स्वस्थ निर्मोह दृष्टिकोण अपनाया और जिन शब्दो म एलियट ने ड्राइडन और पोप के काव्य का अभिनदन किया था कुछ वैसे ही शब्दो म कहा कि रीतिकाव्य न हेय है और न उपेक्षणीय इस रसात्मक काव्य का अपना विशेष महत्त्व है।'[1] 'रीतिकाव्य की भूमिका' यदि अंगरेजी के किसी समीक्षा ग्रथ की याद दिलाती है तो सदरलंड रचित 'ए प्रेफिस टु एटीन्थ सेन्चुरी पोयट्री' की। दोनो रीतिकाव्य की प्रामाणिक भूमिकाएँ हैं दोनो मे समीक्षा का आरभ पृष्ठभूमि के विवेचन से हुआ है। दोनो म रीति साहित्य को सामाजिक धार्मिक तथा ऐतिहासिक परिस्थितियो से अनुस्यूत किया गया है।

रस सिद्धात और साधारणीकरण के विवेचन म डा० नगेन्द्र ने पाश्चात्य मतो के साथ भारतीय विचारो के सामजस्य पर भी प्रकाश डाला है। उन्होने भारतीय तत्त्वदर्शियो और पाश्चात्य मनोवैज्ञानिको के दृष्टिसाम्य का उल्लेख किया है स्वदेश के अध्यात्मदर्शियो और विदेश के मनोवैज्ञानिको के सुख-सबधी विचार उद्धृत किए ह। दोनो ने ही, डा० नगेन्द्र के साक्ष्यानुसार, आनद की स्थिति को हमारे अपने भ्रतर की चीज माना है। भारतीय दर्शन म सुख (सु=सुलभ ख=आकाश व्याप्ति) को आत्मा का विस्तार कहा गया है आनद अपनी ही अस्मिता वृत्ति का आस्वादन है 'मैं हूँ' यही रस का सारतत्त्व है। विदेश के मनोविज्ञान म भी सुख और आनद को 'सिस्टमेटाइजेशन आव इम्पल्सेज' कहा गया है।[3] डा० नगेन्द्र आनद की इस परिभाषा तक ही अपने को सीमित नही रखते। वे पाश्चात्य मनोवैज्ञानिको के समक्ष उपस्थित तीन प्रश्नो का उल्लेख करते हैं[4] और हेडोनिस्ट तथा होरमिक सप्रदायो के आनन्द

---

१ रस सिद्धात, पृ० क (भूमिका)।
२ उपरिवत, पृ० ख (भूमिका)।
३ उदाहरणार्थ दे० मेलविन रेडर (सपा०), ए माडर्न बुक आव इस्थेटिक्स (ऐन ऐन्थॉलोजी), न्यूयार्क, १९६२, पृ० ४४४।
४ रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० ६२।

मग्रधी मता को उद्धत कर विवेचन को सर्वांगपूर्ण बनाने का प्रयत्न करते हैं। पश्चिम म आनन्द-सबधी दो मत हैं और उनके अनुयायिया के स्वभावत दो सम्प्रदाय। 'हेडोनिस्ट'[1] सम्प्रदाय जीवन की समस्त क्रियाओं का लक्ष्य आनद प्राप्ति कहता है और इस कारण आनदवादी है। दूसरा, जो हारमिक है कहता है कि जीवन की क्रियाएँ अपने से भिन्न कोई इतर लक्ष्य नहीं रखतीं—य अपना लक्ष्य आप ही है। इनम पहला मत, जो जीवन को साधन तथा आनद को साध्य मानता है, भारतीय आदर्शवादी विचारधारा के अनुकूल है और दूसरा, जो जीवन का ही जीवन का अतिम लक्ष्य मानता है, वैज्ञानिक वस्तुवाद के अनुकूल। यह दूसरा मत ही अधिकाश मनोवैज्ञानिकों के लिए समर्थनीय है। व आनद को लक्ष्य न मानकर उसे अनुभूति अथवा भाव की विधि मात्र मानते है और काव्य म आनद ही साध्य है, इस मत का खडन करते हैं। व आनद की सत्ता को स्वीकार तो करते हैं पर उसे अनिवार्य नहीं मानते। यहीं डॉ० नगेन्द्र एक पादटिप्पणी म डॉ० रिचर्ड्स की कुछ महत्त्वपूर्ण पक्तियों को उद्धत कर अपने विवेचन को परिपुष्ट करते और साधनतावादी विचारधारा का दृष्टात उपस्थित करते हैं, पर मनोवैज्ञानिकों द्वारा प्रस्तुत वैज्ञानिक वस्तुवाद और 'जीवन को ही जीवन का अतिम साध्य' माननेवाले सिद्धात म उन्हें शाब्दिक सूक्ष्मता के अतिरिक्त कोई विशेष ठोस तथ्य दिखलाई नहीं पड़ता।[2]

यद्यपि डॉ० नगेन्द्र 'अधिकतर मनोवैज्ञानिकों' का विरोध और उनके 'वैज्ञानिक वस्तुवाद' का खडन करते हैं फिर भी उनकी विवेचना-पद्धति मनोवैज्ञानिक सरणियों पर ही गतिशील है। वे आनद की प्रकृति का बडा ही विशद विश्लेषण प्रस्तुत करते है।[3] इस विश्लेषण की आधारभूमि मनोविज्ञान है जिसम लेखक की गति असाधारण दीखती है।

आचार्य नगेन्द्र ने काव्यानद के स्वरूप के विवेचन में भी पाश्चात्य आचार्यों के मत उद्धत किए हैं। जहा पौरस्त्य आचार्यों ने काव्यानद को अलौकिक और

---

१ दे० Eliseo Vivas and Murray Krieger (eds) *The Problems of Aesthetics* (New York etc , 1963), pp 307 et sqq 370-372, Melvin Rader, *A Modern Book of Esthetics* (New York 1962), pp 62 et seq , 89 et seq , 127 129 etc

२ रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० ६३।

३ उपरिवत, पृ० ६४।

अनिवचनीय महत्वर मुक्ति पा ली है पाश्चात्य समीक्षको और चिंतकों ने उस पर मनन किया है जिसके फलस्वरूप पश्चिम म 'उसके स्वरूप का इतिहास रोचक रहा है।"[1] आचार्य प्लेटो ने काव्यानुभूति को सौंदर्यानुभूति से भिन्न कहा है। उनके मतानुसार जहां सच्ची सौंदर्यानुभूति आत्मा की अनुभूति है, वही काव्यानुभूति नितात ऐंद्रिय अनुभूति है और इस कारण निम्नकोटि की तथा अस्वस्थ है। प्लेटो के उद्भट शिष्य अरस्तू ने भी काव्यानद को ऐंद्रिय आनन्द की कोटि म ही रखा है, परन्तु उसने उसे मिथ्या नही माना। शताब्दियो तक पाश्चात्य समीक्षको के मानस पटल ऐसे मतवादो से आच्छादित रहे। धीरे धीरे प्लाटिनस के अवतरण के साथ इन विचारो मे परिवतन हुआ और काव्यानुभूति आध्यात्मिक अनुभूति की कोटि म परिगणित हुई। डा० नगेंद्र ने क्रोचे द्वारा विवेचित प्लाटिनस के सिद्धातो को उद्धत कर उसके महत्त्व का निदशन किया है। प्लाटिनस ने ही सव प्रथम "कला का सौंदय के साथ तादात्म्य करते हुए उसे आध्यात्मिक अनुभूति का गौरव प्रदान किया।[2] भिन्न भिन्न युगो में काव्यानुभूति के प्रति पश्चिम के क्या दृष्टिकोण रहे है, इसका बडा ही सारगभ एव स्पष्ट विवेचन डॉ० नगेन्द्र ने रीतिकाव्य की भूमिका म किया है।[3]

काव्यानुभूति-सबधी भिन्न भिन्न दृष्टिकोणो का आकलन समीक्षण प्रस्तुत करने के पश्चात डॉ० नगेन्द्र ने आई० ए० रिचड स के तद्विषयक सीधे और प्रबल' सिद्धातो से अपनी सहमति प्रकट की है। (क) काव्य की अनुभूति प्रत्यक्ष ऐंद्रिय अनुभूति नहां हो सकती। यदि काव्यानद को प्रत्यक्ष ऐंद्रिय आनद मान ल—जसा प्लेटो और ड्यूवाय ने माना है—तो शोक जुगुप्सा आदि की अभिव्यजना से प्राप्त अनुभूति शोक और जुगुप्सामय ही होगी। परन्तु ऐसा नही हाता। काव्यानुशीलन से प्राप्त आनद वैसा नही होता, जसा सरकस देखने से मिलता है। (ख) आदशवादी आचार्यों के मतानुसार जिसम हीगेल और रवीन्द्रनाथ के मत भी सम्मिलित हैं, काव्यानद विशुद्ध आत्मिक आनन्द है। मानवात्मा सहज सौंदयरूप और आनदरूप है तथा काव्य उसी आत्मा का व्यक्तिकरण है। इसलिए काव्यानुभूति स्वभावत आत्मिक अथवा आध्यात्मिक अनुभूति है। परन्तु यह मत भी स्वीकाय नही है, कारण—प्रथमत आत्मा की सत्ता सभी को मान्य नही है और फिर काव्यानन्द मे स्पष्टतया वतमान अस्थिरता

---

१ रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० ६५।
२ उपरिवत, पृ० ६६।
३ उपरिवत, पृ० ६६ ६७।

और चपलता आदि की स्थिति को आत्मा के विशुद्ध अचल आनद का रूप-प्रकार नहीं माना जा सकता। (ग) ऐंटिसन के अनुसार काव्यानद कल्पना प्रसूत आनद है यह मत वस्तु और उसके काव्यांकित स्वरूप की तुलना से उत्पन्न होता है। इस मत को अस्वीकार करने का कारण यह है कि 'कल्पना मन (सूक्ष्मेंद्रिय) और बुद्धि की क्रिया मात्र है, स्वतन्त्र सत्ता नही।'[1] इस प्रकार कल्पना से उद्भूत आनद ऐंद्रिय तथा बौद्धिक आनद ही ठहरता है। (घ) क्रोचे के अनुसार काव्यानद सहजानुभूति का आनद है, परन्तु मनोविज्ञान सहजानुभूति को स्वतन्त्र शक्ति के रूप म स्वीकार नहीं करता। (ङ) अन्ततोगत्वा, कुछ आचार्यों ने काव्यानद का समन्वय और स्वत सापेक्ष कहकर समस्या का सुलझाने की कोशिश की है, परन्तु ऐसे मतावलम्बी आचार्य[2] वस्तुत समस्या से पलायन करत हैं, टक्कर नहीं लेत।

सस्कृत साहित्यशास्त्र म न मिलनेवाली परिभाषाओं और विवेचना की ओर भी डॉ० नगेन्द्र सकेत करत चलते हैं और आवश्यकतानुसार इस अभाव की पूर्ति पाश्चात्य साहित्यशास्त्र से करना चाहते हैं। जेम्स, स्टाउट, मक्डूगल आदि पाश्चात्य लेखकों की रचनाओं ने उन्ह प्रभावित किया है। भावों और मनोवेगों के विवेचन मे उन्होंने इनमें—पाश्चात्य मनोविज्ञान से—प्रभूत सामग्री ली है, उनकी परिभाषाओं को रूपातरित कर हिंदी म सब-सुलभ बनाया है और साथ ही सस्कृत काव्यशास्त्र को पाश्चात्य मनोविज्ञान से अनुस्यूत कर साहित्यालोचन की एक नव्य प्रणाली का प्रवतन किया है। डॉ० नगेन्द्र ने प्राय सवत्र भारतीय एव पाश्चात्य मतो का युगपत्‌ विवेचन किया है 'रीतिकाव्य की भूमिका', "भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका"[3] और 'विचार और विवेचन', 'विचार

---

१ उपरिवत, पृ० ६८।

२ डॉ० ए० सी० ब्रडले आदि।

३ भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका (दिल्ली, द्वि० स० १९६३) मे भी समीक्षा पूर्व-पश्चिम के अतराल से प्रवाहित होती और अनेकानेक अन्य देशीय प्रभावों को समेटती हुई चलती है। भारतीय काव्यशास्त्र को आधुनिक मनोविज्ञान की उपपत्तियो के आलोक म परखा गया है और साथ ही इस उद्देश्य से कि प्रमाता को विवेच्य विषय का यथेष्ट सर्वांगीण परिचय मिले, रीति के प्रकार तथा 'पाश्चात्य काव्यशास्त्र' मे रीति' का वणन है। इसी प्रकार वक्रोक्ति सिद्धात का विवेचन आचाय कुतक तक ही सीमित नहीं रखा गया—इसमे 'पाश्चात्य काव्यशास्त्र मे वक्रोक्ति' भी समाहित

और विश्लेषण तथा 'अनुभवों और धारणाओं' के आधार पर समीक्षा में गंभीर चिंतन किया है और गरिमा का, आनंद और पर्वा तीर्थ का सहभुत गंभीर-व्यवहार उपस्थित किया है।

प्रगतिवादी समीक्षक

हिन्दी की प्रगतिवादी समीक्षा के आधारभूत सिद्धान्त पाश्चात्य मार्क्सीय विचारधारा से लिए गए हैं। प्रकाशचन्द्र गुप्त, डॉ० रामविलास शर्मा, अमृतराय, शिवदानसिंह चौहान प्रभृति प्रगतिवादी समीक्षक सर्जनात्मक कृतियों के बाह्यवर्ती तत्त्वों पर ध्यान केन्द्रित करते हैं इनके स्थापत्य निर्माण-कौशल और इनमें प्रयुक्त बिम्बों तथा प्रतीकों की सार्थकता पर ध्यान नहीं देते। मार्क्सीय साहित्य-चिंतन के अनुसार सर्जनात्मक साहित्य ऐसा हो जिसमें साहित्यकार की सजग सामाजिक चेतना का पूरी गहराई से परिचय मिले जिसमें व्यक्त 'सामाजिक यथार्थदृष्टि'[1] जन-साधारण में 'जड़ता निष्क्रियता तथा परमुखापेक्षिता के स्थान पर अदम्य उत्साह दृढ़ नागरिकता तथा आत्मप्रत्यय का संचार करे और जो समाजवादी जीवन-न्याय तथा सहयोग पर आधृत हो। इसी कलाकृतियों की शक्ति का रहस्य इस बात में है कि वे जन-समूह तथा साम्यवाद के लिए किए गए संघर्षों से अभिन्नतया सबद्ध रही हैं। इसी लेखकों और कलाकारों ने नए समाज की निर्माण व्यवस्था एवं श्रमजीवियों के प्रशिक्षण में अपूर्व सहायता की

है। डॉ० नगेन्द्र पश्चिम के आद्याचार्य प्लेटो से लेकर स्वच्छन्दतावादी रीतिकारों के विचारों की सूक्ष्म गहन व्याख्या प्रस्तुत करते हैं और वक्रोक्ति-प्रकरण में क्रोचे तक आ पहुँचते हैं।

१ डॉ० शिवकुमार मिश्र, प्रगतिवाद (दिल्ली, १९६६), पृ० ४५। पाश्चात्य मार्क्सीय विचारधारा और समीक्षा पर स्वभावतः अनेकानेक ग्रंथ उपलब्ध हैं। 'मार्क्सवादी धारा की निष्पक्ष विवेचना' के लिए देखिए धर्मवीर भारती, प्रगतिवाद एक समीक्षा (इलाहाबाद, १९४९), 'साहित्य और समाज के विभिन्न पक्षों तथा रचनाओं के प्रगतिपरक विश्लेषण' के लिए मन्मथनाथ गुप्त, प्रगतिवाद की रूपरेखा (दिल्ली, १९५२), 'आधुनिक प्रगतिशील साहित्य की समस्त प्रवृत्तियों की व्याख्या' के लिए डा० रांगेय राघव, प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड (आगरा, १९५४) इत्यादि। प्रगतिवादी समीक्षा पर छिट पुट निबंधों और हल्के सस्ते ग्रंथों की संख्या अपरिमेय है।

है। साहित्य और कला का सर्वांगीण विकास उन जीवंत समस्याओं से पृथक नहीं किया जा सकता जिनका संबंध देश की संस्कृति एवं आर्थिक स्थिति से होता है। दुर्भाग्यवश समाज में ऐसे भी दुराग्रही एवं पारंपरीण मान्यताओं के समर्थक दक्षिण मिलते हैं जो नव्यता के शत्रु हैं। ये लोग वास्तविकता तथा जनसमूह के हितों से तटस्थ रहकर प्राचीन गतानुगतिक पद्धतियों, अंधविश्वासों एवं व्यवस्थाओं पर ही अटल रहते हैं।

प्रगतिशील समीक्षक यथार्थ के प्रति लेखक के दृष्टिकोण का प्रतिबिंबन और विश्लेषण करता है। उनके मतानुसार साहित्य उस समाज का यथातथ्य रूपांकन है जिसमें उसकी सृष्टि होती है। विरोध-वैषम्य में आक्रांत, आर्थिक पराजयता से ग्रस्त एवं विश्वयुद्ध में अपनी समस्याओं का समाधान ढूंढनेवाले समाज में रचा गया साहित्य न तो स्वस्थ हो सकता है और न मानवता का सच्चा उन्नायक ही। इसी कारण, मार्क्सवादियों के अनुसार अमरीकी साहित्य और वहां की समीक्षात्मक कृतियां अस्वस्थ तथा कुंठाग्रस्त हैं। यहां के लेखक यथार्थ से दूर किसी स्वप्निल नंदनवन में रहते हैं। प्रगतिवादी लेखक पुराणपंथी प्रवृत्तियों की जगह गत्यात्मक यथार्थ को अभिव्यक्ति देता है और जानता है कि आज का यथार्थ अप्रतिम है और इसका अपना अस्तित्व तथा वैशिष्ट्य है। उसके अनुसार जैसे-जैसे यथार्थ में परिवर्तन होता है हमारे मानमूल्य भी परिवर्तित होते हैं—कोई मापदंड स्थिर-स्थायी नहीं होता। यदि कुछ शाश्वत है तो केवल अस्थैर्य अथवा परिवर्तनशीलता ही। हमारे प्रतिमान जो संस्कृति शीलाचार तथा नैतिकता के मापदंड मात्र हैं उतने ही परिवर्तनशील होते हैं जितनी संसार की प्रकृति है। (उदाहरणार्थ यदि सोलमन की अर्द्धांगिनी बाथशीबा जो रूप लावण्य में अप्रतिम थी, आज प्रकट हो जाय तो दर्शक उसे वैसी रूपवती मानने को तैयार न होंगे, जैसी वह सोलमन तथा अपने सामयिकों की दृष्टि में थी। इसी प्रकार कुछ वर्ष पहले समीक्षक ग्रे रचित 'एलेजी रिटन इन अ कण्ट्री चर्चयार्ड' शीर्षक कविता को अंगरेजी की उत्तमोत्तम कविताओं में परिगणित करते थे पर सम्प्रति वह एक अच्छी कवितामात्र रह गई है।)

प्रकाशचन्द्र गुप्त (१९०८)

प्रकाशचन्द्र गुप्त ने मार्क्सवादी आलोचना की बड़ी ही सुन्दर विशद व्याख्या प्रस्तुत की है

> मार्क्सवादी आलोचक कला को संपूर्ण सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था और उसके विकास का एक अंग मानते हैं। वे कला को उसके

तथा समाज का दर्पण कहा है। शर्माजी ऐसे साहित्य की सृष्टि के लिए तत्पर हैं जिसमें केवल श्रीमानों और रसिकजनों की अभिरुचि का स्थापन न हो। उनकी इन स्थापनाओं से स्पष्ट है कि (क) कला व्यक्ति विशेष का नहीं वरन् समष्टि का दर्पण है (ख) कला कला के लिए नहीं होती (ग) कला के उत्कर्ष अपकर्ष का मानदण्ड समाज का यथातथ्य चित्रण होता है। मार्क्सवादी समीक्षा की व्यापकता और इसके आयाम का अनुमान इन सरल निष्कर्षों से नहीं किया जा सकता, परन्तु ये सिद्धांत प्रगतिवाद के मूलाधार हैं।[1]

कला के प्रति सामाजिक दृष्टिकोण अपनाने के लिए सर्वाधिक प्रयास मार्क्स के समसामयिक फ्रांसीसी आलोचक टेन ने किया था। समाज विज्ञान के क्षेत्र में यद्यपि वह कोई महान् व्यक्ति नहीं हुआ, फिर भी उसने कला का एक सामाजिक प्रक्रिया के रूप में देखकर उसका जैसा सर्वांगीण और विधिवत अनुशीलन किया वैसा मार्क्स ने भी नहीं किया था। उन्नीसवीं शती के अन्य चिंतकों की भाँति टेन भी विज्ञान की बहुमुखी सफलताओं से प्रभावित हुआ था। मार्क्सवादी लेखक-विचारक विज्ञान द्वारा समाज और देश की आर्थिक उन्नति करने में विश्वास करते हैं। टेन साहित्य का अध्ययन नियतत्ववादी सिद्धांतों के अनुसार करना चाहता था—वह कहता था कि हम उन कारणों का अध्ययन करना चाहिए जो साहित्य का निर्माण करते हैं और उस स्वरूप को निर्धारित करते हैं जिसमें साहित्य ढलता है। मार्क्स की तरह वह भी कला को उसके सामाजिक परिवेश में रखता था। उसके अनुसार कला कोई रहस्यमयी प्रतिभाप्रसूत एवं अज्ञात वस्तु नहीं है, यह न तो वैयक्तिक कल्पना की उन्मुक्त उड़ान है और न आवेगमयी आत्मानुभूतियों का सहज उच्छलन। इसका उन्मीलन कुछ ऐसे सामान्य गुणों से, बुद्धि और हृदय की कुछ ऐसी विशेषताओं से होता है, जो कलाकार के समाज में दृष्टिगत होते हैं। टेन के अनुसार जाति परिवेष्टन और युग का नियम ही समस्त साहित्यिक और, वस्तुतः, समस्त सामाजिक उपलब्धियों का एकमात्र कारण है।

---

१ शर्माजी के विचार क्रिस्टोफर कॉडवेल की इन पंक्तियों में प्रतिध्वनित हो रहे हैं:

Art is the product of society as the pearl is the product of the oyster and to stand outside art is to stand inside society The criticism of art differs from pure enjoyment or creation in that it contains a sociological component *Illusion and Reality* pp 10 et seq

कला के प्रति ऐसे दृष्टिकोण की अनेक सीमाएँ हैं। डॉ० शर्मा ने साहित्य को 'समाज का दर्पण' और टेन ने उपन्यास को "युग का दर्पण" कहा है। इस विचारधारा का तर्कयुक्त खंडन इन शब्दों में हुआ है:

> यह कथन कि युग अपनी अभिव्यक्तियों में निहित होता है अंधविश्वास है। ... कलाकृतियाँ युग विशेष की अभिव्यक्ति नहीं होतीं, युग-निर्मात्री होती हैं। ... डिकेन्स के सारे उपन्यास, टेनिसन की सारी कविताएँ, प्री-रफेलाइट और ऐकेडेमिक चित्रण, वल्गर और थॉर्नीक्राफ्ट की शिल्पकला—इन सबको निकाल दीजिए और इस सिद्धांत प्रक्रिया को तब तक जारी रखिए जब तक युग की समस्त महनीय कृतियाँ निकल न जायें, तब देखिए विक्टोरियन युग में बच ही क्या रहा है? (उत्तर मिलेगा ...) इसका दर्शन, विज्ञान, राजनीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र। किंतु, यदि हम यह भी अनुमान कर लें कि ये अपने युग की कला से प्रभावित नहीं हुए थे—जो तथ्य के सर्वथा विपरीत है—तो भी अपनी कलाकृतियों के बिना इस युग को पहचाना नहीं जा सकता।[1]

कला को युग का दर्पण मानने में एक और कठिनाई है। दर्पणवाला सिद्धान्त ललित कलाओं की अनुपमता और विशिष्टता की सर्वथा उपेक्षा करता है। इसके विपरीत दर्पण में उन वस्तुओं का केवल द्विगुणीकरण (डुप्लिकेशन) ही होता है जो उसमें प्रतिबिंबित होती हैं। वे दर्पण के चित्र में वैसी ही दिखाई पड़ती हैं, जैसी वे दर्पण के बाहर होती हैं। किंतु यह बात उन सामाजिक मान्यताओं एवं मूल्यों पर घटित नहीं होती जिनका समावेश कलाकृति में होता है। यहाँ ये मूल्य कला के संवेदनात्मक माध्यम[2] में रूपायित तथा साहित्यिक रचना में व्यक्त हो जाते हैं। कला का उद्देश्य जीवन का प्रतिबिंबन नहीं, जीवन का पुनर्निर्माण है: 'सूक्ष्म को मूर्त बनाकर वास्तविकता के परिधान में प्रस्तुत करना' है। इस पुनर्निर्माण को ही हम कला की सच्ची आत्मा कह सकते हैं। कला के प्रभाव और उसकी शक्ति का यही स्रोत है। यदि कला का लक्ष्य जीवन का प्रतिबिंबन है तो 'अभिज्ञान शाकुन्तल' कला नहीं है; 'मैकबेथ' और 'पैराडाइज लॉस्ट' कलाकृतियाँ नहीं हैं। तत्वतः कविता

---

१ जेरम स्टॉलनिज, इस्थेटिक्स एण्ड फिलॉसफी ऑव आर्ट क्रिटिसिज्म (केम्ब्रिज, १९६०), पृ० ४६०।

२ सेंसरी मीडियम।

मनुष्य को इसी कारण सर्वाधिक प्रिय रही है कि 'वह उसकी ममता की भूख मिटाने में सबसे अधिक समय सिद्ध हुई है—उसके राग-द्वेषों का सरस सुन्दर प्रतिबिम्ब है।'[1] कवि के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह अपनी कविता को यथार्थ जीवन का आलोकचित्र बनाये। विश्व के महान् कवियों ने अपनी कृतियों में असाधारण व्यक्तियों के चरित्र अंकित किए हैं और उनमें असाधारण घटनाओं को समाहित किया है। उन्होंने राग-द्वेषों के मूर्त मनोहारी वर्णन पर अपेक्षया अधिक ध्यान दिया है न कि यथार्थ के स्थापन पर।

'लेखक और जनता' शीर्षक निबंध में तत्पूर्ण विवेचन और गाम्भीर्य के स्थान पर भावुकता तथा वाक्पटुता मिलती है। गहनता और कसावट की जगह विस्तारमयी व्यासप्रधान शैली के दर्शन होते हैं। विवेचन प्रसरकारी हो गया है। पश्चिम में मार्क्सवादी आलोचकों से भी यही शिकायत रहती है। प्रायः प्रचाररत होकर वे समीक्षा के स्थान पर भावावेशजन्य अभिभाषण लिखते हैं। उनके शब्दों और पदों के वर्णसाम्य तथा अनुप्रास वन्ध्य एवं भावुकता के अकाट्य प्रमाण उपस्थित करते हैं।[2] 'प्रगति और परंपरा' में डा० रामविलास शर्मा की भाषा शैली मार्क्सीय समीक्षा की प्रतिनिधि भाषा शैली है। इसकी अनेकानेक पंक्तियां भावोष्ण हृदय से उद्गत और 'कल्पना की आकाश-गंगा से धरती के हृदय को सरस' बनाती हुई जान पड़ती हैं।[3]

प्रगतिवादी लेखकों की, चाहे वे पाश्चात्य हों या पौरस्त्य, अपनी विशिष्ट पारिभाषिक शब्दावली और गद्य शैली होती है। ऐसे तो इनके लिए कोई भी शब्द, सिद्धांततया, अप्रयोज्य एवं अप्रिय नहीं है, फिर भी इन लेखकों में कई शब्दों के प्रति विशेष आसक्ति देखी जाती है। 'लेखक और जनता' के प्रथम पृष्ठ पर 'राजनीति' शब्द का प्रयोग उन्तीस पंक्तियों में आठ बार हुआ है। अन्यान्य शब्द जिनसे यह लेख आपूरित है और जिनका बार बार प्रयोग हुआ

---

१ डा० नगेन्द्र, साकेत : एक अध्ययन (आगरा, सं० २०२१), पृ० १४।

२ उदाहरणार्थ, हावर्ड फास्ट की 'लिटरेचर एण्ड रीयलिटी' नामक पुस्तक का पृष्ठ ६ देखिए। ("हाउली एनीथिंग इन माडर्न लाइफ ... इज पोर्टेंसली अ थाउजण्ड टाइम्स मोर लेयल।")

३ उदाहरणार्थ, दे० प्रगति और परंपरा (इलाहाबाद, १९४८), पृ० ४। ("जिसका मनोबल क्षीण हो गया है, जो जीवन-संग्राम में पीठ दिखाता है, जिसके कण्ठ से शत्रु के लिए ललकार फूटने के बदले आर्त्तनाद सुनाई देता है, वह अमर पद का दावेदार कैसे हो सकता है? ...")

है ये हैं समाज, उत्तरदायित्व, स्वाधीनता-पराधीनता, सामंती, साम्राज्यवाद, दरबारी (या दरबार), प्रतिक्रियावादी, पूंजीवादी इत्यादि। 'संस्कृति और साहित्य' (१९४८), 'प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ' (१९५४), "लोक जीवन और साहित्य", "आस्था और सौंदर्य" (१९६२) आदि रचनाओं में संगृहीत निबंधों की भाषा शैली भी इसी प्रकार की है और इनमें मार्क्सीय विचारधारा की ही मत अभिव्यक्ति हुई है।

"भाषा और समाज" (१९६१) शर्माजी की सर्वाधिक विद्वत्तापूर्ण एवं महत्त्वपूर्ण कृति है। जिन भाषावैज्ञानिकों की रचनाओं और शोधों से शर्माजी ने तथ्य संग्रह किए हैं, उनमें अधिकांश भाषाविद् पश्चिम के ही हैं। चाइल्ड, मार्क्स, मूरनड, ग्रियर्सन, यस्पर्सन, टी० राइस होल्म्स आदि सैकड़ों मनीषियों की रचनाओं से लेखक को प्रभूत उपयोगी सामग्री उपलब्ध हुई है पर उसका दृष्टिकोण, मूलतः, समाजवादी और मार्क्सीय है। उदाहरणार्थ, संसार की अन्य प्रक्रियाओं की तरह शर्माजी भाषा को भी संश्लिष्ट प्रवाह के रूप में देखना चाहते हैं और उसकी सापेक्ष स्थिरता और प्रवहमानता के कारणों का पता लगाने की सलाह देते हैं।[1] उनके अनुसार "संसार की वस्तुएँ एक-दूसरे से नितांत अलगाव की दशा में नहीं हैं। इनमें परस्पर सहयोग है और संघर्ष भी।'[2] भाषा का कोई भी तत्त्व अपरिवर्तनशील नहीं है।[3] मार्क्सवाद जीवन को ही एक सचल सत्ता मानता है और गतिहीनता को मृत्यु का नामांतर कहता है। मार्क्स के अनुसार प्रत्येक वस्तु-सत्ता में एक द्वंद्व निहित होता है, इसलिए प्रत्येक वस्तु को एक ही साथ यथार्थ और अयथार्थ मानना पड़ता है। वस्तु में अंतःप्रतिष्ठित यह द्वंद्व ही गति की मूल प्रेरणा रही है।[4]

डा० शर्मा की अँगरेजी पुस्तक 'स्टडीज इन नाइनटींथ सेंचुरी इंगलिश पोयट्री' (१९६१) इस बात का अकाट्य प्रमाण है कि उन्होंने अँगरेजी साहित्य का समुचित अध्ययन अध्यापन किया है। भारतीय विद्यार्थियों के लिए श्रमपूर्वक लिखे गए इस ग्रंथ की उपयोगिता निर्विवाद है, परंतु अँगरेजी भाषा-साहित्य में

---

१ भाषा और समाज (दिल्ली, १९६१), पृ० ४८९।

२ उपरिवत, पृ० ४९३।

३ उपरिवत, पृ० ४९४।

४ सेलेक्टेड वर्क्स ऑव कार्ल मार्क्स, १, पृ० ४२१। गति की द्वान्द्विक प्रकृति के संबंध में एंजेल्स के विचारों के लिए द्रष्टव्य Anti Duhring PP 179 et seq

ऐसी पुस्तकें कोई विशिष्ट स्थान नहीं रखती। इसका एक महत्वपूर्ण कारण यह भी है कि इनमें अधिकांश पुस्तकें परीक्षोपयोगी होती हैं और उनमें विवेचन का स्तर अति सामान्य एवं निम्न होता है। डॉ० शर्मा ने अपने प्रकृत मार्क्सीय दृष्टिकोण से उन्नीसवीं शती की अंगरेजी कविता का मूल्यांकन नहीं किया है। सम्भवतः इसीलिए इसमें उनकी प्रतिभा की स्वाभाविक अभिव्यक्ति नहीं हो पायी है।

शिवदानसिंह चौहान (१९१८–)

शिवदानसिंह चौहान के अनुसार प्रगतिवाद ने पहली बार साहित्यालोचन को एक वैज्ञानिक जीवन-दर्शन का आधार दिया है परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि प्रगतिवादी समीक्षक साहित्यकार को कला-वस्तु या कला रूप-संबंधी निर्देश दे।[1] स्पष्टतः, श्री चौहान टेन मार्क्स और काडवेल से प्रभावित हैं। पश्चिम के प्रति उनका दृष्टिकोण वही है जो अधिकांश मार्क्सवादियों का है। वे पश्चिम को ह्रासोन्मुख पूंजीवाद की विकृतियों से पूर्णतया आक्रान्त समझते हैं और कहते हैं कि वहाँ के समाज में मूल्यों का तेजी से विघटन हो रहा है और वहाँ के साहित्यकारों और कलाकारों में वैयक्तिक स्वतन्त्रता और रचनाकार की ईमानदारी के नाम पर नैतिक दृष्टि से भ्रष्टवाही राजनीतिक दृष्टि से प्रतिक्रियावादी तथा न्यस्त स्वार्थों की पोषक प्रवृत्तियाँ जोर पकड़ रही हैं।[2] चौहानजी का यह दृष्टिकोण एक व्यक्ति विशेष का दृष्टिकोण नहीं है काडवेल हावर्ड फास्ट जार्ज टामसन प्रभृति लेखकों में इसकी अच्छी अभिव्यंजना हुई है। परन्तु यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि चौहानजी समाजवादी प्रगतिशीलता के पोषक-समर्थक हैं इसलिए उनकी दृष्टि में व्यक्तिवादी पूंजीवादी समाज व्यवस्था की अराजकता को प्रतिबिंबित करनेवाली प्रवृत्ति है।[3] चौहानजी की रचनाओं में प्रगतिवाद की पूर्ण विवृत्ति और इसकी विशेषताओं का पूर्ण व्यक्तीकरण हुआ है। इस विवृति और व्यक्तीकरण का आधार मार्क्स और उसके समर्थकों की रचनाएँ हैं।

अमृतराय (१८२१–) की साहित्य में संयुक्त मोर्चा और नयी समीक्षा प्रगतिवादी रचनाएं हैं। इनमें पहली कृति प्रगतिवादी आन्दोलन के उद्भव एवं विकास का शृंखलाबद्ध इतिवृत्त है और दूसरी आलोचना के

---

१ साहित्यानुशीलन (दिल्ली, १९५५), पृ० १७।
२ साहित्य की समस्याएँ, (दिल्ली, १९५९), पृ० ५।
३ उपरिवत, पृ० ७।

मार्क्सवादी आधार, समाजवादी यथार्थवाद, मक्सिम गोर्की, अमरीकी साम्राज्यवाद आदि का विवेचन प्रस्तुत करती है।

डा० नामवर सिंह (१९२०–   )

डॉ० नामवर सिंह की प्रायः सभी आलोचनात्मक एवं भाषाशास्त्री रचनाओं में पाश्चात्य तत्त्वों का विनियोग मिलता है। हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग का मूल विषय, जैसा कि पुस्तक के शीर्षक में ही स्पष्ट है, एक प्राचीन भारतीय भाषा का विवेचन है और इसकी रचना का उद्देश्य यह दिखाना है कि हिंदी अपभ्रंश की जीवन्त परंपराओं को लेकर आगे बढ़ी है।[1] फिर भी लेखक ने अवश्य अपभ्रंश संबंधी पाश्चात्य गवेषणाओं से लाभ उठाया है। अपभ्रंश के उद्भव और विकास की रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए उसने आल्फ्रेड मास्टर के साक्ष्य के अनुसार यह कहा है कि उद्योतन की 'कुवलय माला कहा' (आठवीं शताब्दी ईस्वी) तथा पुष्पदन्त के महापुराण (दसवीं शताब्दी ईस्वी) में अपभ्रंश के लिए अवहंस और अवहत्थ शब्द मिलते हैं। आल्फ्रेड मास्टर का यह निबंध 'ग्लीनिंग्स फ्रॉम कुवलय माला कहा' डाक्टर सिंह के मतानुसार महत्त्वपूर्ण रचना है[2] परन्तु वे उल्लेखित भाव से आल्फ्रेड मास्टर के निष्कर्षों को मानने से इनकार कर देते हैं। आल्फ्रेड मास्टर की यह सम्मति उन्हें युक्तिसंगत नहीं लगती कि डॉ० तगारे द्वारा प्रस्तुत अपभ्रंश का क्षेत्रीय विभाजन उचित है। मास्टर को आपत्ति है अपभ्रंश के पूर्वी भेद पर जब कि आपत्ति होनी चाहिए उसके दक्षिणी भेद पर।[3]

पतंजलि कृत 'महाभाष्य' के कीलहार्न संस्करण के आधार पर डॉ० नामवर सिंह कहते हैं कि अपभ्रंश शब्द अत्यंत प्राचीन है और संग्रहकार व्याडि को इस शब्द की जानकारी थी। व्याडि का उल्लेख पतंजलि ने अपने महाभाष्य में किया है जिससे स्पष्ट है कि व्याडि पतंजलि के समय (दूसरी शती ईस्वी पूर्व) से पहले हुए थे। डाक्टर साहब के विवेचन से स्पष्ट है कि वे अपभ्रंश को देशभाषा मानते हैं। इस संदर्भ में उन्होंने भाषावैज्ञानिकों के दो वर्गों की ओर

---

१ डा० नामवर सिंह, हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग (प्रयाग, १९६५), पृ० २५४।

२ मास्टर का उक्त निबंध बुलेटिन ऑव ओरियण्टल एण्ड अफ्रिकन स्टडीज़, जिल्द १३, खंड २ और ४, में प्रकाशित हुआ था। दे० उपरिवत्, पृ० ४३।

३ हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० ६०।

संकेत किया है एक ओर पिशेल, ग्रियर्सन, भण्डारकर चटर्जी, वुलनर जैसे विद्वान हैं जो अपभ्रंश को देशभाषा मानते हैं। दूसरी ओर याकोबी, काय, ज्यूल ब्लाख, ग्लसडोर्फ प्रभृति विद्वान् हैं जो अपभ्रंश को देशभाषा मानने से इनकार करते हैं।[1] स्पष्ट है कि अपभ्रंश के क्षेत्र में भी होर्नले, ग्रियर्सन-जैसे पाश्चात्य विद्वानों ने महत्त्वपूर्ण कार्य किए हैं। नामवर सिंह ने आर० ई० एन्थोवेन और एलियट के प्रमाण पर यह कहा है कि अपभ्रंश मूलतः आभीरी बोली थी और तीसरी शताब्दी में जो पश्चिमोत्तर भारत की बोली थी, वही कालक्रम से प्रसरित होती हुई समूचे उत्तर भारत की बोली बन गई। एन्थोवेन और एलियट द्वारा प्रस्तुत ऐतिहासिक प्रमाणों से पता चलता है कि आभीरों ने बड़ी तेजी से समस्त उत्तर भारत में छा जाने का उद्योग किया था और उनके इसी प्रवाह के साथ अपभ्रंश का भी प्रचार हुआ था।[2]

अपभ्रंश के क्षेत्रीय भेद विवेचन में कोई भी भाषाशास्त्री डॉ० याकोबी, डॉ० तगारे और प्रो० ज्यूल ब्लाख को विस्मृत नहीं कर सकता। डा० नामवर सिंह ने भी उनके भिन्न भिन्न मत उद्धृत किए हैं।

डा० नामवर सिंह की दूसरी महत्त्वपूर्ण कृति 'पृथ्वीराज रासो की भाषा' है। इसकी भूमिका में उन्होंने कर्नल टाड, डा० बूलर, डा० मारिसन प्रभृति पाश्चात्य इतिहासकारों की शोधपरक ऐतिहासिक सामग्री के महत्त्व को स्वीकार किया है। बीम्स, होर्नले, ग्रियर्सन, डा० तसितोरी-जैसे भाषावैज्ञानिकों और भाषाशास्त्रियों ने पृथ्वीराज रासो की भाषा का विवेचन किया है, जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इतना ही नहीं, बीम्स और होर्नले ने रासो की प्राचीनतम पाण्डुलिपियों के पुनरुद्धार की ओर भी ध्यान दिया है।[3] जहाँ डा० नामवर सिंह ने पृथ्वीराज रासो की भाषा-संबंधी समस्या का उल्लेख किया है वहाँ वे डा० ग्रियर्सन के विचारों से ही सर्वाधिक प्रभावित हुए हैं और डॉ० ग्रियर्सन के एतद्विषयक विचारों को ही उद्धरणीय समझते हैं। १८९६ वाले संस्करण की भूमिका के तीसरे पृष्ठ पर ही डा० ग्रियर्सन की ओर तीन मन्तव्य-सूचक संकेत मिलते हैं। डॉ० सिंह के कतिपय निष्कर्ष ध्यातव्य हैं

(क) डा० ग्रियर्सन के अनुसार पृथ्वीराज रासो के वर्तमान रूप का भाषावैज्ञानिक अध्ययन उपयोगी हो सकता है।[4]

---

१ हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० २७।
२ उपरिवत् पृ० ४६।
३ पृथ्वीराज रासो की भाषा (बनारस १९५६) पृ० २ (भूमिका)।
४ उपरिवत् पृ० ४।

(डॉ० नामवर सिंह ने इस कथन का पूरा-पूरा समर्थन किया है।)

(ख) यही वजह है कि बंगाल की रायल एशियाटिक सोसायटी की ओर से रासो का संपादन करते समय बीम्स और हॉर्नले ने उसकी भाषा पर भी विचार किया है।[1]

(ग) इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए यह निःसंदिग्ध कहा जा सकता है कि बीम्स द्वारा प्रस्तुत रासो के व्याकरण की रूपरेखा का ऐतिहासिक महत्त्व है।[2]

(घ) बीम्स के व्याकरण की सीमाएँ उनके युग की सीमाएँ हैं लेकिन उनकी अनेक स्थापनाएँ युग की सीमाओं के पार भी महत्त्वपूर्ण हैं।[3]

इनसे प्रथमतः इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि पृथ्वीराज रासो-विषयक अनुसंधान-कार्य में पश्चिम के हार्नले और बीम्स-सरीखे विद्वान अग्रगण्य रहे हैं और, साथ ही इन विद्वानों के प्रति डॉ० सिंह के सम्मानपूर्ण दृष्टिकोण का पता लगता है। यदि हम अन्य साहित्यकारों की स्थापनाओं को स्वीकार करते हैं और तदुपरांत उनका प्रयोग भी तो कहना होगा कि हम उन साहित्यकारों से प्रभावित हुए हैं।

इतिहास और आलोचना तथा आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ के विवेचन[4] से लेखक के पौरस्त्य-पाश्चात्य वाङ्मय के विविध वादों और आंदोलनों से पूर्णतया परिचित होने का पता चलता है पाश्चात्य वाङ्मय से प्रभावित होने का नहीं। आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ नामक ग्रंथ की भूमिका से पता चलता है कि इसकी रचना का एक उद्देश्य यह भी था कि हिंदी में अनेक प्रचलित-अप्रचलित देशी विदेशी वादों का अंधाधुंध चर्चा का निवारण हो जाय। डॉ० नामवर सिंह ने साहित्यिक वादों को अपने साहित्य एवं समाज के विशेष परिवेश में अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ" कहा है। उनके अनुसार प्रत्येक साहित्यिक आंदोलन के पीछे एक इतिहास होता है। उदाहरणार्थ, फ्रांसीसी प्रतीकवाद और अँगरेजी

---

१ पृथ्वीराज रासो की भाषा, पृ० ४।

२ उपरिवत, पृ० ५।

३ उपरिवत।

४ दे० डा० नामवर सिंह, इतिहास और आलोचना (प्रयाग, १९६२), आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ (प्रयाग, सं० सं० १९६२)।

विवादों अपने अपने दायरों में परिच्छिन्न रूप में आबद्ध हैं। 'स्वाधीन हिन्दी में इन वादों की चर्चा करते समय इस तथ्य को ध्यान में रखना अत्यन्त आवश्यक है कि अपने यहाँ ये वाद किसी साहित्यिक आन्दोलन के रूप में चल न सके और पुन विचार करना होगा, हमारी साहित्यिक परंपरा में क्या योगदान किया? कहना न होगा कि हिन्दी में प्राय इन विवादों को पीट ही दिया गया है।[1]

इस कथन को पल्लवित करते हुए डा० नामवर सिंह ने उस प्रवृत्ति की भर्त्सना की है जिसके कारण हम पश्चिम के समस्त वादों की यथाधुध चर्चा करने लगते हैं। प्रतीच्य साहित्य में प्राय वे अभिव्यंजनावादी या उतनी चर्चा नहीं हुई जितनी भारत में। फलस्वरूप ऐसा प्रतीत होने लगा है कि क्रोचे इटली में नहीं अपितु भारत में उत्पन्न हुआ था। एक ओर शिप्ले का साहित्य-कोश है, जिसमें क्रोचे के अभिव्यंजनावाद पर एक टिप्पणी है कि साहित्य रचना पर इसका प्रभाव न्यूनतम है—सिर्फ दो-तीन अभिव्यंजनावादी नाटकों को छोड़कर और कुछ नहीं लिखा गया, दूसरी ओर 'हिंदी साहित्य कोश' है, जिसमें इस प्रकार के किसी तथ्य का उल्लेख नहीं है। हिन्दी पर पाश्चात्य प्रभाव का यह भी एक उदाहरण है।[2] हमारे अनेक आलोचक अपनी साहित्यिक परंपरा से अधिक यूरोपीय वाङ्मय की सूचना रखते हैं। स्पष्ट है कि हमारे साहित्य में वादों की चर्चा के मूल में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' 'अतिथि देवो भव' आदि के हमारे आदर्श काम कर रहे हैं। साथ ही, 'हमारे यहाँ सब कुछ है' वाली प्रवृत्ति भी क्रियाशील रही है। वास्तविकता यह है कि हिंदी में साहित्य रचना के क्षेत्र में जितने 'वाद' नहीं हैं, उनसे कहीं अधिक आलोचना में पढ़ाए जा रहे हैं। जितनी जल्दी यह बकवास बन्द हो उतना ही अच्छा हो। साहित्य का कल्याण इसी में है। कहना न होगा कि वादों की चर्चा में प्रसंगानुकूलता के बोध की आज कितनी आवश्यकता है।[3]

इस पुस्तक के विषय विवेचन में अनेकत्र पाश्चात्य लेखकों और कवियों के नाम मिलते हैं जो इस बात के द्योतक हैं कि डा० नामवर सिंह हिंदी में पाश्चात्य वादों की अंधाधुंध चर्चावाली प्रवृत्ति की आलोचना इसलिए नहीं करते कि वे उन वादों से पूर्णतया परिचित नहीं हैं बल्कि इसलिए करते हैं कि वे उनसे अच्छी तरह परिचित और ऐसी चर्चा की अप्रासंगिकता से भी अवगत हैं। डा० नामवर

१ आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, पृ० २।
२ उपरिवत, पृ० ३।
३ उपरिवत, पृ० ४।

सिंह के विचारों को, चिंतन को, पाश्चात्य साहित्य ने प्रभावित किया है, जो उनकी 'इतिहास और आलोचना', 'आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ', 'कहानी : नयी कहानी'[1] आदि कृतियों में प्रतिफलित है। उदाहरणार्थ, छायावादी कवियों के संबंध में डॉ० सिंह की धारणा है कि उन्होंने जीवन की मधुरता तथा सामाजिकता की तीव्रता के साथ अनुभव किया था। वर्ड्सवर्थ के शब्दों में उन्हें लगा कि 'द वर्ल्ड इज टू मच विद अस'—वे अत्यंत मानसिक, संसार में अवचेतन लिप्त हो चुके थे।[2] प्रगतिशील साहित्य को डॉ० सिंह अँगरेजी के 'प्रोग्रेसिव लिटरेचर' का, ठीक ही, हिंदी अनुवाद कहते हैं।[3] प्रयोगवाद का विवेचन करते हुए वे कहते हैं कि इस वाद का उदय ही मोह भंग ('डिसइल्यूजनमेंट') से हुआ इसलिए इसमें छायावादी कल्पनाशीलता के विपरीत यथार्थवाद का आग्रह अधिक था।[4] प्रकृति और नारी के प्रति प्रयोगवाद का आरम्भिक दृष्टिकोण यथार्थ के नाम पर नग्न यथार्थवाद अथवा 'नेचुरलिज्म' है।[5] पाश्चात्य वादों से प्रभावित होने के कारण भारतीय वादों के विवेचन में प्रायः अँगरेजी शब्दों की बहुलता दिखाई पड़ेगी ही। इस कारण प्रयोगवाद के विवेचन में डॉ० सिंह ने अनेक अँगरेजी शब्दों का प्रयोग किया है।

हिंदी-कथा-साहित्य की आलोचना पर पाश्चात्य प्रभाव

हिंदी की नयी कहानी पर सन् १९६६ में ही दो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं : एक श्री सुरेंद्र द्वारा संपादित 'नई कहानी : दशा, दिशा, सम्भावना'[7] और दूसरा डॉ० नामवर सिंह द्वारा प्रणीत 'कहानी : नयी कहानी'।[8] 'नई कहानी : दशा, दिशा और संभावना' के निबंधों के अधिकांश लेखक—प्रभाकर माचवे, नामवर सिंह, इंद्रनाथ मदान, देवीशंकर अवस्थी, रामदरश मिश्र, शिवदान सिंह चौहान, विजयेंद्र स्नातक आदि हिंदी के

---

१ डॉ० नामवर सिंह, कहानी : नयी कहानी (प्रयाग, १९६६)।
२ आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, पृ० १६।
३ उपरिवत, पृ० ८०।
४ उपरिवत, पृ० १४८।
५ उपरिवत, पृ० १४९।
६ उपरिवत, पृ० १५८-१५९।
७ अपोलो पब्लिकेशन, जयपुर, १९६६।
८ लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, १९६६।

ख्यातिलब्ध प्रयुक्त उपन्यासकार (शिवदानसिंह के शब्दों में आलोचना के "अखाड़े के मजे खिलाड़ी") हैं। ये निबंध निस्संदेह महत्त्वपूर्ण हैं और पाश्चात्य प्रभाव की दृष्टि से भी उनमें भरपूर उपयोगी सामग्री वर्तमान है—इन निबंधों के अधिकांश नायक भी। विवेचन शैली पश्चिम से प्रभावित है। इनके लेखकों का पश्चिम के कथा-साहित्य एवं तत्संबंधी समीक्षा का ज्ञान उतना ही व्यापक दीखता है जितना भारतीय कथा साहित्य का। यहाँ उन सबका विवेचन न तो समाधान है और न संभव ही। (पाश्चात्य प्रभाव की दृष्टि से इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं प्रतिनिधि लेखकों के कर्तृत्व का मूल्यांकन प्रयत्न हुआ है।)

डॉ० देवराज उपाध्याय (१९०२–   )

उपाध्यायजी ने पाश्चात्य मनोविज्ञान के विभिन्न सम्प्रदायों का जो अंतस्स्पर्शी अध्ययन किया है, वह इनकी शोध कृति में नानाविध प्रतिफलित है। उन्होंने कहा है 'हिंदी के आलोचकों तथा विद्वानों ने हिंदी उपन्यास में अभिव्यक्त बाह्य जीवन की मीमांसा की थी, किंतु अंतर्मन का स्वरूप-दर्शन अभी तक अछूता ही पड़ा था। आधुनिक युग की प्रवृत्ति स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाने में है। युग की इस प्रवृत्ति के अनुसार विद्वानों का हिंदी उपन्यास में उपलब्ध अंतर्जगत की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक था।'[1] डॉ० उपाध्याय ने इसी जगत का सम्यक निरूपण और प्रकाशन किया है। प्रबंध में गृहीत औपन्यासिक पात्रों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण बड़ा ही सार्थक और सटीक है। संपूर्ण आधुनिक हिंदी कथा साहित्य का मनोविज्ञान की स्थापनाओं के आलोक में प्रस्तुत यह विवेचन हिंदी समीक्षा में एक नये आयाम का विस्तार है।

विषय प्रवेश में आधारभूत उपपत्तियों का उल्लेख और द्वितीय अध्याय में मनोविज्ञान के विभिन्न सम्प्रदायों का वर्णन मनोवैज्ञानिक कथा विश्लेषणों के स्पष्टीकरण में बहुत सहायक होता है। स्पष्ट है कि समर्थ आलोचक की कुशल लेखनी के स्पर्श मात्र से ऐसे दुरूह विषय भी बड़े ही नमनीय-कुंचनशील हो उठते हैं और हिंदी भाषा वैज्ञानिक विषयों पर उतरकर भी उतनी ही प्राणवान एवं अभिव्यंजक रह सकती है जितनी साहित्यिक विषयों के विवेचन में। निस्संदेह उपाध्यायजी की भाषा शैली और राजेंद्र यादव नामवर सिंह प्रभृति कथा-समीक्षकों की शैली में जमीन आसमान का अंतर है। उपाध्यायजी में विषयोचित गंभीरता

---

१ डा० देवराज उपाध्याय, आधुनिक हिंदी कथा साहित्य और मनोविज्ञान (इलाहाबाद, १९५६) पृ० ९ (प्राक्कथन ले० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय)।

है और इन पुस्तक में पाण्डित्य प्रदर्शन तथा हिंदी को अँगरेजी के शब्दों से निरर्थक भाराक्रान्त करने की प्रवृत्ति नहीं दीखती। अँगरेजी शब्दों का भरपूर प्रयोग करके भी वे प्रमाता की रुचि पर आघात नहीं करते और न ऐसा महसूस होने देते हैं कि उनके अँगरेजी शब्द आत्म-प्रदर्शन के लिए ही प्रयुक्त हुए हैं। उपन्यास के पात्रों का मनोविश्लेषण करते-करते उन्होंने अपने सम्भावित पाठकों की अभिरुचि का भी सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण कर लिया है।

प्रेमचन्द, अज्ञेय, जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी के उपन्यासों और कहानियों पर मनोविज्ञान के प्रभावों का पृथक्-पृथक् निदर्शन एवं विश्लेषण करने के उपरान्त द्वादश एवं त्रयोदश अध्यायों में लेखक ने हिंदी के कथा-साहित्य में वस्तु-संकलन तथा उपन्यास-रचना के नव्य प्रयोगों का वर्णन किया है जो अत्यन्त समीचीन है। केवल हिंदी-उपन्यासों से (और आवश्यकतानुसार अँगरेजी उपन्यासों से भी) उदाहरण दिए गए हैं। उपन्यास-क्षेत्र में पाश्चात्य औपन्यासिकों ने सम्प्रति जो जो मनोवैज्ञानिक प्रयोग किए हैं, उनसे उपाध्यायजी भलीभाँति परिचित हैं—उन्होंने पाश्चात्य उपन्यास-साहित्य का भी समुचित अध्ययन किया है।[1] परन्तु वे दोनों साहित्यों को समीकृत कर उनके उत्कर्ष अपकर्ष पर अथवा उनके गुण-दोषों पर टीका-टिप्पणी नहीं करते, एक को श्रेष्ठ बताकर दूसरे को हीन नहीं बनाते। अपने वस्तुनिष्ठ विश्लेषणों को इसी कारण इतना प्रासंगिक एवं रोचक बनाने में उन्हें सफलता मिली है। उदाहरणार्थ, युद्धकालीन भावनाओं के विवेचनवाले प्रसंग में सर्वप्रथम उन मनोवैज्ञानिक कारणों का उल्लेख है, जो प्रतिकूलता में भी नर-नारियों में प्रणय-सम्बन्ध की विवशता उत्पन्न करते हैं। जब युद्ध छिड़ने की तैयारियाँ होती रहती हैं जिस समय सैनिकों को युद्ध पर जाना होता है, उस समय उनमें स्त्री के प्रति उद्दाम तत्परता उत्पन्न होती है, जो मैथुनिक सम्पर्क के लिए मार्ग प्रशस्त करता है। "सर्वनाश की भयंकर लपटों से चारों तरफ घिरे रहकर मनुष्य के अन्दर मैथुनिक व्यापार के द्वारा नारी में अपने आध्यात्मिक व शारीरिक निक्षेपण (प्रोजेक्शन) की अनुभूति अन्य अवसरों से अधिक तीव्र होती है और वे अज्ञात रूप से संतानोत्पत्ति की भावना से आन्दोलित हो उठते हैं।"[2]

---

१ कथा के तत्त्व (पटना, १९५७) में उपाध्यायजी के 'आधुनिक यूरोपीय उपन्यासों में कुछ नूतन प्रयोग,' 'दास्ताएव्स्की', 'कथा-साहित्य में आत्म-चरितात्मकता' आदि निबन्धों का इस दृष्टि से विशेष महत्त्व है। उपाध्यायजी की प्रायः प्रत्येक कथा-मीमांसा से उनके पाश्चात्य उपन्यास-साहित्य के अभिज्ञान का परिचय मिलता है।

२ आधुनिक हिंदी कथा-साहित्य और मनोविज्ञान, पृ० २८८।

शब्द पर, और वह भी इसलिए कि डॉ० उपाध्याय ने रोमांस के जिन उपकरणों का उल्लेख किया है उनमें बहुत कम उपकरण इन औपन्यासिकों की रचनाओं में पाये जाते हैं। इस निबंध के कुछ स्थल ऐसे हैं जिनके अनुशीलन से इयूजान विनेवर का स्मरण हो आता है जिन्होंने मैलरी के Morte d' Arthur नामक रोमांस के संघटन की तुलना चित्रयवनिका (tapestry) के संघटन से की है। स्पेंसर के रोमांटिक महाकाव्य "द फेयरी क्वीन" के संघटन के संबंध में भी यही बात कही जा सकती है।

शोध प्रबंध की रचना के अखंड, घोर अनुशासन से निकलते ही डॉ० उपाध्याय की रचना में शैथिल्य आ जाता है और उसमें अंगरेजी के जो बहुसंख्यक शब्द आने लगते हैं वे पुस्तक के स्वाभाविक अंग बनकर नहीं आते।

पुस्तक के पृष्ठ दस पर क्लेयरा रीव की पुस्तक 'प्रोग्रेस आव रोमांस" की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की गई हैं और इस प्रकार उपन्यास तथा रोमांस के भेद का स्पष्टीकरण हुआ है। 'प्रबंध-काव्य, रोमांस और उपन्यास' के अंतर में आत्म निरीक्षणात्मक उपन्यासों के प्रचलन की चर्चा है और इस संदर्भ में डी० एच० लारेंस, जेम्स ज्वायस, मार्सेल प्रूस्त और आंद्रे जीद के उपन्यासों का उल्लेख हुआ है। (इसी प्रकार का उल्लेख "कथा साहित्य में आत्मचरितात्मकता" शीर्षक निबंध में भी हुआ है, जहाँ इन पाश्चात्य औपन्यासिकों के साथ ही जोशीजी, जैनेन्द्र और अज्ञेय की शैली को आत्मपरीक्षणात्मक कहा गया है।) 'कथा के तत्त्व' का दूसरा निबंध 'कथा में सत्य या कल्पना' है जिसमें भी लेखक का ध्यान पाश्चात्य कथा-साहित्य पर ही अधिक है। वह कथा में सत्य या कल्पना का विवेचन डीफो, रिचर्ड्सन, थैकरे के उपन्यासों का और डेविड डेचेश की पुस्तक 'अ स्टडी आव लिट्रेचर" को ध्यान में रखकर करता है। इसी प्रकार ज० डब्ल्यू० बीच की पुस्तक 'द ट्वेन्टिएथ सेन्चुरी नॉवेल' में उपन्यासों में अभीप्सित नाटकीयता को लाने के जिन पाँच साधनों का उल्लेख है, डॉ० उपाध्याय ने आधुनिक यूरोपीय उपन्यासों में कुछ नूतन प्रयोग में उनका पुनराख्यान करने के उपरांत दास्ताएवस्की के उपन्यास 'क्राइम ऐण्ड पनिशमेंट' के सहारे स्पष्टीकरण किया है। अंत में हेनरी जेम्स, वर्जीनिया वुल्फ, मार्सेल प्रूस्त, जेम्स ज्वायस, फिलिप टायनबी के उपन्यासों की विशेषताओं का वर्णन है।

नामवर सिंह (१९२७–)

हिंदी आलोचना जो अभी तक मुख्यतः काव्य-समीक्षा रही है, कविता से इतर कथा-नाटक आदि साहित्य रूपों का विधिवत् विवेचन करके ही अपने को

सुसगत एव समृद्ध बना सकती है । कहानी-समीक्षा सबधी ये निबंध इसी दिशा मे विनम्र प्रयास हैं।' [1]

"कहानी नयी कहानी" के प्रणयन के उद्देश्य का यही सक्षिप्त उल्लेख है। परतु हिंदी-समीक्षा भाडार को सुसगत एव समृद्ध बनाने के पूर्व लेखक के हृदय मे भाँति भाँति की दुविधाएँ थी । कथा-साहित्य के समीक्षण की दिशा म कदम उठाना साधारण काय न था । कहानी चर्चा काव्य समीक्षकों को, स्वभावत, पसद नही आती और न उनके लिए कहानियो को महत्त्व दिया जाना वाछनीय ही होता है। इसी समय दैवात् अँगरेजी मे विश्लेषणात्मक पद्धति पर आधारित एक समीक्षा प्रकाशित हुई। यह थी जनवरी १८६२ के "एसेज इन क्रिटिसिज्म" मे कथरीन मैंसफील्ड की कहानी "मवर्स" की समीक्षा। "उस निबध से, मेरे निकट, उन लोगो के लिए भी उत्तर प्रस्तुत था जिनका यह आरोप था कि मैं कहानी-समीक्षा मे काव्य-समीक्षा की पद्धति का बलात उपयोग करके भूल कर रहा हूँ।"[2]

'आज की हिंदी कहानी' ही विवेच्य पुस्तक का "प्रस्थान"-बिंदु है जिसमे लेखक ने आधुनिक हिंदी कहानी पर पाश्चात्य प्रभाव का कही परोक्ष, कही प्रत्यक्ष वर्णन किया है। आज के प्रयोगशील कथाकारो ने, डॉ० नामवर सिंह के मतानुसार, नये शिल्प का आश्रय लिया है । तस्लीम" लखनवी की कहानी किस्सा सियासत की भटियारिन' और 'एडीटर बुलेशाह" एक नया प्रयोग है। आज की कहानियो म जसा विषय-वविध्य देखा जाता है वैसा पुरानी कहानियो मे देखा नही जाता—इनका रूप आयाम इतना विस्तृत हो गया है कि निबंध-स्केच रिपार्ताज आदि भी इनकी सीमाओ म प्रविष्ट हो गए हैं। कभी-कभी इनके लेखक इनका सीमा निर्धारण नही कर पाते जिसके कारण एक ही रचना कभी स्केच बन जाता है और कभी निबध । नया कहानी कथानक की एक नयी धारणा पर आवृत है पहले जहाँ मनोरजक, नाटकीय और कुतूहलपूर्ण घटना सघटन का ही कथानक समझा जाता था, अब वही घटनाओ के स्थान पर पात्रो का मनोविश्लेषण मिलता है कथानक का ह्रास' हो गया है। इस धारणा पर—जिसके आगे कोष्ठक मे 'कन्सप्ट लिखा है—पाश्चात्य कथा-कहानियो का ही प्रभाव है। हेरक हडसन ने माडर्न शॉर्ट स्टोरीज' (सेकण्ड सिरीज) की भूमिका म अँगरेजी कहानियो म कथानक के अत्यधिक ह्रास की चर्चा करते हुए कहा

---

१ कहानी नयी कहानी, पृ० १२ ('यह पुस्तक')।

२ उपरिवत, पृ० १२ ।

है कि पिछले पच्चीस वर्षों में हमारे सम्मान्य जैनेन्द्र "कथानक विहीन' युग की प्रतिष्ठा करने के लिए कृतसंकल्प से थे। उनके ऐसे प्रयास से जान पड़ता था कि उनकी दुरूह बुद्धिप्रधान कहानियाँ उन साधारण पाठकों को भी अप्रिय लगेंगी, जो प्रयोगों का अभिनन्दन करते थे। सौभाग्यवश नये लेखकों और तरुण कहानीकारों में इस प्रवृत्ति के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया हुई है उससे खतरा कम हो गया है। मगर लेकिन ने अपनी पुस्तक 'अ सिंगल लेडी' में कहा था कि स्वयं जीवन में कथानक नाम की शायद ही कोई चीज होती है। जीवन तो अपने मध्य में ही टूट फूट जाने, विशृंखलित हो जाने का आदी है। निस्सन्देह कहानी के प्रमाता उस कला में कोई विस्तृत औपचारिक कलाविन्यास देखना नहीं चाहते जो तत्त्वतः अत्यंत तरल तथा नमनशील है। किंतु जीवन समग्रतः उपन्यास नहीं है, कथा में सर्वाधिक महत्त्व इस बात का है कि वह आद्यंत अनिश्चयता तथा द्वधीभाव के इन्द्रजाल को बिछाये रखे।

नयी कहानी के स्वरूप-वैशिष्ट्य और कथानक विहीनता के इस विवेचन से दो बातें स्पष्ट होती हैं, एक तो यह कि नयी कहानी पाश्चात्य कहानी और मनोविज्ञान से अत्यधिक प्रभावित है और दूसरी यह कि इस नयी कहानी की समीक्षा पाश्चात्य प्रतिमानों से और कभी-कभी, कथा समीक्षा के पाश्चात्य ढंग से होगी। जब विवेच्य विधा ही पश्चिमी रंग में रँगी भीगी है तब उसकी समीक्षा पर पाश्चात्य प्रभाव पड़ने ही चाहिए। नामवर सिंह की समीक्षा शैली, भाषा और तथ्याख्यान के ढंग अँगरेजी से प्रभावित है। कहीं कहीं तो ऐसा जान पड़ता है कि हिंदी की नयी कहानी की विशेषताओं का वर्णन न कर वे अँगरेजी की नयी कहानी का वैशिष्ट्य-उद्घाटन कर रहे हैं। हिंदी के कथाकार अँगरेजी कथाकारों की तरह इतना 'अंतर्मूढ़' हो जाते हैं कि 'आदि से अंत तक केवल एक बात से बातें निकलती चली जाती हैं और बातों में से बात का यह निकलते जाना ही इतना मनोरंजक होता है कि एक कहानी बन जाती है।[1] स्वयं लेखक ने इस स्थल पर अँगरेजी कहानियों की इस विशेषता का उल्लेख किया है :"इधर की अँगरेजी पत्र-पत्रिकाएँ ऐसी ही कहानियों से भरी मिलती हैं, पढ़ते चले जाइए, बातों में रस मिलता जायगा जैसे आप किसी टेबिल टाक में शराब हो या उसके श्रोता हों और कहानी खत्म करने पर सोचें तो हाथ कुछ नहीं लगा, लगा तो केवल यह कि कुछ अच्छी अच्छी सा पढ़ा है और बस।"[2]

---

१ उपरिवत, पृ० २१।

२ उपरिवत।

डॉ० नामवर सिंह के विवेचन पर पाश्चात्य कहानी-समीक्षा का इतना गंभीर प्रभाव है कि वे हिंदी पाठकों की अभिरुचि और कहानी में पाश्चात्य अध्येताओं की अभिरुचि में वपरीत्य देखने को तैयार नहीं हैं। "आज का जागरूक पाठक", वे कहते हैं "केवल कथानक की चरम सीमा से चौंककर आह्लादित होनेवाला भावुक मनुष्य नहीं रह गया है। इसलिए उसे ऐसे स्थूल उपकरणों से बहला लेना संभव नहीं।"[1] यह जागरूक पाठक कौन है? हिंदी कहानियों का देशी पाठक या पाश्चात्य कथा-साहित्य का देशी विदेशी पाठक? जान पड़ता है कि लेखक यहां उन बातों का पुनराख्यान कर रहा है, जो अँगरेज समीक्षक अपने देश के पाठकों के संबंध में कहते हैं। परंतु इसका यह तात्पर्य नहीं कि हिंदी के पाठकों की रुचि उतनी उन्नत और समृद्ध नहीं है जितनी अँगरजी कथाओं के पाठक की। वस्तुतः हिंदी के नये कहानीकारों ने यह सोचकर नयी कहानी का प्रवर्तन नहीं किया कि आज के जागरूक पाठक भावुक नहीं होते, उन्होंने पाश्चात्य साहित्य की प्रवृत्तियों और वादों से प्रेरणा लेकर इस नयी कहानी का सूत्रपात किया है। इसका सबसे बड़ा और विश्वसनीय प्रमाण इस प्रश्न का उत्तर होगा कि क्या ऐसे पाठक हिंदी में तभी उत्पन्न होते हैं जब अँगरजी साहित्य में कोई नया वाद चल पड़ता है? पाश्चात्य परंपराओं से प्रभावित कुछ हिंदी लेखक अपने पाठकों की परिवर्तित अभिरुचि का उल्लेख करते हैं और अपनी रचना को उस नयी अभिरुचि से समंजित करने का प्रयास करते हैं। पर जब तक अँगरजी में किसी नयी साहित्य-पद्धति का आरंभ नहीं हो जाता, तब तक इस परिवर्तन की ओर किसी भी लेखक का ध्यान नहीं जाता।

डॉ० नामवर सिंह ने 'आज की हिंदी कहानी' में जिस नयी कहानी का वर्णन तथा विवेचन किया है वह केवल हिंदी की ही नयी कहानी नहीं है। संभवतः इसलिए उन्होंने नये हिंदी कहानीकार की विशेषताओं का विवरण प्रस्तुत न कर सामान्यतः नये कहानीकारों की विशेषताओं का वर्णन किया है। इन वाक्यों में विवेचन हिंदीतर नयी कहानियों पर भी सटीक उतरता है

क—नये कहानीकार का ध्यान अब कथानक-शिल्प की ओर नहीं है।

ख—आज बहुत-सी श्रेष्ठ कहानियाँ ऐसी मिलेंगी जिनका कथानक एकदम सपाट है।

ग—कथानक की धारणा (कंसेप्ट) बदल गयी है।

---

१ उपरिवत्।

ऐसे तो "कहानी : नयी कहानी" का संबंध हिंदी की नयी कहानी से है पर इसके संबंध में जो कुछ कहा गया है, उसमें अधिकांश अंगरेजी कहानी पर भी पर्याप्त मात्रा में लागू होता है। तब क्या नयी हिंदी कहानी में कुछ भी ऐसा नहीं जो मौलिक कहलाये ? इस प्रश्न का उत्तर नामवर सिंह की यह रचना नहीं देती। नये कहानीकारों के संबंध में उन्होंने कहा है कि अब उनका—नये कहानीकारों का—ध्यान कथानक-शिल्प की ओर नहीं है और आज अब बहुत-सी श्रेष्ठ कहानियाँ ऐसी मिलती हैं जिनका कथानक चढ़ाव उतारहीन एकदम सपाट है जिसमें पहाड़ी सड़क की तरह न तो कदम-कदम पर आकस्मिक मोड़ मिलेगा और न ऊँचाई निचाई ही।'[1] लेखक का ध्यान पाश्चात्य कहानियों पर भी गया है, इसलिए वह उपर्युक्त कथन के स्पष्टीकरण के लिए कहता है 'ऐसी कहानियों का सूत्रपात रूसी कहानीकार चेखोव ने किया और यह प्रवृत्ति क्रमश सारे संसार में फैलती चली गई।"[2]

डॉ० देवराज

प्रतिक्रियाएँ' नामक पुस्तक[3] के समर्पण में डा० देवराज ने कहा है कि स्व० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और टी० एस० एलियट से मतभेद रखते हुए भी उन्होंने उनसे बहुत अधिक सीखा है इसलिए यह पुस्तक उन्हीं आलोचक-द्वय को समर्पित है। यह सन १९६६ की बात है। इससे प्राय सोलह वर्ष पूर्व सन् १९५० में "साहित्य चिंता" के निवेदन में लेखक ने कहा था कि वह 'पण्डित रामचन्द्र शुक्ल और टी० एस० एलियट की रस-संवेदना से विशेष प्रभावित हुआ है। अमरीकी विचारक इर्विंग बैबिट के निबंध पढ़ने के कई वर्ष बाद उसने सहसा एक दिन अपने को उसकी सांस्कृतिक दृष्टि से सहानुभूति करते पाया। इन वरेण्य विचारकों का मैं ऋणी हूँ।'[4] इस प्रकार इसमें संदेह नहीं रह जाता कि डा० देवराज के अंत प्रवणशील समीक्षक पर सर्वाधिक प्रभाव टी० एस० एलियट और आचार्य शुक्ल का ही पड़ा है। कहीं-कहीं तो पाश्चात्य प्रभाव का ऐसा आतिशय्य देखने को मिलता है कि देवराज की समीक्षा एलियट की अनुकृति मात्र बन जाती

---

१ उपरिवत, पृ० २१ २२ ।
२ उपरिवत, पृ० २२ ।
३ पुस्तक के आवरण पर 'प्रतिक्रियायें' और भीतर 'प्रतिक्रिया' छपा है । प्रकाशक राजकमल प्रकाशन, प्रथमावृत्ति, १९६६ ।
४ साहित्य चिंता (दिल्ली, सं० २००७), निवेदन ।

है। इसलिए समन्वित समीक्षा-पद्धति, अनुसंधित्सा तथा निकषा के निर्माण के स्थान पर हम उनमें पाश्चात्य विचारों का ही पल्लवन एवं रूपांतर देखते हैं।

यूरोपीय दर्शन के दूसरे खंड की भूमिका में पाश्चात्य प्रभाव के संबंध में डॉ० देवराज कहते हैं "आज हम हजार ढंग से पश्चिम के विचारों और विश्वासों को अपना रहे हैं। उन विचारों की पृष्ठभूमि में हम सोच भी रहे हैं, लिख भी रहे हैं परं अंगरेजी में। किंतु यदि हम हिंदी को सच्चे रूप में राष्ट्रभाषा बनाना है तो हमें उस भाषा को इस प्रकार गठित करना होगा कि वह कठिन से कठिन पूर्वी और पश्चिमी ढंग के चिंतन का माध्यम बन सके।[1] डॉ० देवराज ने अपने निबंधों के माध्यम से हिंदी भाषा-साहित्य को अधिकाधिक समुन्नत एवं सशक्त बनाने में यथाशक्य योग दिया है। दर्शनशास्त्र के गंभीर अध्ययन अध्यापन के फलस्वरूप उन्हें साहित्य के आधारभूत दार्शनिक विचारों और लेखक के जीवनबोध का ज्ञान जिस सरलता से हो जाता है, वह अन्य आलोचकों के लिए दुर्लभ नहीं तो श्रमसाध्य अवश्य है। उनका यूरोपीय दर्शन विषयक ग्रंथ एतद्विषयक पाश्चात्य इतिहासकारों से प्रभावित है और उन्होंने वेबर, रॉजर्स थिली, फ्रैंकमान, प्रभृति का अध्ययन तथा उनके ग्रंथों से यथावश्यक तथ्य चयन किया है। उन्होंने भारतीय महाकाव्यों का भी एकांत गहन अध्ययनालोडन किया है जो उनके 'भारतीय संस्कृति'[2] में प्रतिफलित है। उनके अधिकांश आलोचनात्मक निबंधों का लक्ष्य 'साहित्यिक मूल्यांकन के मानों को स्थिर करना है।"[3] इन मानों में अधिकांश पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय चिंतन में न्यस्त हैं और कुछ पौरस्त्य परंपराओं में बद्धमूल। साथ ही यह भी ध्यातव्य है कि जब-जब उन्होंने किसी महत्त्वपूर्ण तथ्य का साक्षात्कार किया है तब-तब वे उसे मूर्त अभिव्यक्ति देने के लिए—"सशक्त रूप में प्रकट करने के लिए—बैठ गए हैं। इस प्रकार कम से कम "साहित्य चिंता" के निबंध किसी निश्चित व्यवस्था अथवा योजना का अनुसरण नहीं करते। फिर भी, जैसा लेखक ने स्वयं कहा है यदि हम प्राप्ति की अपेक्षा प्रयत्न में और निश्चय की अपेक्षा चिंतन-

---

१ डा० देवराज, 'योरुपीय दर्शन' (मुजफ्फरपुर सं० २००३), भाग २, प्रस्तावना।

२ डॉ० देवराज, 'भारतीय संस्कृति' (महाकाव्यों के आलोक में), सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, १९६०।

३ साहित्य चिंता, (दिल्ली, १९५०) निवेदन।

प्रक्रिया में अधिक रुचि रखते हैं तो इन निबंधों में पर्याप्त रागानुभूति संभव हो सकती है।

ऊपर कहा जा चुका है कि इन निबंधों के ल्यरा त प्रभावानुसंधान की समस्या को यह कहकर हल कर लिया है कि 'प्रस्तुत ल्यात्र' आचार्य रामचंद्र शुक्ल, टी० एस० एलियट जैसे वरेण्य विचारकों का ऋणी है। मुख पृष्ठ की पीठ पर उन्होंने इविंग बबिट के इस कथन को आदर्श वाक्य के रूप में उद्धृत किया है "आज एक ऐसे आलोचक की आवश्यकता है जो प्रतिमानों की सर्जना के विशेष कठिन महत्कार्य को वर्तमान परिस्थितियों में संपन्न करने का प्रयास करे। [1] ("आन बिइंग क्रियेटिव")

टी० एस० एलियट की रचनाओं के अध्येता इस बात से पूर्णतया परिचित हैं कि वह संपूर्ण यूरोपीय संस्कृति के एकत्व पर बल देता है। डा० देवराज एलियट से भी आगे बढ़कर समस्त विश्व-वाङ्मय के एकत्व की घोषणा करते दीख पड़ते हैं। उनकी आलोचना केवल भारतीय वाङ्मय का ही नहीं, यूरोपीय साहित्य का भी मूल्यांकन करती है। इसलिए वे भारतीय और यूरोपीय साहित्यकारों को एक साथ रखकर एक ही व्यापक उक्ति में समेट कर उनका विवेचन प्रस्तुत करते हैं। एलियट जानता था कि समस्त यूरोप को ईसाई धर्म और अभिजात भाषाओं का समान रिक्थ प्राप्त है इस कारण उसके लिए इस परंपरा के भिन्न भिन्न अंग उपांग अविच्छिन्न रूप में परस्पर सग्रथित थे। अतः समस्त यूरोपीय साहित्य को एक ही प्रतिमान से आँकना उसकी रचनाओं में अशोभन प्रतीत नहीं होता। परंतु डा० देवराज की इन पंक्तियों को देखिए

(१) 'शेली और टी० एस० एलियट के काव्य में जैसा बहुत अंतर है वैसा ही उस समय के और आज के उपन्यासों तथा नाटकों में भी है।

(साहित्य चिंता, पृ० १०२)

(२) योरप ने कोई कालिदास उत्पन्न नहीं किया और भारतवर्ष ने कोई शेक्सपियर इसी प्रकार सूर की कविता विश्व-साहित्य में अद्वितीय है।'

(उपरि०, पृ० २८)

---

१ "देयर इज नीड आव अ टाईप आव क्रिटिक हू विल असे द टास्क, स्पेशली डिफिकल्ट अण्डर एग्जिस्टिंग सरकमस्टान्सेज, आव क्रियेटिंग स्टण्डर्ड्स।"

(३) "हमारा अभिप्राय यह है कि महत् साहित्य का (अथवा उसकी महत्ता के उपादानों का) विश्लेषण एक ऐसा व्यापार है, जो प्रत्येक युग में, नई-पुरानी महनीय कृतियों के आलोक में नये सिरे से अनुष्ठित होना चाहिए। आज अलंकार ध्वनि आदि के पैमाने आउट-ऑव डेट हो गए—उनके प्रयोग द्वारा अब अनामिका अथवा गोदान का मूल्यांकन संभव नहीं है।[१]

(उपरि०, पृ० ३१)

ये सारे कथन अत्यंत सतही एवं सामान्य हैं। (१) सोफोक्लीज और शेक्सपियर के नाटकों में जैसा वृहत् अंतर है वैसा ही सोफोक्लीज के समय के और शेक्सपियर के युग के काव्य तथा नाटकों में भी है। चौसर और जान डन के काव्य में जैसा वृहत् अंतर है वैसा ही उस समय के और आज के उपन्यासों तथा नाटकों में भी है। इन तर्कों को पासंग बदलकर भी कहा जा सकता है। (२) हम कह सकते हैं कि यूरोप ने कोई डॉ० देवराज उत्पन्न नहीं किया और भारतवर्ष ने कोई टी० एस० एलियट, इसी प्रकार दांते की कविता विश्व-साहित्य में अद्वितीय है (३) अलंकार, ध्वनि आदि के पैमाने अनद्यतन नहीं हुए। यूरोपीय विद्वान् भी अपनी व्यावहारिक समीक्षाओं में अलंकार, ध्वनि और वक्रोक्ति के प्रतिमानों से काव्य-समीक्षा कर रहे हैं। 'सिमण्टिक अनैलिसिस' में इन प्रतिमानों को पर्याप्त महत्त्व मिला है।

"साहित्य चिंता" और "प्रतिक्रियायें" के अधिकांश निबंधों पर पाश्चात्य लेखकों की छाया वर्तमान है। सर्वत्र ऐसे वाक्य मिलते हैं—

टाल्स्टाय ने लिखा है (साहित्य चिंता, पृ० ६)
आई० ए० रिचर्ड्स ने लिखा है (उपरि० पृ० २३)
प्रोफेसर जोड ने एक जगह लिखा है (उपरि०, पृ० २६)
कवि कीट्स ने कहा लिखा है (उपरि०, पृ० ४०)

---

१ "आधुनिक समीक्षा" और "प्रतिक्रियायें" में भी ऐसे वाक्य मिलेंगे उदाहरणार्थ, (१) "शेक्सपियर, प्रूस्त तथा मेघदूत की नवीनता कुछ इसी कोटि की है।" (प्रतिक्रियायें, पृ० १३), (२) "इलियट-जैसे कवियों के मूल्यांकन में शुक्लजी की उक्त व्युत्प्रेक्षा सहायक हो सकती है।" (उपरि०, पृ० २६) (३) "रवींद्र, गेटे आदि में रिलीजियो फिलासफिक रीजन की झलकें भी हैं।" (आधुनिक समीक्षा, पृ० १४ १५)।

बर्नार्ड शा ने क्या कहा है (उपरि०, पृ० ४४)
प्रसिद्ध यूरोपीय समीक्षक ल्यूकस ने क्या कहा है (प्रतिक्रियायें, पृ० ३०)
मैथ्यू आर्नल्ड ने क्या कहा है (उपरि०, पृ० १३८)

डॉ० देवराज की आधारभूत साहित्यिक मान्यताओं के मूल में एलियट द्वारा प्रतिपादित कितने ही सिद्धान्तों की ध्वनि सुनी जा सकती है। डा० देवराज के अनुसार साहित्य राग-बोधात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति है। कोरी कल्पना के अतिरिक्त समृद्ध कला-सृष्टि के लिए साहित्यकार की चेतना का पर्याय के प्रभूत मिश्रण से परिपूर्ण होना अत्यावश्यक है। एलियट ने संश्लिष्ट चेतना (एकता) पर बल दिया है उसके महान् कवि की संवेदनशीलता विनियोजित नहीं होती संश्लिष्ट होती है। वह अपने विचारों को अनुभूत करता है। उसके लिए टेनिसन और ब्राउनिंग ऐसे कवि हैं जो सोचते अवश्य हैं परन्तु वे अपने विचारों का हार्दिकता के साथ संवेदित नहीं करते। इसी सरलातिसरल कथन को डा० देवराज इस प्रकार व्यंजित करते हैं 'बोधतत्त्व की सम्बद्धता में ही रागतत्त्व की अभिव्यक्ति या व्यंजना संभव है।'[1]

पाश्चात्य वाङ्मय के प्रभावातिशय्य का एक प्रमाण यह भी है कि डा० देवराज जहाँ उसमें पुष्कल शक्ति सामर्थ्य एवं समृद्धि देखते हैं वहीं हिंदी में उन्हें सर्वत्र अभाव ही अभाव—"घटिया स्थिति"—के दर्शन होते हैं। उनके अनुसार शुक्ल जी का 'काव्य में रहस्यवाद' इर्विंग बविट की 'रूसो एण्ड रोमण्टिसिज्म' नामक पुस्तक की तुलना कठिनता से ही कर सकता है।[2] महादेवी के और उनके जैसे अन्य साहित्यकारों के निबंध टी० एस० एलियट लेविस आदि की विचारात्मक तथा समीक्षात्मक रचनाओं की तुलना नहीं कर सकते।[3] इसी प्रकार प्रगतिवादी आंदोलन ने हमें कोई उतनी महत्त्वपूर्ण समीक्षा कृति नहीं दी जैसी ल्यूकेस की 'स्टडीज इन यूरोपियन रियलिज्म' या 'द हिस्टारिकल नावल' है।[4] आज हिंदी की समीक्षा को अनुभूति और वस्तु तत्त्व के धरातल को परखने की योग्यता प्राप्त करनी है।[5] हिंदी समीक्षा अभी तक प्रौढ़ि अथवा परिपक्वता से परिचित तक

---

१ साहित्य चिंता, पृ० ३। द्रष्टव्य "साहित्य में बुद्धितत्त्व", दे० प्रतिक्रियायें, पृ० १८६ १९८।
२ उपरिवत्, पृ० १०।
३ उपरिवत्, पृ० १६ १५।
४ उपरिवत्, पृ० १५।
५ आधुनिक समीक्षा (लखनऊ, १९५४), पृ० १००।

नहीं है, यहां तक कि "कामायनी"-जैसे काव्य में तेजस्वी चिंतन का गंभीर आलोडन कहीं प्रतिफलित ही नहीं हो सका है।[1] डॉ० देवराज ने यथावसर पाश्चात्य साहित्यकारों के गुणों का उत्साहपूर्ण वर्णन ही नहीं किया, उनकी तुलना में हिंदी-लेखकों के प्रति अत्यंत अनुदार एवं सौजन्यहीन दृष्टि अपनायी है

> संसार के कुछ बहुत बड़े लेखक बहुत बड़े समीक्षक विचारक भी हुए हैं जैसे महाकवि गेटे, विख्यात उपन्यासकार टाल्स्टाय तथा प्रसिद्ध कवि टी० एस० एलियट। अँगरेजी साहित्य के तो अधिकांश परिचित लेखक तथा कवि अच्छे समीक्षक विचारक थे, और हैं। इस संबंध में ड्राइडन, पोप, शेली, वर्ड्सवर्थ, मैथ्यू आर्नल्ड, वर्जीनिया वुल्फ, इजरा पाउण्ड, हर्बर्ट रीड आदि के नाम लिए जा सकते हैं। फ्रांस का आन्द्रे जीद तथा जर्मनी का टामस मान भी इसी कोटि में आते हैं। पिछले दोनों लेखक बड़े उपन्यासकार हैं। हिंदी लेखकों में महादेवी वर्मा, सुमित्रानंदन पंत, जैनेन्द्र, स० ही० वात्स्यायन तथा दिनकर ने साहित्य के संबंध में जहां तहां चिंतन किया है।[2]

हिंदी लेखकों के लिए एक भी प्रशंसासूचक विशेषण प्रयुक्त नहीं हुआ। इसके विपरीत जहां भी टी० एस० एलियट का नाम आता है, लेखक श्रद्धावनत हो जाता है

> 'बौद्धिक परिपक्वता में टी० एस० इलियट अपने क्षेत्र में उतनी ही ऊँची कोटि का विचारक है जितनी बर्ट्रण्ड रसेल तथा आइन्स्टाइन अपने क्षेत्रों में।
>
> (आधुनिक समीक्षा, पृ० १०३)
>
> गेटे की तुलना में शैली तथा वर्ड्स्वर्थ साहित्य के एकांगी तथा घटिया विचारक हैं। यह कमी टी० एस० इलियट में नहीं है।[3]
>
> (उपरि०, पृ० १०८)

डॉ० देवराज के चिंतन एवं साहित्य-दर्शन में पाश्चात्य प्रभाव इस प्रकार

---

१ आधुनिक समीक्षा, पृ० १०२ १०३।

२ उपरिवत पृ० १०८।

३ डॉ० देवराज ने कहीं-कहीं टी० एस० एलियट के विचारों का समर्थन नहीं भी किया है। (उदाहरणार्थ, दे० 'प्रतिक्रियायें', पृ० १८०, 'साहित्य चिंता', पृ० ९२) परन्तु ऐसे स्थलों पर भी इनके स्वर में श्रद्धा होती है, कटुता नहीं।

वद्धमूल हो गया है कि वे कहीं नहीं अपनी स्थापनाओं को पाश्चात्य साहित्य से ही उदाहरण लेकर प्रमाणित करते हैं। "आलोचना का अधिकार" शीर्षक निबंध में उन्होंने तोलस्तोय के इस कथन को उद्धृत किया है कि साधारण लोगों की अपेक्षा आलोचक कला की रस ग्राहिता में सदैव पीछे रहे हैं। तदनंतर उन्होंने इस कथन का प्रमाणित करने का प्रयास किया है और भिन्न भिन्न उदाहरण प्रस्तुत किए हैं जिनसे पता चलता है कि समीक्षकों की कुंठित रसग्राहिणी शक्ति के फलस्वरूप कवियों को तरह-तरह के कष्ट झेलने पड़े हैं। भवभूति को छोड़कर अन्य सभी उदाहरण पश्चिमी कलाकारों के हैं। कीट्स, माइकेल एंजेलो, कास्टेविल प्रभृति मनस्वी कवियों और कलाकारों को अनुभव बड़े ही कटु थे। अपने जीवन काल में उन्हें यथेष्ट प्रसिद्धि नहीं मिली थी।

साहित्य में प्रगति शीर्षक किरण-चयन[1] भी एलियट और ह्यूम के विचारों से प्रभावित है। "साहित्य में रागतत्त्व" का आरंभ एलियट के इस कथन से होता है कि आवेग के बिना भी, केवल संवेदनाओं से साहित्य का निर्माण हो सकता है।[2] इसी निबंध में "इमोशन" और "फिलिंग" के पार्थक्य पर प्रकाश डाला गया है जो एलियट के "ट्रडिशन एण्ड दि इण्डिविडुअल टलेण्ट" में एतद्विषयक विश्लेषण की याद दिलाता है।

अन्यान्य आलोचक

ऊपर जिन समीक्षकों पर पाश्चात्य प्रभाव का विवेचन हुआ है उनके अतिरिक्त डा० इन्द्रनाथ मदान, डा० विजयेन्द्र स्नातक, डॉ० भगीरथ मिश्र, डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय और डा० देवीशंकर अवस्थी की ओर भी हमारा ध्यानाकर्षण अपेक्षित है। इन समीक्षकों की कृतियाँ हिंदी समीक्षा में किसी नव्यायाम की संयोजना नहीं करतीं और न वे किसी 'वाद' का प्रवर्तन करती हैं। इनमें कहीं कहीं नये भावों का उन्मेष अवश्य दीख पड़ता है परन्तु इनकी रचनाओं में, समासतः उन्हीं विशेषताओं का उन्मीलन हुआ है, जो उपरिविवेचित समीक्षकों की रचनाओं में पायी जाती हैं। डा० अवस्थी के असमय निधन से उनके समीक्षक की संभावनाएँ पुष्पित न हो पायीं, इस कारण उनका विवेचन भी संक्षेप में ही होगा। डा० मदान पर पाश्चात्य प्रभाव का आकलन व्यावहारिक समीक्षा के अंतर्गत हुआ है।

---

१ यह टी० ई० ह्यूम के 'स्पेक्यूलेशन्स' के उस परिच्छेद की याद दिलाता है जिसका शीर्षक है "सिण्डस अन्यू वेल्ते मगोग"।
२ साहित्य चिंता, पृ० १३१।

"आधुनिक हिंदी साहित्य', 'फोर्ट विलियम कॉलेज', "आधुनिक कहानी का परिपाश्व, "पश्चिमी आलोचना शास्त्र' आदि ग्रन्थों के यशस्वी लेखक ने पाश्चात्य आलोचना साहित्य का भी गंभीर और व्यापक अध्ययन किया है। इसे प्रमाणित करने के लिए कहीं दूर जाने की आवश्यकता नहीं है—डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय (१९१४–) लिखित 'पश्चिमी आलोचना शास्त्र' (१९६५) ही इसका ज्वलंत प्रमाण है। पाश्चात्य आलोचना पर लिखते समय वे मौलिकता का दावा नहीं करते, पर यह स्वीकार करते हैं कि 'हिंदी आलोचना भारतीय और पाश्चात्य आलोचना पद्धतियों का अद्भुत समन्वय है।'[1] पाश्चात्य साहित्य एवं समीक्षा के अध्ययन से डा० वार्ष्णेय की तथ्यातथ्य के स्वतन्त्र तथा तटस्थ विवेचन की क्षमता बढ़ी है—वे पाश्चात्य साहित्य की वरिष्ठता से अभिभूत नहीं हुए हैं। कुछ लोगों की यह धारणा रही है कि यदि अँगरेज भारतवर्ष न आते तो हिंदी साहित्य का ऐसा स्मरणीय विकास न होता। वार्ष्णेयजी ने इसे निराधार कहा है। अँगरेज न भी आते तो हिंदी साहित्य स्वतन्त्र रूप से प्रगति की ओर अग्रसर होता। किंतु इसे न तो हम और न डॉ० वार्ष्णेय अस्वीकार कर सकते हैं कि 'ऐतिहासिक घटना चक्र के अनुसार हिंदी साहित्य का अँगरेजों के माध्यम द्वारा यूरोपीय संस्कृति से संपर्क स्थापित हुआ और आधुनिकता का बीजारोपण हुआ।"[2] 'आधुनिक हिंदी साहित्य' के "पूर्वपरिचय" और 'पीठिका' नामक अध्यायों में उन्होंने भारतीय समाज और संस्कृति पर अँगरेजी 'नवशिक्षा' के प्रभावों का विशद आकलन प्रस्तुत किया है। इन अध्यायों से लेखक के पश्चिम से प्रभावित होने का द्योतन नहीं होता प्रत्युत इस बात का पता चलता है कि वार्ष्णेयजी की दृष्टि ऐतिहासिक तथ्यों और घटना क्रमों के इतिवृत्तात्मक प्रस्तुतीकरण पर केंद्रित है, विशुद्ध साहित्यिक समीक्षा पर नहीं। "गद्य' और "निबंध" शीर्षक प्रकरणों में उन्होंने क्रमशः हिंदी-गद्य पर अँगरेजी प्रभाव का तथा हिंदी निबंधकारों की भाषा-शैली की विशेषताओं का विद्वत्तापूर्ण आलोचनात्मक परिचय दिया है। "आधुनिक हिंदी साहित्य" (१९४१) और "आधुनिक हिंदी साहित्य की भूमिका' (१९५२)—दोनों से ही लेखक की अपूर्व श्रमशीलता और शोधश्रम न्यायतत्परता का परिचय मिलता है।

"फोर्ट विलियम कॉलेज" (१९४७) भी मूलतः तथ्यपरक शोध सामग्री

---

१ डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, 'पश्चिमी आलोचना शास्त्र' (लखनऊ, १९६५), वक्तव्य।

२ आधुनिक हिंदी साहित्य (इलाहाबाद, १९५४

का महत्त्वपूर्ण सकलन है। अपने "वक्तव्य म लगार त मर विलियम जोन्स द्वारा स्थापित एशियाटिक सोसायटी (१७८४) और मार्किस वल्जली द्वारा स्थापित फोर्ट विलियम कॉलेज (१८००) को भारतीय इतिहास म आधुनिकता के निश्चित प्रतीक के रूप म स्वीकार किया है। कॉलेज के आश्रय म अनेकानेक विदेशी एव भारतीय विद्वाना न पौरस्त्य भाषाओ म विविध विषय-सबधी मूल ग्रथ रचे और साथ ही संस्कृत, फारसी तथा अरबी म अनुवाद ग्रथ भी प्रस्तुत किए। वार्ष्णेयजी ने प्रभूत एतिहासिक तथ्यो के आधार पर कहा है कि आधुनिक हिंदी भाषा की उत्पत्ति के विषय म फिर स विचार करने की आवश्यकता है। उन्ह यह कथन स्वीकार्य नही है कि फोर्ट विलियम कालेज म ही आधुनिक हिंदी भाषा और गद्य का जन्म हुआ।[1] उनका निश्चित मत है कि उन्नीसवी शताब्दी अथवा फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना स पूर्व हिन्दी म गद्य ग्रथ विद्यमान थ।[2]

"आधुनिक कहानी का परिपार्श्व' (१९६६) के अनुशीलन से हमारी यह धारणा दृढतर हो जाती है कि वार्ष्णेयजी ने अँगरेजी साहित्य और इसकी विविध विधाओ का सम्यक अध्ययन किया है। किंतु इस पुस्तक म उनके विवेचन का लक्ष्य आधुनिक कहानी पर पाश्चात्य प्रभाव का निदान नही है। उन्होने केवल दो महत्त्वपूर्ण तथ्यो की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है एक तो यह कि आधुनिक कहानी को "नई' कहना उचित नही है क्योंकि हिंदी कहानी म कथ्य तथा कथन दोनो ही दृष्टियो स होनेवाले अनेकानेक परिवर्तन प्रत्येक काल म होते रहे हैं,[3] और दूसरा यह कि "तमाम लम्बी चौडी बातो के बावजूद हम प्रेमचद जैसा व्यक्तित्व उत्पन्न करने म असफल रह हैं।'[4]

डा० भगीरथ मिश्र (१९१४–) के छिटपुट आलोचनात्मक निबध और काव्यशास्त्र विषयक ग्रथ भारतीय परपराओ से ही सर्वाधिक सबद्ध हैं और उनकी कृतियो म पौरस्त्य काव्यशास्त्र का सशक्त प्रभाव दृष्टिगत होता है। डा० मिश्र लिखित 'अभिव्यजनावाद और आचार्य शुक्ल'[5], 'साहित्यालोचन के मानदड

१ फोर्ट विलियम कॉलेज (इलाहाबाद, स० २००४), पृ० १६३।

२ उपरिवत।

३ द्रष्टव्य "इन सब विषयगत और शैलीगत नवीनताओ के बावजूद आज की कहानी को पुरानी परपरा से एकदम विच्छिन्न धारा मान लेना असगत होगा। "आधुनिक कहानी का परिपार्श्व" (इलाहाबाद, १९६६), पृ० ९५।

४ उपरिवत, पृ० ६ (भूमिका)।

५ डा० भगीरथ मिश्र, 'कला, साहित्य और समीक्षा' (दिल्ली, १९६३), पृ० २४३ २४७।

(२) पाश्चात्य'[1], "प्रतीकवाद , 'व्यावहारिक समीक्षा-सबधी सिद्धात" आदि निबधा से नात होता है कि उन्होने पाश्चात्य काव्यशास्त्र का अध्ययन किया है और उनके पाठ विश्लेषण तथा विस्तृत उद्धरणा के समीक्षण से जान पडता है कि ५ आधुनिक 'सिमेण्टिक" समीक्षका म प्रभावित भी हैं। परतु उन भारतीय भाष्यकारा और लाला भगवानदीन, रत्नाकर-जैसे आचार्यों द्वारा उद्घाटित हिदी टीका-परपरा का ही सबम अधिक प्रभाव है। अभिव्यजनावादादि के सबध म उनका विवेचन पाश्चात्य समीक्षका क मूल अथवा अँगरजी म अनूदित ग्रन्था पर हो आधृत है।

उन अधुनातन रोमाटिक समीक्षका म, जा पाश्चात्य समीक्षा शास्त्र से प्रभावित हुए हैं डॉ० विजयेन्द्र स्नातक (१६१४–) की आलोचना-कृतिया स्थायी महत्त्व की हैं। इनके अनुसार साहित्य के सर्जनात्मक अगा की भाँति समीक्षा भी अभिनव सजन है और "उसके पीछे प्रेरणा की दष्टि से वही मूल भावना उपलब्ध होगी जो स्व की अभिव्यक्ति चाहती है।"[2] समीक्षात्मक विवेचन और मूल्याकन म भी हृदगत आवेग-सवेग निहित होते हैं और समीक्षा के मूल म वही प्रेरणा रहती है, जो कविता या कहानी के मूल म रहती है। जिन आलोचका न इस मौलिक सिद्धात की उपेक्षा की है उन्होने आलोचना-क्षेत्र म कोलाहल ही मचाया है, काम की बात कम की है। जिन समीक्षको ने 'बौद्धिक प्रयोग के रूप म" समीक्षा को स्वीकार किया है उन्हें यह सोचना चाहिए कि उनके भीतर 'अजआवएक्सप्रेशन किस रूप म उत्पन्न होती है। दुर्भाग्यवश (डॉ० विजयेन्द्र स्नातक के मतानुसार) हिंदी मे "गभीर अध्ययन की भित्ति पर प्रतिष्ठित" समीक्षा के अभाव का एकमात्र कारण यही है कि हिंदी लेखकों का अल्पाश ही अपना समय विदेशी साहित्य सस्कृत तथा हिंदीतर भाषाओं के अध्ययन म लगाता है। सत्समीक्षा के वतमान दैन्य का यही कारण है कि हमारे आलोचक विदेशी साहित्य का अध्ययन नही करत। स्नातकजी के कथनानुसार प्रभाकर माचवे के आलोचनात्मक निबध इसलिए प्रशस्य हैं कि उनमे सतुलन के साथ यागयता, सहृदयता और अभिव्यजना-क्षमता" का समुचित समाहार पाया जाता है। इसके अतिरिक्त प्रभाकर माचवे ने पाश्चात्य साहित्य का श्रमसाध्य अध्ययन किया है, जो उनकी समीक्षा म बहुविध प्रतिफलित है।

---

१ डॉ० भगीरथ मिश्र, 'काव्यशास्त्र' (वाराणसी गोरखपुर, १९६३) ,पृ० २७८ ३३१।

२ प्रभाकर माचवे लिखित 'सतुलन' (दिल्ली, १९५४) की भूमिका, पृ० क।

"पाश्चात्य विचारक टी॰ ई॰ हल्मे, ह्यूम, बोनी आदि की विचारधारा को दृष्टि में रखते हुए इन्होंने अपना अभिमत बड़े सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है। इन्होंने (?) में पाश्चात्य समीक्षकों की विचारधारा पर विस्तृत रूप से विचार किया है जो कि उनकी समन्वय की भावना का परिचायक है।"[1]

डॉ॰ विजयेन्द्र स्नातक निज समीक्षा-पद्धति में बाहर अमुक हैं। यद्यपि वे स्पष्ट होते हैं और उनमें [illegible] पर आवेग का प्रतिबिम्ब रहता है। उनका समीक्षा-पद्धति गायमन और पेटर की समीक्षा-पद्धति है। जहाँ तक भावना का संबंध है एलियट के मतानुसार साहित्य समीक्षक के हृदय में वे ही आवेग होने चाहिए जो कलाकृति द्वारा उद्दीप्त हुए हों—और ये आवेग यदि अभिव्यक्त हुए तो सम्भवतः आवेग नहीं कहलाएँगे।[1] परन्तु स्वच्छन्दतावादी समीक्षक कलाकृति की सूक्ष्म विशेषताओं का वर्णन विस्तार एवं पुनर्निर्माण करता है।[2] इनके मत के अनुसार समालोचना पुनर्निर्माण की एक प्रक्रिया है। ऑगस्ट विल्हेम श्लेगिल ने भी समीक्षा में स्वतन्त्रता और अनुभूति के महत्त्व को स्वीकार करते हुए कहा है कि कभी-कभी समीक्षक अनुभूति को ही अपनी अन्तिम कसौटी बनाने के लिए बाध्य होता है। प्लेटो से प्रभावित समीक्षकों के अनुसार कला मन की शक्ति अथवा बौद्धिक सहजानुभूति है। शेलिंग के अनुसार दार्शनिक और कलाकार—दोनों ही विश्व के सारतत्त्व में प्रवेश कर यथार्थ और आदर्श जगत् के बीच निर्मित व्यवधान को तोड़-फोड़ डालते हैं। अपने व्याख्यान Uber das Verhaltnis der bildenden Kunste zu der Natur में शेलिंग ने उस मूल सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है जिसके अनुसार कला प्रकृति और उसकी सर्जनात्मक शक्ति का तुल्यरूप या उपमान है। एक और उदाहरण देकर इस विचार की पुष्टि की जा सकती है कि स्नातकजी की समीक्षात्मक धारणाएँ स्वच्छन्दतावादमूलक हैं। नोवालिस ने भी सर्जनात्मक समीक्षा का ही समर्थन किया है। चूँकि कविता का आविर्भाव दिव्यप्रेरणा से होता है, इसकी आलोचना अभिनन्दनीय नहीं हो सकती। अधिक से अधिक रचनात्मक आलोचना को ही स्वीकृति मिल सकती है। ऐसी आलोचना से नोवालिस का तात्पर्य उस प्रतिभा से है जिसको पाकर आलोचक उस उत्पत्ति को ही पुनः सर्जित कर डालता

---

१ उपरिवत, पृ० ख।
२, द सेक्रेड वुड, पृ० १२ १३।
३ द क्रिटिक मस्ट "रिकन्सट्रक्ट, पर्सीव, एण्ड करेक्टराइज द मोर सट्ल पिक्यूलियरिटीज आव अ होल।"

—फ्रेडरिख श्लेगिल।

है जिसकी आलोचना लिखनी होती है।" इसमें समीक्षक स्वयं कवि बन जाता है और उसकी रचनाएँ रसदीप्त हो उठती हैं।

लेखक के सद्य प्रकाशित "चिंतन के क्षण" के निबंध उपरिलिखित स्थापनाओं का समर्थन और प्रमाणित करते हैं। डॉ० नगेन्द्र का समर्पित यह ग्रंथ "लेखक की आस्था' का व्यक्तीकरण है। इसमें कितनी ही ऐसी स्थापनाएँ मिलती हैं जो युग-युग से रोमांटिक कलाकारों के सर्वाधिक मान्य सिद्धांत रहा है। कहीं-कहीं तो ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक डॉ०नगेन्द्र और तालस्ताय कविवर जयशंकर प्रसाद और अन्य रोमांटिक-छायावादी कवियों के काव्यसिद्धांत से जितना प्रभावित हुआ है उतना अन्य लेखकों से नहीं। उसके अनुसार कला आत्माभिव्यंजन है (डा० नगेन्द्र की महत्वपूर्ण मान्यताओं में एक यह भी है)। "कला-सृष्टि में अनुभूति का योग रहता है।"[1] (यह एक सामान्य व्यापक कथन है।) जिसे हम वास्तविक कलाकृति समझते हैं वह स्रष्टा में ही निर्मित होती है।[2] विश्व के सभी रोमांटिक समीक्षकों ने काव्यहेतुओं में प्रतिभा का स्थान सर्वोच्च रखा है। लांगिनुस से लेकर ब्लेक और रूसो तक (और अब 'चिंतन के क्षण' तक) प्रतिभा के समर्थकों की रोमांटिक परंपरा अक्षुण्ण रही है। इसलिए रोमांटिकों की तरह ही 'चिंतन के क्षण' में लेखक कला को मनोविनोद का—रसानुभूति का साधन मानता है। रोमांटिक सप्रेषणीयता और साधारणीकरण के सिद्धांत की प्रतिध्वनि इन शब्दों में सुनी जा सकती है

> १—मेरी अपनी सम्मति में सच्चा साहित्यकार वह है, जो अपनी अभिव्यक्ति और अपनी गरज को समाज की श्रोता या पाठक की गरज बनाने में सफल होता है।[4]
>
> २—मेरा आग्रह है कि अर्थबोध की शर्त साहित्यकार के सामने रहे तो कोई भी रूपांतरण अग्राह्य नहीं बन सकता। मैंने ऐसे अनेक रूपान्तरित वाक्य-खंड नई समीक्षा में पढ़े हैं, जिनमें भाव का विपर्यास होकर रह गया है, भावबोध नहीं हुआ।[5]

तोल्सतोय के प्रभाव के साथ कितने ही अन्यान्य प्रभाव मिलकर इस कथन

१ 'चिंतन के क्षण' (दिल्ली, जुलाई १९६६), पृ० ३।
२ उपरिवत, पृ० ४।
३ दे० "रोमांटिक जीनियस", इर्विंग बबिट, 'रूसो एण्ड रोमांटिसिज्म' (न्यूयॉर्क, १९५५), पृ० ३९ ६६।
४ 'चिंतन के क्षण, पृ० १५।
५ उपरिवत, पृ० ९१ ९२।

मे व्यक्त होते हैं "समाज म श्रेष्ठ साहित्य के रूप म स्वीकृत साहित्य तभी बनता है जब कोई रचना व्यक्ति विशेष की सीमा को लाँघकर सहृदय समाज तक पहुँच जाती है।[1] स्वच्छन्दतावाद स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह" है। इसलिए डा० स्नातक कहते ह साहित्य दर्शन का मूल्यांकन स्थूल धरातल पर नही हो सकता।[2]

डा० स्नातक की समीक्षा पद्धति अन्य समन्वयवादी समीक्षको की समीक्षा-पद्धति से मिलती-जुलती है। अपनी मान्यता की पुष्टि के लिए व जहाँ भी भारतीय साहित्य से उदाहरण देते हैं वहा प्राय पाश्चात्य समीक्षा साहित्य को विस्मृत नही करते। कहा-कहा एक ही वाक्य म पूर्व पश्चिम का अपूर्व सयोग उपस्थित करते ह कालिदास और शेक्सपियर जैसे विशुद्ध रसवादी साहित्यकारो पर भी अपने युग के सामाजिक जीवन की छाया पूरी तरह लक्षित होती है।[3] रामायण और महाभारत की ओर पाठको का ध्यान आकृष्ट किया जाता है और इसके पश्चात इस स्थल पर यूरीपीडिज डिक, वेल्स बनार्ड शा प्रभति की ओर। ध्यातव्य है कि पाश्चात्य लेखको के नाम अनुपातत अधिक हैं। इस नामोल्लेख के अनतर एक अनुच्छेद के लिए विवेचन पुन भारतीय भूमिका की ओर लौट आता है। प्रेमचन्द मथिलीशरण गुप्त माखनलाल चतुर्वेदी और दिनकर की चर्चा होती है, पर इस अनुच्छेद के समाप्त होते ही लेखक अँगरेजी की एक उक्ति की बात करने लगता है। कहीं-कहीं चितन के क्षण म लेखक के कथन चर्वितचर्वण से दीखते हैं

> किसी परपरानुमोदित मार्ग का अन्धानुकरण साहित्यकार को नही करना चाहिए। (पृ० २३)
>
> समान अवसर और समान अधिकार ही समाजवाद के आधार स्तम्भ हैं। (पृ० १०७)
>
> सभी कवियो को मिलकर सम्मेलन की सगठित सफलता का प्रयास करना चाहिए। (पृ० १४०)

परतु ऐसे कथनो से शायद ही कोई लेखक बचा हो। समग्रत डा० स्नातक की दृष्टि उदार और उनका समीक्षक अत्यत सजग एव जागरूक है।

---

१ उपरिवत, पृ० १७।
२ उपरिवत, पृ० १६।
३ उपरिवत, पृ० १८।
४ उपरिवत, दे० पृ० १८ १९।

डॉ० देवीशंकर अवस्थी (१९३०–१९६६) के अधिकांश निबंध आधुनिक साहित्य और इसकी भिन्न भिन्न समस्याओं से संबद्ध हैं। इन सभी निबंधों की भाषा शैली, इनमें व्यक्त चिंतन, जीवन-बोध, जागतिक दृष्टिकोण और भावों पर प्रभूत पाश्चात्य प्रभाव पड़ा है। "आलोचना और आलोचना" के निबंधों पर रिचर्ड्स, लीविस, ऑडेन, एलियट, विम्सेट आदि का प्रभाव परिलक्षित होता है। डा० अवस्थी ने आधुनिक अँगरेजी उपन्यासों पर एक अत्यंत विचारोत्तेजक एवं सारगर्भ विवेचन प्रस्तुत किया है, जो उनके गहन अध्ययन का द्योतन करता है। वस्तुत डा० अवस्थी का कोई भी निबंध विचारशून्य नहीं दीखता और न कहीं ऐसा आभास ही होता है कि उनकी रचनाएँ गंभीर अध्ययन से प्रसूत नहीं हैं। 'स्क्रूटिनी' के माध्यम से लीविस और उसके सहयोगियों ने इस बात पर बल दिया है कि आलोचक भी पाठक होता है और समीक्षा प्रक्रिया चिंतन-मनन की प्रक्रिया से नितांत भिन्न है। समीक्षक का लक्ष्य साहित्यानुशीलन से परस्पर तथ्यों को बौद्धिक शब्दावली में रखकर एक सुसंगत व्यवस्था में पिरोना होता है। स्पष्ट है कि डा० अवस्थी और डा० विजयेंद्र स्नातक दो परस्पर विरोधी विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। जहाँ एक पर आधुनिक पाश्चात्य विचारधारा का प्रभूत प्रभाव है, वहाँ दूसरे पर रामाटिका का। कहीं-कहीं तो (जैसे "साहित्यिक अध्ययन की प्रकृति" में) डॉ० अवस्थी के विचार प्रभाववादी समीक्षकों के संबंध में व्यक्त एलियट के विचारों के अनुवाद-से लगते हैं और कहीं-कहीं ऐसा प्रतीत होता है कि डॉ० अवस्थी अपने अँगरेजी विचारों का हिंदी रूपांतर कर रहे हैं। "विवेक के रंग" (१९६५) और 'नयी कहानी संदर्भ और प्रकृति' (१९६६) की भूमिकाओं और इनमें संकलित डा० अवस्थी के निबंधों में स्पष्ट है कि उनका विकास समन्वय की दिशा में हो रहा था। कीट्स की रचनाओं की तरह उनकी आरंभिक अपरिपक्व रचनाओं में ही भावी विकास के वास्तविक प्राणवान बीज सन्निहित मिलते हैं। अतः अनुमान किया जा सकता है कि शनैः शनैः उनकी संवेदना पाश्चात्य प्रभावों को आत्मसात् करने और श्रेष्ठतर रचनाओं को अधिकाधिक मौलिक बनाने में समर्थ होती।

५

हिन्दी की व्यावहारिक आलोचना पर पाश्चात्य प्रभाव

> "अधिकतर आलोचकों का गीत का टेक यही रहा है कि हिंदी में जो कुछ नवीन विकास हो रहा है यह सब बाह्य वस्तु है।"
>
> —जयशंकर प्रसाद, का० क० अ० नि०, पृ० ७

विषय में ऐसे सुधी समर्थ भावक विरल होंगे जिनकी आलोचना सिद्धांत-प्रतिपादन के क्रम में मूर्त उदाहरण उपस्थित नहीं करती और न विशिष्ट रचनाओं की समीक्षा का अपना उद्देश्य बताती हैं। वस्तुतः उन सिद्धांतों का विवेचन किए बिना हम विशिष्ट साहित्यिक कृतियों को ठीक-ठीक परख भी नहीं सकते जिन पर हमारे निर्णय आधृत होते हैं। इसलिए सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक आलोचना में जो पार्थक्य दिखाया जाता है, वह अधिकांशतः कृत्रिम जान पड़ता है। फिर भी जहाँ सैद्धांतिक समीक्षा का संबंध इस प्रश्न से है कि साहित्य क्या है, वहाँ व्यावहारिक आलोचना सिद्धांतों के प्रयोगात्मक पक्ष पर ध्यान देती हुई साहित्यिक कृतियों के गुणावगुणों की परीक्षा करती है। यह मान लेने पर भी कि सैद्धांतिक और व्यावहारिक आलोचना में परस्पर घनिष्ठ संबंध होता है, हमें यह स्मरण रखना होगा कि इनके पृथक्कृत विवेचन से ही इन्हें अच्छी तरह आकलित करने और समझने में सहायता मिलती है। इसलिए निम्नलिखित विवेचन में कई स्थलों पर व्यवहार से सिद्धांत के क्षेत्र में अतिक्रमण हो गया है, फिर भी प्रयत्न किया गया है कि इस अध्याय में हिंदी के मुख्य समीक्षकों के सिद्धांतों का निरीक्षण-परीक्षण न करके उनकी उन कृतियों को पाश्चात्य प्रभाव के आलोक में जाँचा जाय, जिनमें उन्होंने हिंदी के खास-खास साहित्यकारों और उनके कृतित्व का मूल्य-निर्धारण किया है। चूँकि ये व्यावहारिक आलोचक हैं, उन्होंने तुलना और वस्तुस्थिति-प्रदर्शन को पर्याप्त महत्त्व दिया है और वर्णन को मूल्यांकन का एक अनिवार्य साधन माना है। उनकी

आलोचना पद्धति के अनुशीलन से सत्-असत् एवं उत्कृष्ट निकृष्ट को परखने की क्षमता का विकास होता है, जो उनकी सैद्धांतिक आलोचना के अध्ययन से नहीं होता। हम किसी मान्तिक साहित्य शास्त्र के परिज्ञान के बिना भी अच्छे पाठक बन सकते हैं, किंतु पढ़ने के क्रम में निर्णय करने की क्षमता के बिना हम अच्छे पाठक कदापि नहीं हो सकते।

जिस प्रकार श्यामसुंदरदास की सैद्धांतिक समीक्षा पर पश्चिम का व्यापक और गंभीर प्रभाव पड़ा है, उसी प्रकार उनकी व्यावहारिक समीक्षा भी पश्चिम से प्रभावित है। हिंदी के विशिष्ट साहित्यकारों के मूल्यांकन के लिए उन्होंने पाश्चात्य सिद्धांतों का उपयोग किया है और कहीं-कहीं उसी निकष पर हिंदी के कवियों और लेखकों को परखना चाहा है जिसका उपयोग अँगरेज समीक्षकों ने किया है। 'हिंदी साहित्य" में हिंदी कवियों का विवेचन ग्रियर्सन[1] से प्रभावित है और कहीं-कहीं इनकी पंक्तियाँ अधुनातन अँगरेज समीक्षकों की पंक्तियों की प्रतिध्वनि करती जान पड़ती हैं। 'रामचरितमानस" के समीक्षण के लिए प्रबंध-कल्पना, संबंध निर्वाह, वस्तु एवं भावव्यंजना को माप-दंड बनाकर उन्होंने तुलसी को महान घोषित किया है। प्रबंध-काव्य के विवेचन में रामचंद्र शुक्ल ने भी इन्हीं दृष्टिकोणों को स्वीकृति दी है और "पद्मावत"[2] की प्रबंध-कल्पना (पृ० ८८), संबंध निर्वाह (पृ० ८४), कवि द्वारा वस्तु-वर्णन (पृ० १०३), और पात्र द्वारा भाव-व्यंजना (पृ० १२३) का विशद विवरण प्रस्तुत किया है। संभवतः प्रबंध-काव्यों के वैशिष्ट्य निरूपण के लिए श्याम सुंदरदास ने शुक्लजी द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों से प्रेरणा ली है या वे एतद्विषयक पाश्चात्य सिद्धांतों से प्रभावित हुए हैं। तुलसीदास-संबंधी विवेचन के अंत में उन्होंने साहित्य की विकास-परंपरा की क्रमबद्धता का उल्लेख किया है—

यह एक साधारण नियम है कि साहित्य के विकास की परंपरा क्रमबद्ध

---

१ रायबहादुर डाक्टर हीरालाल ने श्यामसुंदरदास विरचित 'गद्य-कुसुमावली" के प्राक्कथन (१९२५) में ग्रियर्सन को 'भारतीय भाषाओं का सर्वोच्च जीवित आचार्य' ("द हाइएस्ट लिविंग आथोरिटी ऑन इंडियन लैंग्वेजेज") कहा है।

२ दे० जायसी ग्रंथावली (प्रयाग, १९३५)। श्यामसुंदरदास की ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं 'क्या प्रबंध-कल्पना, क्या संबंध निर्वाह, क्या वस्तु एवं भाव-व्यंजना, सभी उच्च कोटि की हुई है।'—हिंदी भाषा और साहित्य (प्रयाग, सं० १९८७), पृ० ३९७ ३९८।

> होता है। इसमें कार्य कारण का संबंध प्रायः ढूँढ़ा और पाया जाता है। एक काल विशेष की रचनाओं को यदि हम फलस्वरूप मान लें तो उन्हें उत्तरवर्ती प्रकारों का पूर्वस्वरूप मानना होगा। फिर ये पूर्वस्वरूप प्रकार समय पाकर अपने पूर्ववर्ती प्रकारों के फलस्वरूप और उत्तरवर्ती प्रकारों के पूर्वस्वरूप होंगे। इस प्रकार यह क्रम सर्वथा चलता चलेगा और समस्त साहित्य एक लड़ी के समान होगा जिसकी भिन्न भिन्न कड़ियाँ उस साहित्य के काव्यकार होंगे।[1]

बाबू साहब ने अपनी परंपरा विषयक मान्यताओं का वैसा समुचित पल्लवन नहीं किया है जैसा एलियट के कतिपय निबंधों में मिलता है परंतु एलियट की तरह उन्होंने भी परंपरा को प्रवहमान एवं गतिशील माना है।

'हिंदी के निर्माता' की प्रस्तावना में श्यामसुंदरदास ने हिंदी गद्य के विकास में अँगरेजों के योगदान और प्रेरणा का उल्लेख किया है। लल्लूलाल और सदल मिश्र ने कलकत्ते के फोर्ट विलियम कालेज के डा० जान गिलक्रिस्ट की तत्वावधानता में ईस्ट इंडिया कंपनी के यूरोपीय कर्मचारियों को हिंदी भाषा का ज्ञान कराने के लिए गद्य-ग्रंथों की रचना की थी। लल्लूलाल ने 'प्रेमसागर' की भूमिका में लिखा था 'श्रीयुत गुनगाहक गुनियन सुखदायक जान गिलक्रिस्त महाशय की आज्ञा से संवत १८६० में श्री लल्लूजी लाल कवि ब्राह्मन गुजराती सहस्र-अवदीच आगरेवाले ने जिसका (चतुर्भुजदासकृत भागवत दशम स्कंध के अनुवाद का) सार ले, यामनी भाषा छोड़ दिल्ली आगरे की खड़ीबोली में कह, नाम प्रेम सागर धरा। पर श्रीयुत जान गिलक्रिस्त महाशय के जाने से बना अनबना, छपा अधछपा रह गया था। सो अब श्री महाराजेश्वर अति दयाल कृपाल यशस्वी तेजस्वी गिलबर्ट लार्ड मिंटो प्रतापवान के राज में और श्रीगुनवान सुखदान कृपानिधान भगवान कप्तान जान उलियम टेलर प्रतापी की आज्ञा से और श्रीयुत परम सुजान दयासागर परोपकारी डाक्तर उलियम हंटर नक्षत्री की सहायता से औ श्री निपट प्रवीन दयायुत लिफ्टन अबराहम लाकट रतीवत के कहे से उसी कवि ने संवत् १८६६ में पूरा कर छपवाया, पाठशाला के विद्यार्थियों के पढ़ने को।"[2] इसी प्रकार 'नासिकेतोपाख्यान' के अनुवाद के आरंभ में पंडित सदल

---

१ हिं० भा० सा०, पृ० ३९८।

२ हिंदी के निर्माता (प्रयाग, प्र० सं० र०), सरस्वती सिरीज, नं० १७, पृ० ७८।

न्ि ने न्िया था "चित्र विचित्र सुन्दर-सुदर बडी-बडी अटारिन से इन्द्रपुरी समान शोभायमान नगर कलकत्ता महा प्रतापी वीर नृपति कपना महाराज के सदा फूल फूले रहे कि जहाँ उत्तम उत्तम लोग बसत हैं और देश-देश से एक से एक गुणीजन आय आय अपने अपन गुण का सुफल करि बहुत आदर म मान होत हैं। नाम सुन सदल मिश्र पंडित भी वहाँ आन पहुँचा। जो बडी बडाई मुनि मद विद्यानिधान ज्ञानवान महाप्रधान श्री महाराज जान गिल्क्रिस्त साहब से मिला कि जो पाठशाला के आचार्य हैं। तिनकी आज्ञा पाय दो-एक ग्रंथ सस्कृत से भाषा को भाषा स सस्कृत किए। "[1]

बाबू साहब न हिंदी के निर्माताओ की भाषा शैली का सम्यक सक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया है। जिन हिंदी-लेखकों क जीवन-चरित का वर्णन हुआ है उनके जीवन से सबद्ध साधारण परिचयात्मक बातें ही अधिक कही गई हैं, उनकी साहित्यिक उपलब्धियों का यथोचित मूल्यांकन नहीं हो पाया है। इस पुस्तक म व्यावहारिक समीक्षा का स्तर अत्यन्त निम्न है और साधारण अध्येताओ एव विद्यार्थियो के लिए ही उपयोगी है।

'कबीर ग्रंथावली' की प्रस्तावना पर इमर्सन वसफील्ड तथा "विक्टोरियन' समीक्षा का प्रभाव स्पष्ट है। कबीर क काव्यत्व' का वर्णन करते हुए श्याम-सुन्दरदास ने कहा है "कविता क लिए उन्होंने कविता नहीं की है। उनकी विचारधारा सत्य की खोज म बही है, उसी का प्रकाश करना उनका ध्येय है। उनकी विचारधारा का प्रवाह जीवन धारा क प्रवाह म भिन्न नहीं। उनकी प्रतिभा हृदय समन्वित है। प्रयत्न उनकी कविता मे कहीं नहीं दिखाई देता।'[2] इसी प्रकार निम्नलिखित विवेचन स स्पष्ट है कि बाबू साहब का आलोचनादर्श रोमांटिक-विक्टोरियन काव्य एव समीक्षा के अध्ययन से प्रभावित है —

> कबीर ने अपनी उक्तियों पर बाहर स अलकारों का मुलम्मा नहीं चढाया है। जो अलकार उनम मिलते भी है, वे उन्होंने खोज-खोजकर नहीं बठाए हैं। मानसिक कलाबाजी और बारीगरी के अर्थ म कला का उनम सर्वथा अभाव है। "बे सिर पर की बातो', 'वायवी अवस्तुओ' का स्थान और नाम निर्देश कर देने का कवि-कर्म कह कर शेक्सपियर न कवियो को सन्निपात या पागलपन म बे सिर पर

---

१ उपरिवत, पृ० ८।

२ कबीर ग्रंथावली (प्रयाग, १९२८), पृ० ६३ ६४।

की सार्थकता लोगों की भावना में रम लिया है। ... के लिए तथ्य आवश्यक है।[1]

इस उद्धरण का प्रथम वाक्य कालरिज के रोमांटिक दृष्टिकोण का [illegible] करता है और अंतिम आर्नल्ड तथा इलियट के मूल्यपूरक सिद्धांतों से [illegible] है। यह स्पष्ट [illegible] भी कहता था कि भाव के [illegible] के प्रतिकूल [illegible] उन [illegible] विचारों के [illegible] कर [illegible] करें तो हम [illegible] के [illegible] पाठक को [illegible] पहुँचाना [illegible] जिस ढंग से ओजस्वितापूर्ण रीति से [illegible] और [illegible] का [illegible] (पाठक के मन पर) सम्मिलित प्रभाव डालते हैं कि [illegible] [illegible] भी [illegible] और [illegible] है।[2] इस प्रकार का [illegible] की रचनाओं में भी पाया जाता है[3] और [illegible] कहता है कि 'कविता [illegible] रूप में अभिव्यक्त [illegible] का ही प्रतिबिंब है।'[4]

सिद्धांतविवेचना की [illegible] [illegible] (कबीर ग्रंथावली) एवं प्रभावपूर्ण है। बाबू साहब की व्यावहारिक समीक्षा भी [illegible] है। उन्होंने ड्राइडन और डा० जॉनसन के समान विवेच्य कवि के काल के अलंकरण के लिए ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का प्रयोग किया है। कबीरदास की [illegible] में अनभिज्ञता का उल्लेख [illegible] यह [illegible] स्थापित किया है कि [illegible] हिंदी कविता के आरंभ के दिनों के (पृ० ६६)। शब्दों के प्रयोग में कबीर ने उस शुद्धता और सावधानी का परिचय नहीं दिया है जो प्रत्येक कवि के लिए अनिवार्य है। उन्होंने ब्रह्म के लिए राम, रहीम, अल्ला, सत्य नाम, साहब, [illegible] आदि अनेक शब्दों का प्रयोग किया है (पृ० ३४)। बाबू साहब के अनुसार 'इनका (कबीर का) ध्येय सदा हिंदू मुस्लिम ऐक्य रहा है यह भी इसका एक कारण है' (पृ० ३८)। श्यामसुंदरदास ने प्रेम तथा बाल्यावस्था के प्रति कबीर के दृष्टिकोण की तुलना कालरिज और वर्ड्सवर्थ की एतद्विषयक मनोदृष्टि से की है। जिस प्रकार कालरिज के प्रेम की सीमा में सृष्टि के सभी जीव जंतु आ जाते हैं,[5]

---

१ उपरिवत, पृ० ६५।

२ पाश्चात्य काव्य शास्त्र की परंपरा (दिल्ली, प्र० सं० २०), पृ० १४४।

३ उपरिवत, पृ० २२३-२२४।

४ उपरिवत, पृ० १७३।

५ बाबू साहब ने कोलरिज की इन पंक्तियों का उद्धृत किया है

हौ प्रेयेथ बेस्ट हू लवेथ बेस्ट,

उसी प्रकार कबीर का प्रेम मनुष्यों तक ही परिमित नहीं था। वड्र्स्वर्थ के अनुसार बालकों की सरलता का कारण यह है कि उनमें पारमार्थिकता अधिक रहती है। ज्यों ज्यों उनकी अवस्था बढ़ती जाती है, त्यों त्यों उनमें पारमार्थिकता न्यून होती जाती है। इसलिए अपने खोये हुए बालकत्व के लिए वह क्षुब्ध हो उठता है।[1] कबीरदास भी बालकों की सरलता के प्रशंसक हैं, किंतु उनके अनुसार यदि मनुष्य स्वयं भक्ति भाव से अपने मन को परिशुद्ध कर परमात्मा की ओर उन्मुख हो तो वह पुनः अपनी बालसुलभ सरलता को प्राप्त कर बालक हो सकता है —

जो तन माहैं मन धरै, मन धरि निर्मल होइ।
साहिब सों सनमुख रहै, तौ फिरि बालक होइ॥

जिस कसौटी पर बाबू साहब ने अपने चरितनायकों को परखा है और हिंदी के गणमान्य साहित्यकारों का मूल्यांकन किया है वह शुक्लजी की काव्य-परिभाषा से भी प्रभावित है। 'कविता की कसौटी' शीर्षक निबंध में "कविता के लक्षण" का प्रतिपादन शुक्लजी की उस चिरपरिचित परिभाषा के आलोक में हुआ है जिसमें उन्होंने कविता को वह साधन कहा है 'जिसके द्वारा शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक संबंध की रक्षा और उसका निर्वाह होता है।" शुक्लजी के 'विचार वीथी' नामक निबंध संग्रह के प्रकाशक ने अपने 'निवेदन' में शुक्लजी द्वारा निरूपित काव्य-स्वरूप को उद्धृत करने के पश्चात् कहा है

> यह लक्षण रायसाहब बाबू श्यामसुन्दरदास बी० ए० को इतना पसंद आया कि उन्होंने उक्त लेख का वह सारा अंश जिसमें इस सिद्धांत का निरूपण था, पहले अपने 'साहित्यालोचन' में और फिर अपनी 'गद्य-कुसुमावली" (कविता की कसौटी, पृ० २२–२३) में उद्धृत किया।
>
> इस प्रकार इस संग्रह ('विचार-वीथी') में प्रकाशित भारतेंदु-संबंधी प्रबंध 'नागरी प्रचारिणी-पत्रिका' भाग १४ संख्या १० तथा भाग १५ संख्या १० में प्रकाशित हुआ था। इस लेख का भी

ऑल थिंग्ज बोथ ग्रेट एण्ड स्मॉल,
फौर द डियर गाड हू लवेथ अस,
ही मेड एण्ड लवेथ आल,
—द राइम आव दि एनशंट मैरिनर।

१ दे० इमोर्टेलिटी ओड।

> इसे रायसाहब ने अपनी संपादित 'भारतेन्दु नाटकावली' की भूमिका में ज्यों का त्यों पूरा उद्धृत किया है।[1]

रामचंद्र शुक्ल

भक्तिकालीन भावधारा का निरूपण करते हुए शुक्लजी ने कहा है

> "कालदर्शी भक्त कवि जनता के हृदय को सँभालने और लीन रखने के लिए दबी हुई भक्ति को जगाने लगे। क्रमशः भक्ति का प्रवाह ऐसा विस्तृत और प्रबल होता गया कि उसकी लपेट में केवल हिंदू जनता ही नहीं देश में बसनेवाले सहृदय मुसलमानों में से भी न जाने कितने आ गए।"[2]

"हिंदुस्तान का आधुनिक भाषा साहित्य' में ग्रियसन ने तुलसीदास तथा उनके 'मानस' के संबंध में इसी तरह की बातें कही हैं[3] और भक्ति-आंदोलन को मुसलमान विजेताओं द्वारा पराभूत देश की नैराश्य भावना का परिणाम माना है। इसमें संदेह नहीं कि श्यामसुंदरदास, रामचंद्र शुक्ल और उनके समसामयिकों ने तुलसी का महत्त्व "डाक्टर ग्रियसन से सीखा है।"[4] रामचंद्र शुक्ल-कृत 'गोस्वामी तुलसीदास' के अनेकानेक महत्त्वपूर्ण स्थल ग्रियसन के संक्षिप्त सूत्रवत् कथनों की व्याख्या हैं। उदाहरणार्थ, गोस्वामीजी की भाषा के संबंध में ग्रियसन ने कहा है कि 'वे सरलतम प्रवाहपूर्ण वर्णनात्मक शैली से लेकर जटिलतम सांकेतिक पद्य प्रणाली तक सभी के आचार्य थे।' (हि० सा० गु० पृ० १४२) शुक्लजी ने ग्रियसन की आधारभूत मान्यताओं एवं निष्कर्षों का समर्थन किया है और तुलसीदास की प्रवहमान भाषा शैली की विशेषताओं का विशद उद्घाटन किया है। जिस प्रकार ग्रियसन ने तुलसीदास को भारतीय कवियों में शीर्ष स्थान देते हुए सीधे 'प्रकृति की पुस्तिका' से ली गई उनकी उपमाओं की प्रशंसा की है उसी प्रकार ग्रियसन की विचार सरणियों का अनुसरण करते हुए, शुक्लजी

---

१ 'विचार-वीथी' (बनारस, १९३०), पृ० ३४ (निवेदन)।
२ 'हिंदी साहित्य का इतिहास' (बनारस, सं० १९९९), पृ० ७०।
३ किशोरीलाल गुप्त (संपा०), डा० ग्रियर्सन जार्ज ग्रियसन कृत 'हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास' (बनारस, १९६१), पृ० १३६-१३७।
४ नंददुलारे वाजपेयी, 'हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' (लखनऊ, १९४५), पृ० ५७।

न कहा है "हिंदी कवियों में प्राचीन संस्कृत कवियों का-सा वह सूक्ष्म निरीक्षण नहीं है जिससे प्राकृतिक दृश्यों का पूरा चित्र सामने खड़ा होता है। यदि किसी में यह बात थोड़ी-बहुत है, तो गोस्वामी तुलसीदासजी में ही।"[1] ग्रियर्सन ने भी तुलसीदास को स्थूल वस्तुओं का "सूक्ष्म द्रष्टा" कहा है और स्वीकार किया है कि महाकवि के अनेक "सत्य और मनोरम पदार्थ" उनके उन विद्वान् टीकाकारों की समझ में नहीं आते "जो अपनी आँखें पुस्तकों से बन्द किए हुए, अपने चतुर्दिक् स्थित सुन्दर संसार में विचरण करते थे।"[2] शुक्लजी ने गोस्वामी तुलसीदास के उस दैन्य और विनय का प्रसंगानुकूल उल्लेख किया है जिसकी ओर, संक्षेप में, ग्रियर्सन ने भी हमारा ध्यान इन शब्दों में आकृष्ट किया था

> इस महान् कवि की इस कृति के गुणों के कारणों को ढूँढने के लिए दूर न जाना होगा। सबसे महत्त्वपूर्ण कारण कवि की अति विनम्रता है, राम चरितमानस की भूमिका ग्रंथ के अत्यंत विशिष्ट प्रकरणों में से एक है। तुलसी ने कभी भी एक पंक्ति नहीं लिखी जिसमें वे अन्तरतम से विश्वास न करते रहे हों। वे अपने विषय, अपने स्वामी की भक्ति और उनके गौरव, में पूर्णतया निमग्न थे और वह भक्ति और गौरव उनसे इतने उच्च थे कि वह सदैव अपने को दीन समझते रहे।[3]

स्पष्ट है कि शुक्लजी की व्यावहारिक समीक्षा ऐसे स्थलों पर ग्रियर्सन से प्रभावित है।

चाहे तुलसीदास का विवेचन करना हो, या जायसी का, शुक्लजी पाश्चात्य साहित्य से उपलब्ध ज्ञान विज्ञान को कभी विस्मृत नहीं करते। तुलसीदास के लोक धर्म संबंधी विचारों का विश्लेषण उपस्थित करते हुए वे 'प्रिंसिपल्स ऑव सोशिऑलॉजी' के लेखक गिडिंग का मत उद्धृत करते हैं और कहते हैं कि "समाज शास्त्र के आधुनिक विवेचकों ने भी लोक-संग्रह और लोक विरोध की दृष्टि से जनता का विभाग किया है। गिडिंग के चार विभाग ये हैं—लोक-संग्रही, लोक-बाह्य, अलोकोपयोगी और लोकविरोधी।"[4] तुलसीदास ने कहीं-कहीं एक ही क्रिया के दो एसे कर्मों का उल्लेख किया है जो परस्पर

---

१ 'गोस्वामी तुलसीदास' (प्रयाग, १९३५), पृ० १५० ।
२ हि० ला० यु०, उल्लि० ग्रं०, पृ० १४५ ।
३ उपरिवत्, पृ० १४४ ।
४ गोस्वामी तुलसीदास, पृ० २८ ।

विजातीय होने के कारण बहुत ही अनूठे लगते हैं।[1] शुक्लजी को सहसा किसी अँगरेज कवि का नहीं, अपितु एक अँगरेज औपन्यासिक का स्मरण हो जाता है जिसे ऐसे प्रयोग बहुत अच्छे लगते थे। उन्होंने चार्ल्स डिकेंस के ऐसे ही प्रयोग का एक उदाहरण दिया है 'इस बात ने उसकी आँखों में आँसू और जेब से रूमाल निकाल दिया—व्हिच ब्रॉट टीयर्ज फ्राम हर आइज एण्ड हैंकर्चीफ फ्राम हर पॉकेट।'

सूरदास-द्वारा प्रस्तुत गोचारण के मनोरम दृश्यों के वर्णन को पढ़कर शुक्लजी को यूरप के "पशु चारण काव्य" (पास्टरल पोयट्री) की याद आती है।[3] सूर और तुलसी के विवेचन को व्यापक भूमिका पर संस्थित करने के लिए लेखक अपनी दृष्टि प्राच्य दर्शन चिंतन तक ही सीमित न रखकर प्रतीच्य साहित्य और दर्शन की ओर भी दौड़ाता है। तत्त्वाभास के लिए वह स्वानुभूति को अनिवार्य मानता है[4] और इसकी पुष्टि भारतीय साहित्य एवं दर्शन में प्रतिपादित एतद्-विषयक विचारों से ही नहीं वरन् पाश्चात्य विद्वानों के भी मत उद्धृत करता है। जिस प्रकार सूर और तुलसी ने कोरी बुद्धिक्रिया को निरर्थक घोषित किया था, उसी प्रकार पश्चिम के भी कतिपय दार्शनिकों ने स्वानुभूति का गुण गान किया है। शुक्लजी को विश्वास है कि पश्चिम की अधुनातन विचार धाराएँ प्राच्य चिंतन के नितांत विपरीत नहीं हैं। पश्चिम में भी सूर, तुलसी और शंकराचार्य के सदृश कई दृष्टियों से उनसे मिलते-जुलते, कुछ ऐसे मर्मज्ञ कृती हुए हैं जो बुद्धि क्रिया और तर्क को ही पारमार्थिक सत्ता के बोध के लिए अनिवार्य नहीं मानते। इन विद्वानों में, शुक्लजी के साक्ष्यानुसार बर्गसाँ और एडवर्ड कार्पेण्टर शीर्षस्थ दीखते हैं।[5]

सूरदास की नवोन्मेषशालिनी कल्पना की सर्वोपरिता का वर्णन करते समय शुक्लजी को कालरिज की 'डिजेक्शन ओड' नामक कविता तथा जी० डब्ल्यू० मैकेल के 'लेक्चर्स आन पोयट्री' की याद आती है। शुक्लजी की सैद्धांतिक समीक्षा पर पाश्चात्य प्रभाव के निदर्शन क्रम में कहा जा चुका है कि वे वचन की भाव प्रेरित वक्रता का ही समर्थन करते हैं। सूरदास की वाग्विदग्धता का निरूपण करते हुए वे पुनः इसी सिद्धांत का उपयोग करते हैं। यहाँ यह कहना असंगत न

---

१ उपरिवत, पृ० १८३।
२ उपरिवत।
३ 'भ्रमरगीत सार' (काशी, १९२५), पृ० १३।
४ उपरिवत, पृ० ६०।
५ उपरिवत, पृ० ६१ ६१।

होगा कि इन सिद्धान्त पर कोलरिज का प्रभाव अत्यन्त स्पष्ट है। कोलरिज ने भी भाव-प्रेरित वदग्ध्य और वक्रता को ही काव्योचित ठहराया है

> Images however bea ɪtiful, though faithfully copied from nature and as accurately repre ented in words do not in themselve characterize the poet They become proofs of orginal gen us only as far as they are modified by a predominant passion or by associated thoughts or images awakened by that passion or when they have the effect of reducing mul itude to unity or succession to instant, or lastly, when a human and intellectual life is transferred to them from the poet s own spirit.[1]

समग्रत, शुक्लजी की व्यावहारिक समीक्षा कोलरिज, डाउडन, एबरक्रॉम्बी, आनल्ड तथा रिचड स के सिद्धांतो से ही सर्वाधिक प्रभावित दीखती है। एकाध स्थल पर व अरस्तू स भी प्रभावित दीखते हैं। "पद्मावत" म 'सबध निर्वाह' का विवेचन करते हुए उन्होंने अरस्तू-द्वारा निरूपित 'कार्यान्वय" (यूनिटी आव ऐक्शन") के सिद्धात का उपयोग किया है और कहा है (१) "इस प्रकार के प्रबध के वस्तु विन्यास की समीक्षा बहुत कुछ दृश्यकाव्य के वस्तु विन्यास क समान ही होनी चाहिए, और (२) 'कथावस्तु के आदि, मध्य और अत तीना स्पष्ट हो।[3] अरस्तू के अनुसार महाकाव्य के कथानक का निर्माण त्रासदी की तरह नाट्य सिद्धाता के अनुसार ही होना चाहिए। उसका आधार आदि-मध्य-अवसानयुक्त एक समग्र एव पूण काय होना चाहिए।[4]

शुक्लजी ने आनल्ड और जायसी की तुलना करते हुए कहा है कि जो आनल्ड का आदश था वही जायसी का भी आनल्ड ने "काय विषयक प्राचीन आदश का ही समथन-अनुसरण किया है और काय के महत्वपूण होने की सिफारिश की है। जायसी ने भी अपने काव्य के लिए महाकाव्य का ही चयन किया है और

---

१ एस० टी० कोलरिज, बायोग्राफिया लिटरेरिया', १८१७। क्लाइव स सम की पुस्तक 'द वल्ड आव पोयट्री' (लदन, १९५९) के पृ० २१२ से उद्धत।

२ 'जायसी ग्रथावली (प्रयाग, १९३५), पृ० ९४ १०३।

३ उपरिवत, पृ० ९६,९८।

४ डॉ० नगेंद्र, अरस्तू का काव्य शास्त्र' (दिल्ली, स० २०१४), पृ० ६१।

इसका आयोजन करनेवाली घटनाएँ भी बड़े डील-डौल की हैं। यहीं भी जायसी की समीक्षा-परीक्षण करते समय शुक्लजी अँगरेज कवियों की समान रचनाओं को भूल नहीं जाते। उन्होंने जायसी द्वारा किए गए विस्तार व सुन्दर प्रत्यक्षीकरण किए जाने का उल्लेख करते हुए कहा है कि अँगरेजी के कवि गोल्डस्मिथ ने भी अपने "श्रान्त पथिक" नामक काव्य में विस्तार व प्रत्यक्षीकरण किया है। वहीं शुक्लजी ने पाश्चात्य विद्वानों के विचारों का खंडन भी किया है। ग्रियर्सन के इस विचार से वे सहमत नहीं कि जायसी ने "नागर" जायसी ने पद्मिनी में संस्कृत काव्य रीति का अध्ययन किया।[1] जायसी के रहस्यवाद के अध्ययन के क्रम में उन्होंने पाश्चात्य रहस्यवाद का भी सारगर्भ संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करते हुए प्राच्य प्रतीच्य रहस्यवाद की परस्पर भिन्नता का स्पष्टीकरण किया है। रहस्योन्मुख सूफियों और पुराने कैथलिक ईसाई भक्तों की साधना में उन्होंने साम्य देखा है और कहा है कि दोनों समान रूप से माधुर्य भाव की ओर प्रवृत्त रहे हैं। यहाँ तक कि यूरप में कई ऐसी स्त्रियाँ हुई हैं जिन्होंने ईश्वर की, पति रूप में उपासना की है। सफो और सेंट टेरेसा इनमें उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार उन्नीसवीं शती में रहस्यात्मक कविता का जो पुनरुत्थान यूरप के कई प्रदेशों में हुआ उसमें सर्ववाद (पैन्थेइज्म) का भी बहुत कुछ आभास मिलता है। अँगरेज कवि शेली में इस प्रकार के सर्ववाद की झलक पायी जाती है और आयरलैंड में स्वतन्त्रता की भीषण पुकार के बीच येट्स की रहस्यमयी कविवाणी भी सुनाई देती है।[2] ब्राउनिंग, डाउडन, जर्मन दार्शनिक फिक्टे प्रभृति की रचनाओं से भी शुक्लजी परिचित थे और उन्होंने 'जायसी-ग्रन्थावली" की भूमिका में इनका यथावश्यक उपयोग किया है।

बल्देव उपाध्याय

उपाध्यायजी 'प्राभाविक' समीक्षक हैं

(१) कालिदास की तरह शेक्सपियर ने भी क्या ही अच्छा कहा है।[3]

(२) कवि ने खूब ही काव्यन्याय (पोयटिक जस्टिस) दिखलाया है।[4]

---

१ जायसी ग्रन्थावली, पृ० २२६।

२ उपरिवत, पृ० २०७।

३ संस्कृत विचर्चा (काशी, १९३२), पृ० ६०।

४ उपरिवत पृ० ३१६।

(३) भवभूति ने वे-जान के बड़े पत्थरों को भी रामचन्द्र के विलापों से खूब ही रुलाया है। ऐसा चमत्कार किसी कवि ने नहीं पैदा किया है।[1]

(४) हम इतना ही कहते हैं कि कविता-कामिनी के शिरोमुकुट के दोनों ज्वलंत हीरे हैं।

(५) प्रातःकाल में चमकी रेनवाले सिपाही का क्या ही खासा स्वाभाविक वर्णन है।[2]

'संस्कृतकविचर्चा' में उन्होंने कालिदास की चर्चा में गेटे द्वारा शकुन्तला की प्रशंसा को "प्रशस्त एवं 'औचित्यपूर्ण'" कहा है और गेटे की इन पंक्तियों को उद्धृत किया है[4]—

> Wouldst thou the life s young blossoms and fruits of its decline
> And by which the soul is pleased enraptured feasted fed—
> Wouldst thou the earth and heaven
> itself in one sweet name combine ?
> I name thee O Shakuntala and all at once is said

इसी प्रकार उन्होंने रवीन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा शेक्सपियर के "टेम्पेस्ट" और कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तल' की तुलना को 'सुंदर' कहा है और इसकी कुछ महत्त्वपूर्ण पंक्तियाँ उद्धृत की हैं।[5] गेटे की समालोचना का अनुसरण करते हुए रवीन्द्र ने कहा है कि शकुन्तला के आरम्भ के तरुण सौन्दर्य ने मंगलमय परम परिणति से सफलता प्राप्त कर मर्त्य को स्वर्ग के साथ सम्मिलित करा दिया है। कहीं-कहीं उपाध्यायजी की व्यावहारिक समीक्षा में पाश्चात्य सिद्धांतों का विनियोग अत्यंत स्पष्ट दीख पड़ता है। भवभूति के 'उत्तररामचरित' में 'पोयटिक जस्टिस' का साक्षात्कार करते हैं। भवभूति पुरानी लकीर पीटने-

१ उपरिवत, पृ० ३१६।
२ उपरिवत, पृ० ३२७।
३ उपरिवत, पृ० २८३। द्रष्टव्य (पृ० ६१) "पाठक! जरा प्रकृति वर्णनों का आनंद उठाइये।"
४ उपरिवत, पृ० ४२
५ उपरिवत।
६ उपरिवत।

वाले विद्वान् न थे, इसलिए उन्होंने मौलिक उपमाओं की उद्भावना की है। वाल्मीकि की तरह व द्रव्य की उपमा किसी गुण से देते हैं अथवा ठोस वस्तु की उपमा किसी "ऐब्स्ट्रैक्ट" वस्तु से। भवभूति द्वारा प्रस्तुत दण्डकारण्य का वर्णन अंगरेज महाकवियों द्वारा किए गए वर्णनों के समान "डिटेल्ड" तथा "रियलिस्टिक"—विस्तृत तथा वास्तविक—है। यहाँ एक सामान्य कथन में काम चलाया गया है, उन विशिष्ट "महाकवियों" के नाम नहीं बताये गए जिनके वर्णन विस्तृत तथा वास्तविक होते हैं।

"कवि और काव्य" में दंडी, कविराज मार्गी वेंकटाध्वरि, वाल्मीकि, कालिदास, सिंग भूपाल, आशाधर भट्ट और संस्कृत की कवयित्रियों की (व्यावहारिक) समीक्षा पाश्चात्य तत्त्वों और प्रभावों से विमुक्त है। कभी-कभी उक्त कवियों के ग्रन्थों के अनुसंधान में पाश्चात्य विद्वानों के श्रमसाध्य योग का उल्लेख मिलता है। पाटसन और म्यूलर, याकोबी और ऑफ्रेक्ट की गवेषणाओं की ओर यथावसर उल्लेख किया गया है। लेखक उनके श्रम एवं वैदुष्य से ही सर्वाधिक प्रभावित है—उसकी व्यावहारिक समीक्षा पर इन यशस्वी विद्वानों का प्रभाव नहीं पड़ा।

हिंदी-नाटकों की व्यावहारिक समीक्षा : डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा

पाश्चात्य पद्धति से प्रभावित हिंदी के कतिपय समीक्षकों ने हिंदी नाटकों और नाटककारों की तथ्यपरक व्यावहारिक समीक्षा प्रस्तुत की है। डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ने प्रसाद के नाटकों का मूल्यांकन पौरस्त्य शास्त्रीय मानदंडों से ही नहीं किया है। उन्होंने यथासंभव पाश्चात्य प्रतिमानों से भी उन्हें आंकने का प्रयत्न किया है। "स्कंदगुप्त" के पंचम अंक में उन्होंने प्रभावान्विति ('यूनिटी आव इम्प्रेशन') की महत्त्वपूर्ण स्थापना देखी है।[1] कहीं-कहीं उनका चरित्र-विश्लेषण प्रभाववादी एवं काव्यमूलक हो उठता है। "स्कंदगुप्त" के तृतीय अंक के विवेचन में उन्होंने कहा है : 'इसके अतिरिक्त अंत सलिला पयस्विनी के समान प्रेम का प्रसंग और अधिक रंग पकड़ता है।'[2] इस अंक के अंत में प्राप्त्याशा का रूप उपस्थित न होकर पाश्चात्य 'चरमसीमा'[3] का रूप निश्चित और स्पष्ट

---

१ डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा, 'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन' (काशी, १९४३), पृ० ९६।
२ उपरिवत्, पृ० ९४।
३ क्लाइमेक्स।

होता है।[1] शर्माजी के अनुसार "ध्रुवस्वामिनी" में पाश्चात्य शास्त्रीय संकलन-त्रय का प्रश्न निर्वाह स्वयं हो गया है।[2] लेखक ने प्रसाद के नाटकों का क्रमबद्ध शास्त्रीय अध्ययन किया है। उसके निकष सभी नाटकों के लिए समान भाव से प्रयोजनीय ठहरते हैं। पूर्वनिश्चित शास्त्रीय, और कहीं-कहीं पाश्चात्य प्रतिमानों में प्रसादजी के कर्तृत्व को आंका गया है। ऐसी पद्धति के लिए विवेच्य ग्रन्थों के पाठ का मनोयोगपूर्वक बार-बार अनुशीलन अपेक्षित है। ऐसे अनुशीलन पर आधृत विश्लेषण ही सच्चा पाठ विश्लेषण है। जहाँ आलोचना आलोच्य पाठों से दूर जा पड़ती है, वहाँ वह अयथार्थ, सामान्य एवं संदिग्ध हो जाती है।

डा० दशरथ ओझा

डा० दशरथ ओझा की व्यावहारिक समीक्षा केवल परिचयात्मक नहीं है उसमें गूढ़तथ्य विश्लेषण भी पाया जाता है। उनकी पद्धति व्यावहारिक समीक्षा की आधुनिक "एम्पसोनियन" पद्धति से भिन्न और रिचर्ड्स निकल की पद्धति के सदृश है। वे विवेच्य कृतियों की ही परीक्षा नहीं करते, रचना-काल में उनके रचयिता की मनोदशा एवं तद्युगीन सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियों का भी विश्लेषण करते हैं। विस्तृत उद्धरण लेकर उनके भाषागत सौष्ठव का रूपांकन नहीं करते।

ओझाजी की व्यावहारिक समीक्षा का महत्त्व इस बात में निहित दीखता है कि वे विवेच्य ग्रन्थों से संबद्ध कतिपय सूक्ष्मातिसूक्ष्म समस्याओं का बड़ा ही तर्कसंगत प्रामाणिक एवं विश्वसनीय समाधान खोज निकालते हैं। 'विशाख' के समीक्षण क्रम में वे प्रश्न करते हैं "राज्यश्री और विशाख के रचनाकाल में छः वर्ष का अंतर है। स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि इस दीर्घकाल में प्रसादजी ने नाटक-सृजन से विश्राम क्यों लिया?"[3] भारतेन्दु द्वारा विशाखदत्तकृत "मुद्राराक्षस" के अनुवाद एवं समर्पण के संबंध में वे पूछते हैं "भारतेन्दुजी ने यह नाटक क्या समयोपयोगी समझा और राजा शिवप्रसादजी को क्या समर्पण किया है?"[4] "जनमेजय का नागयज्ञ" में एक नवीन योजना पाकर वे इसका कारण

---

१ 'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन,' पृ० ९४।

२ उपरिवत, पृ० २१५।

३ डा० दशरथ ओझा, 'हिंदी नाटक उद्भव और विकास' (दिल्ली, सं० २०१८), पृ० २१९।

४ उपरिवत, पृ० १७२।

जानना चाहते है "इसनवीनयोजनाकाकोई न कोईकारण अवश्य रहाहोगा।"[1] डा० ओझा के प्रश्न जितने रोचक होते हैं, उतने ही विद्वत्तापूर्ण एवं विश्वसनीय उनके उत्तर भी होते हैं। इनके लिए लेखक विवेच्य नाटककार के आवेष्टन और जीवन का सम्यक् अध्ययन और विश्लेषण करता है। कहीं कहीं उसकी व्यावहारिक समीक्षा के प्रतिमान पाश्चात्य—यूनानी और फ्रांसीसी हो जाते हैं। उदाहरणार्थ बालकृष्ण भट्ट रचित वेणुसंहार का मूल्यांकन करते हुए उन्होंने इसमें काल-विरोध दोष पाया है और कहा है कि उसमें काल की एकता नहीं है। "स्कंदगुप्त की विशेषताओं का निरूपण करते हुए उसने कहा है कि इसमें "प्रसाद ने पहले-पहल इस तथ्य को अपनाया है कि ऐतिहासिक नाटकों में राजनीतिक घटनाओं के साथ साथ पारिवारिक घटनाएँ भी जीवन पर प्रभाव डालती चलती है।'[2] यह कथन डॉ० जॉनसन द्वारा शेक्सपियर विरचित नाटकों के मूल्यांकन की याद दिलाता है। "ह्वाट इज नीयरस्ट टचेज अस मोस्ट। द पशन्स राइज हायर ऐट डॉमेस्टिक दैन ऐट इम्पीरियल थीम्ज।[3] इसी कारण टाइमन आव एथेन्स" की प्रशंसा हुई है इसमें राजनीतिक घटनाओं के साथ पारिवारिक घटनाएं भी विनियोजित हैं। निष्कर्षतः ओझाजी की व्यावहारिक समीक्षा पौरस्त्य एवं पाश्चात्य पद्धतियों के अंतराल से चलती है, अतएव उसमें केवल एक ही पद्धति की विशेषताएँ पुंजीभूत नहीं दिखाई पड़ती।

च० विश्वनाथप्रसाद मिश्र

आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने व्यावहारिक समीक्षा के लिए जिन मान-दंडों का ग्रहण एवं प्रयोग किया है वे मुख्यतः प्राचीन या शास्त्रीय मानदंड हैं। उनकी व्यक्तिगत धारणा है कि पश्चिमी आलोचना का पदानुसरण करने का फल यह हुआ है कि हिंदी में नया आलोचनाशास्त्र नहीं बन पा रहा है।[4] समा-लोचना के क्षेत्र में समन्वय की बहुप्रचलित पद्धति भी उन्हें कथमपि ग्राह्य नहीं है। पश्चिमी समालोचना के साथ भारतीय साहित्यशास्त्र को मिलाना या उसमें

---

१ उपरिवत्, पृ० २३२।
२ उपरिवत् पृ० २४७।
३ लेटर्स, १, पृ० १६२।
४ आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी (प्र०संपा०), 'काव्यशास्त्र' (दिल्ली, १९६६), पृ० ४८२। दे० पृ० विश्वनाथप्रसाद मिश्र लिखित "भारतीय साहित्यशास्त्र और पश्चिमी समालोचना" शीर्षक निबंध।

पश्चिमी समालोचना को ओढ़ना मंगलकारी नहीं है।[1] इसलिए अपनी सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक समीक्षाओं में मिश्रजी भारतीय पद्धतियों का ही अनुसरण एवं विशुद्ध तत्त्वाभिनिवेशपूर्वक शैली में अपनी सम्पादित रचनाओं की आलोचना प्रस्तुत करते हैं। इस आलोचना का मूलाधार पाठ विश्लेषण और उपलब्ध तथ्यों के आधार पर प्रामाणिक निष्कर्षों की स्थापना है। उनके पाठ विश्लेषण में कहीं भी मन गढ़न्त भावों का बलात् आरोपण नहीं दीख पड़ता—भाव एक-एक कर पूर्वकथित विचारों और विवेच्य पाठ में स्वतः निःसृत होते जाते हैं। काव्य की अभिव्यक्ति में, मिश्रजी के अनुसार दो तत्त्व विशेष काम करते हैं—एक नादतत्त्व और दूसरा चित्रतत्त्व। इनका संबंध, पाश्चात्य समीक्षकों के अनुसार, 'आडिटरी' एवं 'विजुअल'' कल्पना शक्ति से होता है। काव्य में अन्तःप्रतिष्ठित संगीत इसका नादतत्त्व है जिसके प्रति भावक श्रवणेन्द्रिय द्वारा आकृष्ट होता है। दूसरे तत्त्व का संबंध काव्य के चाक्षुष सौन्दर्य से है, इस कारण भावक कल्पना की आँखों से इस सौंदर्य का आनंद लेता है। समग्रतः, यह कहना पड़ता है कि मिश्रजी के मानदंड काव्यशास्त्रीय भी हैं और मौलिक भी। अपनी प्रौढ़ परिपक्व ग्रहणशीलता के कारण, नवनिर्माणक्षम प्रतिभा के योग से उन्होंने रूढ़ जर्जर आलोचना पद्धतियों का परित्याग और प्राचीन काव्यशास्त्र की नींव पर अपनी आलोचना का भव्य प्रासाद निर्मित किया है। इस महल का बाह्य शीशा पाश्चात्य है, नींव की ईंट और सारा महल भारतीय।

"भूषण' और "पद्माकर-पंचामृत' की बृहत् भूमिकाएँ इस कथन को बहुविध प्रमाणित करती हैं कि मिश्रजी की व्यावहारिक समीक्षा आमूल भारतीय है, पाश्चात्य कसौटियों और विचार सरणियों पर आधृत नहीं।[3] अलंकार-योजना, नायिका भेद, रस एवं भाव निरूपण, शृंगार भावना, भक्ति भावना भावाभिव्यंजन, प्रबंध-विधान, भाषा आदि की दृष्टि से वे आलोच्य कवियों का सर्वांगीण मूल्यांकन प्रस्तुत करते हैं।[4] उदाहरणार्थ उन्होंने बिहारी का मूल्यांकन अप्रस्तुत-योजना भाव-व्यंजना, शृंगार भावना, रस एवं भाव निरूपण आदि के

---

१ उपरिवत, पृ० ४८३।

२ 'पद्माकर' (आकर-ग्रंथमाला ४), काशी, सं० २०१६, पृ० ५८।

३ 'रामचरितमानस' (काशिराज संस्करण, १९६२) और भिखारीदास ग्रंथावली (आकर ग्रंथमाला १, काशी सं० २०१३) की भूमिकाएँ पाठालोचन विषयक होने के कारण मिश्रजी की पाठालोचन पद्धति पर प्रभूत प्रकाश डालती हैं। समीक्षक के लिए ये भूमिकाएं विशेष महत्त्व नहीं रखतीं।

४ दे० 'पद्माकर पंचामृत (काशी, सं० १९९२), पृ० २४ १०८ (आमुख)।

दृष्टिकोण से लिया है। "बिहारी की वाग्विभूति" में उनका शास्त्रीय—मूल्यांकन के लिए प्रयुक्त प्रतिमान—भारतीय है पाश्चात्य नहीं। 'घनआनन्द-कवित्त' की "प्रस्तावना" में उद्धरण डॉ० ग्रियर्सन की ओर संकेत किया है[1] पर वे इस पाश्चात्य लेखक से कदापि प्रभावित नहीं है।

शान्तिप्रिय द्विवेदी

डॉ० कृष्णवल्लभ जोशी ने अपने शोध प्रबंध "नव्य हिन्दी समीक्षा" (१९६६) में छायावादी आलोचना प्रणाली के विकास को कुण्ठित घोषित किया है और कहा है

> हिन्दी साहित्य में छायावादी आलोचना प्रणाली का विकास वैसा नहीं हो पाया जैसा कि पाश्चात्य देशों में। यह स्वयं के Lyrical Ballads की भूमिका और कालरिज की Biographia Literaria जैसा आलोचनात्मक निबंध इस युग के लेखकों ने कम ही लिखा। निराला जी ने पंत के पल्लव पर विस्तृत आलोचना लिखी। उसमें भी कालरिज जैसी विनम्रता और बौद्धिक तर्क के ही दर्शन होते हैं।[2]

जोशीजी के उपरिलिखित शब्द और उनका यह उपालंभ 'छायावादी आलोचना प्रणाली का विकास कुण्ठित' निस्संदेह विचारोत्तेजक हैं और निर्दिष्ट समस्या पर विचार करने के लिए प्रमाता को बाध्य करते हैं। परंतु सम्यक् अनुशीलन परीक्षण के अनंतर ये वाक्य निरर्थक प्रमाणित होते हैं। छायावादी कवि आलोचकों की रचनाएँ इसी कारण गौण नहीं हो जातीं कि उन पर पाश्चात्य प्रभाव पड़ा है। स्वयं कालरिज की 'बायोग्राफिया लिटररिया' पर जर्मन विचारकों और तत्त्वज्ञानियों का प्रभाव देखा गया है। आचार्य शान्तिप्रिय द्विवेदी की रचनाएँ छायावादी आलोचना प्रणाली में ही परिगणनीय हैं। पंतजी के 'छायावाद पुनर्मूल्यांकन', 'कला और संस्कृति', महादेवी की 'साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबंध', 'प्रसाद' का 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध'

---

१ 'घनआनन्द कवित्त' (काशी सं० २००७) पृ० १०। हिंदुस्तानी एकेडेमी द्वारा प्रकाशित केशव ग्रंथावली (खंड १) में, जिसका संपादन आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने किया है कोई भूमिका नहीं है। मिश्रजी द्वारा लिखित 'काव्यांगकौमुदी' जैसे ग्रंथों मे पाश्चात्य प्रभाव के संधान का प्रश्न ही नहीं उठता।

२ 'नव्य हिंदी समीक्षा' (कानपुर, १९६६), पृ० ११३।

शान्ति महनीय ग्रंथ अपनी व्यापकता, ऊर्वता एवं गंभीरता के कारण जोशीजी के उक्त तर्कों का निराधार प्रमाणित करते हैं। अपने "गाव प्रबंध के इसी पृष्ठ पर, जिसमें उपयुक्त पंक्तियाँ उद्धृत हैं, जोशीजी ने अपने आरम्भिक तर्कों का आप ही खंडन किया है

> निराला जी ने अपने "प्रबंध-पद्म" में आलोचना की अनेक पंखुड़ियाँ का मर्दन किया है। हिंदी में सूर के बाद काव्य को मगातन्मयता प्रदान की वह निरालाजी ही ने। इसी आलोचनात्मक पुस्तक में उन्होंने "मरगीत और कला" शीर्षक निबंध में हिंदी के तान्मगात का बड़ा ही सूक्ष्म विवेचन किया है। पाश्चात्य साहित्य में इस तत्त्व का केवल सोपनहावर ही परख सका था।[1]

शान्तिप्रिय द्विवेदी की व्यावहारिक आलोचना प्रधानतः प्रभाववादी (और छायावादी) है। सर्वत्र विवेच्य कवियों का उनकी कृतियों में उद्बुद्ध प्रतिक्रियाओं के आलोक में परखा गया है छायावादी कवियों की परीक्षा कवि समीक्षक की निजी शिल्पशाला में निर्मित कसौटी पर हुई है इसलिए यह सर्वत्र अनुभूतिशील आत्मनिष्ठ एवं "इम्प्रेशनिस्टिक"—प्रभाववादी—है। इस व्यावहारिक समीक्षा में यत्र-तत्र कुछ अँगरेजी शब्दों का हलका पुट भी दीख पड़ता है —

> जीवन निर्माण के लिए प्रत्येक स्रष्टा का अपना एक 'मॉडल' होता है। (सामयिकी पृ० २८)
>
> शरद के बाद साहित्य में एक नये 'रियलिज्म' ने प्रवेश किया है। (उपरिवत पृ० ५४)
>
> छायावाद ... जीवन का कलात्मक 'कन्सेप्शन' दिया सकेगा ... (उपरि० पृ० २०६)
>
> भागते हुए समय का एक छोटा सा 'कन्सेशन' है। (वन्त और विकास पृ० १२३)
>
> यह उनका 'पार्टहुण्ट' है। (उपरि० पृ० ११८)
>
> प्रत्येक व्यक्ति 'आउट साइडर' हो गया है। (उपरि० पृ० १२८)
>
> वह भी रागात्मक व्यक्ति का ही सामाजिक 'एनलार्जमेण्ट' कर देता है। (सामयिकी, पृ० १८६)

---

१ उपरिवत। जोशीजी की समीक्षा, सामान्यतः, उसी कोटि की है जिसमें समीक्षक का उद्देश्य पाठकों को पाश्चात्य नामों से आतंकित करना होता है, विवेच्य विषय का प्रामाणिक तथ्यपरक विवेचन प्रस्तुत करना नहीं।

> यह कविता की 'इंजीनियरिंग' तो करता है किन्तु 'फीलिंग' को नहीं जगा पाता। (उपरि० पृ० १४७)

समष्टि में द्विवेदीजी की व्यावहारिक समीक्षा भारतीय भाष्यकारों और रीतिकालीन कवि-आचार्यों की पद्धति से ही सर्वाधिक प्रभावित दीखती है। इस पद्धति में उद्धरणों के काव्यसौष्ठव पर उसी प्रकार प्रकाश डाला जाता है जिस प्रकार एम्पसोनियन आलोचना में उद्धरणों की अनेकार्थकता एवं श्लेषात्मकता पर। उनमें प्रयुक्त अलंकारों का निरूपण होता है और / अथवा कवि प्रमाता के हृदय पर उद्धृत पंक्तियों के प्रभाव का सूक्ष्म विशद निदर्शन करता है।[1]

"सामयिकी" में 'शुक्लजी का कृतित्व' की व्यावहारिक समीक्षा परिचयात्मक, ऐतिहासिक एवं विश्लेषणात्मक है। पर्याप्त उद्धरणों से लेखक ने शुक्लजी विषयक अपने निष्कर्षों एवं उपपत्तियों को प्रामाणिकता प्रदान की है। उद्धरणों के विश्लेषण में द्विवेदीजी सूत्रवत् शैली के प्रयोक्ता हैं और यथाशक्य तत्सम शब्दों का प्रयोग करते हैं। अंगरेजी शब्दों के हल्के पुट उनकी रचनाओं में नीर-क्षीर की तरह घुलमिल गए हैं।

द्विवेदीजी ने प्राभाविक समालोचना की विशेषताओं का निदर्शन निम्नलिखित पंक्तियों में किया है:

> प्राभाविक समालोचना टेकनिकल नहीं आइडियल है, वह कवि की अनुभूति को पाठक में जगाती है, उसे भी कवि बनाती है। प्राभाविक आलोचना द्वारा आलोचक में भी अनुभूति का परिचय मिलता है। अनुभूति के लिए रसज्ञता ही नहीं, रसार्द्रता भी चाहिए। प्राभाविक आलोचना में काव्य का हृदय-पक्ष रहता है। हृदय की मार्मिकता के लिए सहृदयता या हृदय-तरलता अथवा आत्म-द्रवणता चाहिए।[2]

एलियट ने 'इम्परफेक्ट क्रिटिक्स' शीर्षक निबंध में स्विनबर्न को गुणग्राहक अथवा प्रशंसक माना है, समीक्षक नहीं। इसका कारण यह है कि स्विनबर्न ने आलोच्य कवियों पर दो से अधिक निर्णय नहीं दिए।[3] शान्तिप्रिय द्विवेदी में स्विनबर्न के गुणों के साथ समीक्षक के गुण भी निहित हैं, साथ ही उनकी समालोचनाओं में 'प्राभाविक' आलोचना की सभी विशेषताएँ मौजूद हैं। उनकी

---

१ उदाहरणार्थ—दे० 'संचारिणी', पृ० ४२-४५।

२ सामयिकी, पृ० १४५-१४६।

३ 'द सेक्रेड वुड' (१९५७), पृ० १९।

परवर्ती प्रौढ़ रचनाओं में अधिकाधिक कसावट और निष्कर्षों को जीवंत सूत्रों में पिरोने-गूथने तथा व्यापक सत्यों को छोटे-छोटे वाक्यों में समेटने की तात्त्विक क्षमता भी दीख पड़ती है।

द्विवेदीजी की व्यावहारिक समीक्षा विश्लेषण से आपूरित है। उनसे लेखक की प्रतिक्रियाओं का सम्यक् बोध तो होता ही है, साथ ही उनमें इस बात का भी द्योतन होता है कि वह प्रमाता की प्रतिक्रियाओं को भी प्रभावित करना चाहता है। इन विश्लेषणों से गुणदोष विवेचन एवं मूल्य निर्धारण का काम लिया गया है।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी

वाजपेयीजी के निबंधों का अधिकांश व्यावहारिक समीक्षा के अन्तर्गत आता है। अपनी व्यावहारिक समीक्षाओं में उन्होंने अपने पाश्चात्य भाषा साहित्य-ज्ञान का भरपूर उपयोग किया है, पाश्चात्य मानक प्रयुक्त किये हैं और हिंदी-समीक्षा में एक अभिनव आयाम का संयोजन किया है। वे समीक्षा को न तो कोरी उद्भावना की चीज मानते हैं और न उसे एकांत उमंग का कार्य समझते हैं। सत्समालोचक, उनकी दृष्टि में, एक सिद्ध विवेचक, विश्लेषक एवं चिंतक होता है जो आलोचना को साहित्यिक मान्य के उद्घाटन का अनिवार्य साधन मानता है।[1] (इसी कारण कुछ समीक्षकों ने उन्हें सौष्ठववादी कहा है।) उनकी सर्वातिशायिनी कसौटी यह रही है कि 'आलोचना में राष्ट्रीय जीवन का सांस्कृतिक बिम्ब अवश्य मिलना चाहिए।'[2] हिंदी का नवलेखन इस कसौटी पर खरा नहीं उतरता इसलिए उसे मान्यता नहीं दी गई है। हिंदी के प्रयोगवादी साहित्यकार पश्चिमी साहित्यकारों की तरह कुंठाग्रस्त हैं इसलिए उनकी रचनाओं का समवेत

---

१ द्रष्टव्य 'काव्य विवेचन में मैं एकमात्र कविता को ही देखता हूँ। उसकी भावात्मक निष्पत्ति और रूपात्मक सौष्ठव ही मेरे समीक्षण के विषय होते हैं।... बात कोई भी हो, कविता की संवेदनाएँ कैसी हैं, किस कोटि की हैं, उसका बाह्य और अंतरंग सौंदर्य हमारी चेतना और सौंदर्य-दृष्टि को किस रूप में और किस कारण प्रभावित करता है, मेरे लिए इतना ही ज्ञातव्य है।" विजयबहादुर सिंह, 'आचार्य वाजपेयीजी एक अन्य इंटरव्यू', "डॉ० डा० गंगाधर शर्मा, "आचार्य नंददुलारे वाजपेयी व्यक्ति और साहित्य" (कानपुर, १९६५), पृ० ९६।

२ नर्मदाप्रसाद खरे, 'आचार्य वाजपेयी एक इंटरव्यू', उपरिवत, पृ० ९०।

एव निर्भीक निरसन हुआ है। वाजपेयीजी नवीनता के समर्थक हैं, पर वे "पूर्ण नवीनता के प्रयासी हैं न कि पश्चिमी अनुकृति के। यदि पश्चिमी विचारधारा अथवा किसी विशेष प्रकार की काव्य शैली को ज्यों का त्यों अपना लिया जायगा तो इस प्रणाली से किसी श्रेष्ठ कवि की सृष्टि नहीं हो सकेगी। यदि हम रत्न ही लेते रहेंगे देंगे कुछ नहीं तो विदेशों में हमारे काव्य साहित्य का क्या सम्मान होगा?" हिन्दी के अधिकांश नये समीक्षक नव्यतम काव्य और विचारों की ओर ही अधिक आकृष्ट हैं। वाजपेयीजी के मतानुसार इन समीक्षकों की दृष्टि में व्यापकता एवं विस्तार का सर्वथा अभाव है। इनमें अधिकांश तो ऐसे ही समीक्षक हैं जो भारतीय समीक्षा प्रणालियों से स्वयमपि परिचित नहीं हैं। इसी प्रकार विदेशी काव्य से अपरिचित अध्येता ही उन कवियों का श्रेय देने का अनुकर्ता मात्र है। "जिन्हें इस पश्चिमी काव्य वस्तु का ज्ञान है वे तो अनुकरण को अनुकरण और मौलिक वस्तु को मौलिक मानेंगे। पूर्व और पश्चिम के काव्य में अनुरूपता हो सकती है तद्रूपता नहीं।"[2]

वाजपेयीजी की पूर्ववर्ती समीक्षाओं में पाश्चात्य प्रभाव परिमाणतः अधिक है। ("एक आरंभिक लेखक का कच्चापन भी, संभव है इनमें से कुछ निबंधों में मिले।[3] इनमें "अधिकांश विवेचना एक नवयुवक की है।"[4] 'परवर्ती पुस्तकों में इतना हार्दिक उन्मेष नहीं मिलता, बल्कि एक संयम और विपक्षियों की संख्या न बढ़ाने की वृत्ति अधिक दिखाई देती है।"[5]) प्रसादजी पर उनकी सहानुभूतिपूर्ण आलोचना केवल संयोग मात्र नहीं है। इसमें आलोच्य कवि और उसके आलोचक की प्रकृति का प्रायः पूर्ण सामंजस्य देखा जा सकता है। प्रसादजी शक्ति और आनन्द की ऊँची मानसिक अभिव्यक्तियों को ही काव्य का प्रमुख लक्षण मानते थे। वाजपेयीजी की समीक्षा रचना सौष्ठव के उद्घाटन में विश्वास करती है और मूलतः रोमांटिक है। प्रसादजी पर प्रगतिवादियों के आक्षेपों का उत्तर वाजपेयीजी ने हेवलॉक एलिस की कतिपय पंक्तियों से दिया है। हेवलॉक एलिस ने कहा है 'जब स्कॉट की रचनाओं का मूल्यांकन अपेक्षया अधिक संतुलित

---

१ डा० रामाधार शर्मा, उल्ल० ग्र०, पृ० १०० १०१।
२ उपरिवत्, पृ० १०१।
३ नन्ददुलारे वाजपेयी, 'जयशंकर प्रसाद' (प्रयाग, स० संस्करण सं० २०१५), पृ० १ (भूमिका)
४ डा० रामाधार शर्मा, उल्ल० ग्र०, पृ० ९१।
५ उपरिवत्।

दृष्टि से किया जा सकता है। उसके दोष अनेक थे और उसकी विषमताएँ अत्यंत घबराहट पैदा करनेवाली थीं, पर यही बात डी० एच० लारेंस या ऐसे ही अन्य अत्याधुनिकों के सर्वथा भिन्न गुणों और अवगुणों के संबंध में कही जा सकती है।"[1]
प्रसादजी स्काट की अपेक्षा अधिक आधुनिक थे। वे नितांत रोमांसवादी भी न थे—रहस्यवाद के ऊँचे समतल पर पहुँचकर वे सवल्तर भावनाओं की सृष्टि तथा दार्शनिक और भावात्मक दृष्टियों से मानव को जीवन-संघर्ष के लिए उद्यत करते थे।[2] वे मुख्यतः साम्य, सख्य और स्वातंत्र्य (इक्वैलिटी, फ्रटर्निटी एण्ड लिबर्टी) के आदर्शवाद से अनुप्रेरित थे।[3] कुछ समीक्षकों को प्रसादजी में 'एन्जीनियरिंग' का चमत्कार नहीं मिलता। इसका एक कारण यह भी है कि प्रसादजी नई कला प्रणाली की अपेक्षा नई भावना और नई चिंतना के निर्माण-कार्य में अधिक संलग्न थे।[4]

वाजपेयीजी की समीक्षा में अँगरेजी शब्दों का विनियोग बड़ा सटीक होता है। उदाहरणार्थ निरालाजी का पौरुष नारी के स्नेह और सम्मान से संबद्ध होने के कारण "रोमांटिक टाइप" का है।[5] 'कंकाल' के लेखक का प्रयोजन समाज के अनर्थकारी बंधनों आदि के विरुद्ध जबदस्त "प्रापेगण्डा" करना है।[6] 'कंकाल' का निर्माण-पक्ष अतिशय "यकिनवादी या 'एनार्किस्ट'" है।[7] इस प्रकार के सहस्राधिक उदाहरण दिये जा सकते हैं।

आरंभ से ही वाजपेयीजी की व्यावहारिक समीक्षा सजग और देशी परंपराओं के प्रति विशेष जागरूक रही है। वाजपेयीजी यह स्वीकार करते हैं कि ए० बेरीडेल काय ने संस्कृत साहित्य और विशेषतः संस्कृत नाटकों पर महत्त्वपूर्ण कार्य किया है और उनका ग्रंथ 'संस्कृत नाटक' अत्यधिक प्रामाणिक माना जाता है। पर

---

१ टु बी आई यू स्काट विद मोर बलेंस्ड जजमेण्ट। हिज फाल्ट्स वेयर मेनी एण्ड हिज इनिक्वलिटीज डिस्कन्सर्टिंग, बट द सेम मे बी सेड, आई फाइण्ड, आव द वेरी डिफरेंट वर्चूज एण्ड वाइसेज आव द मोस्ट मॉडर्न मेन, डी० एच० लारेंस और हूम यू विल।' जयशंकर प्रसाद, पृ० ४५। (भूमिका)।
२ उपरिवत, पृ० ५।
३ उपरिवत, पृ० ६।
४ उपरिवत, पृ० १४।
५ उपरिवत, पृ० १९।
६ उपरिवत, पृ० ३७।
७ उपरिवत, पृ० ४२।

वे कीथ की ख्याति से अभिभूत न होकर उनके दोषों का और हमारा ध्यान आकृष्ट करते और कहते हैं 'यहाँ संक्षेप में हम यह उल्लेख करना चाहते हैं कि कीथ साहब ने संस्कृत नाटकों की जो त्रुटियाँ प्रदर्शित की हैं, उनमें अतिरंजना अधिक है और तथ्य को जानने का प्रयत्न कम। संस्कृत और भारतीय नाटकों का सुखांत होना भारतीयों की काल्पनिक दृष्टि का परिणाम है जो जीवन के कठोर यथार्थ और वास्तविकता से अपरिचित रही है—कीथ का यह कथन भारतीय नाटक के लिए अन्यायपूर्ण है।'[1] इसी प्रकार वे पाश्चात्य पंडितों द्वारा किए गए प्राच्य अनुसंधान[2] और ग्रियर्सन तथा उनके भारतीय अनुयायियों द्वारा किये गए साहित्य-संबंधी अनुशीलन की प्रशंसा करते हैं और स्वीकार करते हैं कि उन्होंने "एक नई प्रणाली निकाली और एक नवीन परंपरा स्थिर की।"[3] साथ ही वे यह कहना नहीं भूलते कि "पश्चिमी पंडितों की छत्र-छाया" में काम करनेवाले भारतीय पंडितों की सबसे बड़ी कमी यह थी कि वे अपने पाश्चात्य अभिभावकों द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर ही चलना पसंद करते थे। ग्रियर्सन जैसे अन्वेषकों द्वारा हिंदी का साहित्यिक अनुशीलन पूर्ण राष्ट्रीय अथवा वैज्ञानिक भूमि पर प्रतिष्ठित न हो सका।[4] फ्रायड आदि मनोवैज्ञानिकों के प्रति वाजपेयीजी ने ऐसे ही दृष्टिकोण का परिचय दिया है। उन्होंने फ्रायडीय मनोविश्लेषण-सिद्धांतों का यथोचित अध्ययन किया है और वे अच्छी तरह जानते हैं कि साहित्य की सीमा में इनका कुछ उपयोग हो सकता है, पर वे यह भी कहते हैं कि मनोविश्लेषण के सिद्धांत अत्यधिक व्यक्तिमुखी और अग्राह्य हैं। फ्रायड के अनुयायी साहित्य, भक्ति और आत्मोन्मुखी दर्शन को मनोविश्लेषण की कसौटी पर कसते हैं और उन्हें अनेक अस्वाभाविक कुंठाओं का परिणाम पाते हैं। ऐसा "विश्लेषण व्यक्तिमूलक होता है जब कि धर्म और दर्शन की विधियाँ और निर्देश पूर्णतः सार्वजनिक हैं।"[5] वाजपेयीजी का यह निश्चित मत है कि 'बिना बाह्य जगत् की परिस्थितियों और आवश्यकताओं का आकलन किये केवल किसी भक्त कवि या दार्शनिक का मनोविश्लेषण करने बैठ जाना बड़ा ही चिंतनीय प्रयोग

---

१ उपरिवत्, पृ० १४३-१४४।

२ ओरियण्टल रीसर्च।

३ आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, 'महाकवि सूरदास' (दिल्ली, सं० २००९), पृ० ५ (प्राक्कथन)।

४ उपरिवत्, पृ० ५-६।

५ उपरिवत्, पृ० ११।

ज्ञात पड़ता है।"[1] इसी कारण सूरदास के विवेचन को उन्होंने नवीन मतवादों के प्रयोग-क्षेत्र से दूर रखा है।

वाजपेयीजी पाश्चात्य नाट्यतत्त्वों पर उसी प्रकार साधिकार स्थित हैं जिस प्रकार भारतीय नाट्यतत्त्वों पर। उन्होंने प्रसाद के नाटकों की समीक्षा के क्रम में अरस्तू के नाट्य सिद्धांतों का बड़ा ही विशद वर्णन प्रस्तुत किया है।[2] और यथावसर पाश्चात्य नाट्य सिद्धांतों का प्रयोग भी किया है। "कामायनी-विवेचन" में उन्होंने "कामायनी" के वस्तुविन्यास और चरित्र चित्रण की समीक्षा प्रस्तुत की है और लज्जा सर्ग की कुछ पंक्तियों को उद्धृत करने के पश्चात् कहा है कि "इड़ा सर्ग चरमसीमा की संधि का द्योतक है। इसके पश्चात काव्य निर्गति Denouement की ओर उतरने लगता है।"[3] चरमसीमा और निर्गति पाश्चात्य नाट्य समीक्षा के बहुप्रचलित शब्द हैं। हिंदी साहित्य और भारतीय चिंतन पर पश्चिम के अत्यधिक प्रभाव से आतंकित होकर वाजपेयीजी बार-बार पश्चिमी मतवादों, समीक्षकों और समीक्षा प्रणालियों का खंडन या विरोध करते हैं। उनकी व्यावहारिक समीक्षाओं में पाश्चात्य साहित्यकारों और विचारधाराओं के सहस्रों उल्लेख मिलते हैं। अधिकांश स्थलों पर उनके प्रति वाजपेयीजी की दृष्टि खंडनात्मक ही रही है। पश्चिम की ओर उनका बार-बार संकेत यह द्योतित करता है कि वाजपेयीजी पश्चिम से स्वयं प्रभावित हैं, परंतु इस प्रभाव के दुष्परिणामों से पूर्णतया अवगत होने के कारण जहां भी पश्चिम का उल्लेख होता है, वे यत्किंचित अनुदार हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, वे कहते हैं "पश्चिम के पंडितों ने काव्य की परिधि बनाते हुए न जाने क्यों, धार्मिक और आध्यात्मिक कृतियों को उससे बहिष्कृत सा कर दिया है और ब्लेक, वर्ड्सवर्थ-जैसे दार्शनिक कवियों को भी उनका उचित आसन देने में संकोच करते हैं।"[4] इस व्यापक कथन पर आपत्ति के कई कारण हो सकते हैं (१) पश्चिम के जिन पंडितों ने ऐसा किया है उनके नाम बताये नहीं गए हैं (२) जान डन के 'होली सानेट्स' और हर्बर्ट की धार्मिक कविताओं की लोकप्रियता सर्वविदित है (३) हॉपकिन्स और एलियट की धार्मिक एवं आध्यात्मिक कविताओं का बहिष्कार नहीं किया जाता, (४) बाइबिल के 'कण्टिकल्स' और "साम्स", "द बुक आव जोब" और "एक्ल-

१ उपरिवत, पृ० ११ १२।

२ 'जयशंकर प्रसाद', पृ० १३२ १३६।

३ उपरिवत, पृ० १००।

४ 'महाकवि सूरदास', पृ० ८१।

जिऐस्टिस" के काव्यगत गुणो की आज भी भूरिश प्रशसा होती है और बाइबिल को साहित्य के रूप म पढाने की परपरा देश विदेश म पायी जाती है, और (८) ब्राउनिंग तथा ब्लेक जसे दार्शनिक कवियो को उनका उचित आसन देने म सकोच नही किया जाता। एजरा पाउड और एलियट के निबध इस बात क साक्षी है कि इन कवियो को यथोचित लोकप्रियता मिल चुकी है और आज भी इनकी रचनाएँ आधुनिको को अनुप्राणित करन म समर्थ हैं। निषेधात्मक तथा खडनात्मक पद्धति जिस सरलता से अपशब्द और साहित्यिक गाली गलौज की ओर निम्नाभिमुख हो जाती है, वसी सरलता से सत्समीक्षा करने के स्तर पर आरुढ नही होती। खडनात्मक दृष्टिकोणजन्य अपशब्दो का एक उदाहरण इन पक्तियो म मिलेगा 'यदि पश्चिम से पूर्व को यह कहा जाता है कि तुम्हारी भाषा अलकृत, तुम्हारे भाव अस्पष्ट और तुम्हारी कल्पना अतिशयोक्तिपूर्ण है तो पूर्व से पश्चिम को यह प्रतिध्वनि जायगी कि तुम्हारी भाषा भाडी, तुम्हारे भाव भौतिक और कल्पना केवल औपचारिक है।'[1] कही कही तो वाजपेयीजी यह अनुमान कर लेते हैं कि पाश्चात्य साहित्य समीक्षक ऐसा कह सकते हैं अथवा उनका यह आरोप हो सकता है। इस प्रकार उनके आक्षेपो को वाजपेयीजी का भविष्यद्रष्टा समीक्षक अनुमित कर लेता है और तत्पश्चात् उनके खडन मे लग जाता है। कई स्थलो पर पश्चिम के साहित्यकारो की चर्चा या तो उनके दोषो की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करने के लिए या उनकी तुलना म भारतीय साहित्यकारो की उत्कृष्टता और "चमत्कार' दिखलाने के लिए की गई है। महाकवि सूरदास' म वाजपेयीजी ने लिखा है बाइरन-जसे कवि को भी चाइल्ड हराल्ड की विशाल सृष्टि करने की साध थी और राम्याँ रोला ने तो अपने जान क्रिस्टाफर नाम के उदात्त पात्र म तत्कालीन सस्कृति का पूरा स्वरूप ही भर दिया है किंतु यदि काव्य कला और मनोविज्ञान की दृष्टि से देखा जाए तो सूर के कृष्ण का अवतरण इसम भी कही अधिक चमत्कारी और शक्तिपूर्ण अनुभव होगा।'[3] वाजपेयीजी के पाश्चात्य साहित्य एव सस्कृति के व्यापक अध्ययन को देखते हुए यह कहना पडता है कि (१) या तो वे अपनी खडनात्मक समीक्षा द्वारा अपने हृदगत विश्वासो और प्रभावाधिक्य को जानबूझकर छिपाना चाहते हैं या / और (२) वे जो कहते हैं उसकी सत्यता म उन्ह आप ही विश्वास नही रहता।

१ उपरिवत, पृ० ८३।
२ उपरिवत, पृ० ८५।
३ उपरिवत पृ० ८९।

"हिंदी साहित्य बीसवी शताब्दी", "आधुनिक साहित्य', "सूर सदभ की भूमिका' आदि म पश्चिम के प्रति ऐसा ही दष्टिकोण परिलक्षित होता है। "कवि निराला" म कई स्थला पर एलियट का उल्लेख हुआ है[1] पर कहीं भी ऐसा प्रतीत नहीं होता कि वाजपेयीजी ने एलियट के काव्य का यथोचित मनोयोग से अध्ययन किया है। एलियट सबधी उनके प्राय सभी कथन बडे ही व्यापक एव सतही हैं। प्रतीकवाद अस्तित्ववाद आदि के सबध म भी उनके कथन कोई गभीर अध्ययन-मनन का द्योतन नहीं करते।

हजारीप्रसाद द्विवेदी

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी की व्यावहारिक आलोचना पाश्चात्य समीक्षा-सरणिया पर न चलकर स्वतन्त्र माग का अनुसरण करती है। तथ्य-चयन म द्विवेदीजी ने पाश्चात्य ग्रथा से सहायता ली है किंतु उनकी विवेचन-पद्धति, जो कहीं विश्लेषणात्मक एव वैज्ञानिक है और कहीं प्रभावाभिव्यजक विशेषा साहित्यिक मानदडा और परपराओ पर आश्रित नहीं है। उनकी 'हिंदी साहित्य की भूमिका" म विशिष्ट कविया का मूल्याकन और समीक्षण सेंटसबरी की व्यावहारिक समीक्षा विधिया की याद दिलाता है और द्विवेदीजी की यथानुरूप भाषा शैली सेंट्सबरी की विशद एव प्रवहमान अँगरेजी गद्यशैली सी लगती है। परतु समग्रत द्विवेदीजी की व्यावहारिक समीक्षा-पद्धति उनके निजी वदुष्य और भावयित्री प्रतिभा से उद्भूत है, न कि सेंटसबरी अथवा इसके जैसे अन्य पाश्चात्य साहित्यकारा से।

जिस शास्त्रशुद्ध एव पारदर्शी भाषा-शैली म द्विवेदीजी ने अपने सिद्धाता का प्रतिपादन किया है उसी सातिशय सरल भाषा शैली मे उन्होंने हिंदी के प्राचीन तथा भक्तिकालीन कविया की व्यावहारिक समीक्षाएँ भी प्रस्तुत की हैं।[2] भाषा सबधी उनका एक बहुश्रुत आदश इन शब्दा म व्यक्त हुआ है 'हम हिंदी को एक ऐसी भाषा नहा बना देना है जो सवसाधारण से निकट अँगरेजी की ही भाति दुर्बोध्य (sic) बनी रह या सस्कृत की ही भाति कुछ चुने

---

१ आचाय नददुलारे वाजपेयी, 'कवि निराला' (वाराणसी, १९६५), प० ५२, १८९, १९९ इत्यादि।

२ दे० 'सूर साहित्य' (बबई, १९३६), 'कबीर' (बबई, १९४१), 'कालिदास की लालित्य-योजना' (वाराणसी, १९६५), 'हिंदी साहित्य का आदिकाल' (पटना, १९५२) इत्यादि।

हुए लोगों के शास्त्रार्थ विचार की भाषा बन जाए।[1] इस आदर्श से च्युत होते वे कदापि दीख नहीं पड़ते।

तुलसीदास के विवेचन में द्विवेदीजी डाक्टर ग्रियर्सन के इस कथन का समर्थन करते हैं कि बुद्धदेव के बाद भारत में सबसे बड़े लोकनायक तुलसीदास थे। ग्रियर्सन और शुक्लजी के पदचिह्नों पर चलकर द्विवेदीजी भारतवर्ष की उस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करते हैं जिसका ज्ञान तुलसी के यथोचित मूल्यांकन के लिए आवश्यक है। ग्रियर्सन ने कहा था कि तुलसी के पात्र शौर्यकाल के पूर्ण गौरव के साथ जीवित हैं और चलते फिरते हैं।[3] द्विवेदीजी के अनुसार तुलसी के सभी पात्र हाड़ मांस के बने हमारे ही जैसे जीव हैं। (हि० सा० भू० पृ० १०५) इसी प्रकार ग्रियर्सन के मतानुसार तुलसी का 'मानस' इस समय १० करोड़ लोगों का एकमात्र धर्मग्रन्थ है और यह सौभाग्य की बात है कि उन्होंने यह पथ प्रदर्शक पाया। (हि० सा० प्र० इ० पृ० ६६) इन शब्दों की प्रतिध्वनि द्विवेदीजी के इस वाक्य में सुनी जा सकती है 'उन्होंने एक अद्वितीय काव्य की सृष्टि की जो अब तक उत्तर भारत का मार्ग दर्शक रहा है।" (हि० सा० भू० पृ० १०७) वे 'पश्चिमी समालोचकों' की इस बात [illegible] भी सहमत हैं कि 'कविता अच्छी करना चाहते हो तो विषय अच्छा चुनो।' (उपरि०, पृ० १०४) 'हिंदी साहित्य की भूमिका' में ऐतिहासिक तथ्यों के लिए उन्होंने विन्सेंट स्मिथ, विंटरनित्स, मैक्समूलर प्रभृति पाश्चात्य विद्वानों की रचनाओं से सहायता ली है और इन तथ्यों के निरूपण में यत्र-तत्र अँगरेजी शब्दों का भी प्रयोग किया है। द्विवेदीजी 'स्पिरिट' के पुरजोर कायल दीखते हैं —

> 'उसका स्पिरिट नया है (हिंदी साहित्य की भूमिका, पृ० ११३),
> "साहित्य का स्पिरिट ही बदल गया है (उपरि० पृ० १३३)।

इसी प्रकार —

> "वैयक्तिकता की स्वाधीनता को छोड़कर 'टाइप' रचना की पराधीनता स्वीकार करता गया है (उपरि० पृ० १३१),
> ' कम अच्छा और inferior मान लिया गया था" (उपरिवत् पृ० १३२),

---

१ अशोक के फूल (दिल्ली, १९४८), पृ० १७७-१७८।
२ 'हिंदी साहित्य की भूमिका' (बंबई, १९४०), पृ० १०३।
३ किशोरीलाल गुप्त, डा० जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन कृत हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास, पृ० १४३।

"हमारी वयक्तिकता साहित्य म गत्दश्रु भावुकता से आरभ करके हिस्टारिक प्रमाद तक का रूप धारण करता जा रही है" (उपरि०, पृ० १३४)।

अन्यान्य ग्रथो मे भी अँगरेजी के नपे-तुले सटीक शब्दो का प्रयोग हुआ है

"इस न्वन द्वीप को लेकर यूरोपियन पडितो न बडी बडी थियरिया खडी की हैं (सूर साहित्य पृ० २३)

"सन १८०६–८ की खोज रिपोर्ट मे जनराग सागर की एक प्रति पाई गई थी (कबीर, पृ० १५),

"ज्ञानी इसे भी माया कहता है, विज्ञानी शायद इंस्टिंक्ट' कहे" (उपरिवत, पृ० १७६),

'व वाणी के डिक्टेटर थे' (उपरिवत पृ० २१६)

" भगद्विश्वास का अविश्लेष्य सीमट भी काम करेगा (उपरिवत्, पृ० २१८)।

'हिन्दी साहित्य की भूमिका' मे नये हिन्दी साहित्य के विवेचन क्रम म द्विवेदीजी ने एक बार फिर पश्चिम के व्यापक प्रभाव की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। लेखक की दृष्टि इस प्रभाव के प्रति यहा भी सहानुभूतिपूर्ण तथा मूलत तटस्थ है। उन्होने स्वीकार किया है कि 'हिंदी के उपन्यास और कहानियाँ एकदम नई चीज हैं। नाटको म यद्यपि इतना बडा विकास नहा हुआ है पर वह नितान्त कम भी नहीं है। लिरिक (गीतकाव्य) म अभूत पूव परिवतन और नया प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है और, जसा कि कभी-कभी वद्ध पडित मुसलाकर कहा करते हैं छद भाषा, रीति-नीति और यहाँ तक कि उपमा-रूपक आदि म भी आज की कविता प्रत्येक अँगरेजी ताल-सुर पर नाचन लगी है। सवत्र सुर बदल गया है, अँगरेजी ढग का अनुकरण हो रहा है।'[1] नयी कविता मे प्रयुक्त अदभुत वक्रोक्तियो उपमाओ और रूपको का विवेचन वसा ही है जैसा सत्रहवी शती के अँगरेजी 'मेटाफिजिकल' काव्य मे प्रयुक्त "कसीटो" (conceits) का अँगरेज समीक्षको द्वारा विवेचन।[2]

सूर साहित्य तथा 'कबीर' की रचना के लिए जिन पाश्चात्य लेखको से द्विवेदीजी ने ऐतिहासिक आधार-सामग्री का सचयन किया था उसका विवरण पुस्तक म अनेकत्र मिलता है। वेबर केनेडी, टामसन जे० एन० फर्कुहर, कीथ

---

१ हिंदी साहित्य की भूमिका, पृ० १३३।
उपरिवत, पृ० १३९ १४०।

आर्थंग्टस थेम्स प्रभृति विद्वानों से उन्होंने सहायता ली है। साथ ही इन्होंने अण्डरहिल से भी वे प्रभावित हुए हैं। किन्तु जैसा आचार्य विश्वनाथ मिश्र ने कहा है द्विवेदीजी पुरानी परम्परा के 'रस' (शान्त) का बिना विचार प्रयुक्त करते, अथवा कहीं भी किसी के प्रति अनगढ़ अगम्भीर भी नहीं दिखाते। उनके प्रचुर मन का इतना ही आग्रह विचार-बुद्धि की कसौटी पर कसे भाँति विचार परम्परा और भावधारा के साथ उसका समर्थन किया है।[1] 'सूर साहित्य' में द्विवेदीजी पूर्वाग्रह समाप्त करके विचार तर्कों और अनुमित निष्कर्षों का साथ आलोचना करते हैं तथा 'कालिदास की लालित्य-योजना' में डा० द्वि० काव्य के कतिपय मनवाक्यों का खंडन करते हुए कहते हैं कि 'केवल कालिदास के ही नहीं समूचे संस्कृत साहित्य के अध्येता को कुछ मूलभूत भारतीय चिन्तनों को जानकर ही आगे बढ़ना चाहिए।'[3] परन्तु पाश्चात्य विद्वानों की रिसर्च खोज-रिपोर्टों और तदनुमोदित निष्कर्षों से अपने विचारों की आवश्यकतानुसार पुष्टि भी करते हैं। एक अंगरेज पंडित[4] से यह सुनकर कि 'प्राय किसी किसी प्रकार की सृष्टि में तृप्त नहीं होता था जब तक कि उसे मनुष्य के आकार या भावों में से होकर न गुजरना पड़े, द्विवेदीजी कहते हैं कि यही बात ब्रज भाषा के कवियों के बारे में कही जा सकती है (सूर साहित्य, पृ० १७० १७१)। उन्होंने 'कवि सूरदास की बहिरंग-परीक्षा' में रिचर्ड्स का अनुसरण किया है और उसकी व्यावहारिक समीक्षा के आदर्श पर सूरदास की चित्रमयी भाषा तथा उनके शब्द प्रयोग पर अत्यंत सारगर्भ टिप्पणियाँ प्रस्तुत की हैं। किंतु द्विवेदीजी न तो रिचर्ड्स की व्यावहारिक समीक्षा से प्रभावित हैं और न मनोविज्ञान तथा शब्दार्थशास्त्र (सिमेंटिक्स) से ही। वे तत्त्वत ऐसे व्याख्यात्मक समीक्षक हैं जिनकी आलोचना-पद्धति ऐतिहासिक तथा गवेषणामूलक है। अत वे कैर टेन, ग्रियर्सन (डा० अब्राहम जार्ज ग्रियर्सन तथा एच० ज० सी० ग्रियर्सन), हेरल्ड नीकरसन बेसिल विली, मोल्टन, जस्सरड प्रभति पाश्चात्य समीक्षकों के जितना सन्निकट है उतना रिचर्ड्स के नहीं। प्राचीन कवियों के संबंध में वही व्यक्ति अधिकारपूर्वक लिख सकता है जो समीक्षक होने के साथ ही श्रमशील गवेषक और शोधकार्य में अत्यंत निपुण हो तथा जिसमें शास्त्रनिष्णात पांडित्य

---

१ 'सूर साहित्य, पृ० ५ (भूमिका)।

२ उपरिवत, पृ० ३।

३ 'कालिदास की लालित्य योजना', पृ० ४२।

४ इस पंडित का नाम नहीं बताया गया।

एव व्यापक वैदुष्य हो। "कालिदास की साहित्य-साधना" के लेखक में इन गुणों का कैसा सुन्दर समाहार देखा जाता है इसे दुहराने की आवश्यकता नहीं है। इसके लेखक की कालजयी कृतियाँ ही उसकी अप्रतिम प्रतिभा के चिरज्वलन्त प्रमाण हैं।

डॉ० नगेन्द्र

आरम्भ में ही डॉ० नगेन्द्र ने जिस वर्चस्वी वैदुष्य एव समग्रिक विश्लेषण-क्षम प्रतिभा का परिचय दिया, वैसा विरले ही समीक्षक अपनी आरम्भिक कृतियों में दे पाते हैं। पाश्चात्य साहित्यालोचन में कतिपय प्रतिमानों के गृहीत होने पर भी उनकी आलोचना-पद्धति में मौलिकता का चमत्कार है। आचार्य नगेन्द्र ने यह सिद्ध कर दिखाया है कि पाश्चात्य निकषों पर भी पौरस्त्य कलाकृतियों को परखा जा सकता है। उनकी परवर्ती रचनाओं में पाश्चात्य प्रभाव अपेक्षया अधिक समजित एवं भारतीय परपराओं में ही अधिक निहित दीख पडता है। आरम्भ से ही उनके समक्ष अँगरेजी आलोचकों के स्पृहणीय आदर्श थे और उनमें उनके ग्रन्थों के आधार पर हिंदी में भी सूक्ष्म-गभीर साहित्यालोचन प्रस्तुत करने की प्रबल इच्छा और लगन थी। इसलिए फ्रॉयडीय मनोविश्लेषण-शास्त्र एव क्रोचे द्वारा प्रवर्तित अभिव्यजनावाद का उन्होंने विधिवत् अध्ययन किया। प्रभावों के सबध में उनका यह कथन स्मरणीय है

> आरम्भ से ही प्राय मेरे मन में उन आलोचकों के प्रति, जिन्होंने मुझे प्रभावित किया है एक विचित्र स्पर्धा का भाव भी रहा है। जिनकी बात मेरे मन पर नहीं जमती या जिनके सिद्धात अथवा शैली मुझे प्रभावित नहीं करते उनकी मैं सहज उपेक्षा कर जाता हूँ। किंतु जो मुझे प्रभावित करते हैं—जिनकी गरिमा मेरे मन को आन्दोलित करती है—उनसे फिर मैं जूझने लगता हूँ।[1]

प्राचीन भारतीय आचार्यों में भट्टनायक और अभिनवगुप्त ने आधुनिक हिंदी-समीक्षकों में आचार्य शुक्ल ने उन्हें विशेष रूप से प्रभावित किया है। पाश्चात्य साहित्याचार्यों में डॉ० नगेंद्र के ऊपर क्रोचे और रिचर्ड्स का प्रभाव देखा जाता है। व्यावहारिक आलोचना में उन्होंने फ्रायड के मनोविश्लेषण-शास्त्र का उपयोग तो किया है परतु वे फ्रॉयड-दर्शन की एकागी और उनकी आधारभूत उक्तियों

---

1 डॉ० रणवीर रांग्रा द्वारा सपादित 'डॉ० नगेंद्र व्यक्तित्व और कृतित्व' (दिल्ली, १९६९), पृ० २० २१ पर उद्धृत।

को "दूरारूढ और अविश्वसनीय" मानते हैं।[1] उनके अनुसार काम भले ही जीवन का प्रधान अंग हो पर वह सर्वांग नहीं हो सकता।[2] मतैक्य के अभाव में भी आचार्य नगेंद्र ने फ्रायड के दर्शन का अभिनंदन किया है और इस मनोवैज्ञानिक के व्यापक प्रभाव को देखते हुए उसकी मेधा की प्रशंसा की है। जहां तक रससिद्धांत का संबंध है, फ्रायड की मनोदृष्टि बाधक नहीं कही जा सकती वह वस्तुतः 'साधक' है "क्योंकि दोनों ही आनंद के सिद्धांत को लेकर चलते हैं' दोनों का आधार 'प्लेजर प्रिंसिपिल' है।[3] फिर भी फ्रायड के दर्शन की एकांगिता स्पष्ट है। 'वे शायद उन आचार्यों की दिशा में सोचते हैं, जो रसवाद को शृंगारवाद में ही सीमित करके देखते हैं।'[4] डा० नगेन्द्र काव्य में 'व्यापक रसवाद' और जीवन में 'व्यापक आनंदवाद" के समर्थक हैं।

स्वयं डॉ० नगेन्द्र ने अपने स्वभाव का बड़ा ही मूर्त और कलात्मक चित्रण प्रस्तुत किया है और कहा है कि इसकी दो प्रमुख विशेषताएं हैं अहंकार और भावुकता। "आपके अहंकार का एक स्पष्ट दुष्परिणाम यह है कि आप प्रत्येक कार्य अपनी इच्छा के अनुसार करना चाहते हैं।'[5] अहंकार और भावुकता रोमांटिक विचारधारा के नित्यसहवर्ती गुण हैं। उन्नीसवीं शती के स्वच्छंदतावादी अँगरेज कवि काव्य को अपने व्यक्तित्व के कलात्मक अभिव्यंजन का माध्यम मानते थे। उनके लिए आत्मप्रकाशन और आत्मानुभूतियों की सम्यक् अभिव्यक्ति ही कविता थी। (कीट्स ने वर्ड्सवर्थ में औदात्य और अहंकार का—उदात्त अहं का—अचूक सयोग देखा था।) वर्ड्सवर्थ ने काव्य-सृष्टि के रहस्यों का उद्घाटन सरलातिसरल शब्दों में यह कहकर किया है कि शांत क्षणों में आवेगों के अनुचिंतन से ही काव्य की उत्पत्ति होती है। पर डॉ० नगेन्द्र ने अपने लेखक की विशेषताओं का वर्णन इस प्रकार किया है "आपका लेखक व्यक्ति से कहीं अधिक समझदार है। कारण यह है कि भावों या विचारों का जितना भी उद्वेग होता है उसे आपका व्यक्ति पहले ही झेल लेता है और शब्दों में रूपायित होने तक यह उद्वेलन बहुत कुछ शांत सा ही हो जाता है।'[6] टी० एस० एलियट ने कहा है कि सिद्धहस्त

१ उपरिवत्, पृ० २२।
२ उपरिवत्।
३ उपरिवत्।
४ उपरिवत्।
५ 'शिकायत है नगेन्द्र से नगेन्द्र को", दे० 'कादम्बिनी', मई, १९६६, पृ० ४९।
६ उपरिवत्, पृ० ५३।

कलाकार म भोक्ता मानव एव स्रष्टा मन परस्पर पृथक् रहते हैं। अत डॉ० नगेन्द्र का समीक्षक—और कवि भी—सिद्धहस्त कलाकार है। उनकी स्वच्छंद-कल्पना कभी-कभी समीक्षक के बौद्धिक अनुशासन को फोडकर उच्छ्वसित हो उठती है, "पराका जोर" कसते ही या तो मंजिल पार हो जाती है या "साइकिल की चेन' टूट जाती है।

सुमित्रानन्दन पत ने डा० नगेन्द्र के "कवि हृदय के माधुर्य" उनकी सहृदयता और सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण की चर्चा करते हुए अपने समीक्षक के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित की है। डॉ० नगेन्द्र का आद्यवेत्ता कवि समीक्षा प्रक्रिया मे भी कभी-कभी प्रकट हुए बिना नहीं रह सकता वह आलोचक की सूक्ष्मदर्शी दृष्टि का प्रदाता है और उसकी भाषा शैली को "रसोत्सिक्त" करता है।[1] स्पष्ट है कि "सुमित्रानदन पत" का लेखक हिंदी भाषा साहित्य के किसी भी मतवाद या आदोलन को केवल भारतीय भूमिका पर ही आकलित नही करता पाश्चात्य साहित्यिक परपराओ के व्यापक तथा गभीर बोध के कारण वह हिंदी साहित्य का विश्व वाङ्मय से पृथक न कर उसे प्रशस्त साहित्यिक भूमि पर रखता है। उसकी समीक्षा-पद्धति की यही पहली महत्त्वपूर्ण विशेषता है। सर्वप्रथम लेखक हिंदी साहित्यगत तथ्यो का सुशृखल विवरण उपस्थित करता है, तत्पश्चात उनके पल्लवन एव विशदीकरण के लिए अथवा उनको अधिकाधिक प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए विश्व साहित्य मे, विशेषत पाश्चात्य साहित्य से दृष्टात प्रस्तुत करता है। सुमित्रानदन पत' म, जिसे डॉ० नगेन्द्र किशोर समीक्षक की कृति कहते हैं छायावाद के आविर्भाव का विवेचन इस पद्धति का ज्वलत उदाहरण है। प्रथमत, महादेवी वर्मा के कुछ सारगर्भ शब्द उद्धत हैं। समीक्षक की दृष्टि युग-युग मे होनेवाले सूक्ष्म व युगान्तरकारी विद्रोह पर केंद्रित है, इस कारण वह केवल भारतीय इतिहास तक ही अपने को सीमित नही रख सकता। चूकि "यह विद्रोह सवकालीन एव सावदेशिक है, समीक्षक केवल वतमान म ही अपने को बद्धमूल नहीं रख सकता और न केवल भारत म ही। इसलिए वह पहले "अनादिकाल" म सूक्ष्म आत्मनाद के विद्रोह की ओर अपने अध्येताओ का ध्यान आकृष्ट करता

---

१ 'कवि-सुलभ रसिकता और सजग-सवेदना के कारण ही उनकी आलोचना शैली सद्धातिक और व्यावहारिक—दोनों ही धरातलों पर रसोत्सिक्त है तथा ममस्पर्शी भावना मे पगी हुई है।" कुमार विमल, 'डा० नगेंद्र की समीक्षा पद्धति', रामेश्वरलाल खण्डेलवाल सुरेशचद्र गुप्त, हिंदी आलोचना के आधार स्तभ (दिल्ली, १९६६), पृ० १९९।

है। इसके बाद शाका और हूण आते हैं जिनकी भौतिकता की प्रमुखता जगह हो जाने पर भगवान बुद्ध के ज्ञानमिश्रित वैराग्य द्वारा भूमि में शांति उपस्थित की।"[1] बुद्धत्व के पश्चात् प्रचार और अनाचार का द्विवेदी-युग। 'सूक्ष्म के विद्रोह' का यह संक्षिप्त क्रमबद्ध निरूपण अपने प्रासंगिक एवं विषयानुकूल (सूक्ष्म—न कि स्थूल) है। वस्तुतः यह पनामूा और गाय हा प्राक् विवरण कैशोर की ताजी निर्माणकाम प्रतिमा का ही द्योतक है।

द्विवेदी-युग तक 'सूक्ष्म के विद्रोह' का इतिवृत्त पहुँचा दिया गया। अपने युग में आकर यहाँ से, समीक्षक पाश्चात्य साहित्य की ओर दृष्टिपात करता है। 'यूरोप में भी समय समय पर ऐसे काण्ड उपस्थित होते रहे हैं जिनमें सबसे मुख्य १८वीं शताब्दी की जागृति थी जिसके प्रवर्तक थे रूसो और वाल्टेयर।'[2] तदनंतर 'नव जागृति' के जिन कारणों का उल्लेख है वे पाश्चात्य स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति के उन्मेष के कारणों पर आधृत जान पड़ते हैं। वस्तुतः 'नव जागृति' (छायावाद) और इस पाश्चात्य प्रवृत्ति में मौलिक सादृश्य पाया जाता है जिसके कारण ऐसा जान पड़ता है कि डा० नगेन्द्र छायावाद के उद्भव के कारणों का नहीं, अपितु स्वच्छंदतावाद की विशेषताओं का उल्लेख कर रहे हैं। छायावाद और स्वच्छन्दतावाद की नींव सुंदर और अद्भुत के मिश्रण पर संस्थित है। जिस प्रकार नव्यशास्त्रवाद के विरुद्ध स्वच्छंदतावाद का विद्रोह हुआ, उसी प्रकार द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मक कविता के विरुद्ध काव्य-क्षेत्र में छायावाद नामक नव जागृति उपस्थित हुई। हिंदी के कवि अँगरेजी और बँगला की ओर उन्मुख हुए। इन भाषाओं से 'प्राप्त प्रभाव से प्रेरित होकर हिंदी की चिर आबद्ध आत्मा ने जिस सौंदर्य की उपासना की 'वह न तो निर्जीव था और न भावशून्य ही। डॉ० नगेन्द्र कहीं भी एकमात्र अँगरेजी काव्य को ही छायावाद का प्रेरणा-स्रोत नहीं मानते। उन्होंने छायावाद को प्रोत्साहित करनेवाले अहिन्दी प्रभावों में बँगला को भी—विशेषतः कविवर रवीन्द्र की गीतांजलि को वही श्रेय दिया है जो अँगरेजी का।

"सुमित्रानंदन पंत' की भाषा शैली और आलोचनात्मक प्रतिमानों पर अँगरेजी का प्रभाव स्पष्ट है। अँगरेजी की समीक्षात्मक पारिभाषिक शब्दावली में छायावाद के इस मूर्धन्य कवि की काव्यगत विशेषताएँ स्थापित हैं। कहीं-कहीं ऐसा जान पड़ता है कि डा० नगेन्द्र अँगरेज समीक्षकों की भाषा में सोच रहे

---

१ सुमित्रानंदन पंत (आगरा, सं० २००९), पृ० १।
२ उपरिवत, पृ० २।

और उन्हीं के मानमूल्यों को अपना निकष मान बैठे हैं

(क) किंतु इस शुष्क समय में (Barren age) में कला का अस्तित्व लोप हो जाने के कारण उसमें भी प्लेटफार्म काव्य का आधिक्य था। (पृ० ५)

(ख) वास्तव में पंतजी के काव्यजगत में ऐंद्रियता (sensuousness) का उचित मान है। (पृ० २३)

(ग) अपनी प्रतिभा की सर्चलाइट फेंककर उस अंधकार गर्भ से विचित्र काव्य-उपादान ढूंढ निकालते हैं। (पृ० ७)

(घ) ग्रन्थि में आपने 'run on lines' का प्रयोग किया है। (पृ० ७२)

"गीतकाव्य" का परिचय देते हुए उन्होंने कहा है कि जिस गीत शैली का विकास द्विवेदी युग के पश्चात् हुआ वह पाश्चात्य लिरिक के ढंग का था। इतना कहकर वे पंतजी के रस-दीप्त गीतों पर उतर नहीं आते। पहले वे अंगरेजी रसाचार्यों की दृष्टि में गीत-काव्य की आत्मा की विशेषताओं का प्रकाशन करते हैं "सच्ची गीत-कविता एक सरल, क्षणिक एवं तीव्र मनोवेग का परिणामस्वरूप होती है। इस मनोवेग से उसका समस्त अन्तर्बाह्य एक साथ झंकृत हो जाता है—उसके अंतरतम् में एक अग्नि प्रज्ज्वलित हो उठती है।"[1] शेली, जे० एस० मिल आदि ने गीत-काव्य की ऐसी ही परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं। डॉ० नगेन्द्र शेली की रचनाओं से पूर्णतया परिचित हैं और उन्होंने पंत की विचार धारा के विवेचन क्रम में उनकी प्रकृति-संबंधी धारणाओं का उल्लेख भी किया है। कहीं-कहीं शैली पर प्रयुक्त मानदण्डों से पंतजी के काव्य की समीक्षा प्रस्तुत की गई

---

१ उपरिवत, पृ० ३३।

२ दे० नाइनटींथ सेंचुरी क्रिटिकल एसेज, वर्ल्ड क्लासिक्स, पृ० ४२१। इसी निबंध में मिल ने वर्ड्सवर्थ के काव्य की उस विशेषता की ओर संकेत किया है जो डा० नगेन्द्र की परिपक्व समीक्षात्मक कृतियों में भी मिलती है। मिल के अनुसार वर्ड्सवर्थ की कविता में कभी उछाल उबाल देखने को नहीं मिलता, वह ऊपर से स्वतः प्रेरित भी नहीं जान पड़ता, कवि का हृदय कभी इतना भरा नहीं होता कि उससे आवेग फूट पड़े। वर्ड्सवर्थ की रचनाओं से एक प्रशान्त चिंतन का आभास मिलता है जो कवि हृदय की विशेषता नहीं है, उसकी कविता कुछ और जान पड़ती है और वह स्वयं कुछ और लगता है।

है, पंतजी को भारतीय गीत-काव्य की परंपरा में न रखकर पाश्चात्य स्वच्छन्दतावादी परम्पराओं की समृद्ध भूमिका पर बिठाया गया है। पंत की कला का विवेचन करते हुए लेखक ने एक फ्रांसीसी समालोचक की इस उक्ति का उद्धरण किया है "कला प्रकृति की अनजाने में की हुई विवेचना है—जो अपूर्ण है कला उसकी पूर्ति है।"[1] यहाँ वाल्टेयर के इस कथन का स्मरण हो आता है

Sachez que le secret des arts
Est de corriger la nature

डा० नगेन्द्र के अनुसार पंत को शब्दों की अंतरात्मा का अच्छा ज्ञान था इसलिए पंत के इस ज्ञान का विवेचन करते समय उन्होंने उनके चित्रोपम प्रयोगों की सराहना की है और कहा है कि पंत की चक्षुरिन्द्रिय जितनी अन्त:प्रवणिता है श्रोत्रेन्द्रिय उतनी ही शिक्षित और सूक्ष्म ग्राहिणी है।[3] डा० नगेन्द्र ने यहाँ पंत की "विजुअल' तथा 'आडेटरी' कल्पना का ही वर्णन किया है और "पिक्चरस्क यूस' के स्थान पर 'चित्रोपम प्रयोग' की बात कही है। इसी प्रकार पंत के वर्ण-परिज्ञान का वर्णन करते समय उन्होंने संस्कृत के बाणभट्ट कालिदास आदि कवि पुंगवों के साथ अँगरेजी के कीट्स रासेटी स्विनबर्न राबर्ट ब्रीजेज आदि की भी एतद्विषयक प्रवीणता का उल्लेख किया है।

'साकेत एक अध्ययन' में सृजन प्रेरणा' के विवेचन के पश्चात साकेत की कथावस्तु के आयाम और संघटन की ऐसी समीक्षा प्रस्तुत की गई है जिसके प्रतिमान अरस्तू के काव्यशास्त्र और पुनर्जागरण-युग के इतालवी तथा फ्रांसीसी मनीषियों की रचनाओं में निर्मित हुए थे। अरस्तू ने ऐसी सर्वविदित मान्यताओं के साथ कथावस्तु और त्रासदी के प्रभाव का विवेचन प्रस्तुत किया है जो पाठकों को अत्यंत सामान्य लग सकती हैं किंतु अरस्तू आधारभूत तथ्यों की उपेक्षा नहीं करता। उसके अनुसार त्रासदी एक ऐसी क्रिया की अनुकृति है जो अपने में पूर्ण हो और जिसमें एक निश्चित विस्तृति हो क्योंकि कोई चीज पूर्ण होकर भी विस्तार रहित हो सकती है। पूर्ण तो वही है जिसमें आदि मध्य और अवसान हो। आदि उसे कहते हैं जो किसी अनिवार्य अनुक्रम में किसी अन्य के बाद न आये किंतु जिसके बाद कुछ और चाहे घटित हो या स्वभावत: विद्यमान रहे। अवसान वह है जो स्वाभाविक रूप से किसी अन्य घटना के अनंतर आवश्यक

---

१ सुमित्रानंदन पंत, पृ० ५१।
२ 'द सिक्रेट आव द आर्ट स इज टु करेक्ट नेचर'।
३ सुमित्रानंदन पंत पृ० ५७।

अनुक्रम में घटे और जिसके बाद और कुछ न आये। मध्य वह है, जो (कथावस्तु की) किसी (घटना) के बाद आये और जिसके बाद भी कुछ घटित हो। इस प्रकार सुगठित कथानक का आरम्भ या अवसान अचानक और मनमाने ढंग से न होकर इन सिद्धांतों के अनुसार होता है। जैसे अन्य अनुकरणात्मक कलाओं में अनुकार्य वस्तु के एक होने पर अनुकृति भी एक होती है, इसी प्रकार कथानक को, जो कार्य-व्यापार की अनुकृति होती है, एक तथा सर्वांगपूर्ण कार्य का अनुकरण करना चाहिए और उसमें अंगों का संगठन ऐसा होना चाहिए कि यदि एक अंग को भी अपनी जगह से इधर-उधर करें तो सर्वांग ही छिन्न भिन्न और अस्त-व्यस्त हो जाए, क्योंकि ऐसी वस्तु, जिसके होने न होने से कोई प्रत्यक्ष अंतर नहीं पड़ता, किसी पूर्ण इकाई का सहज अंग नहीं हो सकती। अरस्तू सुकरात के इस कथन से सर्वथा सहमत हैं कि 'प्रत्येक प्रबंध सजीव प्राणी हो जिसे अपना शरीर तो हो ही, एक सिर और पैर भी हो, मध्य आदि और अंत भी रहें, जो एक दूसरे तथा संपूर्ण के अनुकूल हों।"

इस प्रकार किसी सुसगठित कथा का आरम्भ और अन्त किसी भी मनमाने बिन्दु पर नहीं हो सकता, कवि को उन सिद्धांतों का प्रतिपालन करना चाहिए जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त वर्णित घटना में विस्तार होना चाहिए क्योंकि कलाकृति का सौंदर्य सजीव प्राणी के सौंदर्य के समान आकार तथा व्यवस्था क्रम पर आधृत होता है। कलाकृति न तो अत्यल्प हो न अतिविस्तृत। अतिलघु पदार्थ सुंदर नहीं हो सकते क्योंकि उनमें वैसी रसानुभूति नहीं होती, जो सर्वांगों में सुघड़ता, सौमनस्य एवं व्यवस्था देखकर होती है। इसी प्रकार एक हजार मील लंबा पशु भी हमें आह्लादित नहीं कर सकता, क्योंकि हम एक साथ इसके पूरे शरीर को नहीं देख सकते।

अरस्तू ने अन्विति त्रय में केवल कार्य-व्यापार की अन्विति को ही सिद्धांत-रूप में अधिष्ठित किया है। जहां तक कालगत अन्विति का संबंध है, उसने इसकी ओर संकेत भर किया है "त्रासदी को यथासंभव सूर्य की एक परिक्रमा (एक दिन) या इससे कुछ अधिक समय तक सीमित रखने का प्रयत्न किया जाता है।" कालगत अन्विति को एक सुनिश्चित सिद्धांत बनाने में सिन्थियो का हाथ है, जो फेरारा में दर्शनशास्त्र एवं काव्यशास्त्र का निष्णात प्राध्यापक था। उसने "लेक्चर्स आन कॉमेडी एण्ड ट्रेजेडी" (१५४५ ई०) में इस नियम का प्रतिपादन किया, उसके बाद अरस्तू के "पोयटिक्स' के १५४८ में प्रकाशित संस्करण में रॉबर्टेली ने इसकी व्याख्या के क्रम में कहा कि वस्तुतः अरस्तू का मतलब केवल बारह घंटों से था (क्योंकि लोग रात में सो जाते हैं),

तत्पश्चात् "पोयटिक्स" के अपने अनुवाद (१५४८ ई०) में सेग्नि ने साधिकार घोषणा की कि चूंकि विश्व की अनेकानेक विलक्षण घटनाएँ रात्रि में घटित होती हैं, अरस्तू के 'सूर्य की एक परिक्रमा' से चौबीस घंटे का बोध होता है। इसी प्रकार १५७० ई० में प्रकाशित अरस्तू के "पोयटिक्स" के संस्करण में कास्टेलवेट्रो ने उपर्युक्त अन्वितियों में एक और अन्विति जोड़ दी—स्थानगत अन्विति। यद्यपि उसने यह नहीं कहा कि अरस्तू ने इसका नियमन किया था, फिर भी उसने इसके लिए एक बड़े ही युक्तिसंगत कारण का उल्लेख किया। उसने कहा कि अरस्तू ने बराबर ही सत्यसादृश्य पर (Verisimilitude) साग्रह बल दिया था और कहा था कि नाटक में वर्णित कार्यव्यापार सम्भाव्य हो। यदि नाटक में दृश्य कार्यक्षेत्र के एक भाग से दूसरे भाग में अथवा 'बोहामिया' में जो समुद्र तट पर अवस्थित एक ऊसर अनुर्वर भू भाग है', बारबार त्वरा से परिवर्तित होता रहा तो सम्भावना जाती रहेगी। निस्सन्देह अन्वितित्रय का यह सिद्धांत उन दिनों बहुत उपयोगी था जब इसका सर्वप्रथम प्रतिपादन हुआ था। यह सामयिक नाटककारों की अव्यवस्थित शौकिया विधियों और नकलियों को अनुशासित करने का प्रयास था।

"साकेत : एक अध्ययन" में पात्रों के व्यक्तित्व का विवेचन भी पाश्चात्य प्रतिमानों का प्रयोग करता है। (विवेचन के अंत में लेखक का यह कथन ध्यातव्य है कि 'पश्चिम में चरित्र चित्रण की यह अत्यंत प्रचलित प्रणाली है।")[1] 'वृत्त वर्णन' का आरम्भ इस प्रकार होता है "अँगरेजी साहित्य में वर्णन के दो प्रकार कहे गए हैं—एक में कथा का अर्थात् घटनाओं का समय के क्रम से वर्णन होता है, दूसरे में वस्तुओं का स्थान के क्रम से।"[2] लेखक ने पाश्चात्य समीक्षा-पद्धति का अनुसरण करते हुए साकेत में कथा प्रवाह और कथा-वर्णन में कार्य-संयम, नाटकीय विषमता या पूर्व-संकेत (ड्रमेटिक आयरनी) आदि का विशद निरूपण किया है।

"देव और उनकी कविता" की व्यावहारिक समीक्षा अपेक्षया अधिक परिपक्व है। इसमें विवेचन अधिक विद्वत्तापूर्ण और भाषा-शैली अधिक व्यंजक एवं सधी निखरी है। लेखक ने देव के शब्द प्रयोग की समीक्षा करते समय पश्चिमी काव्य की प्रतीकात्मकता को आरोपित किया है और कहा है : "विश्व में अभिव्यंजनावादी शैली के प्रभाव के कारण, नवीन कविता में उसका विशेष प्रचार

१ साकेत एक अध्ययन (आगरा सं० २०२१), पृ० ९६।
२ उपरिवत् पृ० १०३।

बढा है। प्रतीकात्मकता अतिवस्तुवाद आदि के आश्रित होने के कारण अत्यंत जटिल और सूक्ष्म वृत्ति है।"[1] देव के उक्तिवैचित्र्य की विवेचना करते समय वह अँगरेजी काव्यशास्त्र को नहीं भूलता,[2] पर इस ग्रंथ में जहाँ "सुमित्रानंदन पंत" और "साकेत" के समीक्षक के सभी गुण वर्तमान हैं, वहाँ इनकी विवेचन शैली में कतिपय नये-नये गुण भी प्रकट होते हैं। अब लेखक में प्रभावों को अधिकाधिक आत्मसात करने और अपनी समीक्षा में संतुलन और समन्वय घटित करने की क्षमता में विकास दीख पडता है। पहले जहाँ पाश्चात्य तत्त्वों को प्राथमिक महत्त्व मिला था, अब वहाँ वे तुलना के लिए आरोपित होते हैं। पहले जहाँ आलोचना के पाश्चात्य प्रतिमान ही सर्वप्रथम आते थे, अब वहीं भारतीय दृष्टिकोण से विवेच्य कवि को आँकने का प्रयत्न होता है और इसी प्रक्रिया में पाश्चात्य प्रतिमान भी प्रयुक्त होते हैं।

'विचार और विवेचन' में "प्रेमचंद" "पंत का नवीन जीवन-दर्शन", "डा० श्यामसुंदरदास की आलोचना-पद्धति" आदि का विवेचन सर्वथा मौलिक तथा अत्यंत सहानुभूतिपूर्ण है। 'विचार और अनुभूति' के एक निबंध में आचार्य शुक्ल और रिचर्ड्स का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। डॉ० नगेन्द्र ने पद्मसिंह शर्मा और मिश्रबंधुओं की तुलनात्मक समीक्षा शैली को अधिक परिमार्जित और वैज्ञानिक बनाया है। इस शैली की अनेकानेक विशेषताओं में एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें पौरस्त्य एवं पाश्चात्य साहित्यकारों का युगपत् विवेचन होता है—कभी-कभी पौरस्त्य विषय का विवेचन पाश्चात्य साहित्यशास्त्र के आलोक में होता है। इसी शैली के अंतर्गत हम ऐसे भी स्थल रख सकते हैं "ज्यों ही मैं कामायनी का मूल्यांकन करने के लिए प्रवृत्त होता हूँ, मुझे लाजाइनस की यह प्रसिद्ध उक्ति अनायास ही याद आ जाती है—।'[3] 'सुखदा", 'वोल्गा से गंगा", "इरावती' आदि की व्यावहारिक समीक्षा[4] में प्रयुक्त प्रतिमान संश्लिष्ट मौलिक प्रतिमान हैं जिनमें पाश्चात्य प्रभाव और पौरस्त्य चिंतन एकीकृत हो गए हैं। उपन्यासों के समीक्षण में पाश्चात्य मानदंडों का प्रयोग स्वाभाविक है। (उदाहरणार्थ, देशकाल या वातावरण के अतिरिक्त उपन्यास के तीन प्रमुख तत्त्व और हैं कथावस्तु, चरित्र निर्माण और उद्देश्य

१ देव और उनकी कविता (दिल्ली, १९४९), पृ० २२६।
२ उपरिवत, पृ० २२९।
३ अनुसंधान और आलोचना (दिल्ली, १९६१), पृ० ४९।
४ दे० विचार और विश्लेषण (दिल्ली, द्वि० सं० १९६१)।

अथवा आधारभूत जीवन-दर्शन।"[1]) परन्तु इन मानदंडों को पूर्ण भारतीय नागरिकता प्रदान की गई है और भारतीय रूप सज्जा में उपस्थित किया गया है "हिमकिरीटिनी", 'वासवदत्ता' आदि पुस्तकों पर लिखी गई समीक्षाएं पाश्चात्य मनोविज्ञान से प्रभावित हैं।

निष्कर्षतः डा० नगेन्द्र की व्यावहारिक समीक्षा पाश्चात्य समीक्षा सिद्धान्तों और पद्धतियों से प्रभावित होकर भी समन्वयवादी समीक्षा का एक नया रूप उपस्थित करती है। कहीं-कहीं उनकी रचनाओं में प्रभाव इस प्रकार एकीभूत हो गए हैं कि उनकी स्वतंत्र सत्ता अदृश्य हो गई है और वे पूर्णतया भारतीय बन गए हैं। उनकी आरंभिक रचनाओं में पाश्चात्य प्रभाव का आधिक्य देखा जाता है, पर परवर्ती रचनाएँ अधिक परिपक्व हैं और उनमें पाश्चात्य प्रभाव अधिक समन्वित संतुलित है। वस्तुतः उनकी उत्तरवर्ती रचनाओं का मूलाधार पौरस्त्य काव्यशास्त्रीय चिंतन और उनकी पद्धति का मेरुदंड तुलनात्मक विवेचन है। विवेच्य कृति के सम्यक् परीक्षण के लिए उन्हें व्यापक भूमिका की आवश्यकता होती है अतः वे अपनी उदार रहस्यान्वेषिणी दृष्टि को भारतीय परिवेश तक ही सीमित नहीं रख सकते। क्योंकि अँगरेजी अध्ययन-अध्यापन के फलस्वरूप उनकी समीक्षा-पद्धति में पाश्चात्य प्रभाव का समावेश स्वाभाविक ही है।

प्रगतिवादी आलोचक

हिन्दी के प्रगतिवादी समीक्षकों ने मार्क्सीय दृष्टिकोण से हिंदी-लेखकों और कवियों का अनुरेक्षणीय मूल्यांकन प्रस्तुत किया है। इस दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण प्रकाशचन्द्र गुप्त लिखित "नया हिन्दी साहित्य : एक दृष्टि" (१९४०) के प्राक्कथन की इन पंक्तियों में हुआ है : 'इस संग्रह के निबंध एक विशेष दृष्टिकोण से लिखे गये हैं। इस दृष्टिकोण में हिन्दी-संसार का परिचय उत्तरोत्तर बढ़ रहा है। समाज और साहित्य में परस्पर एक अंतरंग संबंध है और साहित्य समाज का दर्पण है।' डॉ० रामविलास शर्मा, डा० प्रभाकर माचवे, शिवदानसिंह चौहान, अमृतराय, प्रभृति लेखकों की रचनाओं में इन सूत्रों का सम्यक् पल्लवन एवं विश्लेषण तो मिलता ही है, साथ ही उनमें यथास्थान मार्क्सवादी सिद्धान्तों का क्रियात्मक विनियोग भी दिखाई पड़ता है।

प्रकाशचन्द्र गुप्त की आरंभिक रचनाएँ पूर्णतया मार्क्सवादी नहीं हैं फिर भी उनमें मार्क्सवादी पूंजीवादी समाज-व्यवस्था की सशक्त भर्त्सना और दलित वर्ग

---

१ उपरिवत्, पृ० १८३।

की प्रशंसा मिलती है जिनमें, स्वभावत, प्रगतिवादी प्रवृत्तियाँ दीख पडती हैं। प्रेमचद के "कायाकल्प" में, गुप्तजी के साम्यानुसार, कथावस्तु का रूप विकृत है। इसका कारण यह है कि इसमें प्रेमचद अध्यात्म और "व्यक्ति के जन्म-जन्मातर, योगाभ्यास, कायाकल्प आदि पचडा" में पड जाते हैं और उनका उपन्यास राईडर हगर्ड के 'शी' का आकार प्रकार ले बैठता है।[1] प्रेमचद द्वारा निर्मित चित्रशाला में गुप्तजी को जीवन के सभी चित्र दीख पडते हैं—प्रेमचद की प्रशंसा होनी है। इसका कारण यह है कि प्रेमचद ने एक चित्र "फिर फिर दुहराया है, जर्जर भारतीय सामन्तशाही का दर्द, कुठित किसान और सकट में पडी जमींदारी प्रथा।"[2] परतु मार्क्सवादी मौनिकवादिता और स्थूलता अश्रुत-अदृश्य के प्रति उदार होना नहीं चाहती। इसलिए, गुप्तजी के अनुसार, "कथावस्तु की एक भारी भूल ने 'कायाकल्प' को सामाजिक उपन्यास की श्रेणी से निकालकर अध्यात्म के क्षेत्र में पहुँचा दिया।[3] गुप्तजी का अँगरेजी प्राध्यापक प्रेमचद के 'कुछ' पात्रों का 'टाइप' कहना है और प्रेमचद उसे सहज ही डिकेन्स और गाल्सवर्दी की याद दिलाते हैं।[4] उसके अनुसार 'रगभूमि' में प्रेमचद ने अपनी सामर्थ्य से बाहर कार्य उठाया है। उन्नतिशील कलाकार एक बार ऐसा बीडा उठाते हैं ही। गुप्तजी को आॅल्डस हक्सले की याद आती है और वे उसके 'प्वायट काउण्टर प्वायट' नामक उपन्यास को 'विफल प्रयास' घोषित करते हैं।[5] जब जन-जीवन से साहित्य का सबध विच्छेद हो जाता है तभी उसका पतन शुरू होता है। इसलिए रीतिकाल की कविता उनकी दृष्टि में हल्की है, क्योंकि उसकी प्रेरणाएँ 'भारतीय जन-समाज की आशा और आकांक्षाएँ न थीं।' इसके विपरीत पत के 'परिवर्तन' में देश के क्रन्दन की व्यापक अभिव्यक्ति है इसलिए गुप्तजी के मतानुसार हिंदी में "इतनी प्रगतिशील चीज' कम है। निरालाजी भी सभवत इसीलिए अधिक प्रशस्य समझे गए हैं कि उन्होंने काव्य-परपरा का घोर विरोध किया था।

प्रगतिवादी आलोचना में क्रांति के प्रति विशेष आकर्षण दीख पडता है।

---

१ प्रकाशचद्र गुप्त, 'नया हिंदी साहित्य एक दृष्टि' (बनारस, १९४०), पृ० १४।

२ उपरिवत, पृ० १७।

३ उपरिवत, पृ० २२।

४ उपरिवत, पृ० २४, ३१।

५ नया हिंदी साहित्य एक दृष्टि (१९४६), पृ० १५७

६ उपरिवत, पृ० २९ (१९४०)

इस प्रकार श्री प्रकाशचंद्र गुप्त के सभी मूल्यांकन एक ही व्यापक कसौटी पर हुए हैं, सभी साहित्यकारों को मार्क्सीय मानदंड से मापा-परखा गया है। इसलिए उनके द्वारा प्रस्तुत विवेचना में कहीं-कहीं एकतानता और नीरसता तथा पुनरुक्तियां हैं।

डॉ० रामविलास शर्मा ने निराला, प्रेमचंद और भारतेंदु हरिश्चंद्र पर मार्क्सीय दृष्टिकोण से सारगर्भ एवं महत्त्वपूर्ण व्यावहारिक समीक्षा लिखी है। अपने क्षेत्र और युग के इन मूर्धन्य साहित्यकारों की रचनाओं को विशुद्ध साहित्यिक दृष्टिकोण से न परखकर डा० शर्मा ने इन्हें प्रगतिशील मानदंडों से परखा है और उन पर अभिनव प्रकाश डाला है। "निराला", "भारतेंदु हरिश्चंद्र" आदि रचनाओं में अँगरेजी भाषा साहित्य के ज्ञान का अनुचित प्रदर्शन नहीं दीखता। 'निराला' (१९४६) में समीक्षा अपेक्षया अधिक साहित्यिक और तथ्यपरक है 'प्रेमचंद और उनका युग" (१९५२), "भारतेंदु युग' (द्वि० सं० १९५१) आदि में अपेक्षया अधिक प्रगतिवादी।

शिवदानसिंह चौहान और हिंदी साहित्य के प्रगतिवादी निकाय के अन्य सदस्य अँगरेज कवि और आलोचक कॉडवेल की समीक्षा-पद्धति से पूर्णतया प्रभावित हैं। शिवदानसिंह भी विवेच्य साहित्यकारों को अपनी मार्क्सवादी कसौटी पर कसते और इस बात पर प्रभूत बल देते हैं कि समाज और यथार्थ के प्रति उन साहित्यकारों का दृष्टिकोण कैसा रहा है। उनकी दृष्टि में श्री जगदीश चंद्र माथुर की सचेत दृष्टि आधुनिक जीवन के उस वैषम्य के आर-पार देखती है जो रूढ़िग्रस्त संस्कारों और नई सामाजिक प्रवृत्तियों के बीच एक जटिल और अविराम संघर्ष का जनक है।[1] "अश्कजी वर्तमान जीवन के वैषम्य पर तीखे व्यंग्य करते हैं जिससे उनकी विद्रोही चेतना के दर्शन होते हैं।"[2] श्री चौहान की व्यावहारिक समीक्षाओं में कभी कभी दृष्टिकोण के औदार्य के साथ विवेकपूर्ण विश्लेषण का विनियोग बड़ा ही सुन्दर हुआ है। उन्होंने प्रसाद के नाटकों को 'वस्तुमुखी दृष्टिकोण" से परखा और उनकी सराहना की है।

अपनी "नयी समीक्षा" में अमृतराय ने "मार्क्स फ्रॉयड और कविता", "फासिज्म का सांस्कृतिक ब्लैकआउट' 'मक्सिम गोर्की' आदि अनेक निबंध संगृहीत किये हैं। इनमें प्रेमचंद, महादेवी, रवीन्द्रनाथ आदि पर प्रगतिवादी व्यावहारिक समीक्षाएँ तो हैं ही, लेखक ने सोवियत साहित्यकारों पर भी लिखा

---

१ 'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' (१९५४), पृ० १६१।
२ उपरिवत्, पृ० १६०।

है। एक अन्य निबंध में उन्होंने सोवियत संघ के युद्ध साहित्य और उसकी उपलब्धियों की प्रशंसा की है — 'इसलिए हम देखते हैं कि पिछले युद्ध में लगभग सभी सोवियत लेखकों ने युद्ध का बाना पहना और एक हाथ में अपनी लेखनी और दूसरे में एक रायफल लेकर रणक्षेत्र में आ खड़े हुए।'[1] 'जान गमरफोर्ड ने सोवियत साहित्य के प्रसंग में यह जो प्रश्न उठाया है कि उसका टाल्सटॉय कब जन्मेगा, वही प्रश्न हिंदी के प्रगतिशील साहित्यकारों के सामने इस रूप में उपस्थित किया जाता है कि प्रगतिशीलों का प्रेमचंद कब जन्मेगा?"[2]

अन्याय आलोचक

डॉ० रामविलास शर्मा, अज्ञेय और डॉ० इन्द्रनाथ मदान हिंदी समीक्षकों में इस कारण भी विशिष्ट स्थान रखते हैं कि उन्होंने हिंदी और अँगरेजी दोनों ही माध्यमों से लिखा है। 'हिंदी साहित्य कोश' में कहा गया है कि 'अँगरेजी के माध्यम से हिंदी के बारे में लिखनेवाले व्यक्तियों में इन्द्रनाथ मदान का नाम काफी पहले आता है।'[3] अँगरेजी भाषा पर अधिकार रखकर भी डॉ० मदान अपनी गद्य शैली को अँगरेजी शब्दों से बोझिल नहीं बनाते और न अपने अँगरेजी भाषा ज्ञान का अनुचित असमय प्रदर्शन करते हैं। उनके समीक्षात्मक निबंधों और पुस्तकों में पायी जानेवाली विवेचन शैली का उत्कर्ष उनके शब्दलाघव में निहित है। वे किसी भी बात को बड़े ही संक्षेप में, चुने हुए शब्दों में व्यक्त करते हैं। यद्यपि "प्रेमचंद : एक विवेचना" छोटी पुस्तक है फिर भी यह प्रेमचंद के उपन्यासों का प्रसंगगर्भ, सहानुभूतिपूर्ण एवं उपयोगी विवेचन प्रस्तुत करने में समर्थ है। लेखक द्वारा की गई कथा समीक्षा मौलिक तथा विश्लेषणात्मक है। डा० मदान प्रधानतया व्यावहारिक समीक्षक हैं और महादेवी,[4] शिवदानसिंह चौहान, रामविलास शर्मा, डा० नगेन्द्र, नामवर सिंह, अज्ञेय आदि[5] पर उन्होंने संक्षिप्त किंतु मार्मिक समीक्षाएँ लिखी हैं। उन्होंने पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों[6]

---

१ 'नयी समीक्षा' (बनारस, १९५०), पृ० २१९।
२ उपरिवत, पृ० २२२।
३ दे० भाग २, पृ० ३६।
४ दे० 'महादेवी : एक सर्वेक्षण' (इन्द्रनाथ मदान द्वारा संपादित "महादेवी : चिंतन व कला", दिल्ली, १९६५, पृ० ४२-५९)।
५ डा० इन्द्रनाथ मदान, 'आलोचना और साहित्य' (इलाहाबाद, १९६४)।
६ दे० प्रो० प्रेम भटनागर लिखित 'इलाचंद्र जोशी : साहित्य और समीक्षा' (बिलासपुर, १९५९) की भूमिका। डा० इन्द्रनाथ मदान ने इस पुस्तक की भूमिका लिखी है। 'आलोचना और काव्य' (दिल्ली, १९६०)।

के आधारभूत सिद्धांतों का, पाश्चात्य काव्य एवं आलोचना का, सम्यक अध्ययन किया है। परंतु उन पर पाश्चात्य समीक्षा का उतना ही प्रभाव पड़ा है जितना एलियट पर मलार्मे या रेमी द गुर्मो का। डॉ० मदान किसी अज्ञात कारण से, सम्भवत अतिशय शीघ्रता, व्यस्तता या आलस्य के कारण कभी-कभी यह ठीक-ठीक निर्धारित नहीं कर पाते कि कौन-कौन से कवि किस किस कवि-निकाय में परिगणित होने चाहिए। 'आलोचना और साहित्य' में नकेनवादी कवियों का विवेचन साढ़े चार पृष्ठों में (पृ० ८६–९१) हुआ है पर उनके नाम तक गलत लिखे—बताये गए हैं। उक्त ग्रन्थ के पृष्ठ ७२ पर लिखा मिलता है कि "बिहार के कवियों—नलिनविलोचन केसरीनारायण तथा नरेश ने अज्ञेय के प्रयोगवाद का विरोध किया है। डॉ० मदान के निम्नलिखित कथन भी ध्यातव्य हैं

(१) नरेश मेहता, केसरीनारायण तथा, नलिनविलोचन ने प्रपद्यवाद नामक स्वतंत्र काव्य प्रवृत्ति को प्रतिपादित तथा प्रचारित करने का प्रयास किया है। (पृ० ८५)

(२) नलिनविलोचन, केसरीकुमार तथा नरेश मेहता का प्रयोगवाद रूढ़ होकर प्रपद्यवाद अथवा प्रयोगवाद की उपधारा का रूप धारण करता है। (पृ० ८६)

(३) नरेश मेहता ने घोषित किया कि प्रयोग काव्य का साध्य है। (पृ० ८७)

(४) नरेश मेहता की रचनाओं में परम्परागत मान्यताओं के प्रति अविश्वास जीवन की व्यर्थता आदि के स्वर बौद्धिक दृष्टि से मुखरित होते हैं। (पृ० ८८–८९)

केसरीजी (प्रो० केसरीकुमार) को कहीं केसरीनारायण और कहीं केसरी कुमार कहा गया है। 'नकेन के प्रपद्य' में सर्वत्र 'नरेश' का नाम आया है, नरेश मेहता का नहीं।

आधुनिक हिंदी साहित्य में डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने कहीं-कहीं पाश्चात्य निकषों पर भारतीय लेखकों को परखने का प्रयास किया है। उन्होंने प्रतापनारायण मिश्र की भाषा-शैली का विवेचन करते हुए मिश्रजी पर "शैली ही मनुष्य है' का सफल प्रयोग किया है। वे कहते हैं 'शैली ही मनुष्य है, अँगरेजी की इस उक्ति का सफल आरोप मिश्रजी पर किया जा सकता है।"[1]

---

१ डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, 'आधुनिक हिंदी साहित्य' (इलाहाबाद, १९४८), पृ० १५८।

"शैली ही मनुष्य है" आज ल्यूई द बुफा के Le style est l' homme meme (स्टाइल इज द मन हिमसेल्फ) का रूपातर है। वार्ष्णेयजी के प्राय सभी ग्रन्थों म पश्चिम के ससर्ग एव सान्निध्य के कारण हिन्दी भाषा-साहित्य मे होनेवाले परिवर्तनो का कही सविस्तर और कही सक्षिप्त निरूपण मिलता है। चूकि उनका शोध-क्षेत्र सन् १७५७ से लेकर सन् १८५७ तक की अवधि है व भारतीय साहित्यिक एव सास्कृतिक परपराओ पर पश्चिम के क्रमिक प्रभाव से पूर्णरूपेण अवगत हैं। व्यावहारिक समीक्षा से सबद्ध "भारतेन्दु की विचार धारा" (१९४८) और "भारतेन्दु हरिश्चन्द्र" (द्वि० स० १९५९) नामक ग्रन्थो पर पाश्चात्य प्रभाव नही पडा है। "आधुनिक कहानी का परिपार्श्व" (१८६६) म विवेचित कहानीकारो पर लिखी गई समीक्षा भी इस प्रभाव से मुक्त है।

"अध्ययन" (१९४४) "कला, साहित्य और समीक्षा" (१८६२) जैसे अनेक ग्रन्थो म सकलित डॉ० भगीरथ मिश्र की व्यावहारिक समीक्षा-सबधी निबधो के अनुशीलन से कही भी ऐसा प्रतीत नही होता कि इनके लेखक पर कोई उल्लेखनीय पाश्चात्य प्रभाव पडा है। इनके विपरीत डॉ० विजयेन्द्र स्नातक के निबधो म पाश्चात्य प्रभाव कही-कही स्पष्ट दीख पडता है। "कामायनी-दर्शन"[1] म 'चिंता सर्ग' के विवेचन म उन्होने विष्कम्भक की अँगरेजी परिभाषा उद्धृत की है ("ऐन इण्टल्यूड बिटवीन दि ऐक्टस आव द ड्रामा) और 'वासना-सर्ग" मे मनोविज्ञान की एक बहुश्रुत स्थापना के आधार पर कहा है कि "अपनी ही सतान के प्रति जब नारी प्रेम प्रकट करती है तो पुरुष पति होने के नाते कभी-कभी उस अपने प्रति उपेक्षा समझ बठता है।"[2] कामायनी" मे चरित्र चित्रण का निरूपण भी पाश्चात्य तत्त्वो से आपूरित है। लेखक के अनुसार "कामायनी के पात्रो म महाकाव्य तथा गीतिकाव्य के तत्त्वो का अदभुत सम्मिश्रण है।" यह मार्वेलस काम्बिनेशन ऑव एपिकल एण्ड लिरिकल ट्रेट्स' का हिंदी रूपान्तर है। (अँगरेजी वाक्याश कोष्ठक मे दे दिया गया है।)[3] आत्मवादी व्यक्ति की

---

१ कन्हैयालाल सहल और विजयेन्द्र स्नातक, 'कामायनी दर्शन' (दिल्ली, १९५३)। इस छात्रोपयोगी ग्रथ के भाष्यवाले खड मे पहला और पाँचवाँ निबध स्नातकजी का [illegible]। तात्त्विक विवेचन और विश्लेषण वाले खड मे उन्होने 'कामायनी की दार्शनिक पृष्ठभूमि' और 'कामायनी मे चरित्र-चित्रण' नामक निबध लिखे है।

२ उपरिवत, पृ० ८४।

३ उपरिवत, पृ० १४६।

चारित्रिक विशेषताओं का वर्णन आधुनिक मनोवैज्ञानिक शब्दावली में हुआ है।[1]

डॉ० गुलाबराय और डॉ० विजयेन्द्र स्नातक द्वारा संपादित "आलोचक रामचन्द्र शुक्ल" के 'आचार्य शुक्ल की बहुमुखी प्रतिभा" और "आचार्य शुक्ल की निबंध-शैली' शीर्षक निबंध जो डॉ० विजयेन्द्र स्नातक द्वारा लिखे गए हैं, परिचयात्मक एवं विवरणात्मक ही अधिक हैं। उन पर पाश्चात्य प्रभाव नहीं पड़ा है। इसी कोटि में उनका "नीरजा' शीर्षक निबंध भी रखा जायगा। इसमें भाष्य और आलोचनात्मक टिप्पणी का ही सर्वाधिक विनियोग हुआ है।

डा० देवीशंकर अवस्थी की व्यावहारिक समीक्षा में पाश्चात्य समीक्षात्मक मानदंडों और उनकी समीक्षा भाषा में अँगरेजी शब्दों का समुचित सुष्ठु प्रयोग हुआ है। हिंदी समीक्षकों की इन उपलब्धियों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि हिंदी की व्यावहारिक समीक्षा का अधिकांश छात्रोपयोगी और अर्थोपार्जन के निमित्त लिखा गया है। यद्यपि ऐसे भी समीक्षक हैं, जो गंभीर एवं विद्वज्ज नानुमोदित आलोचना-ग्रन्थों के प्रणयन का समर्थन करते हैं और इसी में दत्तचित्त हैं फिर भी हिंदी की व्यावहारिक समीक्षा की समस्त उपलब्धियों को समग्र रूप में देखने से यह विश्वास दृढ़तर हो जाता है कि इसका अभी भी समुचित विकास नहीं हो पाया है। जिन कतिपय समीक्षकों ने हिंदी समीक्षा के व्यावहारिक पक्ष पर यथोचित दृक्पात किया है और इसकी समृद्धि के लिए उच्च कोटि के महनीय ग्रन्थ प्रणीत किये हैं, उनमें डॉ० नगेन्द्र, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी तथा 'दिनकर" के नाम सर्वोपरि हैं।

---

१. उपरिवत, पृ० १५१।

चूँकि प्रसादजी "स्वच्छंदतावादी काव्यधारा के प्रथम और अग्रणी कवि" हैं, उनकी काव्यगत मान्यताओं पर पाश्चात्य स्वच्छंदतावादी सिद्धांतों और उनके विश्व-कोशीय ज्ञान का प्रभाव देखा जा सकता है। परन्तु प्रथमत, उनका यह उपदेश हम प्रभावों के अनुसंधान में सतर्क रहने को बाध्य करता है कि

> काल चक्र के महान प्रत्यावर्तनों से पूर्ण भारतीय वाङमय की सुरुचि-संबंधी विचित्रताओं के निदर्शन बहुत से मिलेंगे ।[1]

दूसरी विचारणीय बात यह है कि प्रसादजी भारतीय दर्शन और साहित्य-शास्त्र के श्रमशील अध्येता ही नहीं, इनके आदर्शों के प्रति आस्थावान् भी थे। इस कारण उन्होंने किसी भी पाश्चात्य वाद का अंधाधुंध अनुसरण नहीं किया है और न अपने निजी दृष्टिकोण का विलोप ही होने दिया है। तीसरी बात जो प्रभाव निरूपण के काम को और भी कठिन बना देती है, यह है कि 'ज्ञान और सौंदर्य-बोध विश्वव्यापी वस्तु हैं, इनके केन्द्र देश, काल और परिस्थितियों से तथा प्रधानत संस्कृति के कारण भिन्न-भिन्न अस्तित्व रखते हैं।'[2] परन्तु 'दिगन्तवर्ती ज्योति-केन्द्रों की तरह आलोक के लिए इनका परस्पर संबंध हो सकता है।'[3] इसलिए भारतीय काव्यशास्त्र की कितनी ही मान्यताएँ पाश्चात्य साहित्यकारों की रचनाओं में स्थापित मान्यताओं के समरूप दीखती हैं और इन साहित्यकारों के विचार हमारे काव्य शास्त्रीय चिंतन में प्रतिबिंबित दीख पड़ते हैं। उदाहरणार्थ प्रसादजी ने काव्य को स्वत आध्यात्मिक माना है और कहा है कि काव्य से ऊँची अध्यात्म नाम की कोई वस्तु नहीं । इस कथन पर हम चाहें तो पाश्चात्य प्रभाव देख सकते हैं। अनेकानेक इतावली काव्यशास्त्रियों ने कविता को सभी कलाओं और विज्ञान से श्रेष्ठ घोषित करते हुए इसकी आध्यात्मिकता का उल्लेख किया है। मेटियो सन मार्तिनो ने अपने निबंध Osservationi grammaticali e poetiche della lingua italiana (१५५५) में कहा है कि काव्य अपने में सभी कलाओं और विज्ञानों को समाहित तो करता ही है इसकी आध्यात्मिक एवं धार्मिक उपादेयता भी अनुपेक्षणीय है। काव्य ही एक ऐसी कला है जो पूजार्चना में भी काम देता है और जिसका आविर्भाव दैवी स्रोतों से

---

१ जयशंकर प्रसाद, 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध' (इलाहाबाद, सं० १९९६), पृ० ६।

२ उपरिवत पृ० ४।

३ उपरिवत।

६

हिन्दी के कवि-आलोचको की समीक्षा पर पाश्चात्य प्रभाव

•
•

"अन्य क्षेत्रो की भाँति आलोचना के क्षेत्र मे भी इस विषय के पश्चिमी साहित्यो से हिन्दी ने बहुत कुछ ग्रहण किया है और अब भी कर रही है।"

—डॉ० धीरेन्द्र वर्मा

जयशकर प्रसाद (१८८९–१९३७)

हिन्दी के जिन सधे हुए समीक्षको मे स्वतत्र एव अपरपरीण चिंतन, सम्बद्ध ग्रन्थो मे उपलब्ध तथ्यो के समीकरण की क्षमता, शास्त्र व्युत्पत्ति, पाश्चात्य दर्शन का अतरग ज्ञान आदि गुण पाये जाते हैं उनमे जयशकर प्रसाद का स्थान बड़े महत्त्व का है। प्रसादजी के कवि और समीक्षक म अन्योन्याश्रय-सबध देखा जाता है, जो उनके कवि को उतना प्रभावित नही करता जितना समीक्षक को। कवि के भावार्द्र हृदय से उद्गत भास्वर रचनाएँ चाहे वे प्रगीत हों या समीक्षात्मक अध्ययन, प्रमाता को विचलित किये बिना नही रहती। एक ऐसे रुचिर शिल्पी के रूप म प्रसादजी हमारे अलकृत गद्य क्षेत्र म आते हैं जिसकी अभिव्यक्ति, समग्रत, एक भावुक कवि की है और कविता की सरस स्निग्ध भूमिका पर विचरण करती है। उनम अन्तर्निहित करुणा सिक्त प्रेम का अनश्वर गायक अपने गद्य और पद्य दोनो को 'एक अतृप्ति एक वेदना एक टीस' के चपल सूत्र मे पिरोता है। इस कारण प्रसादजी का समस्त साहित्य उनके कोमल, भावप्रवण और तरल व्यक्तित्व से प्रदीप्त है।[1]

---

१ डा० जेक्ब पी० जाज, 'आधुनिक हिंदी गद्य और गद्यकार' (कानपुर, १९६६), पृ० ३२३।

चूँकि प्रसादजी "स्वच्छंदतावादी काव्यधारा के प्रथम और अग्रणी कवि" हैं उनकी काव्यगत मान्यताओं पर पाश्चात्य स्वच्छंदतावादी सिद्धांतों और उनके विश्व-कोशीय ज्ञान का प्रभाव देखा जा सकता है। परन्तु, प्रथमत, उनका यह उपदेश हमें प्रभावों के अनुसंधान में सतर्क रहने को बाध्य करता है कि

> काल चक्र के महान प्रत्यावर्तनों से पूर्ण भारतीय वाङ्मय की सुरुचि-संबंधी विचित्रताओं के निदर्शन बहुत से मिलेंगे ।[1]

दूसरी विचारणीय बात यह है कि प्रसादजी भारतीय दर्शन और साहित्य-शास्त्र के गंभीर अध्येता ही नहीं, इनके आदर्शों के प्रति आस्थावान् भी थे। इस कारण उन्होंने किसी भी पाश्चात्य वाद का अंधाधुंध अनुसरण नहीं किया है और न अपने निजी दृष्टिकोण का विलोप ही होने दिया है। तीसरी बात जो प्रभाव-निरूपण के कार्य को और भी कठिन बना देती है, यह है कि "ज्ञान और सौंदर्य-बोध विश्वव्यापी वस्तु हैं इनके केन्द्र देश, काल और परिस्थितियों से तथा प्रधानत संस्कृति के कारण भिन्न-भिन्न अस्तित्व रखते हैं।[2] परंतु "खगोलवर्ती ज्योति-केन्द्रों की तरह आलोक के लिए इनका परस्पर संबंध हो सकता है।'[3] इसलिए भारतीय काव्यशास्त्र की कितनी ही मान्यताएँ पाश्चात्य साहित्यकारों की रचनाओं में स्थापित मान्यताओं के समरूप दीखती हैं और इन साहित्यकारों के विचार हमारे काव्य शास्त्रीय चिंतन में प्रतिबिंबित दीख पड़ते हैं। उदाहरणार्थ प्रसादजी ने काव्य को स्वत आध्यात्मिक माना है और कहा है कि काव्य से ऊँची अध्यात्म नाम की कोई वस्तु नहीं । इस कथन पर हम चाहें तो पाश्चात्य प्रभाव देख सकते हैं। अनेकानेक इतावली काव्यशास्त्रियों ने कविता को सभी कलाओं और विज्ञान से श्रेष्ठ घोषित करते हुए इसकी आध्यात्मिकता का उल्लेख किया है। मेन्त्यिा सैन मार्निो ने अपने निबंध Osservationi grammaticali e poetiche della lingua italiana (१५५५) में कहा है कि काव्य अपने में सभी कलाओं और विज्ञानों को समाहित तो करता ही है, इसकी आध्यात्मिक एवं धार्मिक उपादेयता भी अनुपेक्षणीय है। काव्य ही एक ऐसी कला है जो पूजार्चना में भी काम देती है और जिसका आविर्भाव दैवी स्रोतों से

---

१ जयशंकर प्रसाद, 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध' (इलाहाबाद, सं० १९९६), पृ० ६ ।

२ उपरिवत पृ० ४।

३ उपरिवत ।

होता है।[1] एँटोनियो पोजेविनो (१५६३) रचित Tractatio de poesi et pictura ethnica humana et fabulosa collata cum vera honesta, et sacra में लेखक कवि की अपार्थिव प्रतिभा का स्तवन करता है और अलौकिक वैदिकी काव्य को ही सर्वोत्कृष्ट घोषित करते हुए मोजेज डेविड और बाइबिल के गीतकारों (सामिस्टों) की सराहना करता है।[2] मार्टिनो और पोजेविनो जैसे इतालवी समीक्षकों के विचार सिडनी तक पहुँचे और उन्होंने नवजागरणयुगीन अंगरेज लेखकों को प्रभावित किया। इतना ही नहीं, इंगलैंड में जब भी काव्य की विशेषता और गुणों का वर्णन होता है, इतालवी नवजागरण में प्रचलित तर्कों का पुनराख्यान किसी न किसी रूप में हो ही जाता है। सिडनी ने अपनी "अपोलजी फॉर पोयट्री" में कवियों को दार्शनिकों से श्रेष्ठ कहा है और बताया है कि कविता में आनन्द-तत्त्व और दर्शन दोनों का युगपत् समाहार मिलता है इसलिए यह नीरस दर्शन से अधिक महत्त्व रखती है। इस धारणा का आविर्भावक सिडनी नहीं, वरन नवजागरण के इतालवी समीक्षक हैं।

परन्तु प्रसादजी के विचार इन समीक्षकों से उद्भूत नहीं हैं और न इनका उद्गम-स्रोत पाश्चात्य साहित्य में ही निहित है। उपनिषदों में ही कवि और ऋषि को पर्यायवाची शब्द कहा गया है। तब क्या उपनिषदों पर ही उस रोमीय विचारधारा का प्रभाव है जिसके अनुसार कवि को "वेटस" या द्रष्टा कहा गया है? प्रभावों की खोज को इस हद तक पहुँचा देना हास्यास्पद दीखेगा।

वस्तुतः प्रसादजी ने कई स्थलों पर पाश्चात्य मतों और सिद्धान्तों का निरसन किया है, जिससे उनके गंभीर पाश्चात्य साहित्य-ज्ञान का परिचय तो होता है, पर उनके प्रभावित होने का प्रमाण नहीं मिलता। जहाँ भी उन्होंने पाश्चात्य लेखकों और चिंतकों को संकेतित किया है, उनकी दृष्टि सजग रही है और वे प्रधानतः उनसे अपने विचारों का वैपरीत्य ही दिखाने का प्रयत्न करते हैं।

कलाओं का वर्गीकरण

प्रसादजी ने 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध' का आरम्भ इस स्वीकृति के साथ किया है कि पाश्चात्य प्रभाव के कारण अद्यतन समीक्षकों का दृष्टिकोण परिवर्तित दिखलाई पड़ता है। उनकी आलोचनाओं का क्षेत्र उस क्षेत्र से

---

१ बर्नार्ड वेनबर्ग, 'अ हिस्ट्री आव लिटरेरी क्रिटिसिज्म इन द इटल्यिन रेनेसन्स' (शिकागो, १९६१), खंड १, पृ० २७५।
२ उपरिवत्, पृ० ३३६।

"कुछ भिन्न" है जिसमे प्राचीन भारतीय साहित्य के आलोचकों की विचार धारा काम करती थी। उनके हृदय पर पाश्चात्य 'विवेचन-शैली का व्यापक प्रभुत्व क्रियात्मक रूप मे दिखाई देने लगा है।"[1] हमारी विचार-धारा अव्यवस्थित हो उठी है। इसका मुख्य कारण यह है कि हमारे कतिपय समीक्षक अपनी रचनाओं मे प्रतिक्रिया के रूप मे भारतीयता की भी दुहाई देते हैं। इस प्रकार उनमे मिश्रित विचारों का समावेश होता है और समालोचना "अव्यवस्था के दलदल मे" जा पड़ता है। प्रसादजी ने आधुनिक हिन्दी-समीक्षा पर हीगेल के प्रभाव का एक दार्ष्टान्तिक उदाहरण उपस्थित किया है। हीगेल से प्रभावित हमारे आलोचक सर्वप्रथम काव्य का वर्गीकरण ही प्रस्तुत नहीं करते, उसे कला के अन्तर्गत भी मानने लगे हैं। हीगेल ने काव्य को कलाओं के अन्तर्गत रखा है उसका यह वर्गीकरण परपरागत विवेचनात्मक जर्मन दार्शनिक शैली का वह विकास है जो पश्चिम मे ग्रीस की विचार धारा और उसके अनुकूल सौंदर्य-बोध के सतत अभ्यास से हुआ है।"[2] प्रसादजी के अनुसार सस्कृति और सामूहिक चेतना मे मौलिक सबध है और उन्होने इरानी खलीफाओ के ही एकेश्वरवाद को स्पेन तथा मिश्र तक फैला देखा है। इन खलीफाओ की सौन्दर्यानुभूति ने यूरोपीय सौंदर्य-बोध को प्रभावित किया। परन्तु यह कहना न्यायसगत नहीं कि वर्तमान हिंदी-कवियों ने अचेतनों मे चेतनता आरोपित करना अगरेजी के कवियों मे सीखा है। हिंदी-समीक्षकों का सतर्क करते हुए प्रसादजी उनके इस पूर्वाग्रह की आलोचना करते हैं जिसके कारण वे भारतीय प्रवृत्तियों पर पाश्चात्य सस्कृति और चिंतन का प्रभूत प्रभाव देखते हैं। हमारे कितने ही समीक्षक जिनकी अधिकाश भावनाएँ विचारो की सकीर्णता और अपनी स्वरूप विस्मृति से उत्पन्न होती हैं अँगरेजी मे 'गॉड इज़ लव' लिखा पाकर हिन्दी-साहित्य मे पाये जानेवाले ईश्वर के प्रेम-रूप के वर्णन को अनुवाद या अनुकरण घोषित कर बैठते हैं। वे नहीं जानते कि जिसे वे पाश्चात्य साहित्य की देन समझते हैं वह प्रसिद्ध वेदान्त ग्रन्थ "पचदशी" के इस कथन पर आधारित है कि "अयमात्मा परानद परप्रेमास्पद यत । आनन्दवर्द्धन ने हजारों वर्ष पहले लिखा था—

भावानचेतनानपि चेतनवच्चेतनानचेतनवत्,
व्यवहारयति यथेष्ट सुकवि काव्ये स्वतन्त्रतया।

---

१ 'काव्य और कला तथा अन्य निबध', पृ० ३।
२ उपरिवत।

भारतवर्ष में शब्दों की व्युत्पत्ति-विद्या भी रही है और [illegible] का वर्गीकरण उपनिषदों में हुआ है। भाषाओं एवं [illegible] दृष्टियों से [illegible], निश्चित आधार है। इसी प्रकार काव्य के वर्गीकरण में भी गुण एवं [illegible] का सांस्कृतिक वैभव स्पष्ट है। परन्तु आज के [illegible] द्वारा प्रवर्तित है कि उसका लक्ष्य [illegible] में होता है और हम इसके अनुसार सूक्ष्म और स्थूल विभागों के द्वारा कलाओं में स्थान और महत्त्व की प्रतिष्ठा करते हैं। प्रसादजी पाश्चात्य ग्रीक-रोमन एवं परवर्ती सांस्कृतिक इतिहास में प्रवाह [illegible] और [illegible] कि यूरोपीय मन में अविच्छिन्न एकता पायी जाती है। इतिहास के अंतर्गत आर्नल्ड और एलियट ने भी यूरोपीय संस्कृति की अविच्छिन्न एकता का उद्घाटन किया है। [illegible] 'एवरीमैन' [1] की भूमिका में मध्यू आर्नल्ड की प्रशंसा करते [illegible] है कि अतीत में अंग्रेज़ों [illegible] यूरोपीय [illegible] उनका सहज उत्तराधिकार लिया है। अतीत में यूरोप की चेतना अंततः एक [illegible] महान् व्यक्तित्व की आत्मा अविच्छिन्न एवं अभिन्न थी। एलियट ने भी यूरोपीय सांस्कृतिक एकता पर प्रचुर बल दिया है और सार्वभौमिक परम्परा की समन्वयशीलता में अपना विश्वास व्यक्त करते हुए अनेकत्र यह धारणा की है कि लैटिन और ग्रीक भाषा यूरोपीय साहित्य का जीवन्त स्रोत निरंतर रहा है। इन विभिन्न प्रकार की पद्धतियों के रूप में प्रवाहित होकर ये एक अविच्छिन्न सांस्कृतिक मानस का निर्माण करते हैं। रोम में हमारी उत्पत्ति की खोज रोम द्वारा ही होनी चाहिए—'इट इज़ थ्रू रोम दैट आवर परेण्टेज इन ग्रीस मस्ट बी ट्रेस्ड"।[2]

परन्तु इसके विपरीत, जैसा प्रसादजी ने कहा है, भारतवर्ष में ऐसी अविच्छिन्न सांस्कृतिक एकता नहीं पाई जाती। 'बीच-बीच में इतने अभाव या अंधकार-काल हैं कि उनमें कितनी ही विरुद्ध संस्कृतियाँ भारतीय रंगमंच पर अवतीर्ण और लोप होती दिखाई देती हैं, जिन्होंने हमारी सौन्दर्यानुभूति के प्रतीकों को अनेक प्रकार से विकृत करने का ही प्रयोग किया है।'[3]

अपने सूक्ष्म-गहन अध्ययन के कारण प्रसादजी कलाओं के पाश्चात्य वर्गीकरण में पाये जानेवाले वाद-उपवादों से पूर्णतया अवगत थे। उन्होंने हीगेल द्वारा प्रस्तुत वर्गीकरण का उल्लेख तो किया ही है, पाश्चात्य वर्गीकरण में दोष

---

१ 'एवरीमैन एडिशन' (लंदन, १९५०), पृ० ३।

२ 'ह्वाट इज ए क्लासिक', पृ० ११, 'ऑन पोयट्री एण्ड पोयट्स', पृ० ७०।

३ 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध', पृ० ९।

पड़न वाले मनभेदा की भी चर्चा करना वाछनीय समझा है। प्लेटो कविता को सगीत के अतगत रखकर उसका वणन करता है किंतु वतमान यूरोपीय विचार-धारा के अनुसार काव्य सगीत-कला की अपेक्षा श्रेष्ठतर है। प्लेटो के अनुसार कविता की आवश्यकता सगीत के लिए है और अरस्तू के अनुसार कला अनुकरण है। हीगेल धमशास्त्र को कला से ऊपर और दशन को धमशास्त्र से ऊपर रखता है। प्रसादजी ने भारतीय एव पाश्चात्य विश्व-बोधा म मौलिक वपरीत्य देखा है और इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा कि जहाँ पश्चिम मे सौंदयानुभूति द्वारा मानव-स्वभाव के क्रम विकास और स्थूल म सूक्ष्म की ओर प्रगति का वणन मिलता है वही भारत म अद्धनारीश्वर की सश्लिष्ट कल्पना की गई है और उपनिषदा म मूत्त विश्व को ब्रह्म से इतर निकृष्ट स्थिति म नही रखा गया। पश्चिम म सौंदयशास्त्री मूत्त और अमूत्त मे आध्यात्मिक भेद देखत हैं और काव्य को, मूत्त होने के कारण, आध्यात्मिक सीमा से अलग रखने की चेष्टा करत है। इनके विपरीत भारतीय विचार धारा ब्रह्म को मूत्त भी कहती है और अमूत्त भी और इस प्रकार नानात्मक होने के कारण मूत्त और अमूत्त का भेद हटात हुए बाह्य और आभ्यन्तर का एकीकरण करने का प्रयत्न करती है।"[1] अत भारतीय दृष्टिकोण से काव्य को मूत्त होने के कारण अध्यात्म से निम्न श्रेणी की वस्तु नही कह सकते। अपने मत की पुष्टि के लिए प्रसादजी न "हमार्ट आलोचक हेवेल" की यह पक्ति उद्धत की है कि "द हिंदू डाज नो डिस्टिंक्शन बिटविन ह्वाट इज सेक्रिड एण्ड प्रोफेन।"[2]

स्पष्ट है कि प्रसादजी का उद्देश्य भारतीय समीक्षा को पाश्चात्य प्रभाव से मुक्त करना है, न कि स्वय पाश्चात्य भाषा साहित्य और समीक्षा से प्रभावित होना। उनकी काव्य-परिभाषा, उनका रहस्यवाद उनका काव्यशास्त्रीय चितन स्वच्छदतावादी परपरा के अनुकूल है परन्तु उनका मौलिक दशन चितन भारतीय है और भारतीय परपराओ से प्रभावित भी। यहा तक कि जो स्थल पाश्चात्य विचार धारा स प्रभावित दीखत है वे भी सूक्ष्म परीक्षण और अध्ययन के अनतर भारतीय तत्त्वा स ही सपोषित तथा अनुप्राणित प्रकट होते हैं। यदि प्रसादजी पर पश्चिम का प्रभाव देखना हो तो उनकी कृतियो मे इतस्तत पायी जानेवाली मनोवैज्ञानिक स्थापनाओ पर ही देखी जा सकती है अन्यत्र नही।

---

१ 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध', पृ० १५।

२ उपरिवत ।

१६३६/३७) म निकला। युग के अनुसार मिथक और कल्पित गाथाएँ आद्य-रूपो (आर्किटाइप्स) की ही अभिव्यक्ति हैं। उसने यह भी कहा कि पुराणो और इतिहासो म वर्णित हमारे पूवज हम इस प्रकार आकृष्ट करते हैं कि उनका हमारी "साइकी" (आत्मा) से सबद्ध होना निश्चित जान पडता है। हमारे सामूहिक अचेतन मे उनकी स्मृति अवश्य ही वतमान होनी है, जिसके फलस्वरूप वे हमारे मन मे अपने प्रति इतनी गहरी रुचि प्रोद्दीप्त करते हैं। शुक्लजी न प्रकृति के प्रति हमारे आकषण का जो कारण बताया है वही मिथको के प्रति हमारे आकषण का कारण है। सभवत एक अत्यन्त अश्रुतपूव सयोग के फलस्वरूप प्रसादजी न युग के सिद्धातो को प्रतिध्वनित करते हुए कहा है "आज के मनुष्य के समीप तो उसकी वतमान सस्कृति का क्रमपूण इतिहास ही होता है, परन्तु उसके इतिहास की सीमा जहाँ स प्रारम्भ होती है उसी के पहिले सामूहिक चेतना की दृढ और गहरे रगो की रेखाओ स, बीती हुई और भी पहले की बातो का उल्लेख स्मृति पट पर अमिट रहता है ।"[1] "काव्य और कला तथा अन्य निबध" मे उन्होंने बताया है कि 'सस्कृति का सामूहिक चेतना से, मानसिक शील और शिष्टाचारो से, मनोभावो से मौलिक सबध है।"[2] आचाय नन्ददुलारे वाजपेयी न प्रसादजी के काव्य सिद्धातो की मार्मिक व्याख्या प्रस्तुत करते हुए प्रसादजी द्वारा प्रयुक्त 'असाधारण अवस्था' का स्पष्टीकरण इन शब्दो मे किया है "यह असाधारण अवस्था युगो की समष्टि अनुभूतियो म अतर्निहित रहती है, क्योकि सत्य अथवा श्रेय ज्ञान कोई व्यक्तिगत सत्ता नही वह एक शाश्वत चेतनता है ।'[3]

यह निर्विवाद है कि प्रसादजी ने अपने कलागत सिद्धात और अपनी काव्य-परिभाषा आधुनिक मनोवैज्ञानिक शब्दावली मे प्रस्तुत की है और जहाँ युग न "सामूहिक अचेतन' का—समष्टि अवचेतना का—उल्लेख किया है वहाँ प्रसादजी 'सामूहिक चेतनता" का प्रयोग करत हैं। परन्तु प्रश्न है कि क्या प्रसाद जी युग क सिद्धान्तो से परिचित थे? उपलब्ध सामग्री को सवतोभावेन परीक्षित कर चुकन के बाद कहना पडता है—सभवत नही। हम 'सामूहिक चेतनता' जैसे भ्रामक शब्दो और पदावलियो से सावधान रहना होगा।[4] साथ ही यह भी

---

१ 'कामायनी', पृ० २१

२ का० क० अ० नि०, पृ० ४१

३ उपरिवत, पृ० ६ (प्राक्कथन)।

४ यहाँ प्रसाद जी का उपर्युक्त कथन विचारणीय है कि " .. अधिकतर आलो-

ज्ञातव्य है कि प्रसादजी पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक विचार-सरणियों से अपरिचित अवगत थे। और Ueber das Unbewusste का प्रकाशन Schweizerland Monatshefte fur Schweizer Art and Arbeit के चौथे अंक में १९१८ में ही हो चुका था। युग का Wandlungen und Symbole der Libido नामक ग्रंथ १९१२ में ही प्रकाशित हो चुका था और "कामायनी" के प्रकाशन-वर्ष में तो युग का स्वयं विश्वविद्यालय ने अपूर्व सम्मान किया था।

काव्य-परिभाषा

प्रसादजी ने पाश्चात्य मतवादों का निराकरण ही नहीं, प्रत्युत भारतीय लक्षणकारों की उपपत्तियों और उनके द्वारा उपलब्ध तथ्यों का समर्थन भी किया है। उन्होंने काव्य को आत्मानुभूति की मौलिक अभिव्यक्ति कहा है और उसमें हृदय-तत्त्व का प्राधान्य दिया है। कला विवेक और बुद्धि से अधिक संबंध रखती है इसलिए इसकी रचनाएँ निश्चित सिद्धांत तक पहुँचा देती हैं। कला इड़ा है जो मनुष्य को चेतना प्रदान करती है—'इड़ा का बुद्धिवाद श्रद्धा और मनु के बीच व्यवधान बनाने में सहायक होता है।' काव्य श्रद्धा है आत्मा की संकल्पात्मक मौलिक अनुभूति है। इतना ही नहीं "यह एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञान-धारा है। विकल्पात्मक तर्कों से और विकल्प के आरोप से मिलन न होने के कारण आत्मा की मनन क्रिया जो वाङ्मय रूप में अभिव्यक्त होती है वह निस्संदेह प्राणमयी और सत्य के उभय लक्षण प्रेय और श्रेय दोनों से परिपूर्ण होती है।"[1]

कामायनी के कवि का यह भारतीय दृष्टिकोण अधिक ग्राह्य है जिसका प्रतिपादन दण्डी, अभिनवगुप्त, भामह आदि ने किया है। काव्य और कला को वे भिन्न वर्ग की वस्तु मानते हैं और कला को काव्य का अंग ठहराते हैं। प्रसादजी के मतानुसार काव्य में भावना और अभिव्यंजना का सामंजस्य पाया जाता है और कला से केवल अभिव्यंजना का अर्थ द्योतित होता है। 'स्कन्दगुप्त' में कवि मातृगुप्त ने कविता की जो परिभाषा उपस्थित की है उसमें वस्तुतः प्रसादजी की ही काव्य परिभाषा ध्वनित है: कवित्व—वर्णमय चित्र है जो स्वर्गीय भावपूर्ण संगीत गाया करता है। अंधकार का आलोक से, असत् का सत् से, जड़ का चेतन से और बाह्य जगत् का अंतर्जगत से संबंध कौन कराती

चकी के गीत का टेक यही रहा है कि हिंदी में जो कुछ नवीन विकास हो रहा है, वह सब बाह्य वस्तु है।" (पृ० ७)

१ का० क० अ० नि०, पृ० १७।

है? कविता ही न?"[1] यह एक छायावादी कवि की छायावादी रोमांटिक काव्य-परिभाषा है। इस तथ्य को ध्यान में रखकर ही इसका मूल्यांकन-परीक्षण करना चाहिए। अभिजातवादी लक्षणा या रीतिकारों द्वारा निर्मित परिभाषाओं के समर्थक और इनमें ही पगे-सने समीक्षक इस परिभाषा से सहमत न होंगे। डॉ० भगीरथ मिश्र ने कहा है कि प्रसादजी की 'परिभाषा सर्वमान्य न होकर केवल व्यक्तिगत दृष्टिकोण ही स्पष्ट करती है।"[2] सच पूछा जाय तो यह प्रसादजी की समीक्षाओं का ही नहीं, प्रत्युत सभी स्वच्छंदतावादी समीक्षकों द्वारा प्रस्तुत आलोचनाओं का दोष है और, समीक्षक पूछना चाहेगा—क्या ऐसी भी काव्य-परिभाषाएँ होती हैं जो किसी न किसी रूप में व्यक्तिगत दृष्टिकोण व्यक्त नहीं करतीं? इतना तो निर्विवाद मान लेना चाहिए कि प्रसादजी की परिभाषा भारतीय आध्यात्मिक दृष्टिकोण से ही सर्वाधिक प्रभावित है न कि अँगरेज रोमांटिक कवियों से। अतः डॉ० सुरेशचन्द्र गुप्त की यह उपपत्ति हमें मान्य होगी कि "किन्हीं भी दो कवियों की धारणाओं में समानता का होना असम्भाव्य नहीं है किन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि 'प्रसादजी की प्रेरणा के स्रोत ब्लेक और कालरिज नहीं हैं—उन्होंने भारतीय दर्शन-ग्रन्थों के आधार पर ही अपने लक्षण का निर्माण किया है।'[3]

निराला (१८९६-१९६१)

निरालाजी की भाषा-शैली और उनका काव्यशास्त्रीय चिंतन जितना प्राचीन पौरस्त्य परंपराओं में बद्धमूल है उतना पाश्चात्य परंपराओं में नहीं। उन पर सर्वाधिक प्रभाव बंगला और संस्कृत के रचनात्मक साहित्य तथा उसके अध्ययन से उपलब्ध उन मानदंडों का है जिनके प्रकाश में वे अद्यतन साहित्य को आकलित करने और नव्य सिद्धांतों के निर्धारण एवं निश्चयों का प्रयास करते हैं। यदि उनकी काव्यविषयक धारणाओं एवं प्रतिपत्तियों में पाश्चात्य तत्त्वों का अन्तर्भाव दीखता है तो इसका कारण भूम्न समचिंतन है, पाश्चात्य प्रभाव नहीं।

निराला पर लिखी गई समीक्षाओं और उन्हें अर्पित श्रद्धांजलियों में उनके व्यक्तित्व की तुलना जहाँ भारतीय मनीषियों के व्यक्तित्व से की जाती है वहीं

१ 'स्कन्दगुप्त', प्रथम अंक, पृ० २१।
२ 'हिंदी-काव्य शास्त्र का इतिहास', पृ० ३६९।
३ 'आधुनिक हिंदी-कवियों के काव्य सिद्धांत' (दिल्ली, १९६०), पृ० ३४९।

उन्हें कुछ चुने हुए पाश्चात्य महापुरुषों के भी समकक्ष रखा जाता है। उनका भव्य और दार्शनिक मुद्रा, पृथु वक्षस्थल तथा बलिष्ठ शरीर से उनके 'यूनानी दार्शनिक होने का भ्रम' होता था। अमेरिका की एक पत्रकार महिला ने उन्हें 'अपोलो का पुत्र' और दूसरी ने साक्षात् "सीजर का अवतार" कहा है। गंगा प्रसाद पांडेय ने उनका रेखाचित्र प्रस्तुत करते हुए कहा है "जान पड़ता था मैं किसी रोमन मूर्ति के सामने खड़ा हूँ।"[1] "नरपुंगव इस निराला को आगस्टस के एग्रिप्पा और सम्राट ट्राजनस, सिनेट सिसरो (sic), सम्राट गल्बा के आकार का बताया गया है। वे प्लूटार्क के सिकन्दर के समान भी कह गए हैं। उन्हें नीत्से, ह्यूगो, गोर्की और ल्यरेन्स के समकक्ष भी रखा गया है।"[2] परन्तु ये भावोद्गार निरालाजी की समीक्षा से संबंध नहीं रखते और न इनसे इस बात का प्रमाण ही मिलता है कि निरालाजी के प्रगीत पाश्चात्य स्वच्छंदतावाद से, अथवा किसी अन्य पाश्चात्य सम्प्रदाय से प्रभावित हैं।

कवियों द्वारा उद्भावित समीक्षा उनके काव्य से अभिन्नतया संबद्ध होती है। उस काव्य का स्तवन ही उनकी समीक्षात्मक कृतियों का उद्देश्य होता है जो उन्हें अधिकाधिक प्रिय है जो उनका आदर्श है। उनकी कवि प्रतिभा से उच्छ्वसित काव्य ही उनकी समीक्षाओं में प्रायः समर्थित होता है और वे अपनी ही शैली के प्रस्तोता होते हैं न कि अन्य साहित्यकारों की उपलब्धियों के निर्णायक।[3] निराला जी द्वारा सृष्ट प्रगीतों और उनके समीक्षात्मक निबंधों में भी अन्योन्याश्रय संबंध देखा जाता है। कहा जाता है कि 'निराला के गीत किसी सीमा तक प्राचीन परंपरा के अधिक समीप हैं प्राचीन रस की भूमिका पर लिखे गए हैं और राग

---

१ महाप्राण निराला, पृ० १५४। दे० प्रो० धनञ्जय वर्मा, 'निराला काव्य और व्यक्तित्व' (दिल्ली, १९६५), पृ० ५६।

२ उपरिवत।

३ ' the poet is always trying to defend the kind of poetry he is writing or to formulate the kind he wants to write Especially when he is young and actively engaged in battling for the kind of poetry which he practises, he sees the poetry of the past in relation to his own and his gratitude to those dead poets from whom he has learned may be exaggerated He is not so much a judge as an advocate T S Eliot On Poetry and Poets p 26

रागिनियों म वँधे हुए हैं।"[1] उनका मानवतावाद भारतीय विश्ववाद स ही अनुस्यूत है और उनका "साहित्य विशुद्ध स्वदेशी भूमि पर अवस्थित है" ।[2] निरालाजी का कवि "प्राचीन सस्कृति का भक्त और गुण-गायक है, जातिगत परपरा प्राप्त सस्कारो का उसे अभिमान है, वह विदेशा के अध-अनुकरण की घोर निन्दा करता आया है।"[3] उनकी रचनाओ के अनुशीलन स इस बात म सदेह नही रह जाता कि उसके काव्य का मेरुदण्ड पाश्चात्य स्वच्छदतावाद न होकर भारतीय वेदान्त और 'नव अद्वैतवादी दार्शनिकता' है।

निरालाजी का अँगरेजी साहित्य ज्ञान

निरालाजी की समीक्षात्मक कृतियाँ भी भारतीय परपराओ से ही सर्वाधिक प्रभावित हैं। परन्तु जसा डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय ने कहा है और जो सवथा तथ्यानुमोदित है निराला सकीणतावादी न थे। उनके कवि और समीक्षक म "उदारता और व्यापकता निजत्व की पूरी रक्षा के साथ समाहित थे और व विभिन्न विश्व-साहित्या म पाये जानवाले भावा के आदान प्रदान का समथन करते थे। इतना ही नहा, निराला जी अँगरेजी साहित्य के मूधन्य कवियो के कृतित्व से भी न्यूनाधिक परिचित थे और आवश मे हिन्दी न बोलकर अँगरजी बोलने लगते थे।[4] डॉ० रामविलास शर्मा के साक्ष्यानुसार

> करीब दस साल से लगातार इस बात की धमकी दने पर कि वह अँगरेजी म लिखना शुरु कर देगे, हिन्दी भाषियो क सौभाग्य मे उनकी

---

१ नन्ददुलारे वाजपेयी 'कवि निराला' (वाराणसी, १९६५), पृ० ६५।

२ डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, निराला का साहित्य और साधना (आगरा, १९६५), पृ० ६६।

३ उपरिवत।

४ डा० रामविलास शर्मा, 'निराला' (आगरा, १९६२), पृ० २०१ ध्यातव्य "निराला की भारतीय ऐतिहासिक पुरुषो पर, अतीत प्रेम पर लिखी कविताएँ प्रमाण ▮ कि कवि को देश की सध्या, उषा, नद, निर्झर, वन लतादि से प्रेम है, देशीय विचारदर्शन उसके जीवन का अभिन्न अग रहा है, उनकी प्रेरणा के स्रोत, विवेकानद, शकर, तुलसीदास, उपनिषद तथा रवीन्द्र ह, यद्यपि उन्होंने योरपीय साहित्य को भी पढा है, परन्तु उनके प्रयोगा का अविकल अनुवाद प्रस्तुत न कर उन्होने मौलिकता की सदा रक्षा की है।" वि० ना० उ०, "निराला का साहित्य और साधना", पृ० ६७।

वह धमकी अभी तक अमल म नहीं आयी।[1]

निरालाजी के अँगरेजी भाषा-साहित्य ज्ञान का यत्किंचित् परिचय इसी समीक्षक की इन पंक्तियों से मिलता है —

> पढने का तरीका भी उनका (निरालाजी का) अपना है। एक पन्ना पढेंगे तो इसके हाशिए अय स रग डालेंगे। वर्ड्स वर्थ के "रोडिंग मरिड और नेनी के "अलास्टर का प्रत्येक पृष्ठ रंग गई पग-पग घर धरा का उदाहरण बना हुआ है। महिषादल मे हाईस्कूल म प्राप्त किय हुए अँगरेजी व्याकरण के अनुपम ज्ञान का उपयोग वह हर अँगरेजी के अध्यापक पर करते हैं। शेक्सपियर की सॉनेटों का ल कर वह गाफिल सिलाही को पल्व मारत चित कर देते हैं।[2]

अपने प्रशात क्षणों म भी कभी-कभी निरालाजी अँगरेजी मिश्रित वाक्य लिखने लगते थे

> "उस समय जब पल्लव' प्रेस की गैलियों की सघन प्रल्प डालियों के भीतर Projection of Nature का problem solve कर रहा था पतजी के पत्र से अनगल अत्याचारो की कल्पना मैंने कर ली थी।[3]
>
> अतिम कली अन्त उसके कुछ बढने के पश्चात उसे पकडकर रोक लेता है जिसस Additional (सयुक्त) 'सत्वर' भी उसे उसके स्थान से हिला नही सकता।"[4]
>
> "स्वभाव म Female graces की प्रधानता के कारण पतजी कवित्त छद की मौलिकता आदि समझ नही सके।"[5]
>
> "स्वच्छद छद मे art of music नही मिल सकता, वहाँ है art of reading "[6]

आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा ने 'छायावाद पर बाह्य प्रभाव" शीर्षक निबध मे रोमांटिसिज्म की निम्नलिखित विशेषताओ को ध्यातव्य कहा है—(१)

---

१ रा० वि० श०, 'निराला', पृ० २० ।

२ उपरिवत ।

३ 'पत और पल्लव' (१९४८), प० ५ ।

४ उपरिवत, प० १८ ।

५ पत और पल्लव, प० ३७ ।

६ उपरिवत प० ४२ ।

विस्मय-मिश्रित कौतूहल, (२) सौंदय प्रेम यहाँ "सौंदय" का प्रयोग सीमित अर्थ में नहीं बल्कि व्यापक अर्थ में समझना चाहिए, (३) सूक्ष्म रहस्यात्मक अनुभूति और (४) जीवन की सरलता के प्रति सहज-स्वाभाविक दृष्टिकोण।[1] छायावाद में शर्माजी के अनुसार, इन सभी विशेषताओं का समाहार मिलता है। निराला की 'प्रपात के प्रति', तरंगों के प्रति', 'खेवा' और "अंजलि" जैसी अनेक कविताओं में रोमांटिसिज्म का स्निग्ध अन्त प्रवाह देखने को मिलता है। परन्तु उनकी आलोचना पर पाश्चात्य प्रभाव आरोपित करने के पहले अपेक्षाकृत अधिक सतर्कता की अपेक्षा होती है। निरालाजी रवीन्द्रनाथ से प्रभावित थे और रवीन्द्रनाथ पाश्चात्य रोमांटिक भावधारा से। कोई महाकवि किसी अन्य कवि के सामने नतशिर इस कारण भी होता है कि उसकी काव्यकला उसके मनानुकूल ही नहीं, उसकी काव्य-सर्जना और शैली को भी प्रभावित करती रही है। वह प्रशंसा का जो उत्कोच देता है उसके मूल में स्वार्थ की इष्ट भावना होती है। 'रवीन्द्र-कविता-कानन' का कवि समीक्षक उस रवीन्द्र से प्रभावित है जो रोमांटिक काव्यधारा का अनन्य प्रस्तोता है। इसके अतिरिक्त, छायावाद के कवियों में परस्पर वभिन्न्य के होते हुए भी उनमें सम्प्रदायगत सादृश्य पाया जाता है। इसी कारण निरालाजी की समीक्षात्मक धारणाओं के ऊपर रोमांटिक भावधारा का प्रभाव दीख पड़ता है।

पंत और पल्लव

जिस प्रकार निरालाजी की परवर्ती कविताओं में ध्वनित शालीनता से अध्येता को बरबस पाउंड के "पीसान कण्टोज" की कतिपय कविताओं का स्मरण हो आता है और जिस प्रकार निरालाजी की कविताएँ हॉप्किंस, पॉल एल्यूअर्ड रीम्बो, अपौलिनेयर और काक्टिउ की रचनाओं की याद दिलाती हैं, उसी प्रकार उनकी समीक्षाओं से उन्नीसवीं शती के स्वच्छन्दतावादी अँगरेज आलोचकों के काव्य-सिद्धान्तों का आभास मिलता है। यहाँ तक कि उनकी समीक्षागत भाषा शैली भी कभी-कभी रोमांटिक सुष्ठुता और धूमायन लिये हुए होती है और शैली पेटर तथा आस्कर वाइल्ड सरीखे साहित्यकारों की गद्य शैली के समकक्ष जान पड़ती है। कविता में उन्होंने जिस मुक्त (स्वच्छंद) छंद का प्रवर्त्तन किया है वह अँगरेजी के ह्वीटमन के अनुकरण पर निर्मित माना गया है। परन्तु निरालाजी

---

[1] प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा, 'छायावाद और प्रगतिवाद' (पटना, सं० २००७), पृ० ६९।

इसे स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार 'स्वच्छंद छंद स्वर प्रधान नहीं व्यंजन प्रधान है। वह कविता की स्त्री सुकुमारता नहीं, कवित्व या पुरुषत्व है। उसका सौंदर्य गाने में नहीं, वार्तालाप करने में है। उसकी सृष्टि कवित्त-छंद में हुई है, जिसे पंतजी विदेशी कहते हैं, जो उनकी समझ में नहीं आया।"[1]
'पंत और पल्लव' का लेखक छायावाद का मयखण्ड नहीं है पंतजी के दोषों के सम्यक उद्घाटन में रत वह अपने छायावादी आदर्शों से च्युत हो जाता है और ब्रजभाषा की प्रशंसा करते हुए कहता है

> जिनके संस्कार बहुत कुछ अँगरेजी-कविता के सांचे में ढल जाते हैं उन्हें ब्रजभाषा की कविता पसंद नहीं आती, यह बहुत ठीक है। परंतु यह भी बहुत ठीक है कि पंतजी ने ब्रजभाषा पर अपनी उदासीनता के कारण जो कटाक्ष किया है वह कुछ ही अंशों में सत्य है।
>
> आजकल के शिक्षित लोग यह समझते हैं कि वे पहले से इस समय ज्ञान की ऊँची भूमि पर विचरण (sic) कर रहे हैं। पहले तो यह ज्ञान ही मेट देना है। इसके पश्चात् गौरांगों की उज्ज्वल अँगरेजी, गौरांगों का गुरुत्व और कृष्णांगों पर गौरांगों का भाष्य और उस भाष्य पर कृष्णांग बालकों का विश्वास।[2]

इसी प्रकार छायावादी रोमांटिक काव्य का यह अमर स्रष्टा पंतजी का विरोध करता हुआ अँगरेजी शब्दों के तत्सम रूपों की ओर उनके अधिक झुकाव को निंद्य ठहराता है और कहता है कि 'पंतजी का यह प्रयत्न ऐसा है जैसे भारतवर्ष की आबोहवा को अँगरेजी दवाओं के अनुकूल करना।'' तत्पश्चात वह अँगरेजी के "टच" (touch) की अपेक्षा "स्पर्श" को अधिक सुंदर और मधुर घोषित करता है। "touch के छूने की क्रिया पर विचार कीजिए, 't' में जीभ मूर्द्धा-स्पर्श करती है फिर 'अच' (ouch) से स्वर वायु भीतर से निकलकर जैसे बाहर की किसी वस्तु को छू जाती हो, इस तरह touch से, स्पर्श की क्रिया उच्चारण द्वारा होती है। 'स्पर्श' में जो छूने की क्रिया है, वह 'touch' से और सुंदर और मधुर है।'[4]

---

१ 'पंत और पल्लव', पृ० ४२।
२ उपरिवत पृ० ५६।
३ उपरिवत, पृ० ६९।
४ पंत और पल्लव, पृ० ६९ ७०।

रोमांटिक समीक्षा

समग्रत, निरालाजी का काव्य विषयक चिंतन रोमांटिक है और उसमें उनका व्यक्तित्व उतना ही प्रतिफलित है जितना उनके काव्य में। रोमांटिक आलोचक कवि के लिए प्रतिभा की अनिवार्यता घोषित करता है निरालाजी भी प्रतिभा पर बल देते हैं 'जो कवि है, वह जब अपनी प्रतिभा का ज्ञान हो जाता है तब वे, दूसरों की तरह निर्वाक रहकर थोड़े ही शब्दों में अपनी प्रतिभा का परिचय नहीं देते।"[1] रोमांटिक कवि-आलोचक काव्य को आत्माभिव्यक्ति और हृद्गत आवेगों का सहज उच्छलन एवं रसायन मानता है। निरालाजी कवियों द्वारा प्रस्तुत आत्म-परिचय को उतना ही स्वाभाविक उद्गार कहते हैं जितना कवियों द्वारा किया गया प्रकृति-वर्णन स्वाभाविक होता है। रोमांटिक आलोचना पूर्व निर्धारित मानदंडों से काव्यकृति का समीक्षण नहीं करती प्रत्युत कवि के मनोभावों का, रोमांटिक भाषा शैली में, विश्लेषण करती हुई गद्य-काव्य रचती है, निरालाजी की समीक्षा यही करती है 'कवि-हृदय का यह प्रथम प्रभात है। बाहर की जिस किरण को पाकर कवि ने ये इतनी उक्तियाँ कही हैं, वह किरण बाहरी संसार के भगवान भुवन भास्कर की किरण नहीं, वह वनदेवी की ही प्रतिभा की किरण है—उसी की कनक-रेखा कवि के हृदय पट पर खिंच गई है।'[2]

यहां समीक्षक की शैली उस त्रिकालज्ञ कथाकार (omniscient narrator) की शैली है, जो अपने पात्रों के अन्तःकरण में तरंगायित सूक्ष्माति-सूक्ष्म भावों और आवेगों को भी प्रकट करने में समर्थ होता है— जिस दिन हृदय में एकाएक इस कनक किरण का प्रवेश हुआ कवि चौंक पड़ा। अपने महान स्वरूप को देखकर वह मुग्ध हो गया।[3] "रवीन्द्र-कविता-कानन' का कवि-समीक्षक पेटर, कार्लाइल, सण्ट्सबरी और हड्सन की शैली में सतर्क समीक्षा नहीं, स्निग्ध सर्जना करता है और आलोचना न लिखकर गद्य-काव्य की सृष्टि करता है। ये सभी पाश्चात्य रोमांटिक समालोचक में आलोच्य कृति के प्रति प्रबल औत्सुक्य (enthusiasm) का उद्रेक वांछित समझते हैं। निरालाजी की भावयित्री प्रतिभा कार्लाइल की रोमानी प्रतिभा के समकक्ष है और 'रवीन्द्र-कविता-कानन" के भावोद्गार पेटर तथा स्विनबर्न की प्रभावाभिव्यंजक समीक्षाओं की याद दिलाते हैं।

---

१ रवीन्द्र-कविता-कानन (कलकत्ता, सं० १९८५), पृ० ४९।
२ उपरिवत्, पृ० ५१।
३ उपरिवत्।

यदि हम निरालाजी द्वारा निरूपित प्रभाव-संबंधी तथ्यों का सम्यक् परीक्षण करें तो यह मान लेने को बाध्य होना पड़ेगा कि वे उन देशों की सभ्यता-संस्कृति को वेदांतिक भावों से अनुप्राणित मानते हैं जिनसे अँगरेज प्रभावित हुए हैं। अतः रहस्यवाद और छायावाद पश्चिम से प्रभावित होकर भी मूलतः भारतीय परंपराओं में ही अन्तःप्रतिष्ठित हैं। प्रभावों का संक्रमण चक्र क्रम में हुआ है। भारत ही वेदांतिक भावों का उद्गम-स्थान है। यहाँ से वेदांतिक भाव धारा मिश्र, अरब, फारस, ग्रीस और रोम पहुँची और 'सुकृत या विकृत रूप में उनके साहित्य में ठहर' गई।[1] इन देशों के साहित्य ने अँगरेजी साहित्य को प्रभावित किया है जिससे होकर प्रभाव—वेदांतिक चिंतन—पुनः उस भूमि को लौट आया है जहाँ उनका आविर्भाव हुआ था।

चूँकि निरालाजी छायावाद के मूर्धन्य कलाकार हैं, उनके अनेक काव्य-सिद्धांत इस सम्प्रदाय के अन्य साहित्यकारों द्वारा भी प्रतिपादित हुए हैं। प्राच्य एवं पाश्चात्य रोमांटिक विचार धारा के अनुसार कवि एक अत्यंत कोमल प्राणी होता है, जो दूसरों के साथ सहानुभूति करते-करते इतना कोमल हो जाता है कि किसी भी चित्र की छाप उसके हृदय में क्या की-क्या पड़ जाती है। इसके लिए उसे कोई विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता।[2] वर्ड्सवर्थ, शेली और कीट्स की कितनी की पंक्तियाँ इस कथन का सशक्त समर्थन करती हैं। उदाहरणार्थ—"लिरिकल बेलेड्स' के द्वितीय संस्करण की भूमिका में वर्ड्सवर्थ ने भी कवि को एक सुकोमल तथा अत्यंत संवेदनशील प्राणी कहा है 'अ मैन ... एनडाउड विथ मोर लाइवली सेंसिबिलिटी, मोर इनथुजिएज्म एण्ड टेण्डर्नेस ... दैन आर सपोज्ड टु बि कॉमन अमंग मनकाइण्ड'।[3] इसी संदर्भ में निम्नलिखित उद्धरण प्रस्तुतयोग्य हैं

(१) कविता भावात्मक शब्दों की ध्वनि है।"

र० क० का०, पृ० १८५–१८६

Poetry is emotion put into measure

Thomas Hardy

---

१ संग्रह (प्रयाग, १९६३), पृ० १३२।

२ रवीन्द्र-कविता-कानन, पृ० ७८।

३ शेली ने भी अपने "अ डिफेन्स आफ पोएट्री" में कहा है कि कवि सदा ही भावप्रवण और सुकोमल होता है "हू इज मोर डलिकेटली आर्गेनाइज्ड दन अदर मेन" इत्यादि।

(२) 'बहुत से विद्वानों की राय है कि कविता का सौन्दर्य यह है कि शब्द थोड़े हों और भाव अधिक और गहन। परन्तु कविता के सौंदर्य की व्याख्या के लिए एकमात्र इस कथन को ही सत्य मान लेना वैसी ही भूल होगी जैसी साकार और निराकार के झगड़े में अक्सर हुआ करती है। यह कोई बात नहीं कि सौंदर्य बिंदु में ही हुआ करता है।"

र० क० वा० पृ० ११६

Undue brevity degenerate into mere epigrammatism A very short poem while now and then producing a brilliant or vivid never produces a profouned or enduring effect There must be the steady pressing down of the stamp upon the wax'

Poe The Poetic Principle

(३) "जो कवि और महाकवि होते हैं वे प्रकृति के हर एक कमरे में प्रवेश करने का जन्मसिद्ध अधिकार लेकर आते हैं। वे प्रकृति की प्रत्येक भूमि पर—जनाना महल में भी—बेधड़क चले जा सकते हैं।"

र० क० वा० पृ० १३८

Painters and Poets you say have always had an equal licence for bold invention We know this we claim the liberty for ourselves and we give it to others [1]

Horace *Ars Poetica, 9*

(४) "कवियों के हृदय निर्गत कविता रूपी उद्गार में इतनी शक्ति होती है कि उसका प्रवाह जनता को अपनी गति की ओर खींच लेता है।

माधुरी अगस्त १८२३, पृ० ४८

---

१ 'Pictoribus atque poetis/Quidlibet audendi semper fuit aequa potestas /Scimus et hanc veniam petimusque damusque vicissim

'It compels us to feel that which we perceive and imagine that which we know It creates anew the universe after it has been annihilated in our minds by the recurrence of impressions blunted by reiteration It justifies the bold and true word of Tasso *Non merita nome di creatore se non Iddio ed il Poeta*

Shelley *A Defence of Poetry*

(५) उपदेश को मैं कवि की कमजोरी मानता हूँ।"

प्रबंध प्रतिमा', पृ० २८४

We hate poetry that has palpable design upon us

Keats (Letter to John Hamilton Reynolds 3 Feb 1818)

(६) ' जड और चेतन, सबकी प्रकृति कवि का अपना स्वरूप दिखा देती है। वे दर्पण हैं और प्रकृति का प्रत्यक्ष विषय उनपर पडनेवाला सच्चा बिम्ब।'

र० क० का० पृ० १३६

Poetry is the image of man and nature

Wordsworth *Pref L B*

(७) 'जिस समय से देश पराधीनता के पिंजडे में वन विहगम की तरह बन्द कर दिया गया है उस समय से लेकर आज तक की उसकी अवस्था का दर्शन उससे सहानुभूति, उसकी अवस्था का प्रकटीकरण आदि उसके संबंध के जितने काम हैं इनकी सीमा कवि-कर्म की परिधि के भीतर ही समझी जाती है। क्योंकि प्रकृति का यथार्थ अध्ययन करनेवाला कवि ही यदि देश की दशा का अध्ययन न करेगा तो फिर करेगा कौन?—सर्राफ, बजाज और मकू महता?

र० क० का० पृ० ७८–७९

we live among such philosophers and poets as surpass beyond comparison any who have appeared since the last national struggle for civil and religious liberty The most unfailing

herald companion and follower of awakening of a great people to work a beneficial change in opinion or institution is poetry"

—Shelley *A Defence of Poetry*

(८) 'साहित्यकार संसार की अच्छी चीजों का समावेश अपने साहित्य में करते हैं और उनके प्राणों के रंग में रंगीन होकर वे चीजें साधारणों को भी रँग देती हैं।"

गीतिका भूमिका पृ० ५

Poetry is the high-wrought enthusiasm of fancy and feeling As in describing natural objects it impregnates sensible impressions with the forms of fancy so it describes the feelings of pleasure or pain by blending them with the strongest movements of passion and the most striking forms of nature

Hazlitt *On Poetry in General*

ज्ञातव्य है कि निरालाजी के उपर्युक्त कथन पाश्चात्य कवियों और आलोचकों की मान्यताओं के अनुरूप होकर भी अपना विशिष्ट महत्त्व रखते हैं। उनमें अधिकांश समचिंतन पर आधृत दीखते हैं और कहीं अँगरेजी समीक्षा से अपहृत होने का द्योतन नहीं करते। वस्तुतः हमारी यह निश्चित धारणा है कि निरालाजी के साहित्यिक सिद्धांतों एवं पाश्चात्य मान्यताओं में जो साम्य दीखता है वह नितान्त तलोपरिक (superficial) है। निरालाजी 'एक तटस्थ वस्तुमुखी कलादृष्टि रखनेवाले कवि हैं। प्रसाद और पंत की अपेक्षा उनमें वैयक्तिक भाव-आरोप की विरलता है।'[1]

ह्विटमन और लॉरेंस का प्रभाव

निरालाजी की स्वच्छन्दतावादी भावधारा का अध्ययन विश्लेषण यहीं समाप्त नहीं हो जाता। उसे अन्यान्य अन्तःप्रवाहों का भी बल प्राप्त हुआ है जिसके फल-स्वरूप वह अत्यंत गंभीर समीक्षा के स्तर पर ऊर्ध्वगामिनी हो सकी है। निरालाजी

---

१ डा० बच्चन सिंह तिवारी, 'आधुनिक साहित्य की व्यक्तिवादी भूमिका (वाराणसी, १९६२), पृ० ३९० ।

के यूरोपीय पांडित्य में मिलता है जो अनुप्रास तथा तुक पर आधृत होता है उसमें कुछ था उसे ह्विटमैन तथा मॉरिस की कविता में भी पाया जाता है। मध्यकालीन परि-आलोचना मूलतः स्वच्छन्दतावादी और निरालाजी की तरह ही कविता में 'पुन-र्नवं'' के प्रशंसक हैं। ह्विटमैन ने शब्द और छन्द की भूमिका में मुक्त काव्य का वैसा ही स्वागत किया है जैसा पश्चिम में निरालाजी ने। निरालाजी की सर्वोत्कृष्ट रचनाओं में मंदिरों में अंकित ऐसे सूत्र मिलते हैं जिनमें जार्ज सन्टायाना के एलिमेन्ट्स एण्ड फंक्शन ऑफ पोयट्री (पोयट्री एण्ड रीलिजन १९००) नामक निबंध के भावों की भी प्रतिध्वनि सुनी जा सकती है। यद्यपि निरालाजी सन्टायाना के इस मत से सहमत नहीं हैं कि "यदि भाषा में पूर्णता लानी हो तो इसके तत्त्वों को सर्वनियम्य करना होगा और इसे एक रूपाकृति देनी होगी"[1] फिर भी वे ह्विटमैन तथा सन्टायाना के स्वर में ही यह कहते हुए जान पड़ते हैं कि मार्क्सवादी प्रभावों के रंग में रंगीन होकर ही कविता विषय साधारण पाठकों को भी रंग देते हैं। रंग की बात सन्टायाना में वर्तमान है—"वी डाई (रंगते हैं) द वर्ल्ड ऑफ ह्यूमन आन कलर (रंग)

ह्विटमैन ने कहा।[2]— 'द आउट स्टेण्ड एण्ड स्टार्टिंग अफ्लिक्टेड ऑफ पट पोयटम विल वि गुड्स यट देयर अरेंजमेण्ट'। तत्पश्चात् उन्होंने उस व्यक्ति की प्रशंसा की है जो उस रूढ़ि और गतानुगतिक विश्वास का विरोध करता है जो उसकी स्वतंत्रता का शत्रु है [3] 'ऑव द ट्रूटम ऑन द ब्रदरहुड ऑव राइटस सवण्टस म्यूजिशियन्स इन्वेंटर्स एण्ड आर्टिस्टस नथिंग इज फाइनर दैन साइलेण्ट डिफायन्स ऐडवान्सिंग फ्राम न्यू फ्री फॉर्म्स।''[4] ह्विटमैन को इमर्सन मेलविल आदि निरालाजी की तरह ही नवीन साहित्य के प्रणयन के समर्थक हैं। निरालाजी ने छायावाद के विरोधियों तथा ब्रजभाषा-काव्य के पक्ष-पोषकों के संबंध में कहा है

---

१ ' if language therefore is to be made perfect its materials must be made beautiful by being themselves subjected to a measure and endowed with a form —George Santayana The Elements and Function of Poetry Vide Albert D Van Nostrand *Literary Criticism in America* (New York 1957) p 189

२ उपरिवत, पृ० १९६।

३ उपरिवत, पृ० १२४।

४ उपरिवत।

"वे तो सिर्फ मनोरंजन के लिए काव्य-साधना करते हैं, किसी उत्तरदायित्व को लेकर नहीं उनकी आत्मा में दूर तक फैली हुई निगाह नहीं है। कौन सा भाव सार्वजनीन और कौन सा एकदेशीय है, उन्हें पता नहीं।"[1] स्पष्ट है कि निरालाजी का कवि मानववादी है। लोकहित के महोद्देश्य से संप्रेरित होकर जो काव्य प्रणयन होगा, वह उसी का समर्थन करता है। साथ ही उसमें मुक्ति की—अपनी और स्वदेश की भी—उद्दाम लालसा है। 'जहाँ मुक्ति रहती है, वहाँ बंधन नहीं रहते—न मनुष्यों में, न कविता में। मुक्ति का अर्थ ही है बंधनों से छुटकारा पाना।"[2] जैसा लॉरेंस ने कहा है ह्विटमन का भी मूल संदेश निबंध प्रशस्त मार्ग का संदेश था—'ह्विटमन्स एसेन्शल मेसेज वाज द ओपन रोड।'[3] निरालाजी ने 'परिमल' में मुक्त, स्वच्छंद छंद के संबंध में जैसी वाग्मिता का प्रदर्शन किया है, वैसी भाषण-पटुता लॉरेन्स के "इन्ट्रोडक्शन टु न्यू पोयम्स" नामक निबंध में भी मिलती है। निरालाजी ने कहा है "यदि किसी प्रकार का शृंखलाबद्ध नियम कविता में मिलता गया, तो वह कविता उस शृंखला से जकड़ी हुई ही होती है, अतएव उसे हम मुक्ति के लक्षणों में नहीं ला सकते न उस काव्य को मुक्त काव्य कह सकते हैं।"[4] इन पंक्तियों की तुलना लॉरेंस की उपर्युक्त भूमिका की इन पंक्तियों से की जा सकती है

> मुक्त छंद के संबंध में काफी लिखा जा चुका है। किन्तु, मुक्त छंद के संबंध में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि यह तात्क्षणिक, संपूर्ण व्यक्ति से निस्सृत अभिव्यक्ति है अथवा (इसे ऐसी ही अभिव्यक्ति) होनी चाहिए। इसमें कवि की आत्मा, मन और शरीर एक साथ ही तरंगित हो उठते हैं कुछ शेष नहीं रह जाता। ये सब एक साथ ही मुखरित हो उठते हैं। कुछ अस्तव्यस्तता एवं असंगति की उत्पत्ति होती है ...। मुक्त छंद के लिए कल्पित, मनमाने नियमों के आविष्कार से कोई लाभ नहीं और न ऐसी सुस्पष्ट रेखा खींचने से

---

१ 'चाबुक', पृ० ४६।

२ 'परिमल', पृ० २१ (दे० डा० नगेन्द्र, 'भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा', पृ० ४५७)

३ डी० एच० लॉरेंस, 'सेलेक्टेड लिटरेरी क्रिटिसिज्म' (लंदन, १९६१), पृ० ४०४।

४ डा० नगेंद्र, उल्ल० ग्र०।

यदि कटलानेवाला के प्रति उनकी अपार घृणा सूचित करती है। ऐसे दुर्वासा समालोचक कभी भी किसी कृति शकुंतला का कुछ बिगाड़ नहीं सके, अपने शाप से उसे उजार चमका दिया है।"[1] निरालाजी के समीक्षात्मक निबंधों से यह स्पष्ट है कि उन्हें साहित्यिक आदान प्रदान में अटूट विश्वास था। वे जानते थे कि पश्चिम में भी ऐसी कितनी ही वस्तुएँ उपलब्ध हैं जिनसे हमारा महत कल्याण हो सकता है और जिनसे हमारे अस्तित्व की रक्षा हो सकती है। भारतीयता के नाम पर कट्टरता तथा सीमित भावों और कार्यों का प्रचार उन्हें पसंद न था। उन्हें विश्वास था कि जिस प्रकार पश्चिम के लिए भारतीय भावों की गहनता त्याग, सतीत्व की शिक्षा आवश्यक है उसी प्रकार वहाँ के प्रेम की स्वच्छता, तरलता, उच्छवसित वेग हमारे लिए वांछित है। 'इस समय यहाँ वालों का खूनी प्रेम भी शक्ति-सचार के लिए यहाँ आवश्यक हो गया है।'[2] इसी प्रकार निरालाजी ने व्यापकता को जीवन का प्रदाता और अस्तित्व के लिए अनिवार्य घोषित किया है। साहित्य अनेक भावों और चित्रों को पाकर ही जीवित रह सकता है, इसलिए 'हमारे काव्य-साहित्य की दृष्टि बहुत व्यापक होनी चाहिए। तभी उसका कल्याण हो सकता है।'[3]

अपने निष्कर्षों को सुचिंतित प्रामाणिकता प्रदान करने के लिए निरालाजी प्रभाव की समस्या पर दृक्पात करते हैं और अनुदार हिन्दी-समीक्षकों को यह सूचित करते हैं कि पश्चिम से भाव ग्रहण करना कोई अपराध नहीं है—पश्चिम तो आप ही हमारा ऋणी है। वर्ड्स्वर्थ, शेली, कीट्स, बायरन, टेनिसन आदि कवियों की रचनाएँ भारतीय एवं प्राच्य ज्ञान से ओतप्रोत हैं। पर हमारे साहित्य में क्या हो रहा है—यह भारतीय है यह अभारतीय असंस्कृत। नस-नस में शराफत भरी, हजार वर्ष से मातम ठोकते-ठोकते नाक में दम हो गया और अभी संस्कृति लिये फिरते हैं।[4] इसी अनुदारता का परित्याग करते हुए निरालाजी ने अँगरेजी सगान शेक्सपीयर, भाववाद, वर्ड्स्वर्थ, शेली, कीट्स आदि से प्रभाव स्वीकार किया। उन्होंने अँगरेजी के सबोधन गीतों की तरह 'वसंत समीर' जैसे गीत रचे, शेली के एडोनेस तथा टेनिसन के इन मेमोरियम जैसे शोकगीतों के अनुकूल शोकगीतों की रचना की, वर्ड्स्वर्थ की तरह प्रकृति का मानवीकरण किया

---

१ 'चाबुक', (प्रयाग), १९६२, पृ० ४८।
२ उपरिवत, प० ५५।
३ उपरिवत, प० ६०।
४ उपरिवत, प०६१।

शेली और बायरन की तरह "बादल", "देवी तुम्हें क्या दूं" जैसी विद्रोहा कविताएँ रची।[1]

पंत (१९००–)

स्वच्छंदतावादी काव्यधारा का जैसा यथावत् एवं सर्वांगीण स्थापन प की रचनाओं में हुआ है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। उनके काव्य पर रोमांटिक भाव का गंभीर और व्यापक प्रभाव परिलक्षित होता है, जिसके फलस्वरूप उन लिखी गई समीक्षाओं में शेली तथा वर्ड्सवर्थ की बहुत चर्चा हुई है। समीक्षक कहते नहीं थकते कि पंत की कविता रोमांटिक है, उनकी विचारधारा स्वच्छ वाद पर आश्रित व्यक्तिवादी काव्य सिद्धांतों एवं प्रतिमानों से प्रभावित है और पर सर्वाधिक प्रभाव शेली का ही पड़ा है। पंतजी द्वारा निरूपित समीक्षा सिद्ध से इन स्थापनाओं को अतिरिक्त बल मिलता है। इनमें भी कवि आलोच विचार एक ऐसे विशिष्ट काव्य का समर्थन करते हैं जिसके मूलाधार प्रकृति और 'हृदयवाद' हैं और जिसमें अध्यात्मतत्त्व और रहस्य का भी सम समाहार एवं प्रतिपादन हुआ है। पंतजी पर वर्ड्सवर्थ के प्रकृति सिद्धांतों का उ ही गहरा प्रभाव पड़ा है जितना प्राच्य अध्यात्मवाद महात्मा बुद्ध के मध्यम तथा रवीन्द्र की बंधन मुक्ति का।[2] इनके अतिरिक्त हीगेल के सौंदर्यवाद बर्गसां के जीव चैतन्यवाद ने भी उनके दर्शन चिंतन में अनुपेक्षणीय योगदान है[3] और ये उनकी साहित्यिक मान्यताओं में पूर्णरूपेण संयोजित है।

पंतजी का खयाल है कि प्राच्य प्रतीच्य का संयोग मानवता के कल्या लिए नितान्त आवश्यक है। प्रकृति एवं पुरुष के प्रतिनिधि पश्चिम तथा पूर्व यूरोप तथा भारत—एक दूसरे से पृथक रहकर अपूर्ण हैं। जहां भारतीय अध्य पाश्चात्य सभ्यता को लक्ष्य और दृष्टि दे सकता है, वहाँ पाश्चात्य सभ्यता ह अध्यात्म को प्राणवत्ता, संगठन तथा वैज्ञानिक साधन आदि देकर इसे जी मूर्त कर सकने में समर्थ है। इनके बिना हम पंगु हैं।[4] इस कारण अपनी समीक्ष

---

१ दे० डा० प्रतापनारायण टंडन (सम्पा०) 'निराला : व्यक्तित्व और कृति (लखनऊ, १९६२), पृ० २०१-२१४ (डा० कैलाशचंद्र माथुर लि "निराला पर अंग्रेजी कवियों का प्रभाव")।

२ प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा (सम्पा०), 'छायावाद और प्रगतिवाद' (प सं० २००७), पृ० २६।

३ उपरिवत्।

४ सुमित्रानंदन पंत, 'कला और संस्कृति' (इलाहाबाद, १९६५), पृ० ·

और प्रगीतों में पंतजी प्राच्य प्रतीच्य प्रभावों का समन्वय घटित करते हैं। पाश्चात्य प्रभाव ग्रहण का एक और भी कारण है जिसका परोक्ष उल्लेख उन्होंने 'मेरी लेखन प्रक्रिया' शीर्षक निबंध में किया है। यहाँ हम निबंध के जिस अनुच्छेद की ओर हमारा संकेत है वह किंचित् विस्तृत है, परंतु इसकी भाषा-शैली इतनी सशक्त और ओजपूर्ण है कि इसके यथावश्यक अंशों को उद्धृत करना समीचीन जान पड़ता है :

> इस युग में विशेषकर जब कि देश-काल सिमटकर मनुष्य के हस्तामलकवत् हो गये हैं और विभिन्न देशों की संस्कृतियाँ, भावनाएँ, विचारधाराएँ तथा साहित्यिक मान्यताएँ परस्पर निकट संपर्क में आकर मनुष्य को अपने पिछले जीवन अभ्यासों, नैतिक दृष्टिकोणों तथा सौंदर्य रसमूल्यों को अधिक व्यापक जीवन पट में सयोजित करने को बाध्य करता हैं, वही रचनाकार जीवित रह सकता है जो युग-संघर्ष के भीतर से निरंतर नए जीवन मूल्य को उपलब्ध कर उसे अपनी कृतियों में वाणी दे सके। इस विराट् वक्ष युग में ह्रास तथा निर्माण की, विघटन तथा विकास की, व्यक्ति स्वातंत्र्य तथा विश्व संगठन की, वर्गसाम्य तथा मानवीय एकता की इतनी विविधमुखी तथा परस्परविरोधी प्रतीत होनेवाली शक्तियाँ मानव मन तथा विश्व चेतना में कार्य कर रही है कि आज अनेक अवसरवादी, यशःकामी कलाकार तथा साहित्यकार इनमें से किसी एक पक्ष के हाथों बिक कर उसी के प्रचार प्रसार के लिए अपने आत्मनिष्ठ, स्वार्थसिद्ध जीवन को अर्पित कर भीतर-ही भीतर अनास्था, संशय, भय से ग्रस्त होकर, बाहर कलाबोध के नाम में प्रवंचना को तथा जीवन मूल्य के नाम में आत्मरति को महत्त्व दे रहे हैं।[1]

इस उद्धरण की भाषा शैली की प्रभविष्णुता एवं सशक्तता के मूल में लेखक का वह दुर्दमनीय विश्वास है कि इस युग में स्वार्थसिद्धि, अवसरवादिता एवं एकांगिता से काम चलने को नहीं है। जिस व्यक्ति ने वर्तमान युग में क्रियाशील

परंतु पश्चिम की विचार धारा से अत्यधिक प्रभावित होना, उन्हें अहितकर लगता है। इसलिए उन्होंने कहा है कि "हम पश्चिम की विचारधारा से इतने अधिक प्रभावित हैं कि अपनी ओर मुड़कर अपने देश का प्रशांत गंभीर प्रसन्न मुख देखना ही नहीं चाहते।"—उत्तरा, प्रस्तावना, पृ० ११।

१ उपरिवत्, पृ० १२५।

शेली और वायरन की तरह "वादल", "देवी तुम्हें क्या दूँ" जसी विद्रोहात्मक कविताएँ रचा।[1]

पत (१९००–)

स्वच्छदतावादी काव्यधारा का जसा यथावत् एव सर्वांगीण स्पान्दन पतजी की रचनाओ म हुआ है वसा अन्यत्र दुर्लभ है। उनके काव्य पर रोमाटिक भावधारा का गभीर और व्यापक प्रभाव परिलक्षित होता है, जिसके फलस्वरूप उन पर लिखी गई समीक्षाओ मे शेली तथा वड स्वथ की वहुत चर्चा हुई है। समीक्षक यह कहते नहीं थकते कि पत की कविता रोमाटिक है उनकी विचारधारा स्वच्छन्दतावाद पर आधृत व्यक्तिवादी काव्य सिद्धातो एव प्रतिमानो से प्रभावित है और उन पर सर्वाधिक प्रभाव शेली का ही पडा है। पतजी द्वारा निरूपित समीक्षा सिद्धातो से इन स्थापनाओ को अतिरिक्त वल मिलता है। इनमे भी कवि आलोचक के विचार एक ऐसे विशिष्ट काव्य का समर्थन करते हैं जिसके मूलाधार प्रकृतिवाद और हृदयवाद' हैं और जिसमे अध्यात्मतत्त्व और रहस्य का भी समधिक समाहार एव प्रतिपादन हुआ है। पतजी पर वड स्वथ के प्रकृति सिद्धात का उतना ही गहरा प्रभाव पडा है जितना प्राच्य अध्यात्मवाद, महात्मा वुद्ध के मध्यम मार्ग तथा रवीन्द्र की वधन मुक्ति का।[2] इनके अतिरिक्त हीगेल के सौंदर्यवाद तथा वर्गसा के जीव चैतन्यवाद ने भी उनके दर्शन चिंतन म अनुपेक्षणीय योगदान किया है[3] और ये उनकी साहित्यिक मान्यताओ म पूर्णरूपेण सयोजित है।

पतजी का खयाल है कि प्राच्य प्रतीच्य का सयोग मानवता के कल्याण के लिए नितान्त आवश्यक है। प्रकृति एव पुरुष के प्रतिनिधि पश्चिम तथा पूर्व—यूरोप तथा भारत—एक दूसरे से पृथक रहकर अपूर्ण हैं। जहाँ भारतीय अध्यात्म पाश्चात्य सभ्यता को लक्ष्य और दृष्टि दे सकता है, वहा पाश्चात्य सभ्यता हमारे अध्यात्म को प्राणवत्ता सगठन तथा वज्ञानिक साधन आदि देकर इसे जीवन-मूर्त कर सकने म समर्थ है। इनके बिना हम पगु हैं।[4] इस कारण अपनी समीक्षाओ

---

१ दे० डा० प्रतापनारायण टडन (सम्पा०) 'निराला व्यक्तित्व और कृतित्व' (लखनऊ, १९६२), पृ० २०१ २१४ (डा० कलाशचद्र मायुर लिखित "निराला पर अग्रजी कवियो का प्रभाव")।

२ प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा (सम्पा०), 'छायावाद और प्रगतिवाद' (पटना, स० २००७), पृ० २६।

३ उपरिवत।

४ सुमित्रानदन पत, 'कला और सस्कृति' (इलाहाबाद, १९६५), पृ० ९०

और प्रगीतों में पतजी प्राच्य प्रतीच्य प्रभावों का समन्वय घटित करते हैं। पाश्चात्य प्रभाव-ग्रहण का एक और भी कारण है जिसका परोक्ष उल्लेख उन्होंने 'मेरी लेखन प्रक्रिया' शीर्षक निबंध में किया है। यहाँ इस निबंध के जिस अनुच्छेद की ओर हमारा संकेत है वह किंचित् विस्तृत है परन्तु इसकी भाषा-शैली इतनी संयत और ओजपूर्ण है कि इसके यथावश्यक अंशों को उद्धृत करना समीचीन जान पड़ता है

> इस युग में विशेषतः जब कि देश-काल सिमटकर मनुष्य के हस्तामलकवत् हो गये हैं और विभिन्न देशों की संस्कृतियाँ, भावनाएँ, विचारधाराएँ तथा साहित्यिक मान्यताएँ परस्पर निकट संपर्क में आकर मनुष्य को अपने पिछले जीवन अभ्यासों, नैतिक दृष्टिकोणों तथा सौंदर्य रूप मूल्यों का अधिक व्यापक जीवन पट में संयोजित करने को बाध्य करती हैं वही रचनाकार जीवित रह सकता है जो युग-संघर्ष के भीतर से निरंतर नए जीवन मूल्य को उपलब्ध कर उसे अपनी कृतियों में वाणी दे सके। इस विराट् वैश्व युग में ह्रास तथा निर्माण की, विघटन तथा विकास की, व्यक्ति स्वातन्त्र्य तथा विश्व-संगठन की, लोकसाम्य तथा मानवीय एकता की इतनी विविधमुखी तथा परस्परविरोधी प्रतीत होनेवाली शक्तियाँ मानव मन तथा विश्व चेतना में कार्य कर रही हैं कि आज अनेक अवसरवादी, यश:काक्षी कलाकार तथा साहित्यकार इनमें से किसी एक पक्ष के हाथों बिककर उसी के प्रचार प्रसार के लिए अपने आत्मनिष्ठ, स्वार्थसिद्ध जीवन को अर्पित कर, भीतर-ही भीतर अनास्था संशय, भय से ग्रस्त होकर, बाहर कलाबोध के नाम में प्रवचना को तथा जीवन-मूल्य के नाम में आत्मरुचि को महत्त्व दे रहे हैं।[1]

इस उद्धरण की भाषा शैली की प्रभविष्णुता एवं सशक्तता के मूल में लेखक का वह दुर्दमनीय विश्वास है कि इस युग में स्वार्थसिद्धि, अवसरवादिता एवं एकांगिता से काम चलने को नहीं है। जिस व्यक्ति ने वर्तमान युग में क्रियाशील

परंतु पश्चिम की विचार धारा से अत्यधिक प्रभावित होना, उन्हें अहितकर लगता है। इसलिए उन्होंने कहा है कि "हम पश्चिम की विचारधारा से इतने अधिक प्रभावित हैं कि अपनी ओर मुड़कर अपने देश का प्रशांत गंभीर प्रसन्न मुख देखना ही नहीं चाहते।"—उत्तरा, प्रस्तावना, पृ० ११।

१ उपरिवत, पृ० १२५।

विभिन्न भावधाराओं और तदगत विभिन्नउपधाराओं से विमुख होने का प्रयास किया, उसकी परिणति थनान एवं दृष्टि-सन्तुलता में हुई। 'जो युगप्रबुद्ध कलाकार लोकमंगल तथा नवीन मनुष्यत्व की गंभीर प्रेरणा से अनुप्राणित हैं, और नए मानव मूल्य को जीवनमूर्त करने के लिए अजस्र संघर्षरत हैं, उन्हीं की रचना प्रक्रिया अतीत के ऊहापोहों का अतिक्रमण कर भविष्य के लिए अपना अक्षय मूल्य रखती है काल की रेती में आत्म छलना के मृगजल के पीछे भटके शेष पदचिह्न स्वयं ही मिटकर आत्म निष्ठ अस्तित्व की शून्यता में विलीन हो जायेंगे।'[1]

पंत और स्वच्छंदतावाद

पंतजी धर्म और विज्ञान में किसी प्रकार का अन्तर्विरोध नहीं देखते। इसलिए उनका 'धर्म' पश्चिम के विज्ञान का स्वागत करता है। वे विज्ञान के विश्वव्यापी चमत्कारों से अवगत हैं। इन्होंने ही देश-काल को हस्तामलकवत् कर दिखाया है और प्रकृति के विभिन्न रहस्यों को उद्घाटित कर मानव ज्ञान के आयाम का आशातीत विस्तार किया है। यह पाश्चात्य विज्ञान का ही महत्त्वपूर्ण देय है जिसके फलस्वरूप मानवता एकदेशीयता तथा एकजातीयता के नागपाश से मुक्त होकर विश्वव्यापी निर्माण के पथ पर अग्रसर हो सकी है। मनोविज्ञान के क्षेत्र में प्रतिपादित पाश्चात्य स्थापनाओं के आलोक में ही आज का मानव "अपनी अंतश्चेतना के सूक्ष्म रुपहले सोपानों तथा स्वर्णरश्मि मंडित शिखरों पर भी नवीन साहस, नवीन आस्था तथा विश्वास के साथ अथात आरोहण करने का प्रयास कर रहा है।"[2]

नवजागरण तथा स्वच्छंदतावाद का प्रादुर्भाव मध्ययुगीन धार्मिकता, सौंदर्यानुभूति विषयक प्रतिबंधों और अठारहवीं शती की नव्यशास्त्रवादी मान्यताओं की चूडान्त प्रधानता एवं आतिशय्य के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में हुआ है। जहाँ अभिजात साहित्य में पुरातन प्रतिपादित सिद्धान्तों पर अधिक बल दिया जाता था वहाँ नवजागरण युगीन साहित्य में मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा होती है और

---

१ उपरिवत, पृ० १२६।

२ 'कला और संस्कृति', पृ० ९। 'उत्तरा' की भूमिका में पंतजी ने कहा है "पश्चिम को पूर्व, विशेषकर भारत, अंतर्दृष्टि देगा और पूर्व को पश्चिम जीवन के दिक्प्रसरित बहिर्विधान का संभव सौष्ठव प्रदान करेगा। आनेवाली सांस्कृतिक चेतना का स्वर्णोज्ज्वल सेतु पूर्व तथा पश्चिम के संयुक्त छोरों पर झूलकर धरती के जीवन एवं विश्व मन को एक तथा अखंड बना देगा।' (पृ० २३)।

व्य सृष्टि तथा नवोद्भावना पर जोर दिया जाने लगता है। अठारहवीं शती नव्यशास्त्रवाद म पुरातन अभिजात मूल्या का अत्याधिक स्वीकरण हुआ था, मलिए स्वच्छदतावाद म नव्यता पर ब है और नवनवा मपम्म कवि-प्रतिभा ा काव्य का अजस्र उदगम स्रोत माना गया है। पहले जहा कहा जाता था कि ाचीन काव्य विधाआ के पृथक्-पृथक नियमा के अनुसार ही काव्यसृष्टि हानी ाहिए, अब वहीं नई-नई अनुभूतिया के लिए नय-नये प्रेषण-माध्यमा की खाज हाने गता है। अत पुरातन तथा गतानुतिक के स्थान पर वैचित्र्यबहुल नावीन्य को ाश्रय दिया जाने लगता है। पतजी म नवीनता के प्रति भी ऐसा ही प्रवल, व्यापक ाग दृष्टिगत होता है। इसका एक सहज प्रमाण उनके काव्य-विषयक चिंतन एव ामान्य जीवन-बोध म ही पाया जाता है। हिंदी-कविया म हम 'नवीन' का ऐसा उदार प्रयोक्ता नही मिला। 'कला और सस्कृति' के प्राय सभी निबधो म कहीं-न-कही इस श दका किसी न किसी रूप म अवश्य ही प्रयोग हुआ है। उदाहरणाथ

१— जिसके नित्य-नवीन आविष्कारा न मनुष्य का चकित कर दिया है।

'उच्च चेतना, कला और सस्कृति प० १

२— नवीन आध्यात्मिक मजीवन म निखारना हागा।

धम और विज्ञान' (क० औ० स० का दूसरा निवध)

पृ० ८

३—नवीन विश्वव्यापी निमाण नवीन मूल्य नवीन साहस नवीन आस्था उपरिवत पृ० ६

४— नवीन रचनात्मक शक्ति-तत्त्वा का उदघाटन कर सकती है।

उपरिवत् (तीसरा निवध) पृ० ११

५— नयी चेतना के सवन्न मिलन हैं।

उपरिवत (चौथा निवध) प० १४

६— नवीन प्रकाश नवीन वैभव सयाजन नवीन कम्वट

उपरिवत् (पाचवाँ निवध), प० २०

७— नवीन आस्था रही है।

उपरिवत् (छठा निवध) प० २४

८— एक नवीन प्रकार की सर्वांगीण एकसूत्रता का जन्म द रही है।

उपरिवत् (सातवाँ निवध), पृ० २७

९— एक नवीन मान्यता प्रदान की है।
उपरिवत (आठवां निबंध), पृ० ३१

१०— नवीन सिन्धु-मन्थन का युग है।
उपरिवत (नवाँ निबंध) पृ० ३५

११— नवीन चेतना नवीन एकता तथा नवीन शक्ति नए रूप।
उपरिवत (दसवाँ निबंध), पृ० ३७

१२— नये जीवन का सचार करना है।
उपरिवत पृ० ३८

१३— नित्य नवीन बन गई हैं।
उपरिवत (ग्यारहवां निबंध) पृ० ४३

१४— नयी ऐतिहासिक एकता को स्थापित करना अनिवार्य हो गया है।
उपरिवत (बारहवां निबंध) पृ० ४५

१५— नवीन भू जीवन की सभावना।
उपरिवत् (तेरहवां निबंध) पृ० ५०

१६—नवीन आशाओं और सभावनाओ का रुपहला-सुनहला प्रकाश उड़ेगा।
उपरिवत् (चौदहवाँ निबंध), पृ० ५३

१७— नवीन समत्व तथा सतुलन भरते है।
उपरिवत् (पन्द्रहवां निबंध), पृ० ५८

१८— नया क्षितिज खुल गया।
उपरिवत (सोलहवां निबंध), पृ० ६३

१९— नित्य नए काव्य उन्मेष से प्रेरित होकर मुखरित रखगे।
उपरिवत् (सत्रहवाँ निबंध), पृ० ६६

२०—म नया रगमच था।
उपरिवत् (अठारहवाँ निबंध), पृ० ६७

२१—एक नवीन आशा-उत्साह का सचार।
उपरिवत् (उन्नीसवाँ निबंध) पृ० ७२

२२—नवोन्नति या कवि यश प्रार्थी छात्र रचनाएँ सुनाएँ।
उपरिवत् (बीसवाँ निबंध) पृ० ७८

'नवीन' की इस प्रचुरता का इस सयाग मात्र नहीं कह सकते। साथ ही यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि ये सारे-के-सार उदाहरण एक ही पुस्तक म सकलित निबधा की व्यवस्था और क्रम का यथावत् अनुसरण करते हैं।

स्वच्छदतावाद को सामान्य शब्दावली म फ्रासीसी राज्यक्राति का साहित्यिक प्रतिरूप कहा जाता है। राज्यक्रातियां का उद्भेद अद्यतन के विरुद्ध अद्यतन के चरम अवस्थापन म लिए होता है। (टेनिसन के अनुसार 'द ओल्ड ऑर्डर चेन्जेज, यील्डिङ प्लेस टु न्यू/एण्ड गॉड फुलफिल्स हिमसेल्फ इन मेनी वेज,/लेस्ट वन गुड कस्टम शुड करप्ट द वल्ड') जब देश रूढ-जजर सस्कारा और अध-आस्थाआ म जकडकर गतिहीन हो जाता है और जब उसके राष्ट्रीय जीवन म विघटन तथा कुठा का समावश हो जाता है, तब उन मूल्या की स्थापना के लिए क्राति होती है जो जन-जीवन क लिए उन्नायक एव मगलमूलक होते हैं। अत स्वच्छदतावाद का मूलाधार नवीनता का अन्वेषण ही है। इसे ही पेटर ने उन्मुक्तता की सज्ञा दी है। उसक अनुसार रामांटिक भावधारा का मेरुमूल सौंदर्योपासना तथा अदम्य औत्सुक्य क फलस्वरूप नवीनता की खोज और सष्टि होती है। इसलिए पेटर न कहा है 'इट इज द अडीशन आव स्ट्रेजनेस टु ब्युटी, दैट कान्स्टिट्यूट्स द रामण्टिक करक्टर इन आर्ट। स्त डाल न रामाटिसिज्म और क्लासिसिज्म के परस्पर वभिन्य को इन शब्दा म स्पष्ट करना चाहा है 'जहाँ रोमाटिसिज्म मनुष्या के लिए ऐसी कलाकृतिया का निर्माण करता है जिनसे उन्हें ही, उनकी वर्तमान अभिरुचि और विश्वास के बावजूद सर्वाधिक आनंद मिलता है, वहीं क्लासिसिज्म ऐसी रचनाआ का निर्माण करता है जिनसे उनके पूवजा को सर्वाधिक आनद मिला था।'[१]

छायावाद पर पाश्चात्य प्रभाव

पाश्चात्य सभ्यता-सस्कृति और तदुद्भुत प्रभावा का सबसे पहले बगाल के

१ Romanticism says Stendhal is the art of presenting to people the literary works which in the actual state of their habits and beliefs are capable of giving them the greatest possible pleasure classicism on the contrary of presenting them with that which gave the greatest possible pleasure to their grandfathers ' Quoted by Pater in *Appreciations* (Postscript) 1889

निहित था। इन्होंने स्वीकार किया : 'हमारा मत है कि प्रचलित शैक्षणिक नीति है' मयादा शिक्षा के प्रभाव से निर्मित होने लगे।[1] और भारतीय भाषाएँ तथा भारतीय पूजा के प्रसार के रूप में साहित्य का प्रचार हुआ जिसका अनुकरण सर्वप्रथम राजा राममोहन राय ने किया। इन्होंने शिक्षा का विरोध न कर यह कि पाश्चात्य भाषा के ज्ञान के साथ ही उपनिषदों का गूढ़ ज्ञान और धर्म के सिद्धान्त की व्याख्या होनी चाहिए। राममोहन राय के बाद ब्रिटिश भी... हुए सत्य प्रवृत्तियों, धार्मिक विचारों का प्रचार किया जिसके फलस्वरूप हिन्दुत्व में नवीन प्राण प्रतिष्ठा हुई। स्वामी दयानन्द और स्वामी विवेकानन्द ने निवृत्तियों का खुलकर विरोध करते हुए घोषणा की, कि वेदान्त जीवन से पलायन की शिक्षा नहीं देता प्रत्युत सांसारिक कठिनाइयों से मानवजन सामना करने के लिए प्रोत्साहित करता है।[3] रामानन्द तथा रामकृष्ण परमहंस, बालगंगाधर तिलक, योगी अरविन्द आदि ने भी हिन्दू धर्म की ऐसी ही व्याख्या प्रस्तुत की। इन सब प्रयासों के फलस्वरूप भारत में जो सांस्कृतिक, पुनरुत्थानवादी आन्दोलन हुआ, उससे स्वभावतः संपूर्ण भारतीय वाङ्मय अत्या-धिक प्रभावित हुआ। सांस्कृतिक नवोत्थान की इसी पृष्ठभूमि पर छाया-वाद उदित हुआ। इसी कारण इसके प्रतिनिधि कवियों पर रवीन्द्रनाथ और उपनिषदों के प्रभाव के साथ ही अँगरेजी के रोमांटिक साहित्य का भी समीकृत प्रभाव दृष्टिगत होता है।[4]

यहाँ यह भी स्मरणीय है कि साहित्य जगत् में आविर्भूत किसी भी 'वाद' को हम प्राग्भूत प्रवृत्तियों की प्रतिक्रिया मात्र नहीं कह सकते—वादों की सृष्टि का आधार कोई एक ही कारण नहीं होता। परन्तु यह भी निर्विवाद है कि साहित्यिक वादों के आविर्भाव के मूल में प्रतिक्रिया की भी बलवती भावना

१ 'हिंदी प्रदीप', २, १, १ सितम्बर १८७८, पृ० ८।

२ दिनकर, 'पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण' (१९६५), पृ० १।

३ उपरिवत, पृ० ३।

४ "रोमांटिसिज्म और छायावाद का जन्म चाहे विभिन्न देशों और परिस्थितियों में हुआ हो, तथापि हिन्दी के छायावादी कवियों ने रोमांटिक कवियों से बहुत कुछ ग्रहण किया—कुछ तो सीधे ही अंगरेजी कविता से प्रभावित हुए और कुछ बँगला साहित्य के माध्यम से।" डॉ० कैलाशचन्द्र माथुर, "निराला पर अँगरेजी कवियों का प्रभाव", दे० डॉ० प्रेमनारायण टंडन (संपा०), 'निराला : व्यक्तित्व और कृतित्व' (१९६२), पृ० २०२।

विद्यमान रहता है। छायावादी कवियों ने भी द्विवेदी-कालीन इतिवृत्तात्मकता का विरोध किया और खड़ीबोली का परिमार्जन कर उसे माधुर्य, ओज तथा अभिव्यंजना की अपूर्व क्षमता प्रदान की।

पंतजी ने स्वच्छंदतावादी वर्ड्स्वर्थ की तरह प्रकृति निरीक्षण से प्रचुर प्रेरणा ली है और यह भी स्वीकार किया है कि छायावाद के अभ्युदय के साथ ही 'पहली बार साहित्य में पाश्चात्य साहित्य का व्यापक प्रभाव तथा नवीन विधाएँ मूर्तरूप में पुष्पित पल्लवित दिखायी पड़ती हैं।'[1] पंतजी के अनुसार इस प्रभाव का कारण अंशतः नवोत्थित बंगला साहित्य और, विशेषतः, रवीन्द्रनाथ के काव्य का अध्ययन है परन्तु "छायावाद के नये प्रभाव मुख्यतः अँगरेजी साहित्य के अध्ययन मनन के परिणामस्वरूप ही हिन्दी में पहली बार आए हैं।"[2] भारतीय वेदान्तिक एवं औपनिषदिक विचार धारा के साथ पश्चिमी जीवन-सौंदर्य का सर्वप्रथम समन्वय बंगला साहित्य और विशेषतः रवीन्द्र के काव्य में मिलता है। इसलिए उपनिषदों में बंगला साहित्य और रवीन्द्र के काव्य से तथा पाश्चात्य साहित्य से प्रभावित होने के कारण छायावाद एक अभिनव विश्व-बोध का उद्घाटन करता है। पंतजी ने छायावाद को द्विवेदीकालीन "संकीर्ण रुचि जर्जर परंपराओं" के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में भी स्वीकार किया है। छायावाद के साथ "नवीन उन्मेषों, नवीन उद्भावनाओं तथा मूल्यों का आविर्भाव" होता है। इसके कविता में "जीवन के प्रति नवीन उल्लास, नवीन आशा, आस्था तथा नवीन सौंदर्य का दृष्टिकोण" दीख पड़ता है। इन्होंने "अनेक नवीन छंदों शैलियों और विधाओं से हिन्दी-साहित्य को उर्वर" किया है और "वस्तुजगत की सीमाओं को भावनाओं की उड़ान से लाँघकर एक नवीन आत्मिक स्वातंत्र्य के बोध तथा वैयक्तिक सुख-दुख, आशा-निराशा की भावनाओं के माधुर्य की आद्र्यता से जन-समाज के लिए नवीन भावभूमि निर्मित की है।"[3]

पंत और पाश्चात्य साहित्य तथा ज्ञान विज्ञान

पंतजी ने पाश्चात्य साहित्येतिहास का सम्यक् अध्ययन किया है और उसकी विभिन्न प्रवृत्तियों तथा भावधाराओं से वे पूर्णतया अवगत हैं। वे जानते हैं कि

१ 'कला और संस्कृति', पृ० १५।
२ उपरिवत।
३ उपरिवत पृ० १६।

व्यास, वाल्मीकि कालिदास और तुलसीदास की रचनाओं में ही नहीं, होमर, वर्जिल, दांत, मिल्टन तथा गेटे की कृतियों में भी एक समूचे युग, संपूर्ण जाति के जीवन-संघर्ष का चित्रण स्थापित है। उन्होंने इंगलैंड के 'विक्टोरियन एज' और भारतवर्ष के उत्तर मध्य-कालीन युग में यत्किंचित् साम्य देखा है। ये दोनों युग ऐसे हैं "जिनकी उपयोगिता किसी वृहत् कार्य या कला चैतन्य को वाणी देने में असमर्थ रही है।"[1] विज्ञान द्वारा घटित युगान्तरकारी परिवर्तनों की ओर वे बार-बार हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं और विभिन्न संस्कृतियों के निरंतर घनिष्ठ सम्पर्क में आने तथा पिछले युगों की धार्मिक-नैतिक मान्यताओं के परस्पर आदान प्रदान से विकसित तथा वर्द्धित होने की चर्चा करते हैं। उनके समालोचनात्मक निबंधों से यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि पाश्चात्य विज्ञान की उपलब्धियों एवं संभावनाओं के प्रति वे जितना जागरूक थे उतना ही आस्थावान भी। "नवीनता" के प्रति उनमें जैसा प्रबल मोह पाया जाता है परिवर्तन के प्रति उनमें वैसी ही प्रखर चेतना पायी जाती है। इसलिए वे नवीनतम के साथ साथ युगान्तरकारी परिवर्तनों का भी यथावसर उल्लेख करते चलते हैं। परिवर्तनों के प्रति इस निरंतर चेतना का अर्थ कालचेतना है जो अद्यतन मानव का वैशिष्ट्य प्रदान करती है। जिस युग ने दो विश्वव्यापी महायुद्ध देखे और जिस युग में विनाश एवं विध्वंस की शक्तियाँ इतनी क्रियाशील हों, उस युग का संवेदनशील कवि परिवर्तन के प्रति इतना जागरूक क्यों न हो? पाश्चात्य विज्ञान ने पंतजी की मनोवृत्ति को ही आमूल प्रभावित किया है उनके साहित्य को प्रभावित करने की बात तो बाद में उठती है। पंतजी ने स्पष्ट शब्दों में यह उद्घोषित किया है कि राष्ट्रीय जागरण में पश्चिम का जो देय रहा है वह इयत्तया ही नहीं, ईदृक्तया भी बड़े महत्त्व का है आधुनिक अर्थ में राष्ट्रभावना हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु युग से आई है और वह भी अंग्रेजी शासन के सम्पर्क में आने के कारण। पाश्चात्य जीवन-पद्धति तथा शासन प्रणाली का भारतीय जीवन चेतना में अविराम प्रभाव पड़ते रहने के कारण धीरे धीरे परवर्ती साहित्य में यह दृष्टि विकसित होती रही

---

१ 'कला और संस्कृति', पृ० १९।

२ पंतजी ने इस युग को "महान क्रांतियों तथा ऐतिहासिक उत्थान पतन" का युग कहा है। दे० उपरिवत्, पृ० १९, २४, ४९ इत्यादि। पाश्चात्य साहित्यकारों की आतिशयिक काल चेतना के लिए द्रष्टव्य ए० ए० मेण्डिलो, 'टाईम एण्ड द नावेल' (लंदन, १९५२)। इसके प्रथम चार अध्यायों के शीर्षक हैं (१) The time obsession of the

है।"[1] इसलिए वे पश्चिम की वैज्ञानिक उपलब्धियों को आत्मसात कर लेने का सत्परामर्श देते हैं। उनके अनुसार "आज के युगद्रष्टा मनीषी साहित्यकार को मानव जीवन के प्रति सर्वांगपूर्ण लोक-कल्याणमयी दृष्टि उपलब्ध कर आज के युग की असंगतियों एवं विसंगतियों में एक व्यापक निर्माणात्मक संतुलन स्थापित कर देना है।'[2]

परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि पंतजी पाश्चात्य सभ्यता-संस्कृति अथवा भाषा-साहित्य के अंधानुयायी हैं। जिस शिक्षा ने भारत में नवजागरण संभव कर दिखाया, जिससे एक से एक दिव्यास्त्र मिले और अलौकिक आविष्कार हुए, उसके संबंध में ही पंतजी ने कहा है कि "अंग्रेजी की शिक्षा केवल इने गिने कुशाग्र बुद्धि, विद्या-प्रेमी विज्ञान के छात्रों तथा विदेशों में भारत शासन की सेवा करने योग्य युवकों को सिखाई जानी चाहिए। इससे अधिक जनसाधारण के लिए अंग्रेजी शिक्षा की आवश्यकता मुझे नहीं दिखाई देती।[3] इसके अतिरिक्त पाश्चात्य सभ्यता-संस्कृति की विफलताओं और अनुपलब्धियों से भी वे पूर्णतया अवगत हैं। आधुनिक विज्ञान ने जिस भौतिक युग का आविर्भाव किया है, उसमें मानव-जीवन की बाह्य परिस्थितियों का एकांगी विकास ही संपन्न हो सकता है।"[4] पश्चिम के दर्शन तथा साहित्य ने अनास्था अहंकार, कुंठा तथा जीवन की क्षणभंगुर भोगप्रिय कल्पना से पूर्ण अस्तित्ववाद" को जन्म दिया है और वहाँ के मनीषियों की प्रतिभा तथा वैज्ञानिक अनुसंधानों की शक्ति विध्वंसक अणु उद्जन बमों तथा घोर संहारक अस्त्रशस्त्रों के निर्माण में अपव्यय हो रही है। "पश्चिमी सभ्यता अपनी गहरी सांस्कृतिक नींव एवं उच्च आध्यात्मिक अभीप्सा के अभाव में आज जिस बहिर्मुखी अंधकार में भटक गई है और उसकी जीवन उर्वर कोख नवीन

---

twentieth century

(२) The time-obsession of fiction

(३) The time and the space arts

(४) The time problems of fiction

१ उपरिवत, पृ० २९।

२ उपरिवत, पृ० ३५।

३ उपरिवत, पृ० ४६ "हमारी कठिनाइयों का कारण है हमारी एकांगी शिक्षा तथा पश्चिमी विचार दर्शन तथा साहित्य की दासता।" उत्तरा (प्रस्तावना), पृ० ९।

४ उपरिवत, पृ० ८।

मनुष्यत्व को जन्म देने के बदले आज जिन अणु दत्यों को जन्म दे रही है, उसमें वहाँ की राजनीति तथा अर्थशास्त्र की लड़खड़ाती टाँगों पर चलनेवाले मरणोन्मुख कुत्सित राष्ट्रवाद की कल्पना सहज ही की जा सकती है।[1]

पंतजी के निबंधों से उनकी निम्नलिखित मान्यताएँ और उनके व्यक्तित्व तथा कर्तृत्व संबंधी कतिपय तथ्य निष्कर्षित किये जा सकते हैं

(१) पंतजी आशावादी हैं। (आशावादी होने के कारण मुझे विश्वास है ।")[2]

(२) उनके विचार शेली के विचारों से प्रभावित भले ही न हों, परन्तु वे विचार पाश्चात्य कवि के काव्य प्रयोजनादि से संबद्ध विचारों से मिलते जुलते हैं। शेली की आशावादिता 'प्रमीथियस अनबाउण्ड' और "वेस्ट विण्ड' सरीखी कविताओं में शब्दमूर्त्त हुई है। यदि पंतजी के अनुसार साहित्यकार शांति, विश्व प्रेम और मानव मूल्यों का योद्धा तथा संरक्षक है तो शेली के अनुसार कवि नियमों का प्रतिष्ठापक नागर समाज का जन्मदाता जीवन-कलाओं का आविष्कर्ता तथा अदृश्य जगत की शक्तियों के आंशिक बोध का सत्य और सुन्दर के विशेष सान्निध्य में ले जानेवाला गुरु भी होता है।

(३) पंतजी में नवीनता, परिवर्तन विकास, समत्व 'विश्व-संतुलन तथा वहिरंतर संगठित भू चेतना' के प्रति अत्यधिक आग्रह देखा जाता है। वे बार-बार इनसे संबद्ध प्रकरणों की रचना और एतद्विषयक विवेचन में आनन्द लेते दीख पड़ते हैं। इसी प्रकार वे मध्ययुगीन जीवन मान्यताओं से समधिक त्रस्त जान पड़ते हैं और यथाशक्य इनका ग्रहण करते हैं। साथ ही उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि 'छायावादी जीवन मूल्य की दृष्टि से मध्ययुगीन भक्ति तथा सन्त सम्प्रदाय के कवियों का मूल्यांकन अपर्याप्त तथा एकांगी लग सकता है।[3] मध्ययुगीन और छायावादी विश्व-बोधों में वैभिन्य दिखलाते हुए वे कहते हैं कि 'मध्ययुगीन संतों की तरह छायावादी कवि आत्मब्रह्म और आत्म परिष्कार की खोज में न जाकर विश्वात्मा तथा विश्व जीवन की खोज की ओर अग्रसर हुए।'[4] पाश्चात्य नवजागरण के कवि और समीक्षक मध्ययुगीन जीवन मूल्यों पर ऐसा

---

१ उपरिवत पृ० ३०।

२ उपरिवत, पृ० ३८।

३ सुमित्रानंदन पंत, 'छायावाद का पुनर्मूल्यांकन' (इलाहाबाद, १९६५) पृ० ५ ('ज्ञातव्य")।

४ उपरिवत पृ० १५।

ही निदय प्रहार किया करते थे। यहा तक कि उनके द्वारा तुका त (कविताएँ) इसलिए भी तिरस्कृत होती थी कि उनका सबध मध्ययुगीन गिरजाघरा और पादरियो द्वारा प्रणीत काव्य स था। राजर ऐस्कम कैम्पियन प्रभृति समीक्षक तुकान्तो को सदेह की दृष्टि से देखते हैं आर उन्हे हूणों और गोथ-जाति के बबर लोगो का आविष्कार कहते है। मध्ययुगीन रोमाटिक कथाओ पर तो निदयतर आलोचनाएँ लिखी जाती हैं। इसी युग के समीक्षको द्वारा मेलरी की लाक विख्यात मार्ते द आथर' को 'ओपन मैन-स्लॉटर' तथा वा ड बॉडी की कथा-मात्र कहा गया है।

(४) पतजी पर औपनिषदिक दशन का भी गभीर प्रभाव पडा है।

(५) उनके प्रकृति प्रेम की उत्कटता वड स्वथ की याद दिलाती है। पतजी वड्स्वथ की भाँति नैसर्गिक सौदय की प्रेरणा स काव्य सृजन की ओर उन्मुख" हुए हैं।[१] छायावाद सामाजिक ढाँचे के बासी सौंदय से ऊबकर' पाश्चात्य स्वच्छन्दतावाद की तरह प्रकृति की ओर मुडा' है और प्रकृति से ही नव्य सौंदय सभव लेकर 'कला का सौरभ-मडित तथा भावना-जगत को सद्य प्रस्फुटित कर सका" है।[२] वड्स्वथ और पत, दोना ही एकात प्रिय, भावुक कवि हैं दोना का बचपन प्रकृति के आगन मे खेलत-कूदत बीता है। ('मेरा जन्म प्रकृति की गोद म हुआ। उसी के आगन म मैं खेला-कूदा और बडा हुआ।'—पत) वड स्वथ की ये पक्तियाँ द्रष्टव्य हैं

> he who in his youth
> A daily wanderer among woods and fields
> With living Nature hath been intimate
> Not only in that raw unpractised time
> Is stirred to ecstasy as others are
> By glittering verse
>
> Prelude V 586–590

वड स्वथ की तरह पत भी फूलो के अनन्य प्रेमी हैं। वड स्वथ का 'डफाडिल्स' शीपक कविता देखिए और ग्राम्या की इन पक्तियो पर विचार कीजिए

> रग रग के चित्र पखोंकम वर्बीना छूपे डियायस,
> 'त न्स एटिहिलम तितली सी पजी पॉपी सालस

१ 'कला और सस्कृति', प० ७९ आधुनिक कवि, पर्यालोचन, पृ० १।
२ छा० पु०, पृष्ठ १६।

हँसमुख कडीटफट, रेशमी घटकीले नशटरशम
खिली स्वीट पी, —एवडस फिन वास्केट और ब्लू बटम।
दुहरे कार्नेशस, स्वीट सुलतान सहज रोमांचित
ऊँचे हॉलीहाक, लाक्स्पर पुष्प स्तम से शामित।

ये पक्तिया कवि के "फूल" शीर्षक निबंध मे उद्धत हैं। (क० स० प० १२८)

(६) पतजी की समीक्षा शैली कवित्वमयी स्निग्ध तरल-स्वच्छ एव भावोष्ण है। उसम सूक्ष्म विश्लेषण से अधिक भावोन्गार मिलते हैं सवत्र कवि का व्यक्तित्व प्रतिच्छायित दीख पडता है और आलोचना की जगह कविता मिलती है। कवि अपनी समीक्षात्मक कृतिया म भी अपना कवि रूप विस्मृत नही करता। उदाहरणार्थ—

> सन '१५ म हमारी शती एक अल्हड किशोरी भर थी एव मध्य-वर्गीय अज्ञात यौवना किशोरी जिसकी चचल पलका म नव युग के रूप-बोध के स्वप्न साकार होने की चेष्टा म पख फडफडाना सीख रहे थे हृदय की अकल्पनीय गहराइया मे लोक-जीवन के भाव यौवन तथा लोक चेतना के उन्मत्त उभार ने नयी सवेदनाओ की हिलोरो म मचलना आरम्भ कर दिया था और उसके प्रतिपल विकासोन्मुख अगो म अविकल पारिजात मुकुलो के समान असख्य रूपो म अविराम फूटता हुआ निरुपम सौन्दर्य निरतर थरथर कर अपने नि स्वर भाव मौन स्पर्शों से देश-काल की सीमाओ को डुबाने का प्रयत्न करने लगा था।[१]

इस शैली म भाषा सबधी वह शब्दलाघव नही है जो वज्ञानिक समीक्षा के लिए आवश्यक माना गया है। इन पक्तिया म कसावट के स्थान पर विस्तार और फैलाव अधिक है आलोचक वस्तुनिष्ठ और निर्वैयक्तिक समीक्षा का रचनाकार न होकर ऐसी विस्तारमयी शैली का प्रयोक्ता है जिसका प्रभाव हृदय पर अधिक और मस्तिष्क पर अत्यल्प पडता है। फिर भी यदि छायावाद का पुनर्मूल्याकन किसी अय शैली म होता तो अध्येता उसे उतना पसद न करते जितना इस शैली म उसे पसद करते हैं।

(७) पतजी यह स्वीकार नहीं करते कि उन पर या छायावादी कवियो पर केवल बगला और पाश्चात्य साहित्य का ही प्रभाव पडा है। उन्होने गुरुजी

---

१ छा० पु०, पृ० ९१०।

के मतवादों और धारणाओं का सशक्त विरोध करते हुए कहा है कि "शुक्लजी की दृष्टि में छायावाद काव्य-वस्तु की दृष्टि से स्वदेशी हिन्दी काव्य-परंपरा का विकास है और शैली की दृष्टि से बंगला की छलनी में छना हुआ और सीधा भी विदेशी स्वच्छन्दतावाद का प्रभाव है। छायावाद को जिस बाहरी दृष्टि से शुक्लजी देख सके हैं उसमें तथ्यों का आग्रह भले ही हो, पर वह सीमित दृष्टि थी कि उसमें अधसत्य क्या, सत्य का छिलका ही देखने को मिलता है। वास्तव में उस युग के पास समग्र अन्तर्दृष्टि न होने के कारण आलोचना के विकसित मानदंडों का भी अभाव रहा है और उस युग के प्राय सभी आत्मतुष्ट आलोचक छायावाद की बाह्य परिक्रमा भर कर उसके संबंध में अपने विचार प्रकट करने की विवशता अनुभव करते रहे हैं।"[1]

(८) पंतजी के अनुसार छायावाद के मूल्यांकन के लिए पुरातन-प्रतिपादित सिद्धांतों एवं परंपरागत मानदंडों का उपयोग न्यायसंगत नहीं है। जिसे समीक्षकों ने रहस्यवाद की संज्ञा दे रखी है, वह वस्तुतः रहस्यवाद नहीं है और न छायावाद में ईश्वर ब्रह्म या परमात्मा के प्रति जिज्ञासा ही है। वह तत्त्वतः "नवीन विश्वजीवन का व्यापक संवेदन भर है।' 'छायावाद पुनर्मूल्यांकन' नामक पुस्तक और मान्यताएँ बदल रही हैं' शीर्षक निबंध में पंतजी ने द्विवेदीकाल की रूढ़ि-जर्जर मान्यताओं का खंडन करते हुए छायावाद की नव्यता ("नयी जीवन दृष्टि नया सौंदर्य-बोध नयी वक्र भंगिमा तथा अधिक संवेदनशील अभिव्यंजना') का समर्थन किया है। जब सामाजिक सांस्कृतिक एवं व्यावहारिक जगत में ही युगान्तरकारी परिवर्तन हो चुके हैं तब साहित्य के मानदंड भी बदलने चाहिए। नये आवेष्टन को प्रतिफलित करनेवाला साहित्य नये प्रतिमानों से ही आंका जा सकता है। अतः पंतजी की सलाह है कि "आप इस नये काव्य के लिए प्राचीन मध्ययुगीन दार्शनिक एवं काव्यशास्त्रीय दृष्टि तथा परंपरागत मानदंडों का उपयोग करना छोड़ दें।[2]

छायावाद और रोमाण्टिसिज्म

छायावाद को 'पाश्चात्य काव्य और बंगला का अवांछनीय अनुकरण' कहनेवाले समीक्षकों की दृष्टि मध्ययुगीन है और उनके मानदंड साम्प्रदायिक एवं प्रान्तीय हैं। पंतजी नहीं चाहते कि हिन्दी का विकास अन्तर्मुखी हो और

१ छा० पु०, पृ० १३।
२ उपरिवत् पृ० १७।

यह बाह्य संस्कृतियों एवं विचारों से प्रभावित न हो। फिर भी वे इस बात से भी सहमत नहीं हैं कि छायावाद को शुद्ध स्वच्छन्दतावाद की संज्ञा दी जाय। यह न विशुद्ध रोमांटिसिज्म है न इन्य है बंगला का अनुकरण ही।

(यहाँ[1] पंतजी की समीक्षा शैली वस्तुपरक एवं विश्लेषणात्मक हो उठती है। तर्क वितर्क एकत्र किये जाते हैं छायावाद पर किये गए निन्द्य आक्षेपों का निराकरण निरुत्तर उत्तरों में होता है। परन्तु स्थानान्तरों (संदर्भ) में यह भाषा शैली अभी भी उतनी ही आपूरित तथा सजी हुई है जितनी भावात्मकों की उद्दाम अभिव्यक्ति के समय रहती है।)

फिर भी छायावाद और स्वच्छन्दतावाद में प्रभूत साम्य दीख पड़ता है। पंतजी ने इसके रहस्य का उद्घाटन यह कहकर किया है कि स्वच्छन्दतावाद और रवीन्द्र काव्य विश्व विकास की जिन शक्तियों से प्रभावित हुए हैं छायावाद भी विकास के उन्हीं स्रोतों से प्रभावित है। साथ ही वे इस बात को अस्वीकार नहीं करते कि छायावाद प्रारंभ में कीट्स, शेली वर्ड्सवर्थ आदि अँगरेज कवियों तथा रवीन्द्र के अध्ययन से प्रभावित था। स्वयं रवीन्द्र ने भी अँगरेजी कवियों का प्रभाव ग्रहण कर नये काव्य में भारतीय नवजागरण को वाणी दी। उनकी प्रतिभा 'पूर्व-पश्चिम के सांस्कृतिक समन्वय के उत्साह से आलोक एवं गर्भित थी।' चूँकि हिंदी-काव्य उनसे भी प्रभावित है उसमें पाश्चात्य तत्वों का अल्पाधिक समावेश हुआ है। पंतजी यह भी स्वीकार करते हैं कि 'छायावाद का सौंदर्यवादी प्रभाव तो पश्चिम का है क्योंकि नये यन्त्रयुग के जीवन सौंदर्य तथा आशा उल्लास को सर्वप्रथम पश्चिम का ही साहित्य वाणी देने में सफल हुआ था—किन्तु रहस्यवादी प्रभाव निश्चय ही सर्वप्रथम उसमें रवीन्द्र से आया जो मूल में ही पीछे कबीर आदि के अध्ययन से गहरा हो गया था।'[2] पंतजी का समझ कवि आलोचक इस निष्कर्ष से विमुख नहीं हो सकता कि छायावाद की कितनी ही विशेषताएँ रोमांटिक काव्य में भी वर्तमान हैं इसलिए वह कहता है कि छायावाद में रोमांटिक काव्य की तरह ही 'विस्तार विस्मय की भावना या स्वप्न है उसमें रागात्मक संवेदन प्राण-तत्त्व तथा कल्पना का बाहुल्य और प्रवेग है।'[3] साथ ही वह इस बात पर भी बल देता है कि छायावाद में पर्याप्त मौलिक तत्त्व भी हैं जिन्हें हम विस्मृत नहीं कर सकते। इसके अतिरिक्त इस पर राष्ट्रीय

१ छा० पु०, पृ० ३१।
२ उपरिवत पृ० ३२।
३ उपरिवत, पृ० ३४।

अन्तर्जागरण की चेतना तथा विश्व विकास के नये मूल्यो का भी प्रभाव पड़ा है जो पाश्चात्य प्रभाव की अपेक्षा अधिक गभीर तथा व्यापक है।

पंत की समीक्षागत मान्यताएं और पाश्चात्य प्रभाव

पंतजी ने 'संस्कृत कवियो से लेकर द्विवेदीयुग के कवियो तक' की पुनरुक्तियो से आप्लुत काव्य भाषा, अलकारो, उच्छिष्ट एव प्राचीन प्रतीको तथा बिबो की आलोचना की है और उनमे नवीनता का अभाव देखा है। प्रत्येक नये आन्दोलन के समर्थक एव पक्षपोषक प्राग्भूत अथवा अत्यधिक प्रचलित शैलियो के विरुद्ध ऐसे ही तर्क उपस्थित करते हैं। उदाहरणार्थ—शेक्सपियर और जान डन की रचनाओ मे पेट्रार्क और स्पेंसर की शैलियो की ऐसी ही आलोचनाएँ निहित है। शेक्सपियर के एक सानेट मे पेट्रार्क तथा स्पेंसर की पद्धति पर सानेट रचनेवाले कवियो और उनके द्वारा प्रयुक्त रूपको, उपमाओ तथा बिबो की निर्मम सव्यग्य आलोचना की गई है। यहा बाई ओर वाटसन नामक कवि की पक्तियाँ उद्धृत की जाती है और दाहिनी ओर शेक्सपियर की आलोचना प्रस्तुत की जाती है[1]

Her yellow lockes exceede the beaten goulde	If haires be wiers black wiers grow on her head
Her sparkling eies in heav n a place deserve	My Mistres eyes are nothing like the sunne
Her wordes are musicke all of silver sounde	I love to hear her speake yet well I know That musick hath a far more pleasing sound
On either cheeke a Rose and Lillie lies	I have seene Roses damaskt red and white, But noe such Roses see I in her cheekes
Her breath is sweet perfume	And in some perfumes is

---

१ Patrick Cruttwell *The Shakespearean Moment* (New York 1960) pp 18 et seq

or hollie flame	there more delight Then in the breath that from my Mistres reekes
Her lips more red then any Corall stone	Currall is far more red then her lips red
Her necke more white then aged Swans that mone Her brest transparent is like Christall rocke	If Snow be white why then her Brests are dunne

शेक्सपियर सामयिक कवियों द्वारा प्रयुक्त बिंबों और प्रतीकों की आलोचना कर रहा है उनके बिम्ब और प्रतीक उसे घिसे और मृत दीख पड़ते हैं उनकी उपमाएँ भी उसे उच्छिष्ट लगती है।[1] स्पेंसर के सानेटों में प्रयुक्त एक ऐसा विशेषण

---

१ छायावाद पुनर्मूल्यांकन के पृ० ४६ पर पंतजी ने कहा है संस्कृत के कवियों से लेकर द्विवेदी युग के कवियों तक हमें मूल्य की दृष्टि से प्रायः एक ही प्रकार के उपमा, रूपक, अलंकार, इने गिने छंदों की पुनरावृत्ति तथा प्राचीन प्रतीकों, बिंबों आदि की पुनरावृत्ति मिलती है । शब्दालंकार तथा अर्थालंकार एवं रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा, अपह्नुति आदि तो इतने दुहराये गये हैं कि वे काव्य रसिकों के प्रतिदिन की खाद्य सामग्री बन गए थे। प्रतीक तथा बिंब भी इतने प्राचीन तथा बासी पड़ गए हैं कि उनके कवित्वमय रूप तथा भाव-सौंदर्य से किसी प्रकार की नवीनता की प्रेरणा नहीं मिलती थी। "

टी० ई० ह्यूम, एजरा पाउंड और एलियट जैसे आलोचक रोमांटिक कवियों की भाषा शैली के संबंध में ऐसी ही आलोचनाएँ लिखते और ऐसी ही धारणाओं का समर्थन करते हैं। साथ ही वे शेक्सपियर तथा "मेटाफिजिकल" सम्प्रदाय के कवियों की शैली की प्रशंसा और यथाशक्य अनुकरण तथा स्पेंसर द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय के कवियों की आलोचना करते हैं। निम्नलिखित पंक्तियों में स्पेंसर के अनुयायियों के संबंध में प्रायः ये ही बातें कही गई हैं जिन्हें पंतजी ने अपने पूर्ववर्ती कवियों के लिए कहा है

At first the playwrights used the comparisons best calcu-

है जो सभी विशेषणों का काम करता हुआ जान पड़ता है[1] और सर्वत्र प्राचीन उपमाएँ, छन्द, अलंकार आदि प्रयुक्त हुए हैं। शेक्सपियर और जॉन डन ने स्पेंसर द्वारा उद्घाटित परंपरा का विरोध करते हुए एक नव्य काव्यशैली का अवस्थापन किया जिसमें नये बिंब, नये प्रतीक, नयी उपमाएँ और नये रूपक प्रयुक्त हुए। अठारहवीं शती में वलर डेन्हम, ड्रायडन आदि के प्रयास से मेटाफिजिकल सम्प्रदाय के कवियों की शैली के स्थान पर एक नयी शैली का आविर्भाव हुआ जिसमें प्राञ्जलता, शब्द-लाघव, पद्यों में सन्तुलन, अर्थ-वपरीत्य का कलात्मक प्रयोग, औदार्य आदि गुणों का स्तुत्य समाहार देखा जाता है। ड्रायडन और पोप के युग ने अग्रगामी काव्यगत बिंबों को—यहाँ तक कि शेक्सपियर के रूपकालंकारों और श्लेषों को—अपने व्यंग्य प्रधान काव्य के अनुपयुक्त ठहराया। उन्नीसवीं शती के रोमांटिक कवियों ने ड्रायडन और पोप की परंपरा के विरुद्ध हाप्किन्स और बीसवीं शती के बिम्बवादी कवियों ने रोमांटिक कवियों की परंपरा के विरुद्ध नयी-नयी काव्य शैलियों और साहित्यिक सम्प्रदायों का प्रतिष्ठापन किया। पंत जी द्वारा प्रस्तुत द्विवेदीकालीन कवियों की आलोचना ऐसी ही है।

---

lated to illustrate their point and they were the most tradi-tional They had a decorative function and were employed to enhance the effect Derived much oftener from the Classics or from the Italian poets than from personal experience they were designed to raise the object to the poetical plane by assimilating it to something rarer or nobler It was essentially the laudatory image Its aim was to awaken the feeling of beauty to provoke admiration and even adoration Breasts were described as of ivory or alabaster lips of coral eyes were stars Goddesses heavenly bodies the seasons birds and flowers precious stones and metals formed charming symbolical teams harnessed to the objects to be illustrated, and made to assume an emblematic value See Henri Fluchere *Shakespeare* (London 1953) pp 167 *et seq*

१ — 'Fair for example is an epithet of all work it occurs some sixty times in these 88 sonnets Patrick Cruttwell op Cit p 16

पतजी को जो साहित्य अथवा कृति अरुचिकर लगती है और जो उनकी कसौटी पर खरी नही उतरती, उसे वे 'मध्ययुगीन' कहते हैं। जिस प्रबल औत्सुक्य से वे नवीन का स्तवन करते है वसी ही उत्कट उपेक्षा भावना से वे मध्ययुगीन भाववैभव का तिरस्कार भी करते हैं। उनके अनुसार नवीनता का कट्टरतम विरोधी मध्ययुगीन भावधारा है। ऐसे मतवाद का मूलाधार कवि का प्रगतिवादी चिंतन है, जो मध्ययुग के सामतवाद और अतिशय निवृत्तिमूलक धार्मिकता को बराबर ही सदेह की दृष्टि से देखता है। पतजी ने छायावादी काव्यधारा के अतर्गत पाये जानेवाले रहस्यवाद की एक अभिनव व्याख्या प्रस्तुत की है और उसे प्रगतिवाद या जनवादी चिंतन से अनुकूलित किया है।[1] मध्ययुगीन यथार्थ को उन्होंने सामती यथार्थ (छा० पु० प० २६-३०) की सज्ञा दी है, जो उनकी मनोवृत्ति के स्पष्टीकरण के लिए अत्यत महत्त्वपूर्ण है। पत का रहस्यवाद मध्ययुगीन सतो का रहस्यवाद नही है। मध्ययुगीन रहस्यवाद (यूरोप मे भी) प्रधानत निवृत्तिमूलक था, परन्तु छायावाद प्रवृत्तिमूलक है। मध्ययुगीन सत आत्मब्रह्म और आत्मपरिष्कार की खोज मे रत रहते थे, छायावादी कवि विश्वात्मा तथा विश्व जीवन की खोज की ओर अग्रसर रहे हैं।[2]

रिवोल्ट आव इस्लाम तथा प्रमीथियस अनबाउण्ड के कवि शेली, साम्यवाद के आधुनिक जनक मार्क्स और लेनिन तथा भारतीय नवजागरण के आविर्भावकों के प्रवृत्तिमूलक दर्शन चिंतन से एक साथ ही प्रभावित इस दृष्टिकोण को पश्चिम का अद्यतन "आर्थोडाक्स" साहित्यिक चिंतन स्वीकार नहीं करेगा। इलियट ने मध्ययुगीन विचार धारा और परम्परानुमोदित धर्म विश्वास का अभिनन्दन किया है और मध्ययुगीन विचार धारा द्वारा समर्थित अनुशासन एव मर्यादा (आर्थोडॉक्सी) को कवि के लिए आवश्यक बताया है। पाल एल्मर मूर, इर्विंग बबिट और स्टर्लिंग मरीस मानववादी इलियट पन्थ के विचारों का समर्थन करते (यद्यपि पतजी ने इन लोगों की कृतियों का अध्ययन नहीं किया है), परन्तु पश्चिम के मध्ययुगीन सतो, रहस्यवादियों और कथोलिकों की विचारधारा

---

1 'मैं मार्क्सवादी (आर्थिक दृष्टि से वर्ग सन्तुलित) जनतत्र तथा भारतीय जीवन-दर्शन को विश्वशान्ति तथा लोक-कल्याण के लिए आदर्श सयोग मानता हूँ। उत्तरा, प्रस्तावना, पृ० २१।

2 पतजी के अनुसार आज के युग मे साहित्य स्रष्टा एव कवि का कर्तव्य है कि वह युगसत्य के भीतर जन्म लेनेवाली नवीन लोकभावना को अपनी वाणी द्वारा अभिव्यक्ति दे। उपरिवत पृ० २३।

में पाठकों की रुचि बढ़ चली है जो कदाचित्-कदाचित् महायुद्ध-जनित अनास्था, कुंठा और सशयशीलता का परिणाम है। अब तो पश्चिम में एक ऐसा दल भी उत्थित हो गया है जो नवजागरण को मानव का दूसरा पतन कहता है।

कभी-कभी पंतजी के विचार पाश्चात्य कवियों के विचारों के इतने सन्निकट आ जाते हैं कि उन कवियों से उनके प्रभावित होने में संदेह की कोई संभावना ही नहीं रह जाती। उदाहरणार्थ— आधुनिक कवि के 'पर्यालोचन" में उन्होंने कहा है कि 'कवि-जीवन से पहले भी, मुझे याद है, मैं घंटों एकांत में बैठा, प्राकृतिक दृश्यों को एकटक देखा करता था, और कोई अज्ञात आकर्षण मेरे भीतर, एक अव्यक्त सौंदर्य का जाल बुनकर मेरी चेतना को तन्मय कर देता था।'[1] प्राकृतिक दृश्यों के अवलोकन से वर्ड्सवर्थ की चेतना भी इसी प्रकार तन्मय हो जाती थी। उसमें एक ऐसा अदभुत् अक्षय भाव ("ब्लेसेड मूड") भर आता था जिसमें

the burthen of the mystery
Of all this unintelligible world
Is lighted —that serene and blessed mood,
In which the affections gently lead us on,—
Until the breath of this corporeal frame
And even the motion of our human blood
Almost suspended we are laid asleep
In body and become a living soul [2]

जब पंतजी ने यह लिखा था कि 'जब कभी मैं आँख मूँदकर लेटता था, तो वह दृश्यपट चुपचाप मेरी आँखों के सामने घूमा करता था' उस समय उनके मन में वर्ड्सवर्थ की ये पंक्तियाँ, निश्चय ही वर्तमान रही होंगी।

For oft when on my couch I lie
In vacant or in pensive mood
They flash upon that inward eye
Which is the bliss of solitude
And then my heart with pleasure fills
And dances with the daffodils [3]

---

१ आधुनिक कवि (प्रयाग, १९४१), २, पृ० १ (पर्यालोचन)।
२ Tintern Abbey (1798) ll 38 46
३ Daffodils (1804) ll 19 24

तया गाधीजी और श्री अरविन्द के महत सपर्क म आने से प्रस्फुटित तथा विकसित हुआ है।"[1] स्पष्ट है कि 'अतर के प्रकाश' मे वाह्य प्रभावो का ग्रहण तथा आत्मसात करनेवाला कवि हिन्दी का शैला और लारेंस है। स्वच्छदतावादी कवियों की तरह ही उसने भी कल्पना के पखा से सौदय क्षितिज का स्पश किया है। (नव्यशास्त्रवादी कवि उछल-कूद सकते हैं परन्तु उन्हे पीछे लौट जाना पडता है, व सौंदय क्षितिजो को स्पश करने का प्रयत्न नही करते।)[2] साथ ही यहा यह भी ध्यातव्य है कि कवि ने केवल पश्चिम के दशनो का ही अध्ययन नही किया था, प्रत्युत गाधीजी और अरविन्द के विचारो का भी आत्मसात् किया था।

डा० रामकुमार वर्मा (१९०५–)

'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास'[3] के 'निवेदन' म डॉ० वर्मा का यह कथन ध्यातव्य है कि "मैंने साहित्य की सस्कृति का आदश सुरक्षित रखते हुए पश्चिम की आलोचना शली को ग्रहण करने का प्रयत्न किया है।" उन्होंने न तो इस शली की विशेषताओ का निरूपण किया है और न उन पाश्चात्य शलीकारो के नाम बताये हैं जिनसे वे प्रभावित हुए हैं। 'निवदन' म ही कहा गया है कि "इतिहास लिखने के दृष्टिकोण और शली मे भी नूतन वैज्ञानिक उत्क्राति हुई है", पर यह नहा कहा गया है कि इस उत्क्राति से इतिहास-लेखन मे क्या-क्या मौलिक परिवतन हुए हैं और प्राचीन तथा नवीन पद्धतियो म कौन-कौन से मौलिक अन्तर हैं। फिर भी, इसम सदेह नही कि वर्माजी की विवेचन-पद्धति पर पाश्चात्य प्रभाव पडा है। इस कथन की पुष्टि वर्माजी के उपयुक्त निवेदन स तथा उनकी वैज्ञानिक विद्वत्तापूण समीक्षा-शैली से होती है।

विषय प्रवश मे उन्होने पश्चिम के साहित्येतिहास विषयक महत्त्वपूण योगदान का सक्षिप्त क्रमवद्ध विवरण प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार कवि के नामो का सबसे पहला सग्रह जो इतिहास के रूप का आभास मात्र है फ्रासीसी साहित्य म गास द तासी लिखित 'इस्त्वार द ला लितरात्यूर ऐंदूई ऐं ऐंदुस्तानी' है[4]

---

१ चिदबरा (१९६६), पृ० ३०-३१।
२ "ही मे जम्प, बट ही ऑलवेज रिटर्न्स बक, ही नेवर फ्लाइज अवे इण्टू द सकमेम्बियण्ट मस।" टी० ई० ह्यूम, स्पेक्युलेशन्स (१९६०), पृ० १२०।
३ प्रयाग, ३१ माच १९३८ (द्वितीय सस्करण, १९४८)।
४ 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास', प० २।

जिसका मुद्रण ग्रेटब्रिटेन और आयर्लैण्ड की प्राच्य साहित्य अनुवादक समिति की ओर से पेरिस में हुआ। "यह आश्चर्य की बात अवश्य है कि हिंदी साहित्य का प्रथम विवरण हिंदी लेखकों द्वारा न लिखा जाकर विदेशी साहित्य में किसी विदेशी द्वारा लिखा जावे। विदेशी भाषा में लिखे जाने पर भी इस ग्रंथ का महत्त्व है। यह हिंदी का सबसे प्राचीन विवरण होने के कारण विद्वानों और इतिहास लेखकों के लिए साहित्यिक और ऐतिहासिक दोनों ही विशेषताएँ रखता है।"[1] गार्सं द तासी के पश्चात सर जार्ज ग्रियर्सन का योगदान उल्लेखनीय है। उन्होंने 'माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आव हिन्दुस्तान' की रचना की। यद्यपि यह ग्रंथ शिवसिंह सेंगर द्वारा लिखित 'शिवसिंह सरोज' की सामग्री से ही निर्मित है, फिर भी 'यह उससे अधिक व्यवस्थित और वैज्ञानिक शैली में लिखा गया है।'[2] ग्रियर्सन के बाद जिन पाश्चात्य लेखकों ने साहित्येतिहास की रचना की उनमें एडविन ग्रीव्स और एफ० ई० के ये नाम अविस्मरणीय हैं। उन्होंने क्रमशः 'ए स्केच आव हिन्दी लिटरेचर' (स० १९७४) तथा 'ए हिस्ट्री आव हिन्दी लिटरेचर' (स० १९७७) नामक ग्रंथों की रचना की। एफ० ई० के की पुस्तक ग्रीव्ज के 'स्केच' की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक ढंग पर लिखी गई है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि डा० वर्मा ने 'विषय प्रवेश' में उपलब्ध सामग्री का विशद विवेचन उपस्थित किया है और इतिहास-लेखन की कठिनाइयों, काल-विभाग आदि की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। यही क्रमबद्ध, तारतम्ययुक्त एवं सुशृंखल विवेचन वैज्ञानिकानुमोदित पाश्चात्य पद्धति है जिसका प्रभाव शोध-प्रबंधों पर भी पड़ा है। इतिहास ग्रंथकारों में लेखक ने हडसन, लांग, डॉ० आर्थर काम्पटन रिकेट, स्टफर्ड ए० ब्रुक प्रभृति अँगरेजी के साहित्येतिहासों से ही प्रभाव ग्रहण किया है। डा० वर्मा की पद्धति इनसे ही प्रभावित दीखती है। 'विषय प्रवेश' में ही वे हिन्दी पर अँगरेजी साहित्य के व्यापक प्रभाव का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि 'अँगरेजी साहित्य के प्रभाव ने हिंदी साहित्य को अनेक दिशाओं में भिन्न-भिन्न रूप की प्रेरणा दी। कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबंध, आलोचना तथा उपयोगी साहित्य की रचना में अद्भुत प्रगतिशीलता आ गई।'[3] डॉ० वर्मा के अनुसार रहस्यात्मक कविताओं के दो प्रमुख आधार हैं प्रथम आधार औपनिषदिक विचार धारा का है और दूसरा पाश्चात्य भावधारा का जिसके

---

१ उपरिवत पृ० ३।
२ उपरिवत पृ० ४।
३ उपरिवत, पृ० ५२।

अंतर्गत 'अँगरेजी के युगांतरकालीन कवि शेली', कीट्स, बायरन और वर्ड्सवर्थ की रचनाएँ तथा विश्वकवि श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर की काव्य पुस्तकें आती हैं।[1] समालोचना के क्षेत्र में भी पश्चिम का योगदान उल्लेखनीय रहा है। वस्तुतः मिश्रबंधुओं के युग से निकलकर हिंदी की आधुनिक समीक्षा-पद्धति पश्चिम की समालोचन पद्धति का ही अनुसरण करती रही है।'[2] स्वयं डॉ० वर्मा ने पाश्चात्य गवेषणाओं और अथक साहित्य-मंथन के पश्चात् पाश्चात्य मनीषियों द्वारा उपलब्ध तथ्यामृतों के विनियोग से अपने विवेचन को समृद्ध किया है।[3]

संत कबीर में डॉ० वर्मा ने कवि के काल निर्धारण के लिए पाश्चात्य इतिहासकारों से प्रचुर सहायता ली है और कबीर तथा सिकंदर लोदी के समय के संबंध में भिन्न भिन्न पाश्चात्य इतिहासकारों द्वारा दी गई तिथियों की एक तालिका में उपस्थित किया है।[4] 'कबीर का रहस्यवाद' में कहीं-कहीं वर्मा जी की आलोचना एवं गद्य शैली इतिहासकार की वस्तुनिष्ठ इतिवृत्तात्मक शैली से भिन्न भावुकता एवं मदुता से ओत प्रोत हो उठी है। इस संबंध में निम्नलिखित पंक्तियाँ उद्धरणीय हैं

> रहस्यवाद की विवेचना अत्यंत मनोरंजक होने पर भी दुःसाध्य है। वह हमारे सामने एक गहन वन प्रांत की भाँति फैली हुई है। उसमें जटिल विचारों की कितनी काली गुफाएँ हैं कितनी शिलाएँ हैं! उसकी दुर्गमता देखकर हमारे हृदय का निर्बल व्यक्ति थककर बैठ जाता है। सागर के समान इस विषय का विस्तार विश्व-साहित्य भर में फैला हुआ है। न जाने कितने कवियों के हृदय से रहस्यवाद की भावना निर्झर की भाँति प्रवाहित हुई है।[5]

रहस्यवाद की परिभाषा और विवेचन पर पाश्चात्य प्रभाव स्पष्ट है। उदाहरणार्थ वर्मा जी की इन पंक्तियों को लीजिए —

> अंत में वह सीमा इस स्थिति को पहुँचती है कि भावोन्माद में वस्तुओं

---

१ उपरिवत्, पृ० ५३।

२ उपरिवत्, पृ० ५५।

३ उदाहरणार्थ, दे० हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ५२०-५२३।

४ डॉ० रामकुमार वर्मा, 'संत कबीर' (इलाहाबाद, १९५७), पृ० ४५।

५ डॉ० रामकुमार वर्मा 'कबीर का रहस्यवाद' (इलाहाबाद, १९६१), पृ० ६।

> [illegible]
> [illegible]
> [illegible]
> [illegible]
> [illegible]
> [illegible]
> [illegible] ।[1]

[illegible] अण्डरहिल के, [illegible] है —

> William James once suggested as a useful exercise for young idealists a consideration of the changes which would be worked in our ordinary world if the various branches of our receiving instruments exchanged duties if for instance we heard all colours and saw all sounds

स्पष्ट है कि डॉ० वर्मा अण्डरहिल के विचारों का ही [illegible] भारतीय [illegible] में उपस्थित कर रहे हैं। उन्होंने अण्डरहिल की चार बातें ग्रहण किये हैं —

क—अण्डरहिल रचित मिस्टिसिज्म में इसी विषय पर एक बड़ा सुन्दर अवतरण है। (पृ० ३८)

ख—अण्डरहिल ने लिखा है (पृ० ५०)

ग—अण्डरहिल ने लिखा है कि शारीरिक उल्लास में एक मूर्च्छा-सी आ जाती है। (पृ० ५१)

घ—शारीरिक उल्लास के विवेचन में अण्डरहिल का एक उदाहरण भी दे दिया है। (पृ० ५७)

रहस्यवाद पर अँगरेजी की सर्वाधिक लोकप्रिय और सरल-सुलभ पुस्तकों में इवलिन अण्डरहिल की मिस्टिसिज्म के अतिरिक्त रेनाल्ड ए० निकल्सन रचित 'दि आइडिया आव पर्सनलिटी इन सूफीज्म' भी परिगणनीय है। इन दो पुस्तकों के अतिरिक्त डॉ० वर्मा ने निकल्सन और ली द्वारा सम्पादित 'दि आक्सफोर्ड बुक आव इंगलिश मिस्टिकल वर्स', विलियम राल्फ इंज की पुस्तक 'पर्सनल

---

१ उपरिवत, पृ० ८।

२ इवलिन अण्डरहिल, 'मिस्टिसिज्म' (लंदन, १९६०), पृ० ७।

आइडियलिज्म एण्ड मिस्टिसिज्म, पुलन रचित द प्रेसेंस ऑफ इटर्नल प्रेयर आदि का भी उपयोग किया है। रहस्यवाद के भिन्न भिन्न पक्षो के स्पष्टीकरण के क्रम में उन्होंने जो विभिन्न उदाहरण दिये हैं वे केवल कबीर की रहस्यवादी कविताओं से ही नहीं लिये गए हैं। जान हर्बट कालरिज टामसन प्रभृति पाश्चात्य कवियों की प्रसंगानुकूल पंक्तियाँ भी उद्धृत कर वे अपने विषय को अधिकाधिक स्पष्ट करते तथा उसे उचित परिप्रेक्ष्य में देखते दिखाई देते हैं।

रहस्यवाद पर इधर अंगरेजी और हिंदी में कई प्रामाणिक एवं महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का प्रकाशन हुआ है।[1] आचार्य परशुराम चतुर्वेदी-कृत 'रहस्यवाद' अद्युनातन प्राच्य प्रतीच्य ज्ञान को अपने विवेचन में समाहित कर एक संतुलित मर्मान्वेषी दृष्टिकोण उपस्थित करता है। डा० राममूर्ति त्रिपाठी की पुस्तक[2]

---

१ आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, 'रहस्यवाद' (पटना, १९६३), पृ० ९ (प्रस्तावना)।

२ डा० राममूर्ति त्रिपाठी, 'रहस्यवाद' (राजकमल, १९६६)। त्रिपाठीजी के "रस विमर्श" (१९६५) में प्राचीन एवं आधुनिक साहित्य मनीषियों के रस विषयक सिद्धांतों का आकलन एवं समीक्षण है। इसमें उन विचारकों के रस-संबंधी सिद्धांतों का भी संकलन है जो पाश्चात्य मनोविज्ञान से प्रभावित हुए हैं और जिन्होंने रस-तत्त्व की मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की है। "रस विमर्श" रस-संबंधी विवेचनों का महत्त्वपूर्ण इतिहास है। नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों में "यह पुस्तक रस तत्त्व का संपूर्ण ऐतिहासिक इतिवृत्त विवेचनात्मक पद्धति से प्रस्तुत करती है।" (रस विमर्श, वाराणसी, १९६५, पृ० ६) इसमें रामचंद्र शुक्ल, डा० राकेश गुप्त, डा० नगेन्द्र आदि आचार्यों की रस विषयक स्थापनाओं का विवेचन है जिसके अनुशीलन से हम इन लेखकों पर पड़नेवाले पाश्चात्य मनोविज्ञान के प्रभाव की गहराइयों को माप सकते हैं। शुक्लजी पर मनोविज्ञान का गंभीर प्रभाव था जिसके कारण उन्होंने रसानुभव की शास्त्रीय मान्यताओं को स्वीकार नहीं किया। रसानुभूति की लोकोत्तर व्याप्ति मान लेने के कारण वे शास्त्रकारों की भाँति सर्वथा आत्मानंद के निरावृत ब्रह्मानंद मय रूप को नहीं मानते। वे उस लोकगत सात्त्विक अनुभूति से पृथक मानने को कथमपि प्रस्तुत नहीं हैं। डा० राकेश गुप्त ने "साइकोलॉजिकल स्टडीज इन रस" के पूर्वार्द्ध में काव्य की प्राच्य प्रतीच्य परिभाषाएँ प्रस्तुत करते हुए दिखाया है कि उनमें अधिकांश ऐसी हैं जो "आनंद"

विशुद्ध भारतीय दृष्टिकोण से लिखा गई है। दार्शनिक दृष्टिकोण से लिखा गया डा० रामनारायण पाण्डेय का शोध प्रबंध[1] रहस्यवाद विषयक पाश्चात्य चिंतन से प्रभावित है। उदाहरणार्थ उनकी इन पंक्तियों को लें—

> अर्जुन की इस विषम परिस्थिति में जो द्वंद्वात्मक मन स्थिति हो गई है उसे हम आत्मा की अंधकारमयी रात्रि या (Dark Night of the Soul) स्थिति कह सकते हैं। इस स्थिति के पश्चात् साक्षात्कार होता है।[2]

संट टरीजा, संट जान आव द क्रास आदि की रचनाओं में इस अंधकारमयी मन स्थिति का बड़ा ही मर्मस्पर्शी वर्णन मिलता है। (अण्डरहिल की पुस्तक 'मिस्टिसिज्म' के नवें अध्याय का शीर्षक है—'द डार्क नाइट आव द सोल'। पाण्डेय जी इस पुस्तक से परिचित हैं और अपने प्रबंध में उन्होंने इसकी ओर संकेत भी किया है।) संभवत अण्डरहिल के माध्यम से ही पाण्डेयजी इन रहस्यदर्शी ईसाई संतों के विचारों से अवगत हुए हैं।

डा० वर्मा के तत्त्वाभिनिवेशी आलोचक ने रस को ही मूल्यांकन का कालातीत मानदंड माना है। उनके पाश्चात्य वाङ्मय के सम्यक् ज्ञान का परिचय 'साहित्य-शास्त्र' और 'साहित्य समालोचना' जैसी पुस्तकों के अनुशीलन से मिलता है। 'साहित्य शास्त्र' की भूमिका के स्थान पर डाक्टर साहब ने अपने दृष्टिकोण की रूपरेखा प्रस्तुत की है। उनके अनुसार संस्कृत और अँगरेजी दोनों से ही हिंदी साहित्य प्रभावित हुआ है। संस्कृत ने जीवन के यथार्थ को जीवन के आदर्श से अनुस्यूत कर लिया है और अँगरेजी साहित्य ने जीवन के आदर्श का अनुवाद वस्तुवादी दृष्टिकोण लेकर यथार्थ में कर दिया है। आज जब हिंदी साहित्य की समीक्षा की जाती है तो कभी हमारी दृष्टि संस्कृत के आचार्यों की ओर जाती है कभी पश्चिम के समीक्षकों की ओर।[3] डा० वर्मा यह भी जानते हैं कि हिंदी-

---

या "काव्यानंद" का उल्लेख करती हैं। उन्होंने "काव्यानंद" की पूर्वी और पश्चिमी व्याख्याओं को भी ऐतिहासिक अनुक्रम में रखने का प्रयास किया है। उनके विवेचन की मूलदृष्टि सर्वत्र अनुभवाश्रित तथा मनोवैज्ञानिक है। डा० नगेन्द्र आई० ए० रिचर्ड्स से प्रभावित होने के कारण काव्यास्वाद को स्वच्छंदतावादी अन्य समीक्षकों की भाँति अनिवार्यत आनंदमयी चेतना स्वीकार करते [illegible]।

१ डॉ० रामनारायण पाण्डेय, 'भक्तिकाव्य में रहस्यवाद' (दिल्ली, १९६६)।

२ उपरिवत, पृ० ४४।

३ डॉ० रामकुमार वर्मा, 'साहित्य शास्त्र' (प्रयाग, १९५६), पृ० ४।

रचनाओं में पाश्चात्य भावों और विचारों का अत्यल्प उन्मेष हुआ है। छायावादियों द्वारा प्रयुक्त अनेक पाश्चात्य शब्दों के स्थान पर उनकी रचनाओं में सर्वत्र ऐसा आभास होता है कि उन्होंने अपने जीवन-दर्शन एवं नयी निखरी शैली को पाश्चात्य प्रभावों से अस्पृष्ट रखने का यथाशक्य प्रयत्न किया है। इस प्रयास के मूल में कदाचित् उनकी यह सुनिश्चित धारणा है कि "हम विश्व भर से परिचय की यात्रा में निकलने से पहले यदि अपने देश के हर कोने से परिचित हो लें, तो इसे शुभ शकुन ही मानना चाहिए।"[1] इस कारण उन्होंने 'अपरिचय के समुद्र और आशंका के बादलों से अपने संकल्प-पथ को विस्मृत होने नहीं दिया है, प्रत्युत यह प्रयत्न किया है कि 'अपरिचय परिचय में और 'आशंका' ऐसे आत्म विश्वास में परिणत हो जाय जिसका मूलाधार स्वदेश की पुरातन परंपराओं एवं चिरंतन संस्कृति का गहन अध्ययन-मनन है।

फिर भी महादेवीजी की रचनाओं में कतिपय शैलीगत विशेषताओं का एकत्रण देखा जाता है जो उन्हें छायावाद के अन्य कवियों एवं पाश्चात्य स्वच्छंदतावादी धारा से संबद्ध करता है। उनकी कारयित्री प्रतिभा अपने देश के सांस्कृतिक आवेष्टन में ही स्वतन्त्र रूप से विकसित हुई है और उस पर भारतीय परंपराओं के ही प्रभूत चिह्न अंकित हैं। इसलिए उनकी समीक्षाओं पर पाश्चात्य प्रभाव का अनुसंधान बहुत अंशों में निरर्थक सिद्ध होता है। उनकी काव्यगत मान्यताओं और स्वच्छंदतावादी विचार धाराओं में जो साम्य दीखता है उसका ही विवेचन यहाँ संभव है, महादेवी के चिंतन में उन अंतःप्रतिष्ठित परोक्ष एवं नगण्य तत्त्वों का नहीं जो पाश्चात्य साहित्य और दर्शन से उद्भूत हैं।

मौलिक रोमाण्टिक समीक्षा

महादेवीजी के समीक्षात्मक निबंधों के अनुशीलन से ऐसा प्रतीत होता है कि वे ईक्षणयुक्त कविता हैं न कि सूक्ष्म एवं वैज्ञानिक विश्लेषण पर आधारित आलोचना। अपने सिद्धांतों और निष्कर्षों को अधिकाधिक प्रामाणिकता देने के लिए उन्होंने सामयिक या प्राग्भूत साहित्यकारों की रचनाओं से उदाहरण देकर ऐसी कवित्वमयी उपमाएँ प्रस्तुत की हैं जिनमें प्रयुक्त बिम्ब, प्रतीक आदि नैसर्गिक आधाररूपों से संबद्ध होते हैं। इन उपमाओं से कभी-कभी ऐसा आभास होता है कि

1 महादेवी, 'साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबंध' (इलाहाबाद, १९६६), पृ० २०५। ("महादेवी का विवेचनात्मक गद्य" के नाम से इस पुस्तक के कतिपय निबंध पहले प्रकाशित हो चुके थे।)

यह प्रगीता के लिए ही उपादेय ठहरती है और उनके सिद्धात छोटे-मोटे छायावादी गीतो के लिए ही प्रयोज्य दीखते हैं, बृहत् प्रबधो, महाकाव्यो एव नाटकीय कृतियो के लिए नहीं।

वर्ड स्वर्थ और शेली की प्रतिध्वनि

'यामा' म अपनी बात' कहने के क्रम म उन्होने एक स्थल पर लिखा है कि 'पहले बाहर खिलने वाले फूल को देखकर मेरे रोम रोम म ऐसा पुलक दौड जाता था मानो वह मेरे ही हृदय म खिला हो, परन्तु उसके अपने से भिन्न प्रत्यक्ष अनुभव म एक अव्यक्त वेदना भी थी, फिर यह सुख दुख मिश्रित अनुभूति ही चिंतन का विषय बनने लगी और अत म अब मेरे मन ने न जाने कैसे उस बाहर भीतर म एक सामजस्य सा ढूढ लिया है जिसने सुख दुख को इस प्रकार बुन दिया कि एक के प्रत्यक्ष अनुभव के साथ दूसरे का अप्रत्यक्ष आभास मिलता रहता है।'[1] यहा यह कहना न्यायसगत नही जँचता कि इन पक्तियो को लिखते समय लेखिका के मन म वर्ड स्वर्थ का एक ऐसा ही कथन वर्तमान रहा होगा, परन्तु इसम सदेह नही कि इनम वर्ड स्वर्थ की निम्नलिखित पक्तियो का ही भाव प्रतिध्वनित है। वर्ड स्वर्थ ने कहा है 'कभी-कभी मैं यह सोचने म असमर्थ था कि बाह्य पदार्थों का मुझसे बाहर भी कोई अस्तित्व है और मैंने उन सभी चीजो के साथ सम्पर्क स्थापित कर लिया था जिन्हे मैं देखता था, मानो वे मुझसे पृथक न होकर मेरी अमूर्त आत्मा म ही सयोजित हो। कितनी ही बार स्कूल जाते समय पेड और दीवाल पकडकर मैंने आदर्श के इस गभीर गर्त से निकलने तथा यथार्थ की ठोस भूमि पर आने की कोशिश की है।'[2] हर्बर्ट रीड ने इन पक्तियो से यह निष्कर्षित किया है कि वर्ड स्वर्थ बाह्य जगत् और अपने आप मे कोई वभिन्न्य नही देखता था। इस मनोवृत्ति से उसे घोर सघर्ष करना पडा था और इस कारण उसे

---

१ महादेवी वर्मा, 'यामा' (इलाहाबाद, १९३९), पृ० ४ ("अपनी बात")।

२ I was often unable to think of external things as having external existence and I communed with all that I saw as something not apart from but inherent in, my own immaterial nature Many times while going to school have I grasped at a wall or tree to recall myself from this abyss of idealism to the reality Grosart III 194 5 Quoted by Herbert Read *Wordsworth* (London 1958) p 124

वास्तविक जगत् को अपने लिए उतना ही यथार्थ बनाना पड़ा जितना वह उसे ऐसा बना सकता था ।[1]

हर्बट रीड ने वर्ड्स्वर्थ के सिद्धांतों के संबंध में कहा है कि वे उसकी संवेदनाओं पर ही आधृत थे।[2] स्वयं वर्ड्स्वर्थ ने 'लिरिकल बैलड्स' की भूमिका में कहा है कि कवि 'अपने राग और अपने संकल्प में ही प्रफुल्लित रहता है, अपने अन्तस् में विद्यमान जीवन के प्राण-तत्त्व में वह अन्यों की अपेक्षा अधिक रस लेता है और सृष्टि के क्रिया-कलाप में जो वैसे ही संकल्प एवं राग दृष्टिगोचर होते हैं उनका विचार कर वह हर्षित होता है—जहाँ वे नहीं होते, वहाँ स्वभाववश वह उनकी सृष्टि करने के लिए बाध्य होता है।'[3] महादेवीजी के साहित्यिक सिद्धांत भी उनकी अनुभूतियों से ही निस्सृत हुए हैं और उनकी संवेदनाओं पर ही आश्रित हैं। उनकी कविता में बुद्धि 'हृदय से अनुशासित' नहीं होती, बल्कि उनकी समीक्षा भी हृदगत आवेगों से ही उद्भूत होती है और शायद ही कहीं 'बुद्धि' से अनुशासित विवेचित जान पड़ती है। उदाहरणार्थ—'छायावाद' शीर्षक निबंध का आरम्भ इन पंक्तियों से होता है

> अपने मूल्य को बढ़ाने के लिए दूसरों का मूल्य घटा देना यदि हमारे स्वभावगत न हो जाता तो हमने उस नागरणयुग को अधिक महत्त्व दिया होता जिसकी उग्र वाणी ने पहले-पहल एक स्थायी ववंडर से उसके लक्ष्य का नाम पूछा जिसकी पैनी दृष्टि ने पहरा बढ़कर

---

१ 'Wordsworth wa unable to distinguish between himself and the external world He therefore struggled against this mental tendency and to do this he had to make the actual world as real as possible Herbert Road, *op cit*

२ His theories were grounded on his own sensations *ibid*, p 125

३ The poet he says in the preface to the *Lyrical Ballads* is a man pleased with his own passions and volitions and who rejoices more than other men in the spirit of life that is in him delighting to contemplate similar volitions and passions as manifested in the goings on of the Universe and habitually impelled to create them where he does not find them *ibid*

> [illegible] प्रकृति की [illegible] और [illegible]
> [illegible][1]

[illegible] जगत् की [illegible] हुआ है और [illegible] है। [illegible] हुआ [illegible] है। [illegible] का विरोध है

> जीवन का जो स्पन्दन विराट में [illegible] है उसका [illegible] छोटा करके [illegible] सुन्दर बिन्दु [illegible] नहीं किया जाता। उसके [illegible] अपनी [illegible] में मुस्कराती हुई विभावरी अभिराम है पर [illegible] के भार पर [illegible] विराट बना हुआ [illegible] भी कम सुन्दर नहीं। फूलों के कोश में [illegible] है पर शून्य नीलिमा की ओर विस्मित [illegible] दृष्टि भी कम सुकुमार नहीं। अविरत जलदान में पृथ्वी को कँपा देनेवाला बादल ऊँचा है पर एक बूँद आँसू के भार से नत और कम्पित तृण भी कम उन्नत नहीं। गुलाब के रंग और नवनीत की कोमलता में कंकाल छिपाये हुए रूपसी रमणीय है पर झुर्रियों में जीवन का विज्ञान लिखे हुए वृद्ध भी कम आकर्षक नहीं।[3]

यद्यपि इन उद्धरणों में कहीं भी दुरूह शब्दों अथवा पांडित्यपूर्ण निर्देशों (allusions and references) का प्रयोग नहीं हुआ है फिर भी इनकी शैली का पाश्चात्य प्रतिरूप सत्रहवीं शती में अंगरेजी गद्य में प्रधानतः टामस ब्राउन की अर्न बरियल, द गार्डन आव साइरस तथा रेलिजियो मेडिसि जैसी रचनाओं में अथवा जान डन और लान्सलाट ऐण्ड्रूज के धार्मिक प्रवचनों में मिलता है। जहाँ तक पाश्चात्य समीक्षकों का प्रश्न है इस शैली और इसके द्वारा संप्रेषित भावों आवेगों का प्रतिरूप ब्लेक, शेली, वाल्टर पेटर, आर्थर साइमन्स, डी० एच० लारेंस प्रभृति लेखकों की रचनाओं में देखा जा सकता है।

---

१ साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबंध, पृ० ६१।
२ उपरिवत् पृ० १६४ २००।
३ उपरिवत्, पृ० ३५।

महादेवी के अनुसार 'जीवन की गहराई की अनुभूति के कुछ क्षण होते हैं वर्ष नहीं।'[1] तत्त्वतः इस प्रकार की धारणा रोमांटिक है और क्षणिक अनुभूतियों पर आश्रित प्रगीतों की रचना का मूलाधार है। शेली और पो में भी इस धारणा की विशद अभिव्यक्ति हुई है। शेली ने कहा है कि विचारों और भावों की क्षणिक उद्भावना होती है—कभी वे किसी स्थान अथवा व्यक्ति से सम्पृक्त होते हैं, कभी अपने ही मन से सम्बद्ध। वे अनायास आते हैं और सहसा विलीन हो जाते हैं।[2] यही प्रेरणावाले रोमांटिक सिद्धांत का धुर मूल है जिसे आभिजात्य समीक्षक स्वीकार नहीं करता। अठारहवीं शती में इंग्लैंड में नव्यशास्त्रवादियों ने लंबी लंबी कविताएँ लिखी थीं और प्रेरणावाले सिद्धांत का निराकरण किया था, परंतु रोमांटिक युग में पो ने 'पैराडाइज लॉस्ट' जैसी लम्बी कविताओं को छोटी छोटी कविताओं का सुश्रृंखल रूप कहा और केवल लघुकाव्य एवं प्रगीतों के ही अस्तित्व को स्वीकार किया।[3]

नैतिक मूल्यों की स्थापना करनेवाले कवियों तथा शिक्षाप्रद काव्य के रचयिताओं के संबंध में महादेवीजी ने कहा है कि 'विधि निषेध की दृष्टि से महान् कलाकार के पास उतना भी अधिकार नहीं जितना चौराहे पर खड़े सिपाही को प्राप्त है। वह न किसी को आदेश दे सकता है और न उपदेश, और यदि इनकी नानमम्पी करता भी है तो दूसरे उसे न मानकर समझदारी का परिचय देते हैं।' काव्यकार का एकमात्र कर्तव्य अपनी अनुभूतियों की यथावत अभिव्यक्ति है,

---

१ उपरिवत्, पृ० ३८।

२ We are aware of evanescent visitations of thought and feeling sometimes associated with place or person sometimes regarding our own mind alone and always arising unforeseen and departing unbidden Shelley *A Defence of Poetry* vide Lieder and Withington *The Art of Literary Criticism* (New York 1941) p 466

३ This great work (i e Milton s *Paradise Lost*) in fact is to be regarded as poetical only when losing sight of that vital requisite in all works of Art, Unity we view it merely as a series of minor poems

The Poetic Principle see Lieder and Withington *op cit*

४ सा० आ० अ० नि०, पृ० ४१।

'हृदय की कथा' कहता है। काव्य-द्वारा प्राप्त होनेवाली सहानुभूति के विषय में महादेवीजी ने कहा है कि "कोई पुष्पाहार बनाने का भार तो सहर्ष स्वीकार कर लेगा, परन्तु कण्टकहार बिना काँटा चुभाए पीड़ा दिए हुए ही उसकी कसक की तीव्र मधुर अनुभूति दूसरे तक पहुँचाने में समर्थ है।"[1] काव्यानुभूति में करुणा के करुण भाव ही नहीं, स्वप्नलोक का भी समन्वय होता है। यही मत 'नीरजा' द्वारा उद्भावित 'संसार' और 'स्वप्नलोक' का विरोध अथवा समन्वय मर्मस्पर्शी है ही, साथ ही यह छायावादी मनोवृत्ति का भी द्योतक बनता है। 'करुणा', 'पीड़ा', 'वेदना', 'तीव्रमधुर अनुभूति' आदि छायावादी काव्य एवं काव्यालोचन के लिए अनुपेक्षणीय शब्द हैं। इसी प्रकार स्वच्छन्दतावादी कवि कीट्स, शेली, बायरन की कविताओं में करुण स्वर का जो अतिरेक हुआ है वैसा किसी अन्य काव्यान्दोलन का नहीं। इन कवियों की मनोवृत्ति का प्रतिपादन कीट्स की इन पंक्तियों में होता है:

> Pleasure is oft a visitant; but pain
> Clings cruelly to us
>
> (*Endymion* I 906)

स्वच्छन्दतावादी कवि की यही सामान्य चित्तवृत्ति (मूड) होती है। अपनी अतिशय कोमल मृदु संवेदनशीलता और अनुपलब्ध आदर्शों के कारण वह सदैव क्षुब्ध, अतृप्त एवं मर्माहत रहता है। उसमें अश्रुत मधुर संगीत के प्रति आकर्षण रहता है।[2] उसमें उस सौंदर्य के प्रति अतिशय राग होता है जो नश्वर है।[3] सुख संतोष के मंदिर में ही अवसाद विषाद का पुण्यस्थान होता है।[4] इसलिए इस संसार में कोई सोचे विचारे भी तो क्या? यही कल्पना ही चित्तोद्वेग का

---

१ उपरिवत। द्रष्टव्य "जीवन के उष:काल में मेरे सुखों का उपहास सा करती हुई विश्व के कण कण से एक करुणा की धारा उमड़ पड़ी है ..." (यामा, पृ० १३, "अपनी बात")।

२ Heard melodies are sweet, but those unheard
Are sweeter (*Ode on a Grecian Urn* II)

३ She dwells with Beauty—Beauty that must die
(*Ode on Melancholy* III)

४ Ay, in the very temple of delight
Veiled Melancholy has her sovran shrine
(*Ibid*)

कारण बनता है।[1] इसी प्रकार यहाँ यह भी कह देना समीचीन जँचता है कि कीट्स ने महादेवी के पहले ही उपदेशात्मक काव्य का निम्नतर स्थान दिया था और कहा था कि दर्शन तो देवदूता के भी पखा को काट डालने की सामथ्य रखता ह।[2] महादेवीजी के मतानुसार अनुभूति बुद्धि स श्रेष्ठतर होती है, इसलिए अनुभूति स उदगत काव्य बुद्धि पर आश्रित दशन से श्रेष्ठतर होता है। इसी प्रकार 'यामा' की 'अपनी बात' म उन्होंने स्वीकार किया है कि वेदना उन्हें अत्यत मधुर लगती है और 'केवल' दुख ही गिनते रहना उन्हें बहुत प्रिय है।[3]

महादेवी की अन्य स्वच्छदतावादी धारणाएँ

जान कीटस के इस वचन म कि 'एक्सिअम्ज इन फिलासफी आर नाट एक्सिअम्ज अण्टिल द आर प्रूव्ड अपान आवर पल्सेज", अनुभूति का ही कीर्तिगान है। महादेवी के अनुसार भी 'कवि का वेदान्त ज्ञान जब अनुभूतिया से रूप, कल्पना स रग और भाव-जगत स सौंदर्य पाकर साकार होता है', तभी उसके सत्य म जीवन का स्पदन मिलता है, बुद्धि का तक शृखला नही।'[4] शेली न 'प्रमीथियस अनबाउण्ड' की भूमिका म उपदेशात्मक रचनाओं के प्रति अपनी घृणा ज्ञापित की है।[5] ए० सी० ब्रडले और आर० डब्ल्यू० इमसन जस समीक्षका न भी यह स्वीकार किया है कि कवि का लक्ष्य किसी का आदेश या उपदेश दना नहीं है। अद्यतन कविया और आलोचका मे सी० डे० ल्यूइस ने कवि का एक अत्यत सवेदनशील यत्र (अथवा उपकरण) माना है कोई नेतत्वक्षम व्यक्ति नहीं।[6] 'द पायटस टग' के प्राक्कथन म डब्ल्यू० एच० ऑडेन न स्पष्टत इस बात की घोषणा की है कि

---

१ Where but to think is to be full of sorrow
(*Ode to a Nightingale* iii)

२ Philosophy will clip an angel s wings
(*Lamia* ii 234)

३ यामा, प० १२ (अपनी बात)।

४ सा० आ० अ० नि०, प० ४२।

५ Dilactic poetry is my abhorrence nothing can be equally well expressed in prose that is not tedious and so supererogatory in verse

६ The poet is a sensitive instrument not a leader *A Hope for Poetry* 1936

'काव्य की ऊंची-ऊंची हिमालय श्रेणियों के बीच म गानिमुक्तक एक सान्द्र श्यामल मेघखंड है जो न उनसे दबकर टूटता है और न बंधकर रहता है, प्रत्युत हर शिखर से रसस्नात होकर उन्नत चोटियों का शृंगार बन जाता है और हर घाटी पर उड उड कर उस विशालता के कोने कोने म अपना स्पन्दन पहुँचाता है।'[1] स्वच्छंदतावादी अंग्रेज कवि इन उक्तियों का समर्थन करते क्योंकि उनके भी गीत आत्मनिवेदन मात्र और वैयक्तिक अनुभूति पर आश्रित होते हैं। उदाहरणार्थ, विशुद्ध साहित्यिक समीक्षा से महादेवी की निम्नलिखित पंक्तियों का संबंध अत्यल्प, किन्तु आत्मकथा रचना से अत्यधिक है

(१) दीपशिखा म मेरी कुछ ऐसी रचनायें संग्रहीत हैं जिन्हें मैंने रंगरेखा की धुंधली पृष्ठभूमि देने का प्रयास किया है। सभी रचनाओं को ऐसी पीठिका देना न संभव होता है और न रुचिकर अतः रचनाक्रम की दृष्टि से यह चित्रगीत बहुत बिखरे हुए ही रहेंगे। शैशव ही से मैं गीतों के संस्कार में पली हूँ। मां की भावभरी गीतांजलियां घर म जन्म आदि शुभ अवसरों पर गाई जानेवाली गीति कथायें परिचारकों के ऋतु पर्व आदि से संबद्ध 'रसनवाले लोक-गीत कलाविदों का ध्वनि-संगीत प्राचीन ज्ञान और साम्य द्रष्टाओं के वेद छन्द माधुर्य भरे संस्कृत और प्राकृत पद और पिछले अनेक वर्षों म सुने सहज ग्रामगीत, सभी के प्रति मेरा स्वाभाविक आकर्षण रहा है। इस गीत-परंपरा के संबंध म कभी विस्तार से कहने की इच्छा है। इस समय तो इतना ही पर्याप्त होगा कि मेरे गीत अध्यात्म के अमूर्त आकाश के नीचे लोक-गाथा की धरती पर पले है।[2]

(२) मेरा प्रत्यक्ष ज्ञान मेरी कल्पना के पीछे सदा ही हाथ बांधकर चलता रहा है इसी से जब रातदिन होने का प्राकृतिक कारण मुझे ज्ञात न था तब सन्ध्या से रात तक बदलनेवाले

---

१ दीपशिखा (इलाहाबाद, १९४२), पृ० २० ('चिंतन के कुछ क्षण")।

२ उपरिवत। इस प्रकार की पंक्तियों मे स्वच्छंदतावाद की जिस प्रवृत्ति का प्रतिफलन हुआ है उसे पाश्चात्य समीक्षक "नार्सिसिज्म" अथवा "लिटररी इगोटिज्म" कहेंगे। ब्लेक, रूसो, शाटोब्रियां, वर्ड्सवर्थ, बायरन, ह्यूगो प्रभृति रोमांटिकों म इस प्रवृत्ति का प्रचुर समाहार है।

आकाश के रंगो में मुझे परियों का दर्शन होने लगा था, जब मेघों के वर्षण का क्रम मेरे लिए अज्ञेय था, तब। उनके वाष्पतन में दिखाई देनेवाली आकृतियों का मैं नामकरण कर चुका था। और जब मुझे तारा का हमारी पृथ्वी से बड़ा या उसके समान होना बता दिया गया था तब भी मैं रात में अपने आँगन में 'आओ प्यारे तारे आओ, मेरे आँगन में बिछ जाओ' गा-गाकर उन महान् लोकों को नीचे बुलाने में नहीं हिचकिचाती थी। ।[1]

इन पंक्तियों में न किसी सिद्धांत का प्रतिपादन हुआ है और न नये निकष ही निर्मित हुए हैं। यहाँ न किसी कला-कृति की समीक्षा की गई है और न किसी कलाकार का वस्तुनिष्ठ परिचय ही प्रस्तुत किया गया है। यहाँ लेखिका का लक्ष्य 'आत्म निवेदन' प्रस्तुत करना है, कलाकारों और उनकी कृतियों का समीक्षण-परीक्षण प्रस्तुत करना नहीं है। परन्तु प्रमाता का लेखिका के बचपन से उतना ही संबंध है, जितना उस बचपन का ज्ञान उसकी कृतियों के कलात्मक तत्वों को प्रामाणित करने में समर्थ होता है। यह भी स्मरणीय है कि बचपन का गुणगान, बीते दिनों की याद और शैशव के निर्दोष जीवन के प्रति अगाध प्रेम रोमांटिक चित्तवृत्ति से उद्भूत माने गए हैं। जहाँ नव्यशास्त्रवादी कवि एवं समीक्षक शिशु को 'अविकसित पुरुष' (undeveloped adult) मानते थे, वहीं रोमांटिक कवि और समीक्षक शैशव में दिव्य गुणों का आरोपण करते हैं।[2] पोप ने ऐम्ब्रोज फिलिप्स की शैली को 'बालवीय' (इन्फेंटाइल) शैली कहा था और उसकी शावक-सदृश कविताओं तथा बालवत शैली के कारण लोग उसे नेम्बी-पेम्बी कहने लगे थे। यदि अठारहवीं शती में इंगलैंड का कोई कवि बच्चों के संबंध में लिखना चाहता था तो उसे मैथ्यू प्रायर की तरह लिखने का परामर्श दिया जाता था। अपने एक पत्र में जो Honourable Lady Miss Margaret-Cavendish-Holles-Harley के नाम लिखा गया था, प्रायर ने कवियों का पथ-प्रदर्शन करते हुए लिखा था

My noble lovely little Peggy
Let this my first epistle beg ye

१ यामा, पृ० ७ ("अपनी बात")।

२ James Sutherland *A Preface to Eighteenth Century Poetry* (Oxford 1950) p 3

At dawn of morn and close of even,
To lift your heart and hands to heaven
In double beauty say your pray'r,
Our father first then *notre pere*[1]

अठारहवीं शती के कवियों के विपरीत ब्लेक और वर्ड्सवर्थ की कितनी ही कविताएँ निर्दोष शैशव के गीत हैं।[2] इनमें बुद्धि जनित ज्ञान को निर्दोष बाल्यावस्था का शत्रु कहा गया है। इन्हीं भावों की प्रतिध्वनि कवयित्री के इन शब्दों में सुनाई पड़ती है

> किशोरता जीवन का वह वर्षाकाल है जो हर गड्ढे को भर कर धरती को तरल समता देना चाहता है, हर चीज को उगाकर धूल को हरा भरा कर देने के लिए आतुर हो उठता है। पर वह जड़ों को गहराई देने के लिए नहीं रुकता, तट बनाने को नहीं ठहरता। इसके विपरीत प्रौढ़ता उस शरद जैसी रहेगी, जो जल को तट देती है, पर सुखाकर रेत भी कर सकती है, अच्छे अंकुरों को स्थायित्व देती है पर छिछली जड़ों को भी गहराई दे सकती है। साधारणतः किशोर अवस्था में स्नेह के स्वप्न कोमल और जीवन के आदर्श सुन्दर ही रहते हैं—उनमें न वासना की उत्कट गंध स्वाभाविक है और न विकृत मनोवृत्तियों की पंकिलता।[3]

ध्यातव्य है कि ब्लेक, वर्ड्सवर्थ, कोलरिज और बायरन ने बाल्यावस्था तथा कौमार्य को वृद्धावस्था से श्रेष्ठतर घोषित किया था और जहाँ बुढ़ापे की विकृत मनोवृत्तियों में पंकिलता पायी थी, वहीं किशोरावस्था के स्नेह-स्वप्न में कोमलता के दर्शन किए थे। कोलरिज ने अपनी युवावस्था के संबंध में कहा है

Verse a breeze mid blossoms straying
    Where Hope clung feeding like a bee—

---

१ उपरिवत्, पृ० ४।

२ Songs of Innocence Cf Many of these writers were in fact rather too anxious to recapture the visionary gleam, the 'clouds of glory of the Heaven that lies about us in our infancy F L Lucas *Literature and Psychology* (1957) p 105

३ दीपशिखा, पृ० १९–२० ("चिंतन के कुछ क्षण")।

Both were mine ! Life went a maying
With Nature, Hope, and Poesy
When I was young !

(Youth and Age)

बुढ़ापे की निष्ठुरता और 'पंकिलता' से व्यथित हो बायरन विगत युवावस्था की कामना के लिए तड़प उठता है

O could I feel as I have felt or be what I have been
Or weep as I could once have wept o'er many a vanished scene—
As springs in deserts found seem sweet all brackish though they be
So midst the wither'd waste of life those tears would flow to me !

(Youth and Age)

"यामा" और "सप्तपर्णा" की 'अपनी बात' में महादेवीजी ने कहा है

(१) 'कितनी ही भिन्न परिस्थितियों में होने पर भी हम हृदय से एक ही हैं। जीवन की एकता का यह छिपा हुआ सूत्र ही कविता का प्राण है।

(यामा पृ० ११)

(२) "किसी कवि की कृति के अध्ययन के समय उसकी अनुभूतियों के साथ पाठक का जो तादात्म्य होता है, वह कभी पूर्ण, कभी अंशतः पूर्ण और कभी अपूर्ण हो सकता है। इस तादात्म्य की मात्रा के न्यूनाधिक्य पर केवल उसके अपने आनन्द की मात्रा का न्यूनाधिक्य निर्भर है ।'

(सप्तपर्णा पृ० ६६)

इनसे टॉलस्टाय के प्रभाव का या समचिंतन से उत्पन्न संयोग का आभास मिलता है। टालस्टाय के संप्रेषण-संबंधी सिद्धांत उनकी 'कला क्या है' शीर्षक पुस्तक में प्रतिपादित हैं। टॉलस्टाय के मतानुसार कला मूलतः कलाकार, दर्शक, श्रोता अथवा पाठक के हृदयों को समन्वित और समन्वित करने का साधन है। सच्ची कलात्मक अनुभूति का परिग्राहक कलाकार से इस प्रकार निबद्ध हो जाता है कि वह कलाकृति को अपनी ही रचना समझने लगता है। सच्ची कलाकृति ग्राहक की चेतना में उसके कलाकार के बीच के विभेद को नष्ट कर डालती है साथ ही उसमें और अन्य कलापारखियों में कोई अंतर नहीं रहने देती। कला

की सार्वगिकता ही इसको परखने के लिए एकमात्र कसौटी है। यह सार्वगिकता जितनी ही प्रबल होगी कलाकृति भी उतनी ही श्रेष्ठ होगी। इसलिए कलाकार में जब तक भावावेग की अभिव्यंजना के लिए प्रबल उत्कंठा अथवा तीव्र प्रेरणा न होगी तब तक उसकी कलाकृति उच्च कोटि की न होगी। अनुभूति के आवेग और तीव्रता पर ही कलाकृति की श्रेष्ठता और कलाकार की गौरव गरिमा निर्भर होती है। इसके साथ ही अनुभूति की विशिष्टता और अभिव्यंजना की प्रांजलता भी सम्पृक्त है।

महादेवी के कथनानुसार छायावाद के जन्म से प्रथम कविता के बंधन सीमा तक पहुँच चुके थे और सृष्टि के बाह्याकार पर इतना अधिक लिखा जा चुका था कि मनुष्य का हृदय अपनी अभिव्यक्ति के लिए रो उठा।[1] रोमांटिक कविता का अवतरण भी ऐसी ही परिस्थिति में हुआ। आभिजात्यवादी काव्य में बंधन एवं अनुशासन को स्वीकृति दी गई थी, रूप तत्त्व (फार्म) पर बल दिया जाता था और अभिव्यक्ति में सौष्ठव को आदर्श बनाया गया था। कवि हृदय अपनी अनुभूतियों को वाणी देने के लिए उत्कंठित हो उठा। नव्यशास्त्रवाद में मानवों की सीमाओं का समर्थन था और स्वच्छंदतावादी के समर्थक उनकी संभावनाओं की अनंत अपार कहने लगे। नव्यशास्त्रवादी मनुष्य को उस मौलिक दोष (ओरिजिनल सिन) से युक्त मानता था जो ऐडम और ईव द्वारा की गई अवज्ञा का परिणाम है। चूँकि सम्पूर्ण मानव जाति अपने आदि-पूर्वजों में वर्तमान थी उनके पाप इमारी सूक्ष्म धमनियों में आज भी वर्तमान है। इस मनोवृत्ति के विपरीत स्वच्छंदतावादी मानव की अपरिमित एवं दुर्दमनीय संभावनाओं का समर्थन करता है। जहाँ आभिजात्यवादी दृष्टिकोण मनुष्य को मूलतः पापी कहता था वहाँ स्वच्छंदतावादी उसे मूलतः निर्दोष घोषित करता है। फ्रांस की राज्यक्रांति से प्रेरणा ग्रहण करने के कारण उन्नीसवीं सदी की रोमांटिक चिंतन धारा ने रूसो के 'नोबल सैवेज' में विवक्षित मूल स्थान सिद्धांत को स्वीकार किया है और कहा है कि मनुष्य को स्वच्छंदता स्वभावतः प्रिय होती है।

रामधारी सिंह 'दिनकर' (१९०८-)

एजरा पाउंड और एलियट का प्रभाव

अभिव्यक्तिगत आत्म संयम-प्रधान वस्तुन्मुख परिपक्व मान एवं निर्मम गुण-दोष विवेचन का जैसा परिष्कार दिनकर की सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक समी-

---

१ यामा पृ० ११।

स्राओं म मिलता है, वैसा पाश्चात्य समीक्षका म हर्बट रीड, एम्पसन, विल्सन नाइट प्रभृति लेखका की रचनाओं म ही दृष्टिगत होता है। दिनकर की व्यावहारिक समीक्षाओं न यह सिद्ध कर दिया है कि कवि म अन्तर्हित समीक्षक केवल अपनी ही रचनाओं पर मार्मिक आलोचनाएँ लिखने म सफल नहीं होता वह वस्तुनिष्ठ भी हो सकता है और अपने समसामयिकों की उपलब्धियों पर वर्गों ही वस्तुगत, स्वस्थ निष्पक्ष एव सतुलित आलोचना लिख सकता है जैसी प्राचीन साहित्यकारों की रचनाओं पर। शास्त्रीय समीक्षा एव परपरानुयायिता के समर्थक भले ही यह न मानें कि कवि-आलोचक उन आलोचकों स श्रेष्ठ होता है जो कवि नहीं होते, पर यह सर्वमान्य है कि सृजन-प्रक्रिया के रहस्यों का उद्घाटन जितना कवि की समीक्षात्मक रचनाओं म होता है उतना अन्यत्र कहीं नहीं। दिनकरजी इस सृजन प्रक्रिया से ही नहीं, साहित्य-समीक्षण के मर्म स भी बहुविध अवगत हैं और जानकीवल्लभ शास्त्री के लिए प्रयुक्त उन्हीं के ही शब्दों में हम कह सकते हैं कि 'उनके निबंधों म आलोच्य कवि की कला अथवा कौशल का जैसा रहस्य खुलता है वैसा चमत्कारपूर्ण रहस्योद्घाटन हिन्दी की आलोचनाओं म कम ही हो पाता है।'[1] वे बेन जानसन के इस कथन स सहमत होंगे कि कवियों का सच्चा मूल्याकन कवि ही कर सकते हैं—वह भी ऐसे-वैसे कवि नहीं, प्रत्युत प्रवीण एव उच्च कोटि के कवि ही।[2] जानकीवल्लभ शास्त्री रचित 'साहित्य-दर्शन' के मूल्याकन के क्रम म उन्होंने कवि-आलोचकों के सबंध म अपनी मान्यताओं का उल्लेख किया है और कहा है

> कविता की आलोचना भी कविता की ही तरह विज्ञान न होकर शुद्ध साहित्य है तथा किसी भी गुरु के लिए यह सभव नहीं है कि वह अपने शिष्यों म काव्यालोचन की शक्तियाँ मनमाने ढग स भर दे। कवि का सच्चा आलोचक वही व्यक्ति हो सकता है जिसम काव्यानन्द के उपभोग की पूरी क्षमता हो जो कवि की उस मनोदशा म प्रवेश पा सके जिसम रहकर उसने आलोच्य कविता की

१ 'हिमालय', अप्रैल १९४६, पृ० ८४।

२ "टू जज ऑव पोयटस इज आल्ली द फैकल्टी ऑव पोयटस, एण्ड नाट ऑव ऑल पोयटस, बट द बेस्ट। (Nemo infaelicius de Poe[illegible] judicavit quam qui de Poetis scripsi) टिम्बर, और डिस्कवरीज। देखिए जे० ई० स्पिंगान, 'क्रिटिकल एसेज ऑव द सेवेटीन्थ सेन्चुरी' (१९५७), भाग १, पृ० ५७।

रचना की है। सच्ची आलोचना केवल नीर क्षीर की विवेचना नहीं प्रत्युत उन समग्र कौशलों का विश्लेषण है जिनके द्वारा काव्य में चमत्कार उत्पन्न किया जाता।[1]

दिनकरजी आलोचक को भी सर्जक और उच्च कोटि का भावक मानते हैं। आलोचक काव्यमर्मज्ञ ही नहीं उच्च कोटि का ऐसा साहित्य स्रष्टा होता है जो 'आलोचना के जरिये पाठकों के आनंद की वृद्धि' करता है। वस्तुतः 'काव्य के संबंध में चर्चा सभी तरह के लोग किया करते हैं किंतु काव्य की उच्चतम कोटि की आलोचनाएँ केवल उन्हीं लोगों ने लिखी हैं जो स्वयं कवि थे।'[2] इन स्थलों पर दिनकरजी पाउंड और एलियट से प्रभावित जान पड़ते हैं। आधुनिक युग में, पश्चिम में कवि-आलोचक का सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि एजरा पाउंड हुआ है जिसके साक्ष्य के अनुसार हमें उन लोगों की समीक्षा पर ध्यान देना उचित नहीं जिन्होंने एक भी स्मरणीय कृति की रचना नहीं की। पाउंड द्वारा प्रवर्तित परंपरा का अनुसरण ऐलन टेट जान क्रो रैन्सम एलियट प्रभृति कवि आलोचकों ने किया है।

यद्यपि दिनकरजी ने अपने मत की पुष्टि के लिए कोलरिज और स्विनबर्न आर्नल्ड और एलियट का संकेत किया है जो अत्यंत प्रत्ययकारी है फिर भी इनमें वे अधुनातन समीक्षक एलियट के ही सर्वाधिक समर्थक दीखते हैं। माइकेल रावर्ट्स के इस कथन को वे अपूर्ण कहेंगे कि "आलोचक का पहला कर्त्तव्य न प्रशंसा करना है न गर्हणा उसका कर्त्तव्य है कवि के भावार्थ एवं रचना-कौशल का स्पष्टीकरण एवं विशदीकरण।"[3] इसके विपरीत 'द पोयटिक इमेज' के लेखक सी० डे० लूइस की यह धारणा उन्हें स्वीकार्य होगी कि कविता के प्रति हमारी संवेदनाओं को सुगम व्यापक अथवा गंभीर बनाना ही समीक्षक का कर्त्तव्य है। इस कार्य को सम्पन्न करने के कितने ही ढंग हैं, किंतु कोई भी समीक्षात्मक पद्धति इस कार्य को तब तक संतोषप्रद ढंग से पूरा नहीं कर सकती जब तक समीक्षक में कविता और पाठक के प्रति श्रद्धा न हो।[4] ऐसा प्रतीत

---

१ 'हिमालय', अप्रल १९४६, पृ० ८४।

२ उपरिवत, पृ० ८५।

३ 'द क्रिटिक्स फर्स्ट ड्यूटी इज नाइदर टु कंडेम नार टु प्रेज, बट टु एल्युसिडेट टेक्नीक एण्ड मीनिंग'। 'अ क्रीटीक ऑव पोयट्री' (१९३४)।

४ "द क्रिटिक हैज वन प्री एमिनेण्ट टास्क—द टास्क ऑव ईजींग ऑर वाइडनिंग आर डीपनिंग आवर रेसपान्स टु पोयट्री। देयर आर, ऑव

होता है कि दिनकरजी कतिपय अन्य कवि-आलोचकों एवं सौष्ठववादी समीक्षकों की तरह आर्थर सायमन्स से भी प्रभावित हैं। इस कारण जहाँ उन्होंने 'विश्लेषण' और 'नीर-क्षीर विवेचन' पर एलियट की भाँति बल दिया है वहाँ सायमन्स, पेटर आदि की तरह 'सरसता', समीक्षक में 'काव्यानन्द में उपभोग की पूरी क्षमता', 'पाठकों में आनन्द-संचार' आदि पर भी जोर दिया है। क्वचित् कदाचित् दिनकर के कवि ने समीक्षक की इन मान्यताओं को प्रभावित किया है।

"साकेत" पुनरुत्थान और दिनकर

दिनकरजी का पाश्चात्य भाषा साहित्य ज्ञान गम्भीर एवं व्यापक है। वे पश्चिम की प्रमुख साहित्यिक एवं ऐतिहासिक विचारधाराओं से अवगत हैं[1] परंतु इनमें भी सर्वाधिक स्वच्छंदतावाद से जिसका सर्वप्रथम उन्मेष उस नव-जागरणयुगीन मानवतावादी चिंतन में हुआ था जिसका सर्वोत्कृष्ट रूपांकन पेट-राक, बुकेचियो, लियोनार्डो द विंची, वीवे वाटिचेली, मार्लो एवं शेक्सपियर की रचनाओं और चित्रों में होता है। 'साकेत' में नवयुग का प्रतिबिंब देखते हुए उन्होंने कहा है 'शंबूक का वध कराते समय आदिकवि के हृदय में द्विधा

क्रोस, मेनी वेज आव पर्फामिंग दिस टास्क। बट नो क्रिटिकल मेथड विल सटिस्फैक्टरीली पर्फार्म इट, इफ देयर इज नाट रेसपेक्ट बोथ फौर द पोयम एण्ड एण्ड फौर द रीडर।" सी० डे० लूइस, द पोयटिक इमेज, १९४७ (दे० क्लाइव सान्सम, द वल्र्ड ऑव पोयट्री, लंदन, १९५९, पृ० १५८)

१ दे० 'शुद्ध कविता की खोज' (उदयाचल, पटना, १९६६) में पश्चिम के अद्यतन साहित्यिक वादों का सूक्ष्म गंभीर विवेचन। इस ग्रंथ में प्रभाववाद, अतिप्रथार्थवाद, प्रतीकवाद, अभिव्यंजनावाद आदि का तथ्यपरक प्रामाणिक विवेचन हुआ है। लगता है, 'शुद्ध कविता की खोज के लेखक में आलोचक की नैसर्गिक प्रतिभा तो है ही, वह पाश्चात्य वाङ्मय में उतना ही व्युत्पन्न है जितना हिंदी साहित्य में। (यहाँ "अद्यतन" का प्रयोग जान बूझकर किया गया है। "नयी कविता का आन्दोलन यूरोप में लगभग सौ वर्षों से चल रहा है। आश्चर्य की बात यह है कि वह अब भी पुराना नहीं पड़ा है। उसके भीतर से बराबर नये आयाम प्रकट होते जा रहे हैं, बराबर नयी चिनगारियाँ छिटकती जा रही हैं।" शुद्ध कविता की खोज, पृ० ५, भूमिका), काव्य की भूमिका (पटना, १९५८), पृ० १०५ ११७।

या करुणा नहीं जगी और चूंकि कवि का हृदय अविचलित रह गया इसलिए उसके पात्र में भी हिचकिचाहट नहीं आयी।'[1] उनके मतानुसार कवि का वैयक्तिक जीवन-दर्शन उसके पात्रों के विचारों और गति-विधि में प्रतिफलित होता है, उनके विचारों और गतिविधि को संचालित करता है। कवि के भाव युग से पोषित, समर्थित और गृहीत होते हैं। युग-स्रष्टा एवं विचारक भाव-जगत में क्रांति घटित करते हुए युग को नया दर्शन एवं नयी दृष्टि देते हैं। इस दर्शन और दृष्टि से कोई भी सत्कवि बच नहीं सकता। वाल्मीकि और भवभूति अपने युग की मान्यताओं से उतना ही प्रभावित थे, जितना आधुनिक युग में मैथिलीशरण गुप्त और प्रसाद भारतीय पुनरुत्थान, छायावाद एवं नवयुग की मान्यताओं से प्रभावित हैं। नवयुग की मान्यताओं पर पश्चिम के बुद्धिवाद, विज्ञानादि का प्रभाव पड़ा। इनसे स्वामी दयानंद प्रभावित हुए और दयानंद से—उदाहरणार्थ—गुप्तजी।

चूंकि आलोचक दिनकर का भारतीय पुनरुत्थान यूरोपीय 'रेनैसांस' की ही भारतीय प्रतिकृति है, इसलिए गुप्तजी पर लिखी गई उनकी समीक्षा मैथ्यू आर्नाल्ड पर लिखी गई समीक्षा सी लगती है। भारतीय पुनरुत्थान का विश्लेषण यूरोपीय रेनैसांस की विशेषताओं को ध्यान में रखकर किया गया है। दोनों आंदोलनों में निस्संदेह प्रचुर साम्य दीखता है। दोनों में बुद्धि की स्वतंत्रता और प्रवृत्ति-मार्ग की उद्घोषणा है तथा पौराणिक एवं मध्यकालीन संस्कारों का बहिष्कार। दोनों ने मध्ययुगीन निवृत्तिवादी दर्शन के अंधकार पर प्रकाश के बाण बरसाये, लोक को सत्य सिद्ध किया, कर्मठता की शिक्षा दी और परलोक की कल्पना में ग्रस्त रहनेवाले व्यक्तियों की उपेक्षा की। इसी अपूर्व साम्य के कारण जब दिनकरजी भारतीय पुनरुत्थान की विशेषताओं को प्रोद्भासित करने लगते हैं, तब ऐसा प्रतीत होता है कि वे यूरोपीय नवजागरण के वैशिष्ट्य का ही उद्घाटन कर रहे हैं।[2] उन्होंने जिस मूल प्रतिमान से ('कवि की रचनाओं में

---

1 दिनकर, 'पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण' (पटना, १९६५), पृ० ११।

2 "शूद्रों और नारियों के प्रति समाज में जो सम्मान के भाव जगे हैं, उनके कुछ मूल कारण पश्चिमी जगत के प्रजातांत्रिक विचारों एवं उदार भावनाओं के आयात भी हैं। किन्तु, विशेषतः, नारियों के प्रति देश में जो औदार्य जाग्रत हुआ, उसकी प्रेरणा बुद्धि की स्वतंत्रता एवं प्रवृत्ति के उत्थान से ही आयी है। प्राचीन नैतिकता ने जब अपना आसन सौंदर्य-बोध के लिए रिक्त कर दिया, तब नारियों का सम्मान किसी के भी रोके नहीं रुक सकता

उनके युग और उनके विश्वासों एवं धारणाओं का मूर्त प्रतिबिम्ब होता है')। गुप्तजी के 'साकेत' को आंका है, उससे हम उनके विचारों को भी, कुछ हद तक परख सकते हैं। यदि वे साम्प्रतिक मानवतावाद से प्रभावित न होते तो 'साकेत' की समीक्षा में मानवतावादी पुनरुत्थान एवं यूरोपीय नवजागरण पर इतना बल न देते (चूंकि उनके ही शब्दों के आधार पर समीक्षक का हृदय नव जागरण के मान-मूल्यों से विचलित हो गया, इसलिए उसकी समीक्षा में भी इस पर इतना बल आ गया)। वस्तुतः 'साकेत' के इसी पक्ष पर—मानवतावाद और इसमें पायी जानेवाली पुनरुत्थान की प्रवृत्तियों पर—अधिक जोर दिया गया है और एक स्थल पर कहा गया है 'भारत के इतिहास में आर्यों के आगमन, बुद्ध के आविर्भाव और मुसलमानों के आगमन का जो महत्त्व है उन्नीसवीं सदी के सांस्कृतिक जागरण का उन सबकी अपेक्षा कुछ अधिक महत्त्व माना जाना चाहिए।'[2] इन पंक्तियों में लेखक उन्नीसवीं सदी के उस सांस्कृतिक जागरण का स्तवन कर रहा है जिस पर पाश्चात्य बुद्धिवाद एवं भौतिकता के गंभीर प्रभाव लक्षित होते हैं। पाश्चात्य नवजागरण की विशेषताओं का उन्होंने बड़ा ही विशद वर्णन उपस्थित किया है

> स्वर्ग और नरक की कल्पना के निस्सार होने से अमरता की इच्छा इसी भूमि पर अनंत काल तक टिकनेवाली कीर्ति की कामना बन गयी। साहित्य में साहित्यकार के व्यक्तित्व की खोज की प्रवृत्ति इसी कीर्ति-कामना का परिणाम है। मध्यकालीन नैतिकता के पीछे अतिप्राकृत (सुपरनेचुरल) विश्वासों का बल था। उस बल के क्षीण होते ही नैतिकता के रूप में परिवर्तन आने लगा। फिर भी, समाज का जो भाग ईश्वर, स्वर्ग और नरक में विश्वास करता था मुख्यतः उस जनता के भय से भारत में अनैतिकता की वह बाढ़ नहीं आयी जो रेनेसां आन्दोलन के बाद इटली में आयी थी।
>
> इटली में 'रेनेसां' के बाद अचानक धन में भी वृद्धि आयी और धन की वृद्धि से अनैतिकता को प्रोत्साहन मिलने लगा। समाज का जो वर्ग सबसे अधिक सुखी था वहां बुद्धिवाद का विकास भी उसी के

था। इस कथन का सबसे अधिक समर्थन भारतीय पुनरुत्थान के मुख्य कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविताओं में मिलेगा, जहां कवि ने नारियों की पूजा उनके सौंदर्य के कारण की है।' उपरिवत पृ० ६।

२ उपरिवत, पृ० १२।

दीप्त हुआ था। जब भीतर आनन्द भावन की उद्दाम इच्छा और बाहर से युग के सभी साधन उपलब्ध थे। तब विस्मय ही व्याप्त होगा जो समय के उत्पन्न न, स्पष्ट न हो। रासो के समय इटली में सम्भव होता न था यहाँ किया।[1]

जहाँ दिनकर ने "प्रकृति के उत्थान" के परिणामों का वर्णन किया है वहाँ वे फाउस्ट (फॉस्टस) की बहुश्रुत कथा का स्मरण किया है। मार्लो के टम्बर्लेन तथा डाक्टर फॉस्टस ने जो नवजागरण की मानवतावादी प्रवृत्तियों के मूर्त रूप हैं वैसी ही औत्सुक्यजन्य प्रसन्नता और उद्दाम कामना-कामना का परिचय दिया है जिसका उल्लेख कविवर दिनकर ने किया है। उन्होंने कहा है ' नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया' यह भारतीय पुनरुत्थान का सबध नहीं लिखा है। भारत में इस भक्ति की धारा भी पुनरुत्थान के साथ अथवा उसकी पीठ पर आयी थी।[2] यूरोपीय नवजागरण की भी यही स्थिति थी और यूरोप में भी इस जागरण के फलस्वरूप इस भक्ति का प्रचड उन्मेष हुआ था।

फोर क्वाटर्स

दिनकरजी भारतीय पुनरुत्थान को एक स्वतंत्र प्राच्य आन्दोलन के रूप में विवेचित नहीं करते। वे उस पर पड़नेवाले प्रतीच्य बुद्धिवाद विज्ञान मनो-विज्ञान के प्रभावों पर भी दृक्पात करते हैं। इतना ही नहीं, वे इसी सदर्भ में यूरोपीय नवजागरण की भी विशद व्याख्या प्रस्तुत करते हैं, जो अत्यत प्रामाणिक एव विश्वसनीय है और जो नवजागरण के विवेचकों की रचनाओं से निचोड़ा और काल्क्रम से आत्मसात् किया हुआ जान पडता है। अन्यत्र उनकी इस धारणा के मूल में कि वर्तमान सदैव अतीत पर नया प्रकाश फेंकता है और इसी प्रक्रिया के कारण अतीत का जीवित अश बराबर वर्तमान के साथ रहता है[3] एलियट की वे परपरा-सबधी मान्यताएँ व्यजित होती हैं जिनकी अभिव्यक्ति उसके 'ट्रेडिशन एण्ड दि इण्डिविजुअल टलेण्ट' में हुई है। 'चक्रवाल' की समीक्षा में उन्होंने एलियट की उन पक्तियों को उद्धृत किया है जिनका गद्य रूपातर उप-युक्त पक्तियों में मिलता है :

---

१ पत, प्रसाद और मथिलीशरण, पृ० ४।
२ उपरिवत, पृ० १५।
३ उपरिवत, पृ० १२।

Time present and Time past
Are both perhaps present in time future
And time future contained in time past

चूंकि एलियट की ये पंक्तियाँ पर्याप्त लोकप्रियता पा चुकी हैं दिनकरजी ने यह नहीं कहा कि इनसे ही एलियट के "फोर क्वाटट्स" के प्रथम खंड का, जिसका शीर्षक बर्न्ट नॉर्टन है आरंभ होता है। इस बात पर दिनकरजी एलियट की अपेक्षा अधिक बल देते हैं कि कवि की काव्यगत विचार धारा युग से प्रभावित होती है। एलियट भी युग के—अतीत और वर्तमान के—प्रभाव को स्वीकार करता है, परंतु साथ ही वह अनुभूति के वैशिष्ट्य को भी महत्त्व देता है। कवि की भाव धारा और अनुभूति को जन्मान्तरीय संस्कार उसके चेतन अचेतन में वर्तमान ज्ञात-अज्ञात अनुभूतियाँ जो उसकी भी हैं और संपूर्ण जाति की भी तथा उसकी दमित एवं अतृप्त वासनाएँ सबकी सब प्रभावित करती हैं। गुप्तजी की नारी भावना केवल पुनरुत्थान से प्रभावित और तज्जन्य मानवतावाद से उद्भूत नहीं है। उस भावना के निर्माण में कवि की निजी अनुभूतियाँ भी रही होंगी जिनके सम्यक् विश्लेषण और प्रकाशन की अपेक्षा है। स्वयं दिनकरजी ने 'कामायनी दोषरहित दूषणसहित' में यह स्वीकार किया है कि 'कविता की रचना के पीछे स्मृति का बहुत बड़ा हाथ होता है। कल्पना अपनी सारी सामग्रियाँ स्मृति के कोष में से चुनती है।'[1]

दिनकरजी के निम्नलिखित कथन ध्यातव्य हैं

(क) शंबूक का वध कराते समय आदिकवि के हृदय में द्विधा या करुणा नहीं जगी और चूंकि कवि का हृदय अविचलित रह गया इसलिए उसके पात्र में भी हिचकिचाहट नहीं आयी।

(पंत प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ० ११)

(ख) राम का रूप उन्होंने वैसा ही अंकित किया जैसा उनका युग चाहता था।

(पृ० १३)

(ग) 'सुख शांति हेतु मैं क्रांति मचाने आया' के भीतर से स्वाधीनता-संघर्ष का औचित्य ध्वनित होता है।

(पृ० १५)

---

१ उपरिवत, पृ० ८३ ८४।

(घ) पुरस्कारों की प्रेरणा से शान्ति होकर कवि ने उर्मिला को अपनी सहानुभूति दी तथा उसके व्यक्तित्व को उजागर करने का प्रयास किया।

(पृ० २१)

एलियट ने आरम्भ में माना था कि कवि की निजी अनुभूतियाँ युग का प्रतिनिधित्व करने में बाधक होती हैं किंतु उन्हें यह विचार बदलना पड़ा। 'ट्रेडिशन एण्ड द इंडिविजुअल टैलेंट' में उन्होंने स्वीकार किया है कि महाकवि अपनी वैयक्तिक और कलागत आवश्यकताओं की पूर्ति करने के साथ ही समाज का भी समर्थन और पोषण करते हैं। इसी मतवाद की अभिव्यक्ति उनके दवारा डब्ल्यू० बी० येट्स में की है परंतु यह भी कहा है कि कवि विचित्र संयोग से अपने सामयिकों के दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति करता है साथ ही यह अपनी उस निजी मनोदशा (मूड) को भी अभिव्यक्त करता है जो उसके सामयिकों की मनोदशा से सर्वथा भिन्न होती है। उदाहरणार्थ—जब येट्स आत्माभिव्यक्ति के कौशल में पारंगत हुआ तब उसने भावना की भी सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्ति की। दिनकरजी के अनुसार पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण ने भी अपने काव्य में यही किया है। पंत पर समाजवाद, प्रगतिवाद एवं अरविन्द-दर्शन का, प्रसाद पर छायावाद का और गुप्तजी पर पुनरुत्थान का गंभीर प्रभाव पड़ा है जो उनकी कविताओं में नानाविध प्रतिफलित हुआ है। परंतु प्रभाव-ग्रहण से ही ये कवि संतुष्ट नहीं होते। उन्होंने इन 'वादों' और दर्शनों को अपनी अनुभूतियों के आलोक में समाधित किया है और नये जीवन-दर्शन की प्रतिष्ठा की है।

दिनकरजी द्वारा स्थापित कतिपय मान्यताएं प्रगीत काव्य या सॉनेट के पात्रों पर भले ही सटीक उतरें परंतु जहां तक नाटकीय पात्रों का संबंध है वे उपयोगी नहीं दीखतीं। ड्रैमेटिक मोनोलाग्ज में, नाटकों में पात्रों का आचरण नाटककार की वैयक्तिक अनुभूतियों पर आश्रित नहीं होता। कुशल कवि और नाटककार अपनी अनुभूतियों से विचलित हुए बिना भी कल्पना और कला से अपने पात्रों में उन अनुभूतियों का आरोपण करते हैं जो पात्रों की अनुभूतियाँ होती हैं—न युग की, न नाटककार अथवा कवि की। रोमांटिक विचार धारा कविता और उसके पात्रों में कवि के व्यक्तित्व की प्रतिच्छाया खोजती है और उसको विश्वास रहता है कि कविता में कवि की निजी अनुभूतियाँ ही उद्गीत होती हैं। ऐसे ही समीक्षक स्विफ्ट के 'गलीवर्स ट्रेवेल्स' में गलीवर को स्विफ्ट मान लेते हैं। परंतु नाटकों का अथवा नाटकीय रचनाओं का विशिष्ट साहित्यिक

किया के रूप में स्वीकार करना चाहिए न कि कवि के जीवन-वृत्त अथवा आत्म-कथा के रूप में। कवि, नाटककार और उपन्यास-लेखक ऐसे जीवित पात्रों की सृष्टि करने में समर्थ होते हैं जिनके विचार और अनुभूतियाँ काव्य की आवश्यकताओं से नियंत्रित होती हैं न कि कवि के वैयक्तिक विचारों और अनुभूतियों से। एलियट के अनुसार कविता में कभी-कभी कवि हृदय की उन अनुभूतियों की व्यंजना नहीं होती, जो उसके लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण होती हैं और कभी इनके स्थान पर ऐसी अनुभूतियाँ व्यंजित हो जाती है जिनका उसके व्यक्तित्व में बड़ा ही नगण्य स्थान रहता है।[1]

"मोडस आपरेण्डी"

दिनकरजी की व्यावहारिक समीक्षा को अच्छी तरह परखने के लिए यह आवश्यक है कि हम उनकी उस 'मोडस ऑपरेण्डी' को—उनकी कार्य-पद्धति को—भली भाँति समझ लें, जो उनकी व्यावहारिक समीक्षाओं में अन्तर्भूत है उनका आधार है। सबसे पहले वे आलोच्य लेखक अथवा कवि की ऐतिहासिक पीठिका का वर्णन करते हैं तदुपरि उस पर दृष्टिगत प्रमाणों का आकलन और अन्तत उसके जीवन-दर्शन का विवेचन उपस्थित करते हैं। वे इस बात का अनुसंधान करते हैं कि आलोच्य कवि प्रवृत्तिवादी है अथवा पलायनवादी और उस पर किस ऐतिहासिक 'वाद' या प्रवृत्ति का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा है। इन प्रवृत्तियों का वर्णन भारतीय विचार सरणियों तक ही सीमित नहीं रहता। सभी भारतीय वादों और प्रवृत्तियों को पश्चिम के समानान्तर आन्दोलनों और दर्शनों से—भारतीय नवोत्थान को रेनेसाँस से, छायावाद को रोमांटिसिज्म से तथा अरविन्द-दर्शन को नीत्से एवं 'हिस्टोरिकल मटीरियलिज्म' से सुशृंखलित किया गया है। 'कामायनी' के समीक्षण-क्रम में उन्होंने छायावाद की विशेषताओं का तथा, परोक्षत, रोमांटिसिज्म का वैसा ही वर्णन प्रस्तुत किया है, जैसा पुनरुत्थान के मिस यूरोपीय नवजागरण का। वस्तुत इन सभी वैचारिक आन्दोलनों में तात्त्विक साम्य है जिसके फलस्वरूप एक के वर्णन से दूसरे का अल्पाधिक आभास होता है।

दिनकरजी का अध्ययन अंग्रेज कवियों और आलोचकों तक ही सीमित नहीं है और न उनका समीक्षक युग विशेष की प्रवृत्तियों को ही सत्समालोचना के लिए अलम समझता है। उनकी सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक समीक्षा से यह

---

१ सिऐन लूसी कृत 'टी० एस० एलियट एण्ड द आइडिया ऑव ट्रेडिशन' (लंदन, १९६०) में उद्धृत, दे० पृ० ९९।

स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने फ्रांस, स. और जमन लेखकों का भी सवात्मना सतोषजनक अध्ययन किया है और इनमे कुछ के सबध मे उनका मान स्पहणीय है।[1] उन्होंने कितने ही स्थलो पर नी.त्से और बादलेयर को सकेतित किया है, एकाध स्थल पर आइसटाइन के सापेक्ष्यवादी सिद्धात का भी उल्लेख किया है और 'विचारक कवि पत' म मार्क्सवादी प्रयोगो तथा सिद्धातो का विवरण उपस्थित किया है। अगरर्ज। स्वच्छदतावादी कवियो म वे वड स्वथ और कीटस से सर्वाधिक प्रभावित दीखत हैं। उनका यह कथन कि "कविता की रचना के पीछे स्मति का बहुत बडा हाथ होता है आधुनिक मनोविज्ञान स उतना प्रभावित नहा है जितना इमाटलिटी ओड, टिनटन ऐबी' तथा द प्रिल्यूड जसी कविताओ क रचयिता वड स्वथ के इस कथन स कि प्रशान्त क्षणो म सस्मत आवगो ('इमोशन रिकलक्टेड इन ट्रांक्विलिटी') का ही कविता की सना देते हैं।

स्पेण्डर, रिचड स, रिल्के और मलार्मा

आधुनिक युग म स्टीफेन स्पेंडर, आई० ए० रिचड स डेविड कम्पबेल और आर० एम० रिल्के आदि न म। सजन प्रक्रिया म स्मति के योगदान का स्वीकार किया है। स्पडर के अनुसार स्मति कारयित्री प्रतिमा का मूलाधार है—मेमरी इज द रूट आव क्रिएटिव जीनियस। इससे कवि प्रेरणा के तात्कालिक क्षण (इम्मीडिएट मामेण्ट) का अतीत के उन क्षणो से सयाजित करता है जिनम उसन ऐसे ही प्रभाव ग्रहण किए थे। एक कवि की स्मृति की विशेषताए और उसके प्रयोग के ढग उसे दूसरे कवि से पथक करत हैं। मुख्यत स्मति क दो प्रकार है एक को हम प्रत्यक्ष और चेतन तथा दूसर को परोक्ष और अचेतन कह सकत हैं। रिचड स के अनसार कवियो का हम उनकी अचेतन स्मति की अपेक्षाकृत अधिक सम्पन्नता और सयवक शक्ति ('असोशिएटिव पावर') के द्वारा अन्य व्यक्तियो से पथक करत हैं। जैसा द बुलेटिन म डेविड कम्पबेल ने कहा है स्मति ही कल्पना के लिए पोष्य सामग्री एकत्र करती है। स्मति के सबध म रिल्के ने कहा है कि स्मतियां ही सब-कुछ है। जब व हमारी अन्तश्चेतना म लहू बन जाती है और जब वे हमारी दष्टि और हावभाव म परिणत होकर हमम एकीकृत हो जाती हैं, तभी एक अत्यत बहुमूल्य क्षण म,

---

१ शुद्ध कविता की खोज मे "विभिन्न भाषाओ की प्रवत्तियाँ", "शुद्ध कविता का इतिहास" आदि अध्याय देखिए।

२ उदाहरणार्थ, "पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण" के पृष्ठ ६१ पर।

उन ध्वनियों के बीच, कविता का पहला शब्द उच्छलित हो उठता है।

दिनकरजी काव्यगत सत्य को वैज्ञानिक एवं तार्किक सत्य से भिन्न मानते हैं। इस संदर्भ में उन्होंने कीट्स रचित 'द ईव ऑव सेंट एगनेस' नामक खंडकाव्य का उल्लेख किया है और कीट्स की यह उक्ति उद्धृत की है कि 'कल्पना जिसे सौन्दर्य समझती है वह सत्य भी होगा, भले ही वस्तु जगत् में उसका अस्तित्व न हो।'[1] यदि वे चाहते तो कीट्स की उस कविता की ओर भी संकेत कर सकते थे जिसमें कीट्स ने चैपमैन-द्वारा अनूदित होमर के काव्य के अध्ययन से उत्पन्न अपनी प्रतिक्रियाओं का रूपांकन किया है। इसमें की गई भूल भी इस कविता की सौंदर्य-गरिमा को कम नहीं करती, जिससे स्पष्ट है कि कवि की विचार और भाव-संबंधी भूलों का उतना महत्त्व नहीं जितना उसके द्वारा सर्जित काव्य और सौंदर्य का है।

"कविता केवल विचार और भाव को लेकर सफल नहीं होती। सफल वह तब होती है जब भाव और विचार अनुकूल भाषा में, अनुकूल ढंग से व्यक्त होते हों। **कविता का अंतिम विश्लेषण उसमें प्रयुक्त भाषा का विश्लेषण है, कविता का चरम सौंदर्य उसमें प्रयुक्त भाषा की सफाई का सौंदर्य है।**"[2] इन शब्दों में मलार्मे की यह उक्ति ध्वनित हो रही है कि कविता भावों से नहीं, शब्दों से लिखी जाती है। कविता क्या है उसका महत्त्व है, न कि वह क्या कहती है उसका। इसका यह अर्थ नहीं कि कवि अथवा काव्य को हम उस समाज से पृथक् कर सकते हैं जिसमें उसकी सृष्टि हो, इससे हम यह भी निरूपित नहीं कर सकते कि कला-कृतियाँ अपने युग का प्रतिबिंबन और प्रोद्भासन नहीं करतीं। इससे इस बात का भी ज्ञापन नहीं होता कि कवि का भाव भांडार परिशून्य होता है और वह जिस विषय पर लिखता है और उसकी जो व्याख्या प्रस्तुत करता है, उसका कोई विशेष महत्त्व नहीं होता। किंतु उस आलोचना से यदि वह महत्त्व विकृत नहीं होता तो छिप अवश्य जाता है, जो केवल कवि के भावों पर ध्यान केंद्रित करती है, उन भावों की अभिव्यक्ति पर नहीं, जो कवि को दार्शनिक और चिंतक बना लेता है और इस प्रक्रिया में उसके उस गुण की उपेक्षा करती है जिसके फलस्वरूप कवि की वाणी को अक्षयता प्राप्त होती है—वह गुण कवि के मर्म में अवस्थित कलाकार का गुण है।

दिनकरजी की व्यावहारिक समीक्षा-पद्धति पर भारतीय भाष्यकारों के प्रभाव के अतिरिक्त एम्पसन, रिचर्ड्स और एलियट का भी प्रभाव दृष्टिगत

---

१ 'पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण', पृ० ८४।
२ उपरिवत् पृ० ७१।

होना है। इन पाश्चात्य समीक्षकों की तरह उन्होंने भी बहुश: उद्धरणों का प्रयोग करते हुए उनके शब्द प्रयोग, वाक्य विन्यास और उनकी दुरूहता का वर्णन किया है। 'सिमण्टिक क्रिटिसिज्म' ('सिमण्टिक अनलिसिस') शब्दों के विभिन्न अर्थों का उदघाटन करती है शब्द प्रयोग पर जोर देती है और उदधरणों का विश्लेषण भाषा की परिशुद्धि एवं व्याकरण के नियमों के आलोक में करती है। 'कामायनी' की समीक्षा सिमण्टिक अनलिसिस का हिंदी में चिरज्वलंत उदाहरण है और स्थल स्थल पर एम्पसन की याद दिलाती है।

दिनकरजी की भिन्न भिन्न आलोचनात्मक कृतियां और 'रश्मिरथी', 'नीलकुसुम' जैसे काव्यग्रंथों की भूमिकाएँ मिलकर एक ही व्यवस्थित बृहत् निबंध का रूप ग्रहण करती हैं। इसलिए अपूर्ण दीखनेवाले निबंधों, निष्कर्षों एवं निर्णयों की परिणति अन्य निबंधों में ढूढनी चाहिए। तभी हम लेखक की समीक्षात्मक रचनाओं के परस्परविरोधी तत्त्वों के औचित्य और सामंजस्य को ठीक ठीक परख सकने में सफल होंगे। 'मिट्टी की ओर' के अंतिम निबंध में लेखक भारत के प्रवासी कवि को घर लौटने की सलाह देता है। कालर, 'टाई' और 'धुले कपड़े' पाश्चात्य सभ्यता के चाकचिक्य के प्रतीक हैं लिपस्टिक और रासायनिक योगों के रंग का प्रयोग पश्चिम से प्रभावित होने का द्योतन करता है। प्रश्न है—जब दिनकर कवि को 'टाई और कालर खोलकर फेंक देने' की सलाह देते हैं तब क्या वे नये चमकते हुए क्षितिज का स्वागत करना नहीं चाहते? इसका उत्तर दिनकर ने यह कहकर दिया है कि 'मेरा अनुमान है कि जिन अवस्थाओं ने इंग्लैंड में नये कवियों को उत्पन्न किया, उनसे मिलती जुलती अवस्थाएँ अपने यहां के बुद्धिजीवियों को भी अनुभूत होने लगी हैं। इसलिए उनमें और यूरोपीय कवियों में थोड़ा बहुत साम्य दिखलाई दे रहा है।"[1]

विकासोन्मुख कवि आलोचकों में—ड्राइडन पाल वेलरी, एलियट प्रभृति पाश्चात्य लेखकों में भी—अनेकानेक विरोधी तत्त्वों का समाहार देखा जाता है। इन विरोधी तत्त्वों और गद्य लेखों को कवि के काव्य का ही अविच्छिन्न अंग समझना चाहिए। उनका कोई भी सिद्धांत ऐसा नहीं, जो उनकी आत्मकथा का ही एक महत्त्वपूर्ण खंड न हो।[2]

---

१ नीलकुसुम (दिल्ली, १९५४), पृ० ङ (दो शब्द)।

२ पॉल वलरी के लिए प्रयुक्त एलियट के शब्द हैं "वलरीज एसेज फार्म अ पार्ट आव हिज पोयटिकल वर्क्स"। दे० पौल वलरी, 'द आर्ट आव पोयट्री' (लंदन, १९५८), पृ० २२ (भूमिका)।

दिनकरजी की समीक्षा पर एलियट का प्रभाव प्रत्यक्ष और व्यापक है। ऐसे छोटे-छोटे सूत्रवत् कथन—'आलोचक नये कवि को पुरानी कसौटी पर कसके उसके साथ न्याय नहीं कर सकता' एलियट की उन पंक्तियों की याद दिलाते हैं जिनमें उसने कहा है कि साहित्यिक कृतियों का मूल्यांकन पूर्वप्रसूत समालोचकों द्वारा उद्भावित प्रतिमानों से नहीं होना चाहिए। ('इन कम्पैरिजन व एक मस्ट बी जज्ड बाइ द स्टण्डर्ड्स ऑव द पास्ट आई से जज्ड, नॉट ऐम्प्युटेटेड बाइ देम नॉट टु बी जज्ड ऐज गुड ऐज, ऑर वर्स' और 'बेटर दैन, द डेड, एण्ड सर्टेन्ली नॉट जज्ड बाइ द कैनन्स ऑव डेड क्रिटिक्स'। पुनरपि 'इच एज डिमाण्ड्स डिफरेण्ट थिंग्स फ्राम पोयट्री सो आवर क्रिटिसिज्म, फ्राम एज टु एज विल रिफ्लेक्ट द थिंग्ज दैट द एज डिमाण्ड्स)।

दिनकरजी की भाषा शैली—समीक्षा की भाषा-शैली—पर भी पाश्चात्य प्रभाव के अनेक चिह्न दृष्टिगत होते हैं, परन्तु उनके शब्द न कहीं खटकते हैं, न अनुपयुक्त दीखते हैं। डॉ० ओंकारनाथ शर्मा का यह कथन कि,

> अँगरेजी शब्दों का प्रयोग तो इन्होंने (दिनकरजी ने) इस युग में ज्यों का त्यों अँगरेजी वर्णमाला में ही किया है और कहीं-कहीं कोष्ठक में भी। दूसरी बात यह खटकती है कि जो उपमा दिनकरजी ने 'गियर' से दी है, वह एक ऐसा शब्द है जो 'गियर' न समझनेवाले के लिए कक्षा में पाठ के तुल्य ही है। इन्होंने प्रायः दृष्टान्त भी पाश्चात्य साहित्य और समाज के ही दिये हैं जो साधारण पाठक के लिए अध्ययन विशेष का विषय बन जाता है। उपर्युक्त उद्धरणों में प्रकट होता है कि लेखक पाश्चात्य साहित्य से अधिक प्रभावित प्रतीत (होता) है।[1]

दिनकरजी के निबंधों की भाषा-शैली के संबंध में भले ही यह युक्ति-संगत लगे, पर उनकी आलोचना की भाषा के संबंध में उपर्युक्त भावोद्गार आलोचक के अधूरे अध्ययन का परिचय देते हैं। 'गियर' जैसा एकाध शब्द और पाश्चात्य साहित्य से उद्धृत दृष्टांत खटकते नहीं और न पाठकों पर कर्कश प्रभाव ही डालते हैं। परंतु सच्ची बात तो यह है कि दिनकरजी पाश्चात्य दृष्टांतों को उपस्थित कर संतुष्ट नहीं हो जाते। दृष्टांतों का चयन प्रसंगानुकूल होता है, न कि पांडित्य-प्रदर्शनार्थ, इसलिए जैसे भी दृष्टांत उपयुक्त होते हैं, उनका प्रयोग किया जाता है।

१ डॉ० ओंकारनाथ शर्मा, 'हिंदी निबंध का विकास' (कानपुर, १९६४), पृ० २६९-२७०।

शर्माजी ने कतिपय छोटे छोटे उद्धरणों को मूल प्रसग से व्जजित कर उनके आधार पर दिनकरजी की भाषा-शैली का विवेचन किया है और कई अघपकी सामान्य उपपत्तियाँ प्रस्तुत की है।

श्री सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' (१९११)

अज्ञेय द्वारा प्रणीत आलोचना पॉल वलरी और टी० एस० एलियट की समीक्षात्मक रचनाओं की तरह मुख्यत साहित्यकार की निर्माणशाला मे प्रसूत आलोचना—'वर्कशाप क्रिटिसिज्म''—है।[1] जिस प्रकार अँगरेजी मे नई कविता के उद्भावकों मे एलियट अग्रगण्य है उसी प्रकार हिंदी मे नये प्रयोगशील काव्य के सर्जकों में अज्ञेय का स्थान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। पाल वैलरी एजरा पाउड और एलियट की भाति अज्ञेय ने समीक्षाएँ भी लिखी हैं[2] जिनसे इनके व्यापक वैदुष्य एव पाश्चात्य साहित्य के सुनियोजित, श्रमसाध्य अध्ययन का द्योतन होता है। हिंदी समीक्षकों में सभवत अज्ञेय ही एकमात्र ऐसे वर्चस्वी लेखक है जिनके अँगरेजी निबधो की भाषा शैली अत्यंत सधी हुई, ललित और ओजस्वी है और जिन्होने अँगरेजी की अधुनातन मुहावरेदार शैली के मर्म को पहचाना है। 'थॉट' के साहित्य अंग तथा 'वाक' के सपादक की अँगरेजी शैली प्राजल, इतिवृत्तात्मक तथा सयमित है और इससे यह स्पष्ट है कि इसने अँगरेजी भाषा के मूर्धन्य शैलीकारो की कृतियो का सम्यक् अध्ययन तो किया ही है साथ ही इनसे अपने साहित्यकार की सवेदना को भी समृद्ध किया है।

स्वय अज्ञेय ने अपने ऊपर दृष्टिगत रचनात्मक प्रभावो का विशदीकरण निम्नलिखित शब्दों मे किया है

---

१ 'This kind of criticism of poetry by a poet or what I have called *workshop criticism* has one obvious limitation T S Eliot 'The Frontiers of critici m in *One Poetry and Poets* (London 1957) p 107

२ द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरान्त दृष्टिगत समसामयिक प्रवृत्तियो से अपने को सबद्ध करते हुए अज्ञेय ने कहा है—A special feature of this period was the increasing amphibian propensity of its writers most of them wrote fiction as well as poetry and frequently e ayed into critical prose also Vide *Contem porary Indian Literature* (Sahitya Akademi 1957) p 84

Ajneya (1911–) is sometimes bracketed with Joshi as an exponent of the Freudian novel—wrongly because though he has often applied the psycho-analytical method in a limited way in his novel *Sekhara Eka Jivani* and in his short stories his reasoned optimism his love of life and his faith in man and in the individual definitely separate him His literary affinities are, in fact, Browning and D H Lawrence he is also perhaps more influenced by the Bible and Christian thought than any other Hindi writer Apart from this his mental outlook is that of scientific humanism [1]

इस उद्धरण में एक नाम छूट गया है। यदि हम ईसाई दर्शन, बाइबिल, ब्राउनिंग और डी० एच० लारेंस के साथ टी० एस० एलियट को रख दें तो अज्ञेय की समीक्षा भी इस विवेचन में समाहित हो जायगी। इस समीक्षा पर एलियट के प्रभाव के अनेक प्रमाण मिलते हैं। अज्ञेय ने कई स्थलों पर एलियट की ओर निर्देश किया है और एलियट द्वारा प्रतिपादित निर्वैयक्तिक अभिव्यक्ति के सिद्धांत का उद्धरण किया है। अज्ञेय के शब्दों में ही 'शेखर में मेरापन कुछ अधिक है। एलियट का आदर्श (जिसकी सहायता मैं मानता हूँ) मुझसे नहीं निभ सका है। शेखर निस्संदेह एक व्यक्ति का अभिन्नतम निजी दस्तावेज है।'[2] 'त्रिशंकु' में संगृहीत 'रूढ़ि और मौलिकता' शीर्षक निबंध टी० एस० एलियट के 'ट्रेडिशन एण्ड दि इण्डिविडुअल टैलेण्ट' का लगभग भावानुवाद है।'[3] इसी संग्रह के 'परिस्थिति और साहित्यकार' नामक निबंध में उन्होंने टी० एस० एलियट की निम्नलिखित पंक्तियों को उद्धृत करने के पूर्व कहा है कि इनमें स्वस्थमना कवि का युयुत्सु भाव तो झलकता है हाँ, साथ ही हमारे लिए एक आशाजनक संकेत भी है'

क्योंकि मैं वहाँ पान नहीं कर सकता

---

१ Hindi in *Contemporary Indian Literature A Symposium* (Sahitya Akademi New Delhi 1957) p 84

२ सुमन झा, 'अज्ञेय का काव्य' (कानपुर, १९६४), में पृ० २१ पर उद्धृत।

३ द्रष्टव्य "अज्ञेय", त्रिशंकु (बनारस, १९५४) भूमिका।

जहा वक्ष फरात हैं
इसलिए मैं आनंदित होता हू कि कुछ निर्माण करना पड़ेगा
जिसके आधार पर मैं आनंदित हो सकू ।[1]

कुछ लोगो ने अज्ञेय के आचरण म अहकार पाया है। सभवत लेखक का भाव-संस्कार विदेशी" है जिसके कारण उसका वर्ताव लोगो क। कुछ भिन्न जान पड़ता है। [2] किंतु मूलत वह भारतीय है और अनक इतर प्रभावो के रहत भी एक प्रकार का हिंदू' भी है।[3] साथ ही अज्ञेय ने यह भी स्वीकार किया है कि जिन बहुसख्यक लोगो के साथ मेरा सास्कृतिक परपरा का साझा है उन लोगो स मेरी सवेदना भिन्न है। किंतु दूसरी ओर जिन अल्पसख्य लोगा की सवेदना मुझ-सी है उनस संस्कार-परपरा क विषय म मेरा कही भी मेल नहा है। उनके पास पश्चिमी संस्कृति की एक सतही छाप है—अर्थात पश्चिम की रहने की पद्धति तो उन्होने आत्मसात् कर ली है पर उसकी वचारिक अथवा आध्यात्मिक प्रतिक्रियाओ की लीक म वे नही पड़े ।"[4]

डेनिस टामसन और एफ० आर० लीविस का प्रभाव

अज्ञेय पाश्चात्य वाड्मय की कतिपय महत्त्वपूर्ण तथा अधुनातन प्रवत्तिया और उनके जनयिष्णुओ से प्रभावित हैं, परतु साम्प्रतिक पाश्चात्य सभ्यता के दुष्प्रभावों से पूर्णतया अवगत होने के कारण इस सभ्यता का अधसमर्थन नहा करते। संस्कृति और परिस्थिति म उन्होंने यनयुग की प्रगति और आधुनिक मानव की अप्राकृतिक मनोरजनो के प्रति अतिशय आसक्ति पर क्षोभ प्रकट किया है। निस्सदेह यह अज्ञेय का निजी दृष्टिकोण है कवि की सवेदनशील आत्मा नैसर्गिक सौंदर्य और जीवन-यापन की पुरातन स्वाभाविक व्यवस्था तथा रूग के विखंडित होने के कारण व्यथित हो उठती है। पुराने सामाजिक सगठन के टूटने म उसकी सजीव संस्कृति और परपरा मिट गई है—हमारे जीवन म से लोकगीत नाट्यनृत्य कम के छप्पर और दस्तकारियां क्रमश निकल गई है और निकलना र ह प्रग उनर माय ई निकार्त ना रहा है वह था र जिसमे य केवल

१ उपरिवत्, प० ६२ ।
२ आत्मनेपद (काशी, १९६०), प० १७३ ।
३ उपरिवत्, प० २४९ ।
४ उपरिवत्, प० २४९ ।
५ त्रिशंकु, प० १३ २२ ।

एक चिह्नमात्र है—जीवन की कला, जीने का एक व्यवस्थित ढंग जिसके अपने रीति-व्यवहार और अपनी अनुचर्या थी—ऐसा अनुचर्या जिसकी बुनियाद जाति के चिर-संचित अनुभव पर कायम हो। [1] यंत्रयुग की निमम प्रगति ने हमारे ज्ञान के साथ ही जीवन को प्रतिबिंबित करनेवाले साहित्य को भी स्वभावत प्रभावित किया है। इसमें उन ग्रंथों का ही सर्वाधिक प्रणयन हो चला है जो सस्ते मनोरंजन के प्रदाता हैं, जो जीवन का सस्ता बनाते हैं। भाषा सस्ती होती जा रही है पत्रों का स्टैण्डर्ड गिर गया है और मशीन युग के साथ जो अति उत्पादन हो रहा है उसके लिए विज्ञापनबाजी आवश्यक हो गई है। अगर उद्धार का उपाय कोई है, तो वह संस्कृति की रक्षा और निर्माण की चिरजागरूक चेष्टा, और उस चेष्टा की आवश्यकता में अखंड विश्वास का ही भाग है।' [2]

'संस्कृति और परिस्थिति' में जिन विचारों की अभिव्यक्ति हुई है, उन पर इलियट का प्रभाव तो है ही, साथ ही निबंध का शीर्षक एफ० आर० लीविस और डेनिस टॉमसन की पुस्तक 'कल्चर एण्ड एन्वायरनमेण्ट' की ओर संकेत करता है और इसके कतिपय विचार श्रीमती लीविस की पुस्तक 'फिक्शन एण्ड द रीडिंग पब्लिक' (१८३२) से उद्धृत जान पड़ते हैं। निबंध-लेखक ट्रेविलियन, हार्डी, हेनरी जेम्स, एडवर्ड टामस प्रभृति अँगरेज साहित्यकारों की रचनाओं और विचारों से भी प्रभावित हो सकता है। ट्रेविलियन के विचारानुसार कृषि अन्याय व्यवसायों में एक व्यवसाय-मात्र नहीं है यह जीवन-यापन का एक ढंग और अपने मानवीय एवं आध्यात्मिक मूल्यों के कारण अप्रतिम है। जीवन-यापन के देहाती ढंग के ह्रास की प्रतिच्छाया इंग्लैंड में प्रकृति-संबंधी काव्य के उत्तरोत्तर अभाव में देखी जा सकती है। हार्डी, एडवर्ड टॉमस आदि कवियों ने इस ह्रास एवं अभाव के व्यापक प्रभावों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है और प्राचीन समाज के विघटन पर खेद प्रकट किया है। हेनरी जेम्स ने अपने उपन्यासों में लन्दन के अति भौतिक अपव्ययी, निर्मम निठुर तथा अमार्जित जीवन का अनावरण किया है और ऐतिहासिक राज्यक्रांति के पूर्व दृष्टिगत फ्रांसीसी अभिजात वर्ग के सड़ेगले ह्रासोन्मुख जीवन से इसकी तुलना की है। [3] रैमजे मक्डोनल्ड ने घोषित किया है कि अब ऐसे वित्तदाताओं (फाइनेंसियर्ज) का युग आ गया–

१ उपरिवत, पृ० १३।

२ उपरिवत, पृ० २२।

३ जी० एच० बैन्टॉक, "द सोसल एण्ड इण्डिविजुअल बैकग्राउण्ड", द माडर्न एज (पेंगुइन बुक्स, १९६१), पृ० २९।

है जो हमारी नतिक श्रद्धा के पात्र नहीं हैं। आधुनिक युग म भौतिक मूल्यों के आत्यन्तिक सवयन एव तज्जन्य सामाजिक विघटन की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हुए एल० एच० मायस ने "सर्वोत्कृष्टता के घमण्ड" की नीति (द एथिक्स ऑव द कल्ट ऑव फस्ट रेटनेस") का पोषण समर्थन किया है।[1] ई० एम० फॉस्टर तथा मिस सकविल-वेस्ट के उपन्यासों म भी यन्त्रयुग के प्रभावों और दुष्प्रभावों की निर्मम आवृत्ति हुई है।

परन्तु अज्ञेय के 'सस्कृति और परिस्थिति' नामक निबध पर पाश्चात्य प्रभावों के आकलन के लिए इतनी दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। जहा यह स्पष्ट है कि इस निबध का आधारभूत चिंतन उक्त लेखकों के विचारों के समरूप है, वहाँ यह भी निस्सकोच कहा जा सकता है कि अज्ञेय ने इस निबध के लिए डेनिस टामसन और एफ० आर० लीविस की पुस्तक 'कल्चर एण्ड एनवायरनमेंट'[2] से ही प्रयोजनीय सामग्री को सर्वाधिक गृहीत किया है। अज्ञेय का निबध किस हद तक उक्त अँगरेजी पुस्तक पर आधृत है, इसका अनुमान निम्नलिखित उद्धरणों से किया जा सकता है (निबध के उद्धरण बायीं ओर और "कल्चर एण्ड एनवायरनमेण्ट" की पंक्तियाँ दाहिनी ओर प्रस्तुत है)

पृ० १३–१४	pp 1–2
साहित्य—साहित्य की शिक्षा—अततोगत्वा एक स्थानापन्न महत्त्व रखती है। पुराने सामाजिक सगठन के टूटने से उसकी सजीव सस्कृति और परपरा मिट गई है—हमारे जीवन में से लोकगीत, लोकनृत्य, फूस के छप्पर और दस्तकारियाँ क्रमश निकल गई है और निकलती जा रही है, और उनके साथ ही निकलती जा रही है वह चीज जिसके	But literary education we must not forget, is to a great extent a substitute What we have lost is the organic community with the living culture it embodied Folk songs folk dances Cotswold cottages and handicraft products are signs and expressions of something more an art of

१ उपरिवत ।

२ इसका प्रथम सस्करण लदन मे सन १९३३ मे प्रकाशित हुआ था। अज्ञेय का निबध त्रिशकु (१९४५) नामक सकलन का प्रथम निबध है जिसे लेखक ने पहले जबलपुर के "हितकारिणी सभा हाईस्कूल" के वार्षिकोत्सव के लिए अभिभाषण के रूप मे लिखा था। (दे० "भूमिका")।

य केवल चिह्नमात्र हैं—जीवन की कला, जीने के एक व्यवस्थित ढंग जिसके अपने रीति-व्यवहार और अपनी ऋतुचर्या थी—ऐसी ऋतुचर्या जिसकी बुनियाद जाति के चिर-संचित अनुभव पर कायम हो। बात केवल इतनी नहीं है कि हमारा जीवन देहाती न रहकर शहरी हो गया है। जीवन का ढंग ही नहीं बदला, जीवन ही बदला है। अब समाज न देहाती रहा है न शहरी, अब उसका संगठन ही नष्ट हो गया है। उस ऐक्य में बांधनेवाला कोई सूत्र नहीं है, जो जहाँ सुविधा पाता है वहाँ रहता है अपने पड़ोसियों से उसका कोई जीवित संबंध, धमनियों के प्रवाह का संबंध नहीं रहता, संबंध रहता है भौगोलिक समीपता का, बिजली पानी, मोटर-ट्राम की सम्पृक्तता।

life, a way of living ordered and patterned involving social arts codes of interco urse and a responsive adjustment growing out of immemorial experience, to the natural environment and the rhythm of the year That is why it is difficult to take revivals seriously It is not merely that life from having been predominantly rural and agricultural, has become urban and industrial When life was rooted in the soil town life was not what it is now Instead of the community urban or rural we have almost universally suburbanism We dwell where we find it convenient or where we can pay our rates and taxes if we have to and live in agglomerations united only by contiguity, the system of transport and the supply of gas water and electricity

निस्संदेह पुराने संगठन के अवशेष भारत में अनेक स्थलों पर मिलेंगे जहाँ अभी मोटरलारी सिनेमा और रेडियो नहीं पहुँचे हैं। इन स्थलों में जीवन अब भी एक

Relics of the old order are still to be found in remote parts of the country such as the Yorkshire dales where motorcoach wireless cinema

कला है। लेकिन ये बहुत देर तक नहीं रहेंगे। यन्त्रयुग की प्रगति का निमम हल पुरानी मिट्टी उपाटता हुआ चला जा रहा है।

and education are rapidly destroying them—they will hardly last another decade

'त्रिशकु' (१८४५) के चौदहवें पष्ठ पर ही उपर्युक्त पक्तिया के बाद डी० एच० लॉरेंस की २६ २७ पक्तिया उद्धत हैं जो 'कल्चर एण्ड एवायरनमेण्ट' म पृष्ठ दो और तीन पर न आकर पृ० ६४ पर आती है। इस उद्धरण का निबध के इस स्थल पर पाकर और 'निस्सदेह पुराने सगठन के अवशेष भारत म अनेक स्थलो पर मिलेंगे' जसे वाक्यो को देखकर अनुसधाता दिग्भ्रमित हो सकता है। न निबध की वस्तु मे प्रार न पुस्तक की भूमिका म उस ग्रथ को सकेतित किया गया है जो प्रस्तुत निबध का आधार है। (भूमिका मे अज्ञेय ने जहाँ 'रुढि और मौलिकता' को टी० एस० एलियट के एक लेख का 'लगभग भावानुवाद' कहा है वहाँ यह स्वीकार नहीं किया है कि 'सस्कृति और परिस्थिति' उक्त अँगरेजी ग्रथ के कतिपय उपयोगी अनुच्छेदो का ही भावानुवाद है। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि अज्ञेय ने उस निबध का नाम नहीं बताया जिसका रुढि और मौलिकता भावानुवाद है। परन्तु हिंदी निबध का शीषक ही अत्यत व्यजक है और प्रमाता का ध्यान मूल निबध की ओर तत्काल आकृष्ट कर लेता है।)

सस्कृति और परिस्थिति" तथा कल्चर एण्ड एवायरनमण्ट" के युगपत् परीक्षण के लिए यहाँ निम्नलिखित उदाहरण उपयोगी सिद्ध होंगे —

(पृ० १७) देखिए, इस बारे म आधुनिकता का एक पुजारी 'मनो वैज्ञानिक विशेपज्ञ' म क्या कहता है—बिना अपने कथन का भीषण अभिप्राय समझे!—

(Pp 99 *et seq*) Most popular uses of leisure come under the head of distractions or what is indicated by the foll owing which is offered in all innocence by an expert writ ing on The Commercial Side of Literature

'लोग विशेषतया स्त्रियाँ गल्प साहित्य म प्रकारान्तर म उन मानवीय अनुभूतियो की तप्ति खोजती हैं, जो आज के उलझे हुए और मर्यादित जीवन म पूरी नहीं हो

Men and women espec ially women seek in the vicarious realm of fiction the wider range of human exper- iences which a complex and

पाती। अपने तंग, भीड भरे और हड़बड़ाए जीवन में अधिक गहरी अनुभूति के स्पंदन और खिंचाव को प्राप्त करने का समय और अवसर न पाकर वे अपनी स्वाभाविक वासना की तृप्ति के लिए गल्प साहित्य की ओर मुड़ते हैं सभ्यता से दबे हुए लोग वासनाओं की तृप्ति के लिए गल्प साहित्य की ओर झुकते हैं इसी लिए लोग सुखान्त कहानी पसन्द करते हैं। जीवन में अपने परिश्रम में सफलता का नतीजा न पाकर हताश लोग गल्पसाहित्य में सान्त्वना खोजते हैं, उपन्यास के नायक-नायिका की परिस्थिति में अपने को डालकर वे एक अल्पकालिक और भ्रामक तृप्ति पाते हैं।"

narrowed life denies them Having neither time nor opportunity in this crowded, hustled existence to taste the joys and sorrows the vicissitudes and triumphs of a more elemental experience they turn to fiction to satisfy their natural craving For emotional satisfaction civilisation-hampered people turn to fiction This explains popular preference for stories with happy endings Deprived of the satisfaction of a triumphant climax to their efforts in life disillusioned people turn to fiction for consolation and by self consciously identifying themselves with the heroes and heroines of a novel achieve a temporary and illusory satisfaction

अर्थात् वे जीवन की कमी उसकी छाया से पूरी करते हैं। लेकिन जिन लोगों के जीवन में अनुभूति की गहराई और विशालता और सूक्ष्मता के लिए स्थान नहीं है उनका यह छाया जीवन भी कच्चा और छिछला ही हो सकता है। जिस व्यक्ति का काम उसके व्यक्तित्व को पुष्ट नहीं करता, वह छाया-जीवन

—That is they find compensation in Substitute Living. Unhappily, if the routine of one's life does not call for any subtlety or fulness of living then the kind of compensation one is capable of is apt to be correspondingly poor. "If one's work

से जो तृप्ति प्राप्त करेगा उसका उसके जीवन की यथार्थता से कोई संबंध नहीं होगा, क्योंकि यथार्थता से तृप्ति न मिल सकने के कारण ही तो वह उससे भागता है। और फिर, ऐसा व्यक्ति वह परिश्रम करने को भी तैयार नहीं होगा, जो मनोरंजन के लिए जरूरी है अतः उसकी क्षतिपूर्ति नशे का रूप ले सकती है।

allows no fulfilment of the personality, then the fulfilment one finds in Substitute-Living will most likely be pitifully unrelated to the possible conditions of actual life Since, moreover such work unfits one for making the *positive* effort without which there can be no true recreation 'compensation tends to be much the same thing as 'distraction

एक तरह की क्षतिपूर्ति मनोरंजन कदापि नहीं है क्योंकि यह पुष्ट और संजीवित नहीं करती, बल्कि उस यथार्थता से छूट भागने का आदी बनाकर और भी कमजोर और जीवन के लिए अयोग्य बनाता है।

This form of compensation then is the very reverse of recreation in that it tends, not to strengthen and refresh the addict for living but to increase his unfitness by habituating him to weak evasions *to the refusal to face reality* at all

त्रिशंकु के अन्य निबंधों में कुछ तो निस्सन्देह ऐसे हैं जिन पर पाश्चात्य समीक्षा और विचार धारा का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। उदाहरणार्थ, इसी संकलन के 'कला का स्वभाव और उद्देश्य' शीर्षक निबंध में अज्ञेय ने कहा है कि कला सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति के विरुद्ध अपने को प्रमाणित करने का प्रयत्न—अपर्याप्तता के विरुद्ध विद्रोह—है।[1] श्री शिवनाथ ने इस स्थापना में एडलर की हीनताग्रंथि के सिद्धांत का प्रभाव देखा है एडलर और श्री अज्ञेय की बात में अंतर केवल इतना ही है कि 'हीनता' के स्थान पर

---

१ 'त्रिशंकु', पृ० २६।

"अनुपयोगिता" और "अपर्याप्तता" का प्रयोग करते हैं।'[1] परवर्ती शोधों ने शिवदानजी के उक्त कथन को भ्रममूलक प्रमाणित किया है और बताया है कि वस्तुतः उपर्युक्त स्थापना न अज्ञेय की है, न एडलर की। वह तो स्पेन्डर की है। (सी० डे०) लूइस की पुस्तक 'ए होप फॉर पोयट्री' के अन्तर्गत एक निबंध है—'पोस्टस्क्रिप्ट १९३६'। इस निबंध में उनकी स्थापना है—'द हिस्ट्री आव द पोयट हैज बीन द हिस्ट्री ऑव द मिसफिट ट्राइंग टु जस्टिफाई हिमसेल्फ टु सोसायटी'। (ए होप फार पोयट्री पृ० ८८–८९) इस स्थापना के साथ श्री अज्ञेय की इस स्थापना को रखकर देखें तो एक ही (sic) प्रतिध्वनि दूसरे में स्पष्ट सुनाई देगी।'[2]

अपनी स्थापना के समर्थन में श्री अज्ञेय ने खेतिहर-सभ्यता और चरवाहा-सभ्यता से भी पहले की अवस्था के कलाकार की चेष्टाओं का उल्लेख किया है जो 'होप फार पोयट्री' पर ही आधृत है। 'रूढ़ि और मौलिकता' के संबंध में कहा जा चुका है (और स्वयं अज्ञेय ने अपनी भूमिका में स्वीकार किया है) कि यह टी० एस० एलियट के 'ट्रेडिशन एण्ड दि इण्डिविडुअल टैलेण्ट' का ही भावानुवाद है। इसी प्रकार 'परिस्थिति और संस्कार' में डेनिस टॉमसन और एफ० आर० लीविस के विचारों का पुनराख्यान हुआ है और निबंध के आरंभ में ही यांत्रिकता की ओर हमारे ध्यान के दुष्प्रभावों का उल्लेख करते हुए लेखक ने कहा है कि 'आधुनिक जीवन की परिस्थितियों और आवश्यकताओं का अध्ययन करके हम समझ सकते हैं कि किस प्रकार उन परिस्थितियों में व्यक्ति सस्ती ही अनुभूतियाँ चाहता या चाह सकता है।'[3] अज्ञेय पर आधुनिक (पाश्चात्य) मनोविज्ञान का—फ्रायड और एडलर का—कितना गंभीर प्रभाव पड़ा है इसका ईषत् अनुमान उनके इस कथन से किया जा सकता है 'आज का हिंदी साहित्य अधिकांश में अतृप्ति का या कह लीजिए लालसा का इच्छित-विश्वास (wishful thinking) का साहित्य है।'[4] 'परिस्थिति और संस्कार' का विवेचन भी, प्रधानतः मनोवैज्ञानिक भूमिका पर ही हुआ है।

आत्मनेपद में संगृहीत निबंधों से भी हमारी यह धारणा दृढ़तर होती है

---

१ 'दृष्टिकोण', जून १९५२, पृ० १४ (केसरीकुमार लिखित "अज्ञेय, एडलर और लिविस" शीर्षक निबंध से।)
२ उपरिवत्, पृ० १४-१५।
३ 'त्रिशंकु', पृ० ४६।
४ उपरिवत्, पृ० ४७।

कि अज्ञेय ने पाश्चात्य साहित्य का विशेषतः अंग्रेजी साहित्य का, गम्भीर अध्ययन-परिशीलन किया था। इन निबंधों में पाश्चात्य साहित्यकारों के नाम, विचार और उनकी रचनाओं के अनेक उद्धरण सम्मिलित हैं। अपनी एक पहली कविता जिसे ... में संगृहीत है और कवि आत्मनेपद का ... होता है कि ... ने एक बार ... से पूछा था कि, "क्या आप यह कविता ... हैं?" जो टेनिसन की कविता की पंक्तियाँ

> यइग हा द हाद ड्रॉप गान्न
> ययर ग्राइग एण्ड मानिग
> मॉट मॉड, माट, मॉट'
> द ययर ग्राइग एण्ड मानिंग

सुनाकर पूछा गया था—'क्या आप यही पढ़ा करते थे?'[2] अज्ञेय इस बात से अच्छी तरह अवगत हैं कि कुछ लोग उनकी कविता को 'हिंदी में लिखी गयी अंग्रेजी कविता' समझते हैं। परन्तु स्वयं अज्ञेय नहीं समझते कि उनकी कविता में ऐसा कुछ है जो कि भारत की ही काव्य-परंपरा द्वारा अनुमोदित न हो सकता हो।'[3]

> प्रवृत्ति अहं का विलयन की ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं
> काव्य रचना का—किसी भी कला-सृष्टि का—अधिकार तभी आरंभ होता है जब व्यक्तित्व का संपूर्ण विलयन हो जाय, यह मानना तो दूर की बात रही, आज का कवि साधारणतया इतना भी नहीं मानता कि कविता, या कि कला-सृष्टि, व्यक्ति के विलयन का माध्यम है कि कविता के द्वारा कवि व्यक्ति को वृहत्तर इकाई में विलीन कर देता है। आज का कवि तो कविता को चरम व्यक्तित्व की, व्यक्ति के अहं की, प्रखरतर अभिव्यक्ति और उस अहं को पुष्ट करने वाली रचना मानता है। मैं कहूँ कि इस चरम कोटि का आधुनिक कवि मैं नहीं हूँ अधिक-से अधिक उस श्रेणी में हूँ जो कविता को अहं के विलयन का साधन मानते है।[4]

इन पंक्तियों में एलियट के उस निबंध की प्रतिध्वनि सुनाई पडती है जिसका अज्ञेय

---

१ आत्मनेपद (काशी, १९६०), पृ० २४ २५।
२ उपरिवत, पृ० २७ और २९।
३ उपरिवत, पृ० २९।
४ उपरिवत, पृ० ३३।

ने भावानुवाद किया था और जो 'त्रिशंकु' में 'रूढ़ि और मौलिकता' के नाम से अभिहित है। 'ट्रेडिशन् एण्ड दि इण्डिविडुअल टैलेण्ट' में एलियट ने कहा है 'पोयट्री इज नॉट अ टर्निंग लूस ऑव इमोशन, बट ऐन इस्केप फ्रॉम इमोशन, इट इज नॉट दि एक्सप्रेशन् ऑव पर्सनैलिटी, बट ऐन इस्केप फ्रॉम पर्सनैलिटी, बट ऑव कोर्स, ओन्ली दोज हू हैव पर्सनैलिटी एण्ड इमोशन्स नो व्हाट इट मीन्स टु वाण्ट टु इस्केप फ्रॉम दीज थिंग्ज।'[1] इसी निबंध में कलाकार की प्रगति को एक अनवरत आत्म-समर्पण की प्रक्रिया कहा गया है—एलियट के अनुसार कलाकार की प्रगति व्यक्तित्व के सतत तिरोभाव की प्रक्रिया है। इस व्यक्तित्व-उत्सर्ग में कला विधान की स्थिति के सन्निकट पहुँचती कही जा सकती है। अज्ञेय ने एलियट के इस कथन का समर्थन किया है और कहा है कि "व्यक्तिगत अनुभूति की दृष्टि से देखा जाय तो लेख के इस खण्ड के ऊपर दी गई टी० एस० इलियट की उक्ति[2] से कोई छुटकारा नहीं है—कि कविता निजी अनुभूति की मुक्ति—अभिव्यक्ति—नहीं वह अनुभूति से मुक्ति है, व्यक्तित्व का प्रकाशन नहीं व्यक्तित्व से छुटकारा है।'[3]

'प्रयोग और प्रेषणीयता" में भी अधुनातन पाश्चात्य समीक्षकों के ही ऐसे विचारों ने अभिव्यक्ति पायी है जिनसे अज्ञेय सहमत हैं। हिंदी में अद्यतन प्रयोगों के आधारभूत कारणों का विवेचन करते हुए उन्होंने कहा है कि 'भाषा को अपर्याप्त पाकर विराम-संकेतों से, अंकों और सीधी तिरछी लकीरों से, छोटे-बड़े टाइप से, सीधे या उलटे अक्षरों से लोगों और स्थानों के नामों में अधूरे वाक्यों से—सभी प्रकार के इतर साधनों से कवि उद्योग करने लगा कि अपनी उलझी हुई संवेदना की सृष्टि को पाठकों तक अक्षुण्ण पहुँचा सके।'[4] इस तरह के प्रयोग विश्व-साहित्य में पहले भी हो चुके हैं। सत्रहवीं शती के 'मेटाफिजिकल' कवियों का मूल्यांकन करते हुए एलियट ने उनके वाक्यों के संघटन की जटिलता की ओर सामयिक पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है और बताया है कि उनके वाक्यों का सरल न होना दोष नहीं है प्रत्युत यह इस बात का द्योतक है कि वे अपने विचारों और अनुभूतियों के प्रति निष्ठावान् थे।[5] शेक्सपियर के नाटकों

---

१ टी० एस० एलियट, 'द सेक्रेड वूड' (लंदन, १९५७), पृ० ५८।
२ "पोयट्री इज नॉट अ टर्निंग लूस ऑव इमोशन   "आदि।
३ त्रिशंकु, पृ० ४०।
४ आत्मनेपद, पृ० ३६।
५ "दिस इज नॉट अ वाइस, इट इज अ फिडेलिटी टु थॉट एण्ड फीलिंग"। एलियट, सेलेक्टेड एसेज (१९४९), पृ० २८५।

की भाषा में भी ऐसे ही प्रयोग सन्निहित हैं। उसके निगम-संकेतों में उन अनन्त भावों की व्यंजना होती है जिन्हें वह व्यक्त करना चाहता था।[1] इलियट ने भी उपलब्ध प्रचलित भाषा को मर्यादित करके तरह-तरह से प्रयोग किए। उनमें से अँगरेजी की उस नयी कविता का सूत्रपात होता है जिसमें संश्लिष्ट चेतना का गहन वाक्य विन्यासों से जितना संवाहित किया है, उतना अपने नाटकों में नहीं। अब तो यहाँ तक कहा जाने लगा है कि काव्य रचना मूलतः परम्परानुमोदित भाषा में व्याघात उत्पन्न करता है[2] और आधुनिक फ्रांसीसी कविता के अनुसार काव्य परिनिष्ठ एवं परम्परागत गद्य का ही एक रूप न होकर भाषा का एक विशिष्ट प्रकार है जिसका एक अपूर्व लक्ष्य होता है। इसी कारण वलेरी कविता को भाषा की ही एक कला ('un art de langage')[3] कहता है और मलार्मे वाक्य विन्यास के रूढ़ नियमों की अवहेलना कर अपने शब्दों को अजान अपरिचित स्थितियों में रखकर उन्हें अपनत्ता प्रदान करता है

> Le vers qui de plusieurs vocables refait un mot total, neuf étranger à la langue et comme incantatoire achève cet isolement de la parole niant d'un trait souverain le hasard demeure aux termes malgré l'artifice de leur retrempe alternée en le sens et la sonorité et vous cause cette surprise de n'avoir ouï jamais tel fragment ordinaire d'élocution, en même temps que la réminiscence de l'objet nommé *baigne dans une neuve atmosphère*
>
> Crise de Vers Mallarmé O C, p 368 [4]

प्रयोग और प्रेषणीयता' में ही अज्ञेय ने आधुनिक हिंदी-कवि की एक बहुत

---

१ राबर्ट ग्रेव्ज, द कॉमन ऐस्फोडेल, पृ० ९१।

२ एफ० ओ० मैथ्यीसेन, द अचीवमेण्ट आव टी० एस० एलियट (१९५८), पृ० ८६।

३ Valéry Poésie et Pensée Abstraite *Valéry O*, p 1324

४ Robert Gibson (com) *Modern French Poets on Poetry*, (Cambridge 1961) pp 157 *et seq*

बड़ी समस्या'[1] की ओर समीक्षकों और पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है और कहा है कि आज के कवि का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण काय भाषा की उत्तरोत्तर 'संकुचित होती हुई सार्थकता की केंचुल फाड़कर'[2] उसमें अभिनव व्यापक अर्थ भरना है। साधारणीकरण की पुरानी प्रणालियाँ अब निरर्थक हो गई हैं और 'प्राणसंचार का मार्ग (की शक्ति?) उनमें नहीं है। अज्ञेय के इस मतवाद के मूल में एलियट सरीखे पाश्चात्य आधुनिकों के ही विचार दृष्टिगत होते हैं। एलियट ने 'द मेटाफ़िज़िकल पोयट्स' शीर्षक निबंध में कहा है कि हमारी सभ्यता में इतना वैविध्य और जटिलता आ गई है कि इस वैविध्य और जटिलता से प्रभावित सूक्ष्म संवेदनाएँ विविध तथा जटिल काव्य का ही प्रणयन करेंगी। कवि को अधिकाधिक बहुग्राही, संदर्भयुक्त और परोक्ष होना पड़ेगा जिससे वह अपनी भाषा को खींच तानकर, या आवश्यकता होने पर विस्थापित कर, अपने उद्दिष्ट अर्थ में भर सके।[3] वैलरी और एलियट ने उन पाठकों की रुचि का विरोध किया है जो काव्य का सार्वजनिक होना पसंद करते हैं। आधुनिक काव्य दीक्षित एवं सम्वारित व्यक्तियों के लिए लिखा जाता है इस कारण गूढ़-जटिल (esoteric) होता है, जॉर्जियन कवियों की रचनाएँ साधारण पाठकों के लिए भी लिखी जाती थीं इस कारण वे अत्यंत बोधगम्य (exoteric) हैं। अज्ञेय ने हिंदी की नयी कविता के संबंध में वही बात कही है जो एलियट ने अँगरेज़ी की नयी कविता के लिए कही है। हिंदी की नयी कविता में 'असाधारण की खोज के उदाहरण अधिक मिलेंगे, और तंत्र का कच्चापन अथवा भाषा का अटपटापन भी कहीं अधिक। वरन् भाषा के विषय में एक प्रकार की अराजकता भी लक्षित हो सकती है ।'[4]

---

१ आत्मनेपद, पृ० ३६ ।

२ उपरिवत, पृ० ३७। "तीसरा सप्तक" की भूमिका में अज्ञेय का यह कथन द्रष्टव्य है कि "नयी कविता की प्रयोगशीलता का पहला आयाम भाषा से संबंध रखता है।" (दे० पृ० १५)।

३ 'सिलेक्टेड एसेज़', पृ० २८९। तुलना कीजिए "नये कवि की उपलब्धि और देन की कसौटी इसी आधार पर होनी चाहिए। जिन्होंने शब्द को नया कुछ नहीं दिया है, वे लीक पीटनेवाले से अधिक कुछ नहीं हैं—भले ही जो लीक वह पीट रहे हैं वह अधिक पुरानी न हो। दुरूहता अपने आप में कोई दोष नहीं है, न अपने-आप में इष्ट है।" तीसरा सप्तक (१९६१) पृ० १७ ।

४ रूपांबरा (काशी, १९६०), पृ० १० ११। छायावादी काव्य पर पाश्चात्य

'प्रतीकों का महत्त्व' 'प्रतीक' और 'सत्यान्वेषण' आदि निबंधों में, 'प्रतीक' की सम्पादकीय टिप्पणियों और समीक्षाओं में, यहाँ तक कि अज्ञेय के उपन्यासों में भी पाश्चात्य प्रभाव के प्रभूत चिह्न दृष्टिगत होते हैं। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि अज्ञेय की साहित्यिक चेतना के निर्माण में भारतीय वाङ्मय का भी अमूल्य योगदान रहा है और इसका प्रभाव 'रूपाम्बरा' की भूमिका ('प्रकृति-काव्य : काव्य प्रकृति') में मिलता है। तार सप्तक की भूमिकाएँ ('विवृति और पुरावृत्ति' तथा 'परिदृष्टि : प्रतिदृष्टि') अत्यंत संक्षिप्त हैं और प्रस्तुत शोध विषय की दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं रखतीं।

नलिनविलोचन शर्मा (१९१६–१९६१)

नलिनजी की समीक्षाएँ इयत्तया बहुल न हों, पर ईदृक्तया बड़े महत्त्व की हैं। उनमें व्यापकता के स्थान पर ऊर्ध्वता मिलती है, परंतु साथ ही प्राच्य तत्त्वों के स्थान पर प्रतीच्य प्रभावों का आतिशय्य मिलता है। इसी कारण प्रभावों के मनन-मंथन में रुचि रखनेवाले समीक्षक के लिए उनकी आलोचनाएँ अत्यंत उर्वर क्षेत्र का काम करती हैं और साथ ही शोध कार्य को भी सरल सुगम बनाती हैं। स्पष्ट है कि नलिनजी ने पाश्चात्य साहित्य से प्रभाव ग्रहण करने के पूर्व भारतीय साहित्य का भी अध्ययन किया था और अपने बहुपथीन साहित्यिक शोध और अध्ययन के कारण हिंदी वाङ्मय पर व्यापक परिप्रेक्ष्य में विचार करने की क्षमता विकसित की थी। उनके पाठक यह भी जानते हैं कि पाश्चात्य साहित्य की गरिमा से यत्किंचित अभिभूत होने के कारण उनकी समीक्षा में कहीं-कहीं पाश्चात्य तत्त्वों का आवश्यकता से अधिक समावेश हुआ है, उनकी मर्मी में एकांगिता आ गई है और पाश्चात्य-पौरस्त्य का वैसा संतुलित समन्वय नहीं हो पाया है जैसा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और डा० नगेन्द्र की समीक्षाओं में हुआ है। परंतु नलिनजी की प्रतिभा विकासोन्मुख एवं गत्यात्मक तो थी ही, वह इसी आदर्श समन्वय की ओर अग्रसर हो चुकी थी।

साम्प्रतिक हिंदी साहित्य की अनेकानेक विशेषताओं में यह प्रवृत्ति भी सन्निविष्ट है जिसमें अभिभूत हो हम पाश्चात्य साहित्य में सम्मिलित मतवादों को भक्ति भाव से अंगीकृत करते हैं। नवीनता की खोज में हम प्राच्य परंपराओं

प्रभाव के संबंध में अज्ञेय ने कहा है कि "पश्चिमी काव्य के परिचय से भारतीय कवि एक बार फिर प्रकृति की स्वतंत्र सत्ता की ओर आकृष्ट हुआ। ..." (पृ० ८)।

ी ओर उतनी प्रबल उत्कठा से उन्मुख नही होते जितनी उद्दाम लालसा से पाश्चात्य साहित्य और चिंतन की ओर अग्रसर होते हैं। हिंदी के नव्यतम मानक प्रतीच्य की अनत खनियो से ही उद्भूत होते है। अद्यतन हिंदी साहित्य ने अपने विकास के लिए प्राय इसी सरल मार्ग का अनुसरण किया है। भारतीय परपरा-चेतना ही इस प्रवृत्ति के आतिशयिक विकास म अकुश का काम कर सकती है और उस समन्वय की ओर हमे उत्प्रेरित कर सकती है, जो वाछनीय ही नही, हमारे साहित्यिक विकास के लिए अनिवार्य भी है। नलिनजी भारतीय साहित्यिक परपराओ के वभव के प्रति जागरूक थे और सस्कृत साहित्य शास्त्र म "नवीनतम पाश्चात्य आलोचनात्मक उदभावनाओ का पूर्वाभास देखकर विस्मित" होते थे। उनके मतानुसार 'शास्त्र के स्तर पर उन्नीत होने के लिए आधुनिक हिंदी आलोचना को इस दुलभ रिक्थ के योग्य अपने को बनाना आवश्यक है, तभी उसकी अपनी उपलब्धि मौलिक और महत्त्वपूण होगी। इसके लिए सस्कृत के साहित्य शास्त्र के ग्रन्थो के अनुवाद और भाष्य ही नही, पुनस्थापन भी आवश्यक ह।"[1]

शुक्लजी से शुरू होनेवाली आलोचना को आगे बढाना ही नलिनजी के समीक्षात्मक निबधो का लक्ष्य है। समीक्षा-क्षेत्र मे यथार्थोन्मुख प्रयोगवादी होने के कारण उन्होने समय-समय पर हिंदी-समीक्षा के अभावो की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है

> वास्तविकता यह है कि हिंदी म शुक्लजी के पाए के आलोचक उनके बाद दुलभ ही बन रहे ' मानदड (१), पृ० २
>
> "वह निर्देश के लिए कभी सस्कृत के साहित्य शास्त्र की ओर पीछे मुडकर देखती है, कभी सुदूर पश्चिम की उपलब्धि को निहारती है " उपरि०, प० ४
>
> 'नइ दिशा म अग्रसर होन के लिए हिंदी आलोचना को जिन पाथेय रूप महाप्रबधो की आवश्यकता है, व सख्या म बहुल और प्रकारत हीन हैं।'
> उपरि०
>
> 'श्रेण्य हिंदी आलोचना अपने ही जिल्लो और अपनी ही शब्दावली की वागुरा म आबद्ध है '
> उपरि० प० ५

किंतु नलिनजी का दृष्टिकोण निषेधात्मक तथा नैराश्यवादी नही है। यद्यपि वे स्वीकार करते है कि हिंदी मे शुक्लजी स शुरू होनेवाली आलोचना

१ मानदड (१), प० ५।

बहुत आगे नहीं बढी है, फिर भी व यह नही कहते कि शुक्लोत्तर हिंदी-आलोचना आगे बढी ही नही है। इसने "सफर की कुछ मंजिलें अवश्य तय कर ली है। वह आगे बढने चलने के लिए पाथेय और निर्देश की प्रतीक्षा मे है।"[1]

विकास पथ पर हिंदी समीक्षा के संक्रमण तथा उत्तरोत्तर संवर्धन म जिन व्यक्तियो का योगदान स्मतव्य हो चुका है, वे हैं सुधांशुजी आचाय नन्ददुलारे वाजपेयी, शचीरानी गुट्टू सुधाकर पांडेय, शिवबालक राय आदि। इनमे सुधांशुजी और आचाय नन्ददुलारे वाजपेयी ही सर्वाधिक कीर्तिलब्ध समीक्षक है। शचीरानी गुटू की ख्याति कतिपय सम्पादित ग्रन्थो और निबंध-संग्रहो पर ही अधिक आश्रित है और आचाय शिवबालक राय की उपलब्धियाँ सम्मान्य होकर भी अभी वह यश और लोकप्रियता नही पा सकी हैं जिनकी वे अधिकारिणी है। रायजी का 'साहित्य के सिद्धांत और कुकटेन' शीर्षक ग्रंथ उनके गहन वदुष्य का परिचायक है परन्तु साथ ही वह इस बात का भी द्योतक है कि लेखक नलिनजी की समीक्षा-शैली से अत्यधिक प्रभावित है। 'कुकटेन' के विवेचन मे सर्वत्र पाश्चात्य साहित्य से उद्भूत मानक प्रयुक्त हुए हैं और आलोचक ने अपने विचारो का समर्थन पाश्चात्य लेखको की उक्तियो से किया है। कही कही जान-बूझकर विवेचन को पाश्चात्य रूप-सज्जा म उपस्थित करने का अनावश्यक प्रयास हुआ है। परन्तु शिवबालक राय उसी साहित्यिक निकाय के सदस्य है जिसका नेतृत्व नलिनजी ने किया था। ध्यातव्य है कि हिंदी समीक्षा के शुक्लोत्तर सवधको एव उन्नायको मे डॉ० नगेंद्र जसे सत्समालोचक, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी जसे साहित्येतिहासकार एव डा० धीरेंद्र वर्मा सदश वनानिक शोध पद्धति के जनक के नाम विस्मृत कर दिये गए हैं। अन्यत्र एक और नामावली प्रस्तुत की गई है और कहा गया है कि 'वात्स्यायन माचव केसरी, शिवचंद्र, नरश जगदीश पाडेय प्रभृति म से जहा कुछ ने प्राचीन अर्वाचीन के समन्वय का प्रयास जारी रखा, वहा कुछ मे 'दृष्टिकोण' म पहली बार हिंदी के लिए सुपरिचित बनाये गये पाश्चात्य आलोचकों की अत्यधिक स्पष्ट प्रतिध्वनि है।'[2] यहा भी वात्स्यायन और माचवे को छोड़कर अन्य प्रतिनिधि हिंदी आलोचकों का उल्लेख नहीं किया गया है। केसरी जी और नरेश के नाम नकेनवाद से सम्पृक्त होने के कारण अखिल भारतीय ख्याति पा चुके हैं और ये समीक्षक-द्वय नलिनजी के ऊर्जस्वी तथा गंभीर व्यक्तित्व

१ मानदंड (१), पृ० ४।

२ मानदंड (१), पृ० ६।

से प्रतिच्छन्न रहकर भी अपनी मौलिक उदभावनाओं से साहित्य-संवर्धन में निरंतर रत हैं।

कहीं-कहीं पाश्चात्य प्रभाव तथा पाश्चात्य वाङमय के बाह्य चाकचिक्य ने नलिनजी से विचित्र और विवादास्पद बातें कहलवायी हैं। उनके अनुसार 'हिंदी के नवीन आलोचक की सबसे बड़ी उपलब्धि यह होगी कि वह अंग्रेजी या फ्रेंच साहित्य का इतिहास रसाल्कार के दृष्टिकोण से लिखे, जैसे कभी अपने दृष्टिकोण से मैकडानल्ड, कीथ या विंटरनित्ज ने संस्कृत साहित्य के इतिहास लिखे थे। जैसे ग्रासांद तासी और बजामियाँ ने इतिहास से वस्तुयाँ, उस प्रकार प्रकार का किसी अंग्रेज लेखक का अंग्रेजी साहित्य का इतिहास नहीं है जैसे पाश्चात्यों के लिखे संस्कृत साहित्य के इतिहासों से स्वयं भारतीयों के नहीं हैं उसी तरह कौन जानता है कि हिंदी के किसी आलोचक के द्वारा लिखित पाश्चात्य साहित्य का इतिहास उनका अभिनव मूल्यांकन करने में समर्थ नहीं होगा।"[1] नलिनजी का यह स्मरण करके आश्चर्य होता है कि हिंदी आलोचना के प्रारंभ में ही शुक्ल-जी, तुल्सी और वर्डसवर्थ के मुलावे मिलाते हैं।"[2]

इन उद्धरणों से निम्नलिखित रोचक तथ्य सामने आते हैं

(१) हिंदी के नवीन आलोचक की सबसे बड़ी उपलब्धि यह होगी कि वह रसाल्कार के आलोक में अँगरेजी या फ्रेंच साहित्य का इतिहास लिखे। नलिनजी यह नहीं कहते कि ऐसे साहित्येतिहास के प्रणयन के पश्चात नवीन आलोचकों को रूसी और जर्मन साहित्य का अध्ययन और तदुपरि इनके इतिहास की रचना करनी चाहिए। और, रूसी तथा जर्मन साहित्य तक ही हम अपने ज्ञान को सीमित क्यों रखें? क्यों न चीनी और जापानी साहित्यों के इतिहास-लेखन की ओर अग्रसर हों? हिंदी के नवीन आलोचक की सबसे बड़ी उपलब्धि यह होगी कि वह इस प्रकार के कार्य न करे। नलिनजी के शब्दों में ही वह हिंदी के प्राचीन ग्रंथों के वैज्ञानिक दृष्टि से संपादित संस्करण प्रस्तुत करे और उनके साहित्यिक मूल्यांकन का दायित्व नए आलोचक पर छोड़ दे।[3] वह चाहे तो अँगरेजी या फ्रांसीसी साहित्य का सम्यक अध्ययन करके उनसे नव्य पाथ्य सामग्री का चयन और स्वीय साहित्य भांडार का संवर्धन कर सकता है। अंगरेजी या फ्रांसीसी साहित्य के इतिहास को रसाल्कार के दृष्टिकोण से लिख डालने से शुक्लजी द्वारा

१ उपरिवत, पृ० ११।

२ उपरिवत।

३ मानदंड पृ० ४।

प्रवर्तित समीक्षा-परंपरा का विकास नहीं हो सकता। परन्तु यदि हम उस साहित्य के मूलभूत उपयोगी तत्त्वों को आत्मसात् कर अपने साहित्य का संवर्धन करें तो यह अधिक उपादेय हो सकता है।

(२) नलिनजी की यह सुदृढ़ धारणा थी कि शुक्लजी के पाए के आलोचक उनके बाद दुर्लभ ही बने रहे। इसके विपरीत हमारा मन्तव्य है कि अँगरेजी या फ्रांसीसी साहित्य का इतिहास रचनाकार की दृष्टि से लिखनेवाला समीक्षक भी 'शुक्लजी के पाए का आलोचक' नहीं हो सकता। शुक्लजी ने कमिंग्ज का उल्लेख अवश्य किया है, परन्तु उनका समर्थन नहीं। वस्तुतः उन्होंने कमिंग्ज की कविताओं को शब्दों की कलाबाजी कहा है और उनकी काव्य-शैली को न अपनाने का सत्परामर्श दिया है।

(३) तीसरी बात यह है कि शुक्लजी ने मम्मट, रिचर्ड्स और क्रोचे पर समान अधिकार से अपने विचार व्यक्त नहीं किए। उन्होंने क्रोचे के प्रति न्याय नहीं किया है और संभवतः उन्होंने उनका अध्ययन भी नहीं किया था।

(४) नलिनजी के साक्ष्यानुसार तुलसी के 'मानस' को काव्य की कसौटी माननेवाला विद्वान् कमिंग्ज का उल्लेख करता है तो अवश्य यह कम बड़ी बात नहीं है।'[1] यदि 'मानस' को काव्य की कसौटी माननेवाले विद्वान ने कमिंग्ज का उल्लेख किया है तो यह कोई बड़ी बात नहीं है। यह सच है कि शुक्लजी ने कमिंग्ज का उल्लेख ही किया है, उसके प्रति न्याय नहीं, परन्तु इस उल्लेख को हम शुक्लजी के महत्त्व का कारण नहीं मान सकते। 'रस' को तथ्यप्रतिपादनक्षम बनानेवाला आलोचक शास्त्रज्ञ विद्वान भी था और एक महान कलाकार भी।

उपर्युक्त विवेचन का उद्देश्य यह दिखलाना नहीं है कि हम नलिनजी के निष्कर्षों और उपपत्तियों से सर्वथा असहमत हैं। यहाँ केवल इस बात पर बल दिया जा रहा है कि उनके कतिपय निष्कर्ष अत्यंत विवादास्पद और नव्यता के प्रति अतिशय आकर्षण से प्रसूत हैं। जहाँ तक नलिनजी के मूलभूत लक्ष्य का प्रश्न है वह स्पष्ट और निर्विवाद है : संस्कृत के साथ ही पाश्चात्य साहित्यालोचन की नवीनतम प्रवृत्तियों का समन्वय, जिसकी ओर शुक्लजी संकेत कर चुके थे। परन्तु, समग्रतः न नलिनजी की समीक्षाओं में यह समन्वय मिलता है और न उनके सम्प्रदाय के अन्य समीक्षकों में ही। इस समन्वय के स्थान पर (कमिंग्ज के लिए प्रयुक्त शुक्लजी के शब्दों में) शब्दों की कलाबाजी—'स्टण्ट'—मिलती

---

१ उपरिवत्, (१), पृ० १२।

है और हिंदी-आलोचना को पाश्चात्य लेखकों तथा उनकी कृतियों के नामों से भाराक्रांत कर दिया गया है। इसी श्रेणी के प्रयोक्ताओं में डा० देवराज उपाध्याय जगदीश पांडेय, राजेन्द्र यादव प्रभृति समीक्षक भी परिगणनीय हैं। नलिनजी पाश्चात्य चिंतन मनन से इतना प्रभावित है कि वहाँ-कहीं तो प्रतीच्य विचारकों और लेखकों की नामावली मात्र प्रस्तुत करके ही संतुष्ट हो जाते हैं। उनके विधेयवाद और नव्यालोचन [1] शीर्षक निबंध में यूरोपीय पॉजिटिविज्म, उन्नीसवीं शती की विज्ञानवादिता और विधेयवाद के विरुद्ध होनेवाले बहुपक्षीय विद्रोह का वर्णन है और साढ़े तीन पन्ने के इस निबंध में दर्जनों यूरोपीय लेखकों के नाम संकेतित हैं। ऐसी बोझिल नीरस आलोचना को ही संभवत 'नव्यालोचन' की संज्ञा से अभिहित किया गया है। यहाँ तक कि यूरोपीय नव्यालोचन का भी स्पष्ट विवेचन उक्त निबंध में नहीं हो पाया है और न विधेयवाद तथा नव्यालोचन को ही भारतीय साहित्य से समन्वित किया गया है। इस निबंध की पाद टिप्पणियाँ बड़ी ही प्रभावोत्पादक हैं —

(पृ० २१) १—Positivism

२— जाति, वातावरण क्षण', इन फ्रांसीसी विद्वान् (Taine) के अनुसार कला के सृजन में निर्णयात्मक तत्त्व हैं।

३—Antiquarianism

४—Factualism

५—Historicism

(पृ० २३) १—Naturalism

२—Einleitung in die Geistes wissenschaften

३—Geschichte und Naturwiss-nschaft

४—Die Grenzen der Naturwissenschaftlichen Begriffsbildung

५— La Theorie L histoire

६—Facts of Repetition

७—Facts of succession

८—History Its Theory and Practice (मूल पुस्तक इटालियन में १९१७ में प्रकाशित

---

१ मानदंड (१), पृ० २१-२४।

हुई थी, अंग्रेजी अनुवाद १८२३ में प्रकाशित हुआ था।)

'दृष्टिकोण'[1] में संकलित निबंध भी, प्रकारान्तर से, विधेयवादी और नव्यालोचकों के सदृश हैं। इसमें भी लेखक ने अपना अभिमत उद्धरणों के सहारे पाश्चात्य लेखकों का, यथावसर, नामोल्लेख प्रस्तुत किया है और निबंध का विषय चाहे जो कुछ हो, उस पर पाश्चात्य साहित्यकारों की छाया आरोपित कर दी है। 'साहित्य में ग्राम्यता और अश्लीलता' का विवेचन फ्लाबेयर, आल्डस हक्सले, मार्सेल प्रूस्त, डी० एच० लॉरेंस, जेम्स ज्वायस प्रभृति कथाकारों की रचनाओं और विचारों के आधार पर हुआ है। नलिनजी जिस 'समन्वय' के प्रस्तोता हैं, निम्नांकित उद्धरण उसी का एक ज्वलन्त उदाहरण है —

> इंग्लैंड और अमरीका में मनोविज्ञान और कामशास्त्र की हैवलॉक एलिस, मेरी स्टोप्स, मार्गरेट सैंगर प्रभृति उच्चकोटि के विद्वानों की लिखी पुस्तकें जब्त हो चुकी हैं, यद्यपि प्रसिद्ध वैज्ञानिकों के संघटित विरोध के बाद नियंत्रण की आज्ञा वापस ले ली गयी है। बर्नार्ड शॉ जैसे सुधारवादी के एकाधिक नाटकों का अभिनय, नैतिकता के नाम पर, सेंसर के द्वारा रोका जा चुका है। वाल्ट ह्विटमन के लीव्ज ऑफ ग्रास, स्विनबर्न के पोएम्स एण्ड बैलेड्स, बोकेशियो के डिकामरन, अरेबियन नाइट्स, पेप्स की डायरी, डी० एच० लॉरेंस के पैंसीज, रेनबो, लेडी चैटर्लीज लवर, जेम्स ज्वायस के युलिसीज, फ्रैंक हैरिस के माइ लाइफ एण्ड लव्ज, रैडक्लिफ के द वेल ऑफ लोनलीनेस आदि पचासों उच्च कोटि के कलापूर्ण ग्रन्थों पर प्रतिबंध लगाकर अंग्रेजी और अमरीकन सरकारों ने अपनी घोर संकीर्णता और अगुणग्राहकता का परिचय दिया है ।[2]

नलिनजी के अनुसार आधुनिक यूरोप के गल्प का इतिहास मुख्यतः डी०एच०लॉरेंस और जेम्स ज्वायस का ही इतिहास है। यूरोपीय गल्प से अभिज्ञ पाठक जानते हैं कि आधुनिक यूरप के गल्प का इतिहास मुख्यतः दास्ताएव्स्की, तालस्ताय, जोला, मोराविया, बाल्जाक, फ्लाबेयर और मान का इतिहास है और आधुनिक अंगरेजी गल्प का इतिहास मुख्यतः लॉरेंस और ज्वायस का इतिहास है। इसी प्रकार 'कैंटरबरी टेल्स' के 'निरावरण वर्णनों' के संबंध में नलिनजी की धारणाएँ

---

१ पटना, १९४७।

२ 'दृष्टिकोण', प्रथम भाग, पृ० ८९।

भ्रान हैं। चौसर द्वारा किये गए ये वर्णन विराट नहीं अश्लील ही हैं और कन्टरबरी के मार्ग में अभिनीत होनेवाले नाटक के अविच्छिन्न अंग हैं। सेण्टेयाना के अनुसार अश्लीलता तो हमारे अस्तित्व के साथ ही मूलबद्ध है, इसलिए इसके बिना सच्ची कॉमेडी की रचना हो ही नहीं सकती। चौसर तत्त्वतः हास्यलेखक है और उसके कन्टरबरी टेल्स का अधिकांश कॉमेडी कहा जाता है। कवि के अश्लील वर्णन जीवन के प्रति उसके उदार एवं व्यापक दृष्टिकोण के सर्वथा अनुकूल हैं। उनमें कवि का स्वर स्वस्थ है वर्णन उच्च कोटि के हैं और रचना शिल्प की दृष्टि में अश्लील कथाएँ चौसर की अनन्य उपलब्धियों में परिगणित होती हैं। नलिन जी भूल जाते हैं कि 'महाकवि चौसर' की यथार्थता और जोला, मोरोविया जैसे अद्यतन लेखकों की यथार्थता में उतना ही अन्तर है जितना मध्ययुगीन कला और अद्यतन कला में है। जहाँ मध्ययुगीन कला सामंजस्य और उच्चोच्चपरंपरा (हायरार्की) के सिद्धांत पर आधृत है, वहीं आधुनिक कला का आधार उन प्रतिकूल और विरोधी वस्तुओं की भावना है जिनके परस्पर प्रभाव से समन्वय की उत्पत्ति होती है।[1] मध्ययुगीन चिंतन का मूलाधार, मुख्यतः उच्चोच्चपरंपरा की भावना है और आधुनिक चिंतन में क्रियाशील विरोधी तत्त्वों की भावना पायी जाती है।[2] जब मध्ययुगीन कलाकार को कोई नीति-उपदेश देना होता है तब वह अश्लील दृष्टांतों का प्रयोग करने में संकोच नहीं करता। चौसर की बात तो जाने दीजिए टॉमस रिंगस्टेड ने 'बुक आव प्रोमब्ज' की व्याख्या के क्रम में और राइडवल ने सेण्ट ऑगस्टीन के 'सिटी ऑव गाड' पर लिखे गए अपने भाष्य में अश्लील दृष्टांत प्रस्तुत किए हैं। ये कथाएँ यथार्थवादी न होकर तद्युगीन नैतिकता के अन्तर्गत ही रहती हैं और इनके लेखक रोमांटिक यथार्थवादी लेखक नहीं माने जाते। उनकी अश्लीलता यथार्थवादिता से उद्भूत न होकर उनकी मध्ययुगीन धार्मिकता का ही अंग है।[3]

---

१ D W Robertson Jr *A Preface to Chaucer Studies in Medieval Perspective* (Princeton 1962), p 6

२ उपरिवत्।

३ Medieval artists did not hesitate to use what we should call obscenity to illustrate a moral point The modern view that such materials represent a romantic assertion of the baser elements of human nature simply overlooks the fact that they were intended to be significant

"यथार्थवाद और आधुनिक हिंदी कविता" शीर्षक निबंध में अंग्रेजी कविता में यथार्थवाद के विकास का इतिवृत्त प्रस्तुत करते हुए नलिनजी कहते हैं 'कैंटरबरी टेल्स' के अनेक निरावरण वर्णन केवल अपनी मनुष्यता के कारण ही अश्लील होने के बदले विराट हो गए हैं। फिर, युगों के बाद, ऑस्कर वाइल्ड का 'द बलड आफ रीडिंग जेल' इस दृष्टि से एक सर्वथा अप्रत्याशित, पर श्रेष्ठ रचना है।"[2] एक ही छलांग में पांच सौ वर्षों की सुदीर्घ अवधि लाँघ डाली गई है। शेक्सपियर और जान डन आदि, लघु प्रबंधों (एपीलिया) के दर्जनों प्रणेता जिनमें एक प्रकार के यथार्थवाद का स्पष्ट उन्मीलन हुआ है और अठारहवीं शती के व्यंग्य-काल के रचयिता विस्मृत कर दिये गए हैं। शेक्सपियर के सानेटों और नाटकों में, उनके प्रगीतों में, एलिजाबीथन 'इरोटिक एपीलिया'[3] में यथार्थवादी तत्त्वों का पर्याप्त संयोग देखा जाता है। संभवतः शेक्सपियर के 'बौडलराइज्ड' संस्करणों पर निर्भर रहने और पोप के व्यंग्य काव्य से पूर्णतया अभिज्ञ न होने के कारण ही लेखक ने चौसर के बाद वाइल्ड के यथार्थवाद का उल्लेख किया है।

सत्रहवीं शती के जर्मी टेलर टामस ब्राउन सरीखे अँगरेज लेखकों की धारणा थी कि यदि उनकी रचनाओं में प्राचीन लेखकों से लिये गए उद्धरण सन्निविष्ट नहीं हुए, उनमें लटिन के कतिपय विद्वत्तापूर्ण उद्धरणों का समावेश न हुआ और यदि उनमें लटिन ग्रीक आदि के लेखकों का उल्लेख न हुआ, तो सामयिक पाठकों द्वारा उनकी रचनाएँ समादृत न होंगी।[4] इस कारण ब्राउन ने

within the framework of Christian morality Ibid pp. 20 *et seq*

१ दृष्टिकोण १, पृ० ११ १९।

२ उपरिवत, पृ० १३।

३ Dr R C Prasad The Elizabethan Erotic Epyllia in *Studies in Humanities* March 1964 pp 28 30

४ 'Those who then (i e in the seventeenth century) wrote on serious subjects were expected to dignify their argument by *copious quotations from the Ancients* and *from the Fathers* To appear without one's Latin was to stroll in the street on a public occasion without one's wig Browne laments the lack of a library there were no good books on his shelves So Jeremy Taylor, a year or two later bemoaned his misfortune Edmund Gosse

अपने गद्य को लैटिन शब्दों और उद्धरणों से भाराक्रांत करने में संकोच न किया। नलिनजी की धारणा है कि जिस निबंध में कतिपय पाश्चात्य लेखकों के नाम और अंग्रेज़ी शब्द न आयें वह प्रकाशित होने योग्य नहीं है। हिंदी के साधारण पाठकों को अपने विश्वकोशीय ज्ञान से चमत्कृत करना इन निबंधों का दूसरा लक्ष्य है। इतना ही नहीं, अंग्रेज़ी के पाठकों को भी नलिनजी के निबंध अपनी विस्मयकारी उपपत्तियों से स्तम्भित करने की क्षमता रखते हैं। निम्न-लिखित वाक्यों से इस कथन की पुष्टि होती है —

(१) अंग्रेज़ी में जो परंपरा लैम्ब से चली, वह आधुनिक काल में ल्यूकस, ग्रेनाक, बिअरबूहाम प्रभृति के हाथों में साहित्य का प्रशंसनीय स्थायी और विशिष्ट रूप धारण कर चुकी है।[1]

(२) हिन्दी में पेटर का हिंदी का स्माइल्स भी होना विशेषता नहीं रखता है।[2]

दूसरे वाक्य में शुक्लजी को हिंदी का पेटर कहा गया है परंतु यह बताया नहीं गया कि इस तुलना का आधार क्या है। पहले वाक्य में लैम्ब के स्थान पर बेकन या ऐडिसन रख देने से भी काम चल सकता है।

नलिनजी जैनेन्द्र की तरह यह स्वीकार करते हैं कि हिंदी का अपना रंगमंच नहीं है और इस कारण ब्रिटेन और अमेरिका की जागरूक जन-नाट्य शालाओं की ओर 'देखने' की सलाह देते हैं। वह नाटक ही क्या जो अपने श्रोताओं और दर्शकों तक न पहुँचे। इस तथ्य के प्रतिपादन के लिए नलिनजी ने 'आधुनिक अँगरेज़ी के दार्शनिक और औपन्यासिक अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व के साहित्यिक पुरस्कारों के विजेता चार्ल्स मार्गन' के इस कथन को उद्धृत किया है 'A play is useless that does not reach its audience' (अपने कथन का अतिरिक्त प्रामाणिकता देने के हेतु आप यह तो बतलाते हैं कि आपके उद्धरण ऐसे-वैसे साधारण उद्धरण नहीं हैं अपितु आधुनिक अंग्रेज़ी के दार्शनिक और औपन्यासिक' तथा अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व के पुरस्कारों के विजेता मार्गन के प्रख्यात नाटक' की भूमिका से लिए गए हैं परंतु यह नहीं कहते कि पेटर और स्माइल्स कौन थे और शुक्लजी की तुलना उनसे क्या की जानी चाहिए।) हिंदी का रंगमंच शीर्षक निबंध में ह्। बर्नार्ड शा के नाटकों की विशेषताओं और यूरोपीय रंगमंचों के विकास

१ दृष्टिकोण, १, पृ० २४।

२ उपरिवत।

३ उपरिवत, पृ० ४२ ४३।

का संक्षिप्त वर्णन उपस्थित किया गया है। 'आज की छोटी कहानी' में कहानी की कतिपय विशेषताओं का विवेचन है परंतु विवेचन का आधार हिंदी कहानी और हिंदी कहानीकार नहीं हैं। स्मरसेट, पो, हायन, चेखव, मैन्सफील्ड, शेरवुड एंडरसन, मैन्सफील्ड, जेम्स ज्वायस, वर्जीनिया वुल्फ, वेल्स आदि कहानीकारों की कहानियों और उनकी विशेषताओं का ही सर्वाधिक उल्लेख है। चेतना के प्रवाह का उल्लेख करते हुए लेखक ने कहा है "... पाश्चात्य जान बूझकर कहा गया है क्योंकि कला के जिन रूपों को हिंदी ने पश्चिम से लिया है उनमें खेद है, वह बहुत पिछड़ी हुई दीख पड़ती है।"[1] 'युद्ध और अहिंसा' का विवेचन मूलतः मार्क्सवादी और फ्रायड के विचारों का प्रस्तुतीकरण है। इसमें डा० जे० डी० अचिन के युद्ध-संबंधी सिद्धांत की परीक्षा की गई है। लेखक इन पाश्चात्य विचारकों के सिद्धांतों की मीमांसा से ही संतुष्ट नहीं हो जाता वह हवमले लॉरेन्स एच० जी० वेल्स प्रभृति लेखकों के युद्ध विषयक सिद्धांतों का भी उल्लेख करता है। निबंध के अंत में गांधीजी और नेहरू के विचार विवेचित हुए हैं। 'दृष्टिकोण' के अंतिम निबंध 'नारी', में भी भारतीय नारी की विशेषताओं का—या नारी सुलभ गुणों का—वर्णन नहीं है। नारी के गुणों का अध्ययन पाश्चात्य दृष्टिकोण से हुआ है और इसमें भी पाश्चात्य साहित्यकारों के मत उद्धृत हैं। सम्प्रति, पश्चिम में प्रचलित नारी-संबंधी धारणाओं का ही इस निबंध में सर्वाधिक वर्णन हुआ है। 'अंगरेजी गल्प और मारल', तुर्गनेव और दास्तायव्स्की, मन समीक्षण, बर्नार्ड शा पृष्ठभूमि, उपलब्धि और पराजय', आंद्रे जीद, 'आथर क्वायस्लर', मॉडर्न अंगरेजी के शरतचंद्र एलियट की आलोचना प्रणाली' जैसे निबंध ही नलिनजी की सर्वोत्कृष्ट रचनाएँ हैं। जहाँ वे भारतीय साहित्य और तत्संबंधी विषयों पर लिखते हैं, अपने पाश्चात्य पूर्वाग्रहों के कारण एकांगी हो जाते हैं।

नलिनजी की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धियाँ उनकी सम्पादकीय टिप्पणियाँ और बिहार राष्ट्रभाषा परिषद से प्रकाशित साहित्य का इतिहास-दर्शन है। पुस्तक समीक्षा में वे जिस नैपुण्य एवं वैदुष्य का परिचय देते हैं, वह विरल है। उनकी मानसिकता इतिहासकार तथा सर्वत्र सूत्रात्मक गद्य के प्रयोक्ता और प्रवर्तक की मौलिकता है, उनकी प्रतिभा ऐतिहासिक या पूर्वप्रतिष्ठित तथ्यों के इतिवृत्तात्मक विवेचन में ही अधिकाधिक निखरी है। उनकी कविताओं की नीरसता और गद्यात्मकता उनकी प्रतिभा के इसी पक्ष से संश्लिष्ट और उद्भूत है। यदि कोई सूत्ररूप से उनकी ही शैली में, उनकी उपलब्धियों को मूल्यांकित करना

1 दृष्टिकोण १, पृ० ३८।

चाह तो रट सकता है कि व हिंदा-साहित्य वे टामस स्प्रट हैं यद्यपि यह रूपक मी सवतोभावेन सटीक नहा है।

साहित्यिक घोषणा-पत्रा का प्रकाशन पाश्चात्य मस्तिष्क की उदभावना है। प्रपद्यवाद के घोषणापत्र के प्रकाशन के पूव यूरोप म तीन ऐस घोषणा-पत्र प्रकाशित हो चुके थे जिनमे वहां का अद्यतन साहित्य अत्यत प्रभावित है

(१) मिम्यालिक मेनिफेस्टो—१८८६ ई०,

(२) इमजिस्ट मनिफेस्टो—१९१३ ई०,

(३) सर्रियलिस्ट मेनिफेस्टो—१९२४ ई०।

'नकेनवादी प्रयोग-ध्वा-सूनी' पर इन घोषणा-पत्रा का प्रभाव नाममात्र का है, परतु प्रपद्यवाद का ग्यारहवां सूत्र बिंबवादी घोषणापत्र (इमजिस्ट मेनिफेस्टो) के छठे सूत्र से मिलता-जुलता है। इसी प्रकार 'पमपशा' पर पाउड, एलियट तथा एफ० आर० लाविस के प्रभाव दृष्टिगत होते हैं। मलार्मे, ह्यूम, फ्लावेयर पाउड आदि पाश्चात्य लेखका की रचनाओं म किंचित् ऐसे ह। सिद्धात प्रतिपादित हु जा प्रपद्यनाद के मूलभूत सिद्धाता के समरूप हैं। नलिनजी न पाश्चात्य सिद्धाता का यथावत ग्रहण नहीं किया और न व किसी एक ही पाश्चात्य लखक के विचारा म प्रभावित हुए हैं।

गजानन माधव मुक्तिबोध (१९१७ १९६४)

'चाद का मुह टेढा है म समाविष्ट मुक्तिबोध की जावनकथा म स्पष्ट है कि जहा इस नव्य प्रयोगवादी[1] कवि न भारतीय कवियो की रचनाओं का अध्ययन किया था वहा वह दास्तायवस्की, फ्लावेयर और गार्की की रचनाओ स भा पूणतया परिचित था और उसके प्रिय लेखकों मे यूरप के य हो महान् उपन्यासकार थे। इनम गार्की सर्वोपरि था।[2] मुक्तिबोध ने स्वय कहा है १९३८ स १९४२ तक के पाँच वष मानसिक सघप और वगसानीय व्यक्तिवाद के वष थे। आन्तरिक विनष्ट शांति और पारिवारिक ध्वस के इस समय म मेरा व्यक्तिवाद कवच की भाति काम करता था। वगसा की स्वतत्र क्रियमाण जीवन शक्ति (elan vital) के प्रति मेरी आस्था बढ गयी थी।'[3] बालजाक, फ्लावेयर, दास्तायवस्की गार्की

---

१ 'आलोचना', अप्रल १९६६, प० १७६ (दे० डा० नरेन्द्र शर्मा, मुक्तिबोध का आलोचनादर्शन)।

२ 'चाद का मुह टेढा हैं' (१९६५), प० १५।

३ 'तार सप्तक' (१९६६), प० ४२।

आदि पाश्चात्य लेखकों के क्या साहित्य के अतिरिक्त मुक्तिबोध ने पाश्चात्य मनोविज्ञान एवं मार्क्सवाद का भी श्रमपूर्वक अध्ययन किया था और इन्हीं के प्रभाव के फलस्वरूप वे नये प्रगतिवादी कवि और समीक्षक बने। उन्होंने प्रगतिवाद से ही मार्क्सीय दर्शन लिया और उसे प्रयोगवाद से अनुस्यूत कर निराला की सुधरी और शुद्ध मानवतावादी परंपरा को आगे बढ़ाया।[1]

प्रयोगशील कवि आलोचकों में मुक्तिबोध का स्थान महत्त्वपूर्ण है। अन्य प्रयोगशील कवियों की तरह वे भी पाश्चात्य साहित्य मार्क्सवाद, मनोविश्लेषण शास्त्र और मनोविज्ञान से अत्यधिक प्रभावित हुए हैं और अज्ञेय-जैसे कवि-समीक्षकों की तरह उन्होंने भी अनेक ऐसे निबंध लिखे हैं जो उनकी काव्य-सर्जना और कृतित्व पर प्रचुर प्रकाश डालते हैं। एक साहित्यिक की डायरी (द्वि० सं० १९६४) में यद्यपि कल्पना-तत्त्व का ही प्राधान्य है फिर भी इसके कुछ स्थल मुक्तिबोध की अभिरुचि और उनकी रचनाओं में परिलक्षित पाश्चात्य प्रभाव का द्योतन करते हैं। इस दृष्टि से निम्नलिखित पंक्तियाँ ध्यातव्य हैं

> मुझे फिलॉसफी में सबसे ऊँचे नम्बर मिले थे। मैंने साइको ऐनेलिसिस की बात छोड़ (Sic) दी थी।
>
> (एक साहित्यिक की डायरी, पृ० ५)
>
> शायद मैं ही इसे बहुत "बोर" करता रहूँगा। यह तो मैं जानता हूँ कि सारे दर्शन का मूल आधार सब्जेक्ट ऑब्जेक्ट रिलेशनशिप की कल्पना है।
>
> (उपरि० पृ० ८)
>
> जिस प्रकार विज्ञान में इण्डक्शन पर आया जाता है—तथ्यों के संग्रह से उनके विश्लेषण द्वारा, उनके सामान्यीकरण से अनुमान और निष्कर्ष निकाले जाते हैं—उसी प्रकार साहित्य में इण्डक्शन से डिडक्शन पर क्यों न आया जाये?
>
> (उपरि०, पृ० १३)
>
> कला का पहला क्षण है जीवन का उत्कट तीव्र अनुभव-क्षण। दूसरा क्षण है इस अनुभव का अपने कसकते दुखते हुए मूलों से पृथक् हो जाना और एक ऐसी फैण्टेसी का रूप धारण कर लेना मानो वह *फैण्टेसी अपनी आँखों के सामने ही खड़ी हो।*
>
> (उपरि० पृ० १८)

---

1 'चाँद का मुँह टेढ़ा है', पृ० २६।

मैं रीअली फर्स्ट क्लास कपड़े पहने था।

(उपरि०, पृ० ४५)

हाशिये पर कुछ नोट्स'

(उपरि०, पृ० २१)

मुक्तिबोध के यह गद्य शैली नहीं खटकती, इनके अँगरेजी शब्द अशोभन प्रतीत नहीं होते। यहाँ तक कि 'मैं रीअली फर्स्ट क्लास कपड़े पहने था' जैसे वाक्य भी अपने संदर्भ में आस्वादनीय ही लगते हैं। इसका कारण है कि जिस पुस्तक से उपर्युक्त वाक्य उद्धृत हैं वह एक अगंभीर, हल्के मूड में लिखी गई है—'एक साहित्यिक की डायरी' है। 'नये की जन्म-कुण्डली' में मुक्तिबोध ने भारत में पाश्चात्य साहित्य-मनीषियों की लोकप्रियता के मूल कारण की ओर संकेत किया है 'मूलतः व्यक्ति एक सांस्कृतिक शून्य में रह रहा है—एक कल्चरल वैक्युअम में। फलतः कोई टी० एस० इलियट के पास जाता है तो कोई टायनबी के समीप, तो कोई और किसी तरफ।"[1] प्रश्न है, यदि टी० एस० एलियट और टॉयनबी के पास जाना हमारी सांस्कृतिक शून्यता की पहचान है तो यट्स, एलियट आदि कवियों का भारतीय संस्कृति की ओर आकृष्ट होना किस बात का द्योतन करता है? वस्तुतः एलियट और टॉयनबी की ओर हमारा जाना सांस्कृतिक शून्यता का क्षण नहीं प्रस्तुत परिस्थितियों का तकाजा है आधुनिक विज्ञान की देन है। एलियट की कविताओं में ही 'शून्यता' की जैसी मर्मस्पर्शी व्यंजना हुई है वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। डिला टामस सी० डे० लूइस आदि भी इस शून्यता से पूर्णतया परिचित हैं और उनकी कविताएँ स्थल-स्थल पर इसकी करुण अभिव्यक्ति करती हैं। समसामयिक अमरीकी लेखकों ने—वाल्टर वान टिल्वग क्लार्क, वलस स्टेग्नर, राइट मारिस आदि ने—इस शून्यता को अपने उपन्यासों में वाणी दी है।[2]

---

१ एक साहित्यिक की डायरी, पृ० ८३।

२ In its largest dimension the crisis in the culture of the forties was an existential crisis The theme of self disco very that runs through the fiction of this period reveals *the intense preoccupation of writers with the problems of the se f it reveals the struggle to define and shape a* relationship between the self and American culture In one context or another we have seen in the preceding pages how writers dealt with these problems at a time when the culture seemed in many ways particularly in-

किंतु मुक्तिबोध जैसे आलोचकों को ऐसी बातें बताने की आवश्यकता नहीं होती। यदि वे ऐसी बात न लिखकर कुछ और लिख जाते हैं तो इसका कारण उनका अज्ञान नहीं, प्रत्युत संभवतः, उनका ईषत् उतावलापन है। मुक्तिबोध अवसर पाते ही नयेनवाब्रियों की तरह पाश्चात्य साहित्य में ही उतर जाते हैं, भारतीय परिवेश से निकलकर पाश्चात्य वाङ्मय से उदाहरण देने लगते हैं। 'नवीन समीक्षा का आधार' शीर्षक निबंध में उनकी एक महत्त्वपूर्ण स्थापना यह है कि 'वास्तविक जीवन की संवेदनात्मक समीक्षा शक्ति के अभाव में, साहित्य समीक्षा का हाल बुरा होता है।'[1] भारतीय वाङ्मय से लिए गए सटीक उदाहरणों से इस कथन की विश्वसनीयता नहीं मिलती और न हिंदी के उन साहित्य-समीक्षकों के नाम ही बताये जाते हैं जिनमें वास्तविक जीवन की संवेदनात्मक समीक्षा शक्ति का अभाव है। इसके विपरीत रोम्यां रोलां के उन आलोचकों की ओर संकेत किया जाता है जो जियाँ क्रिस्तोफ के अंतर्गत दार्शनिक मनःस्थिति में लिखे गए प्रदीर्घ जीवन आलोचनात्मक खंडों को निकाल देने की सलाह देते हैं। परंतु मुक्तिबोध के लिए रोम्यां रोलां और 'जियाँ क्रिस्तोफ' से ही काम चलने को नहीं है। इसलिए वे ह्रासोन्मुख मार्क्सीय साहित्य की चर्चा करने लगते हैं। प्रश्न है

---

hospitable to the survival of the self Walter Van Tilburg Clark is over borne by this crisis and seems to reject man and accept the world nature Chester E Eisinger *Fiction of the Forties* (Chicago and London) p 308

तुलना कीजिए "आज का जीवन सर्वथा विशृंखलित और अव्यवस्थित है, जीवन मूल्यों की इतनी भयंकर अराजकता पहले शायद ही कभी सामने आई हो। राजनीतिक और आर्थिक दुर्व्यवस्था के साथ सांस्कृतिक और दार्शनिक उलझनों ने मिलकर जीवन में अगणित गुत्थियाँ डाल दी हैं—जिनमें कि आज का विचारक फँस कर रह जाता है। इस प्रकार के राजनीतिक विप्लव तो पहले भी आये थे, परंतु मानव चेतना पर उनका इतना सर्वव्यापी प्रभाव नहीं पड़ा। पर आज तो जैसे समाज और सभ्यता का आधार ही भंग हो गया है। राजनीतिक विप्लव ने भयंकर आध्यात्मिक विप्लव को भी जन्म दे दिया है, विश्वास का सूत्र सर्वथा छिन्न भिन्न हो गया है। और आज की सबसे बड़ी दुर्घटना यही सर्वग्राही अविश्वास है। आज हमें न अध्यात्म दर्शन में विश्वास है, न भौतिक दर्शन में" डॉ० नगेंद्र, 'आधुनिक हिंदी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ' (दिल्ली, १९६२), पृ० ११५ ११६।

१ गजानन माधव मुक्तिबोध, 'नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध' (नागपुर, १९६४), पृ० १००।

हिंदी के कितने पाठकों ने रोम्याँ रोलाँ के उक्त उपन्यास का अध्ययन किया है? कितने लोग इस तथ्य को हृदयंगम करने में समर्थ होंगे कि 'मोपासाँ तक आते-आते फ्रेंच साहित्य ह्रासग्रस्त हो गया था?'[1] इस प्रकार नलिनजी की 'स्टंट'-शैली इस नव्य प्रगतिवादी आलोचक तक आ पहुँची है। विश्व-साहित्य से अपनी स्थापनाओं को उदाहृत करने में कोई हानि नहीं है—डा० नगेंद्र और आचार्य नन्दुलारे वाजपेयी भी ऐसा ही करते हैं किंतु यहाँ हानि-लाभ का नहीं, वस्तु-स्थिति का प्रश्न है—मुक्तिबोध की रचनाओं से यह सवतोभावेन स्पष्ट है कि भारतीय साहित्य में वांछित अपेक्षित गति न होने के कारण वे इस अभाव की पूर्ति पाश्चात्य साहित्य में अपनी पैठ दिखलाकर करते हैं। पर साधारण पाठक तो बार-बार यह जानना चाहेगा कि क्या इन रचनाओं में मिलनेवाले पाश्चात्य नामों की जगह भारतीय लेखकों के नाम नहीं आ सकते? क्या मुक्तिबोध ने रूसी और फ्रांसीसी भाषाओं में प्रणीत मूल उपन्यासों का अध्ययन किया था अथवा केवल उनके अनूदित संस्करण ही देखे-सुने थे?

मुक्तिबोध के समीक्षा मान मार्क्सीय हैं और दृष्टिकोण, तत्त्वतः पाश्चात्य। उनके समीक्षक के लिए यह अत्यावश्यक है कि वह अपनी जिन्दगी को अपने वर्ग, अपनी श्रेणी और अपने समाज के वास्तविक जीवन का हिस्सेदार बना दे।[2] जिंदगी से तटस्थ रहनेवाला समीक्षक उच्चकोटि का भावक नहीं हो सकता, कालजयी समीक्षात्मक कृतियों की सृष्टि नहीं कर सकता। साधारण मनुष्यों के जीवन के मर्म और उनके असाधारणत्व को समझने-पहचानने वाला व्यक्ति ही उनके 'साहित्यिक प्रतिबिंबों' की नापजोख करने का अधिकारी है। 'साहित्य के प्रश्न' मुक्तिबोध ने कहा है 'जीवन के प्रश्न हैं।'[3] साहित्यकार जीवनतत्त्वों, जीवनयथार्थ और जीवनदृष्टि को अपनी रचनाओं में संवेदनात्मक रूप में व्यक्त करता है। 'जब तक कि कोई भी समीक्षक जीवन-जगत से लेखक के संबंधों को और उनके विभिन्न स्वरूपों को, जीवन-जगत के वातावरण से भावग्रहण करने की उसकी मानसिक प्रक्रियाओं को जीवन जगत के प्रति ... को जो रही उसकी तीव्र संवेदनात्मक क्रिया प्रतिक्रियाओं को उनके स्वरूप को, उन तीव्र संवेदनात्मक क्रिया प्रतिक्रियाओं के भावात्मक पुंजों की स्थिति को, सृजन प्रक्रिया में इन भावात्मक पुंजों के आविर्भाव को—तथा एतत्संबंधी अन्य समस्याओं को,

---

१ उपरिवत, पृ० १०१।
२ उपरिवत, पृ० १००।
३ उपरिवत, पृ० १४५।

जबतक कि समीक्षक स्वयं आत्मगत नहीं करता, उन पर सर्वांशतया विचारणा प्रस्तुत नहीं करता तब तक वह लेखक की सहायता नहीं कर सकता, तब तक वह वास्तविक दिशादान नहीं कर सकता।'[1]

इन पंक्तियों में स्थापित समाजवादी दृष्टिकोण से ही मुक्तिबोध ने कामायनी पर पुनर्विचार किया है।[2]

कहीं-कहीं ऐसा प्रतीत होता है कि मुक्तिबोध के विचार भ्रमात्मक बड़े ही अघपके और उनके कथन बड़े ही अविचारित तथा अत्यन्त व्यापकीकृत हैं। उदाहरणार्थ—उनके अनुसार आलोचना दो प्रकार की होती है—एक रूप की, दूसरा तत्त्व की।[3] डा० देवेन्द्र शर्मा और डॉ० भगवत्स्वरूप मिश्र आलोचना के कितने ही प्रकार गिना डालेंगे। मुक्तिबोध यह भी कहते हैं कि जब तक वास्तविक जीवन की संवेदनात्मक और ज्ञानसंवेदनात्मक समीक्षाशक्ति लेखक और समीक्षक दोनों में विकसित और सम्पन्न नहीं होती, तब तक हमारे सारे प्रयत्न अधूरे हैं।'[4] दूसरे लोग कहेंगे—सारे प्रयत्न अधूरे न होंगे। तीसरे वर्ग के समीक्षक केवल संवेदन ज्ञान और ज्ञान-संवेदन के विकास और उनकी संपन्नता का ही समीक्षक के लिए अनिवार्य न कहकर भाषा शैली तथा अभिव्यक्ति का भी महत्त्व देंगे और कहेंगे कि संवेदनात्मक ज्ञान तथा ज्ञानात्मक संवेदनात्मक समीक्षाशक्ति तो अनेक व्यक्तियों में पायी जाती है। यदि इस शक्ति के साथ आलोचक में अभिव्यक्ति-कौशल तथा अपनी अनुभूति में विभिन्न मतवादों के पूर्ण विलयन एवं रासायनिक एकीकरण की क्षमता हो तो कहा अच्छा। इसी प्रकार यह तो कोई प्रगतिवादी मां ही होगी जो मुंडेर पर से धड़ाम से [5] गिरे हुए अपने बेटे की दशा पर घबड़ाने और रोने के बदले उसे पीटना शुरू करेगी। मुक्तिबोध कहते हैं कि 'महान् से महान् समीक्षक जब काव्य-सर्जन की मानवभूमि से कट जाता है तब वह एक बहुत बड़ा खतरा उठाता है।'[6] दूसरे लोग काव्य-सर्जन की मानवभूमि के साथ काव्य-सर्जन की भावभूमि और ऐसी ही अन्य भूमियाँ भी रखना चाहेंगे।

---

१ उपरिवत्, पृ० १४८।

२ दे० 'गजानन माधव मुक्तिबोध', 'कामायनी एक पुनर्विचार' (जबलपुर, १९६१), पृ० २७, ४१, ८४ इत्यादि।

३ 'नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध', पृ० १०४।

४ उपरिवत्, पृ० १०५।

५ उपरिवत्, पृ० १०६।

६ उपरिवत्, पृ० १२८-१२९।

७

हिन्दी-पाठालोचन पर पाश्चात्य प्रभाव



> यदि हिन्दी को अपने कर्तव्य का पूरा-पूरा पालन करना है तो उसे न केवल संस्कृत के सौंदर्य और लचीलेपन तथा प्रांतीय भाषाओं के सुलभ साधनों को अपनाना पड़ेगा अपितु अंग्रेजी की स्पष्टता और सजीवता भी अर्जित करनी होगी।
>
> —श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी (नागरीप्रचारिणी पत्रिका, सं० २००६ अंक २–३ पृ० २००)।

'पाठालोचन' के लिए 'पाठ-सम्पादन', 'पाठ-शोध', 'पाठान्वेषण', 'पाठानुसंधान', 'सम्पादन' आदि हिन्दी और 'टेक्स्चुअल क्रिटिसिज्म' अँगरेजी पर्याय प्रचलित हैं। अँगरेजी में 'टेक्स्चुअल क्रिटिसिज्म' प्रायः दो अर्थों में प्रयुक्त होता है। जब समीक्षक विवेच्य ग्रन्थ के पाठ (टेक्स्ट) का विश्लेषण और उससे लिए गए उद्धरणों में प्रयुक्त शब्दों, बिम्बों, अलंकारों तथा भाषा-संबंधी बारीकियों पर विचार करता है तब ऐसी आलोचना, स्वभावतः 'टेक्स्चुअल क्रिटिसिज्म' कही जाती है। सिडनी, पटनम, ड्रायडन, वर्ड्स्वर्थ, शेली, हैजलिट, पेटर आदि की समीक्षात्मक रचनाएँ 'टेक्स्चुअल क्रिटिसिज्म' में परिगणित नहीं होतीं, कारण इनमें पाठ का वैसा विवेचन-विश्लेषण नहीं, जैसा कतिपय आधुनिक आलोचक करते हैं। आधुनिक समीक्षकों में कालरिज, आई० ए० रिचर्ड्स, एम्पसन, एलियट, एफ० आर० लीविस तथा क्लीन्थ ब्रुक्स की आलोचनाएँ, मुख्यतः 'टेक्स्चुअल क्रिटिसिज्म' कही जा सकती हैं। ये आलोचक सिद्धांतों और निष्कर्षों में ही उतने न रहकर विवेच्य साहित्यकारों की रचनाओं का विश्लेषण करते हैं, उनसे विभिन्न उद्धरण लेकर उनका विवेचन-मूल्यांकन करते हैं। नई आलोचना में 'टेक्स्चुअल क्रिटिसिज्म' की ही प्रवृत्ति सर्वाधिक देखने को मिलती है और यह

व्यावहारिक समीक्षा का कहीं तो पर्याय और कहीं उसका अन्तर्भूत अंग रही है, अविच्छिन्न अंग बन जाता है। साधारण पाठक के लिए यह व्यावहारिक समीक्षा ('प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म') 'क्लिनिकल अनैलिसिस' या 'पार्सिंग अनैलिसिस' का पर्याय है। (वस्तुतः ऐसी आलोचना को 'टेक्सचुअल क्रिटिसिज्म' न कहकर 'टेक्सचुअल अनैलिसिस' कहना अधिक समीचीन जान पड़ता है। यदि टेक्सचुअल क्रिटिसिज्म के स्थान पर 'टेक्सचुअल अनैलिसिस' का प्रयोग चल पड़े तो टेक्सचुअल क्रिटिसिज्म का रूढ़ अर्थ में ही स्वतंत्र प्रयोग होगा जो वाञ्छनीय है।)

शब्दों तथा नामों के प्रयोग में सतर्क रहकर और विद्वान् 'टेक्सचुअल क्रिटिसिज्म' को इसके रूढ़ अर्थ में ही प्रयुक्त करना युक्तियुक्त समझते हैं। अपने रूढ़ अर्थ में 'टेक्सचुअल क्रिटिसिज्म' वही है जो हिन्दी में पाठालोचन। टेक्सचुअल क्रिटिसिज्म का प्रयोग उसी आलोचना के लिए होना चाहिए जिसमें प्राचीन हस्तलेखों और मुद्रित प्रतियों के सम्पादन एवं प्रकाशन सम्बन्धी सिद्धान्तों का प्रतिपादन हो। जिस ग्रन्थ या निबंध में प्राचीन पाठों की प्रामाणिकता का परीक्षण, पाण्डुलिपियों की परस्पर तुलना के आधार पर सर्वाधिक प्रामाणिक पाठ के चयन और सम्पादन का प्रयास, पाण्डुलिपियों और मुद्रित प्रतियों का वर्गीकरण आदि हो, उस ग्रन्थ या निबंध को ही 'टेक्सचुअल क्रिटिसिज्म' के नाम से अभिहित किया जाना चाहिए। परन्तु नये आलोचक इस प्रकार की आलोचना को आलोचना कहना न्यायसंगत नहीं समझते। जिस आलोचना में अनेकानेक हस्तलेखों, दस्तावेजों और मुद्रित प्रतियों के आधार पर उस मूल पाठ के निर्धारण और यथावत् पुनर्निर्माण का प्रयत्न हो जिसे उसके लेखक ने धारण किया था, वह सच्ची समालोचना नहीं हो सकती। वह आलोचना नहीं, एक प्रकार का शोध—एक प्रकार की पाण्डित्यपूर्ण गवेषणा है। इससे कलाकृति को समझने और उसके आस्वादन में सहायता नहीं मिलती। नये आलोचक कलाकृति की आलोचना करते हैं, कलाकार की नहीं; कलाकृति को ही परखते हैं, उसकी रचना के पूर्व की स्थितियों, पाण्डुलिपियों और कवि के जीवन को नहीं। सत्समालोचक तो वह है जो हमारी आनन्दानुभूति और बोध का संवर्धन कर सके और जो हमें उच्च कोटि का पाठक बनाये। आइ० ए० रिचर्ड्स तथा एलियट ही ऐसे कार्य में सर्वथा सक्षम रहे हैं। रिचर्ड्स ने विश्लेषण के साधनों को अधिकाधिक उन्नत कर कोलरिज की उपलब्धियों को व्यवस्थित तथा सामान्यतः सुलभ बनाया है। एलियट ने केवल आलोचना-पद्धतियों और आलोचना विषयक धारणाओं को ही परिष्कृत नहीं किया है प्रत्युत ऐसे प्रतिमानों और विचारों का प्रचलन किया है जिनमें साहित्य की पुनर्व्यवस्था और

पुनर्निधारण की क्षमता रही है।[1] गरड, बानमी डार्बी डेस्मण्ड मेकार्थी, एडमण्ड गॉस एवर-क्रॉम्बी, बडले बेटसन प्रभृति की आलाचनाएँ एफ० आर० लीविस और स्त्रुटिनी-दल के समीक्षकों को पसद नही हैं। इनक अनुसार उक्त आलोचक ऐसे हैं जिनके गभीर वदुष्य आर वचस्व। पाडित्य म इस दल को संदेह नही है परन्तु बेट्सन की आलोचना करत हुए लीविस न कहा है

> Bateson starts from the commonplace observation that a poem is in some way related to the world in which it was written He arrives by a jump at the assumption that the way to achieve the correct reading of a poem is to put it back in its total context in that world No idea of such an undertaking troubles the readers whose attention is really and intelligently focussed upon the poem

स्त्रुटिनी' के लेखक और आलोचक समीक्षा और पाडित्य मे पार्थक्य स्थापित करना उचित नही समझत थ। कारा पाडित्य समालोचना के लिए आवश्यक नही और न पाडित्य के बिना समालाचना का वह महत्त्व मिल सकता है जो सार्थक एव प्रासगिक विद्वत्ता से युक्त आलोचना का मिलता रहा है। जेरम स्टॉलनिज न 'इस्थटिक्स एण्ड फिलॉसफी आव आर्ट क्रिटिसिज्म (१९६०) म एक ऐसी आलोचना का उल्लेख किया है जिसे वह काण्टेक्स्चुअल क्रिटिसिज्म कहता है। कलाकृति के सदभ या काण्टेक्स्ट म व परिस्थितियाँ अन्तर्निविष्ट हैं जिनम कलाकृति की सष्टि हाती है इसम समाज पर पडनेवाल इसके प्रभाव आर अन्यान्य वस्तुओं के साथ इसका सबध आर अन्त सबध भी समाहित हैं। इसके विपरीत सौंदर्यशास्त्रीय दष्टिकाण (इस्थेटिक पर्सेप्शन) कलाकृति का पथक् रखकर ही उस पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है। यदि हम कला के मूल्यो का सौंदर्यशास्त्रीय दष्टि से न आक तो इसका एक सदभ या प्रसग म हाना स्पष्ट हो जायगा।[4]

---

१ *Scrutiny* vol 1 no 2 (एफ० आर० लीविस, "ह्वाटस रौंग विद क्रिटिसिज्म)

२ *Scrutiny* vol X1X no 3 pp 162 et seq

३ दे० प० ४४९ (context ual न कि con textual)

४ स्टालनिज, उल्ल० ग्र०, प० ४५० । स्टालनिज ने कहा है "हाट्-इज, द वक, कसीडड नानइस्थेटिकली एक्जिस्टस इन काण्टेक्स्ट ।'

इसकी रचना ऐसे मनुष्य द्वारा होती है जिसकी अपनी खास-खास मनोवैज्ञानिक विशेषताएँ होती है। वह रचनाकार एक ऐसे समाज में जीता रहता है जिसकी विविध संस्थाएँ और मूल्य उसके जीवन और चिंतन को प्रभावित करते हैं। उसकी अपनी राजनतिक, आर्थिक और जातिगत निष्ठाएँ होती हैं। 'कान्टेक्स्चुअल क्रिटिसिज्म' एक ऐसी आलोचना है जो कला के ऐतिहासिक सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक सदर्भों की परीक्षा करती है।

हिन्दी मे पाठालोचन

हिन्दी मे पाठ सम्पादन के वैज्ञानिक सिद्धांतो का विवेचन प्रस्तुत करनेवाला एकमात्र ग्रंथ 'पाठ-सम्पादन के सिद्धांत'[1] अँगरेजी पुस्तकों पर ही सर्वाधिक आधृत है। इसमें लेखक ने कात्रे की पुस्तक[2] से सामग्री चयन तो किया ही है इसकी रचना मे 'इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' से भी यथेष्ट सहायता ली है। पुस्तक के अनुशीलन से ऐसा प्रतीत होता है कि इसके लेखक को वे सारे ग्रन्थ उपलब्ध थे जिनके आधार पर कात्रे ने भी अपनी 'भूमिका' की रचना की है।

पाठ सम्पादन के पाश्चात्य सिद्धांतों ने एतद्विषयक भारतीय विचारों को किस हद तक प्रभावित किया है, इसका अनुमान कात्रे की पुस्तक के अनुशीलन से किया जा सकता है। विषय प्रतिपादन और अपने तर्कों की अतिरिक्त प्रामाणिकता देने के लिए कात्रे ने सर्वत्र पाश्चात्य विद्वानों के विचारों का उल्लेख किया है। उनकी पुस्तक में ऐसे कथन बहुश बिखरे मिलते हैं —

सर जान मार्शल ने कहा है (पृ० १)

जैसा बूलर ने कहा है (पृ० ३)

हाल के कथनानुसार (पृ० ३०, ३२)

कल्प के अनुसार (पृ० ३६)

जैसा वेस्टकॉट तथा हॉर्ट ने कहा है (पृ० ४३)

पाठ विकृतियों के भिन्न भिन्न हेतुओं का उद्घाटन जो विशद वर्णन प्रस्तुत किया है वह भी पाश्चात्य ग्रन्थों पर विशेषत क्लार्क रचित 'अ कम्पेनियन टु ग्रीक स्टडीज' तथा एफ० डब्ल्यू० हाल रचित 'कम्पेनियन टु क्लासिकल स्टडीज' पर ही आधृत

---

१ लेखक कन्हैया सिंह, प्रकाशक इलाहाबाद, महामना प्रकाशन मन्दिर, १९६२।

२ एस० एम० कात्रे, 'इंट्रोडक्शन टु इंडियन टेक्स्चुअल क्रिटिसिज्म' (पूना, १९४१)

है। कात्रे ने पाश्चात्य पाठालोचन के पारिभाषिक शब्दों को अपनाते हुए उसके मूलभूत सिद्धान्तों का समर्थन किया है और कहा है कि चूँकि मूलपाठों की जो प्रतियाँ तयार की जाती हैं वे मूलपाठ की यथावत् प्रतिकृति नहीं होतीं, हम मूलपाठ को आदर्श या मूल प्रति (एक्जम्पलर) भी कहते हैं।[1] आदर्श प्रति के पुनः प्रस्तुतीकरण की प्रक्रिया में विकृतियाँ आ ही जाती हैं जिसके कारण प्रतिकृति आदर्श के समतुल्य तो नहीं ही होती। उससे कभी-कभी बहुत हीनतर भी हो जाती है।[2] इस प्रकार मूल की जितनी भी प्रतिकृतियाँ बनती हैं उनमें विकृतियाँ भी उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती हैं और मूल हस्तलेख के खो जाने पर इन प्रतिकृतियों की ही प्रतिकृतियाँ बनती हैं। इस कारण हस्तलेखों का रचनाकाल बड़े महत्त्व का विषय बन जाता है।[3] हस्तलेख जितना भी प्राचीन होगा, उसमें आदर्श के निकट होने की सम्भावना भी उतनी ही होगी। कात्रे के अनुसार प्रतिलिपिकार की भूलें चाक्षुष (दृष्टिभ्रमजनित) और मनोवैज्ञानिक (मानसिक भ्रमजनित) होती हैं।[4] चाक्षुष विकृतियों में स्थानापन्नता, लोपन और परिवर्धन संबंधी अशुद्धियाँ परिगणित होती हैं। लिपिकार अपनी असावधानी या दुर्बलता के कारण ये भूलें कर बैठता है। मनोवैज्ञानिक भूलें उन लिपिकारों से होती हैं जिनमें अपनी भूलों का शायद समर्थन की प्रवृत्ति मिलती है। प्राचीन पाठों के लिपिकार लिखते-लिखते अपनी ओर से संशोधन करने लग जाते हैं और शायद ही कभी आदर्श पाठ की सच्ची प्रतिकृति प्रस्तुत करते हैं। साथ ही यह भी संभव है कि लिपिकार की भूलें आदर्श प्रति में भी विद्यमान हों। विश्व के महान् से महान लेखकों से भी भूल होती है।[5]

कात्रे ने यह भी कहा है कि प्रत्येक लिपिकार की कतिपय स्वभावगत विशेषताएँ होती हैं और प्रत्येक हस्तलेख कुछ न कुछ विशिष्टता लिये होता है। लिपिकार की स्वभावगत विलक्षणताएँ उसकी लिखावट में, उसकी उस प्रवृत्ति में जिसके कारण वह एक विशेष प्रकार की ही भूल करता है और अन्य प्रकार की भूलों से विमुक्त रहता है तथा उसकी उन अभिरुचि में उद्भासित होता है जिसकी

---

१ कात्रे, उल्ल० ग्र०, पृ० २०।
२ उपरिवत।
३ कात्रे, उल्ल० ग्र०, पृ० २०।
४ उपरिवत, पृ० २२।
५ उपरिवत।
६ उपरिवत, पृ० २३।

अभिव्यक्ति उस समय होती है जब उसे दो पाठ भेदों में एक का चयन करना पड़ता है। हस्तलेखों के सतत श्रमसाध्य अनुशीलन मनन से ही लिपिकार की ये विशेषताएँ जानी जा सकती हैं। उनके विशेष गुण में सच्चाई और सावधानी निष्ठा और बुद्धिमत्ता अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।[1]

'इन्ट्रोडक्शन टु इन्डियन टेक्स्चुअल क्रिटिसिज्म' में हस्तलेखों के प्रेषण (ट्रान्समिशन) के दो प्रकार बताये गए हैं। एक तो सरक्षित या आनायित प्रेषण है जिसमें मूल की प्रतिलिपि स्वय लेखक उसके प्रतिनिधि या आदर्श प्रति के विद्वान अधिकारी के निर्देशन में या राजा के सरक्षण में विद्वज्जनो द्वारा तैयार होती है और दूसरा ऐसा अव्यवस्थित प्रेषण है जिसमें हस्तलेखों की प्रतिलिपि अर्द्धशिक्षित व्यक्तियों द्वारा की जाती है। पाठालोचक का यह वक्तव्य है कि वह सर्वाधिक विश्वसनीय पाठ का चयन (रिसेंसियो) और समस्त अविश्वसनीय तत्त्वों का निवारण कर पाठसुधार ('एमेण्डेशियो) करे। पाश्चात्य अभिजात पद्धति के अनुसार पाठालोचन की चार प्रक्रियाएँ हैं (१) ह्यूअरिस्टिक्स—सामग्री सकलन, (२) रिसेंसियो—उक्त सामग्री का पुनःस्थापन (रेस्टोरेशन) (३) एमेण्डेशियो—पाठसुधार और (४) हायर क्रिटिसिज्म—लेखक द्वारा प्रयुक्त आधारों का पृथक्करण और उच्चतर आलोचना।

डॉ० माताप्रसाद गुप्त हिंदी पाठालोचन के आधार स्तम्भो में एक हैं किंतु उन्होंने इसके सैद्धांतिक विश्लेषण में सबंधित केवल एक लेख ही लिखा (अनुसधान की प्रक्रिया)। अतएव यहाँ केवल उसी के आधार पर डॉ० गुप्त के पाठानुसधान विषयक विचारों का परिशीलन किया जा रहा है। यों डॉ० गुप्त ने लगभग आधे दर्जन ग्रन्थों का पाठ सम्पादन किया है जिनकी भूमिकाओं में तद्विषयक सिद्धान्तो का विस्तृत विवेचन मिलता है। यथाप्रसग उन पर भी विचार किया जायगा।

गुप्तजी पर कात्रे का बहुत अधिक प्रभाव है जो निम्नाकित तुलना से समर्थित है—

मा० प्र० गु०	कात्रे
(अनुसधान की प्रक्रिया १९६०)	(इन्ट्रोडक्शन टु इडियन टेक्स्चुअल
पृ० १२२	पृ० ३१ क्रिटिसिज्म १९५४)
इसे प्राय चार विभागो म विभाजित	the classical model
किया जाता रहा है। सामग्री-सकलन	divides textual criticism in

---

१ उपरिवत, पृष्ठ २४

(Hevristics), पाठ चयन (Recension), पाठ-सुधार (Emendation) तथा उच्चतर आलोचना (Higher Criticism)	to four processes (1) Heuristics (2) Recensio (3) *Emendatio* (4) Higher Criticism
पृ० १२६	पृ० २०
इसलिए प्रतिलिपि-परंपरा में कृति का पाठ उत्तरोत्तर अधिकाधिक विकृत होता जाता है।	The deterioration so produced increases with the number of successive copyings
पृ० १२६	पृ० ५४
ये विकृतियाँ अनेकानेक प्रकार की होती हैं किंतु इन्हें मुख्यतः दो वर्गों में रखा जा सकता है इच्छित और अनिच्छित।	We have already indicated that the corruptions which find their way in transmitted texts are either visual and psychological, *accidental or deliberately made and involuntary semi involuntary or voluntary*
पृ० १२८	पृ० ३८
ऐसी दशा में जो तत्त्व कितनी भी प्रतियों में समान रूप से मिलेंगे वे मूल के होंगे।	identity of reading implies identity of origin

वस्तुतः गुप्तजी का निबंध[1] कात्रे की 'भूमिका' का ही एक लघु रूप है और कन्हैया सिंह का 'पाठ सम्पादन के सिद्धांत' नामक ग्रंथ गुप्तजी के निबंध का कात्रे और 'इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका' पर आधारित व्यापक रूप। किंतु यहाँ दो बातें उल्लेखनीय हैं एक तो यह कि गुप्तजी और कन्हैया सिंह ने पाठालोचन के पाश्चात्य सिद्धांतों को भारतीय हस्तलेखों और दस्तावेजों के सम्पादन-क्रम में उपस्थित समस्याओं के आलोक में अपनाया है और उनमें प्रचुर स्वदेशी तत्त्व समाहित किए हैं और दूसरी यह कि कात्रे की पुस्तक से प्रभावित होने

१ डॉ० सावित्री सिन्हा और डॉ० विजयेन्द्र स्नातक (सम्पा०), 'अनुसंधान की प्रक्रिया' (दिल्ली, १९६०), पृ० १२१-१३०। निबंध का शीर्षक है "पाठानुसंधान"।

से इन्हें लाभ भी कम नहीं हुआ। कात्रे ने विवेच्य विषय का सर्वाधिक प्रतिपादन भारतीय हस्तलेखों और उनके पाठानुसंधान की दृष्टि से ही किया है। जहाँ वे पाठानुसंधान की पाश्चात्य समस्याओं के प्रति जागरूक रहे हैं वहाँ उन्होंने प्राचीन भारतीय हस्तलेखों के सम्पादन की समस्याओं की उपेक्षा नहीं की है— उपेक्षा करने का प्रश्न ही न था। साथ ही यहाँ इन प्रश्नों पर भी ध्यान देना समीचीन होगा कि क्या पाठानुसंधान जैसे शास्त्रीय और तकनीकी विषय के सिद्धांत देश विदेश में भिन्न भिन्न होंगे। यदि नहीं, तो पाठालोचन की पाश्चात्य परंपरा से गुप्तजी और डा० कात्रे के प्रभावित होने का प्रश्न ही क्यों उठाया जाय? इनके उत्तर में कहा जा सकता है कि पाठानुसंधान के मूल सिद्धांत देश विदेश में भिन्न भिन्न न होंगे किंतु भारतीय वाङ्मय में पाठालोचन की जो समस्याएँ हैं वे पाश्चात्य साहित्य में नहीं हैं। जहाँ पश्चिम में पाठालोचन की परंपरा अत्यंत समृद्ध और प्राचीन है वहाँ हमारे यहाँ यह परंपरा अभी अपने शैशव में ही है और इसकी प्रतिष्ठा एवं प्रचलन का यत्किंचित श्रेय पाश्चात्य विद्वानों को है।

कहा जा चुका है कि कन्हैया सिंह की पुस्तक 'पाठ-सम्पादन के सिद्धांत' डा० कात्रे और इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका पर ही सर्वाधिक आधृत है। इसके 'सिद्धांत विवेचन' शीर्षक खंड (प्रथम सात अध्याय) में मौलिकता के स्थान पर रूपांतरण है, पाश्चात्य सिद्धांतों का हिन्दी में सविस्तर प्रतिपादन है। परंतु इससे पुस्तक का मूल्य कम नहीं हो जाता। जैसा स्वयं लेखक ने कहा है "हिंदी में पाठ-संपादन के वैज्ञानिक सिद्धांतों का विवेचन करनेवाला कोई ग्रंथ नहीं है जिसमें हिंदी की पाठ समस्याओं का अनुशीलन किया गया हो।" दृष्टिकोण की ये पंक्तियाँ श्यामसुंदरदास विरचित 'साहित्यालोचन' की भूमिका का स्मरण दिलाती हैं। यदि कहा जाय कि यह श्यामसुंदरदास के 'साहित्यालोचन' की तरह सामयिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक अनिवार्य प्रयास है तो इसमें अत्युक्ति न होगी।

ध्यातव्य है कि हिंदी में पाठ-सम्पादन के सारे सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक कार्य हस्तलिखित ग्रंथों से संबंध रखते हैं। मुद्रित ग्रंथों के पाठ-सम्पादन की ओर ध्यान आकृष्ट करनेवाले एकमात्र डा० नगेंद्र हैं। 'कामायनी' के अध्ययन की समस्याओं पर विचार करते हुए उन्होंने इस संबंध में पाठालोचन को प्रथम स्थान दिया है।[१]

---

२ डॉ० नगेन्द्र, 'कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ' (दिल्ली, १९६५), पृ० ३।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि हिन्दी म पाठ-सम्पादन का सद्धान्तिक विश्लेषण अभी शशवावस्था मे है। इसके विपरीत पाश्चात्य साहित्य म इसका दूरव्यापी विकास हुआ है। जिन स्थितियो स पाश्चात्य पाठालोचन गुजरा है, उनम मे कुछ स्थितिया हिंदी-पाठालोचन मे भी आयी हैं अत सम्भावना है कि वहा की अन्य स्थितिया आगे यहा भी आयें। इसलिए पाश्चात्य साहित्य म पाठालोचन के विकास पर विहगम दृष्टि डाल लेना अप्रासगिक न होगा।

पाश्चात्य साहित्य मे पाठालोचन

पाश्चात्य साहित्य म पाठालोचन को साहित्यिक शोध की प्रविधिया क अतगत रखने की परपरा मिलती है। अनुसधाता के लिए जहा प्राचीन हस्तलेखो लिखावटो और लिपिकार के सम्प्रेषण आकुचन विषयक अभ्यासो तथा छोटे-बडे अक्षरो क प्रयोग से सबद्ध इसकी विशेषताओ का परिज्ञान आवश्यक है वहाँ उस निम्नलिखित विषयो का भी अध्ययन करना पडता है —

विश्लेषणात्मक ग्रथविज्ञान (अनलिटिकल बिब्लिओग्रफी)

पाठालोचन (टेक्स्चुअल क्रिटिसिज्म)

आनाम्नय और प्रभाव (सोर्सेज एण्ड इन्फ्लूएन्सेज)

लेखक निधारण और प्रामाणिकता (ऐटिब्युशन एण्ड आर्थेण्टिसिटी)

रचना प्रक्रिया (द प्रासेस आव कम्पोजिशन) और पुरालिपिशास्त्र (पेलिओग्रफी)

पाठालोचक भी एक प्रकार का सिद्ध मर्मी अनुसधाता होता है। प्राचीन पाण्डुलिपियो के तुलनात्मक अध्ययन एव वर्गीकरण म वह निपुण तो होता ही है साथ ही वह हस्तलेखो के रचनाकाल म भाषा की अवस्था उनके लिपिकारो की शैली क गुण-वशिष्ट्य उनक ऐतिहासिक परिवेश तथा तद्युगीन सामाजिक धार्मिक एव आर्थिक परिस्थितियो स भी पूणतया अवगत होता है। इस प्रकार के ज्ञान का उपयोग वह साहित्यकार और लिपिकार की व्यक्तिगत विशेषताओ और उनकी साहित्यगत प्रवृत्तियो के निधारण के लिए करता है।

यो तो पश्चिम के समृद्ध वाङ्मय म पाठालोचन की परपरा अत्यन्त प्राचीन है, फिर भी मुद्रणालयो की स्थापना के पश्चात ही प्राचीन एव सामयिक कृतियो के प्रामाणिक सस्करणो के प्रकाशन-काय म तेजी आयी है।[१] इग्लैंड का सव-

---

१ 'The Art of Printing had b-en invented and exercised for a consider.ble tim- in most countries of Europe

प्रथम प्रकाशक कैक्सटन स्वयं भी एक सुयोग्य सक्षम पाठालोचक था।[1] किन्तु उन दिनों पाण्डुलिपियों का अध्ययन, वर्गीकरण और उनका तुलनात्मक समीक्षण वैज्ञानिक एवं सुश्रृंखल ढंग से न होकर अव्यवस्थित रूप से तथा सम्पादक की सुविधा, रुचि और परिस्थिति के अनुसार होता था। उन दिनों पाठालोचन का

---

before the Art of Criticism was called in to superintend and direct its operations Thomas Tyrwhitt *The Poetical Works of Geoffrey Chaucer* (London 1855) P iii (Appendix to the Preface)

१ Pref to Caxton s 2 d Edit from a copy in the Library of St John s Coll Oxford Ames p 55—Whiche book I have dylygently oversen and duly examyned to the ende that it be made accordyng unto his owen makyng for I *fynde many of the sayd bookes which wryters have* abrydgyd it and many thynges left out and in some places hav sette certayn versys that he never made ne sette in hys booke of whyche bookes so incorrecte was one broughte to me vi yere passyd whiche I supposed had ben veray trrue and correcte and accordyng to the same I dyde do enprynte a certayn nomber of them whyche anon were solde to many and dyverse gentyl men of whom one gentylman cam to me and sayd that this book was not according in many places unto the book that Gefferey Chaucer had made To whom I answered that I had made it accord yng to my copye and by me was nothyng added ne mynushyd Thenne he sayd he knewe a book whyche hys fader had and moche lovyd that was very trewe To whom I said, in caas that he conde gete me suche a book trewe and correcte yet I wold ones endevoyre me to enprynte it agayn, for to satisfy the auctour, where as tofore by ygnoraunce I erryd in hurtyng and dyffamyng his book in dyverce places *Ibid*

वैसा बहमुखी विकास नहा हो पाया था, जितना बाद के युगा में हुआ है। यूरप म ग्रग्रेर पाठालोचन विषयक ग्रनेकानेक ग्रथो का प्रणयन हो चुका है जिनसे निर्विवाद है कि पाठालोचन के सिद्धाता ग्रार पद्धतिया का परिचय हा सकता है। यह निर्विवाद है कि इन ग्रथों की रचना उपलब्ध सम्पादित ग्रथा के ग्राधार पर ही हुई है ग्रौर इन्होंने पाठालोचन को वैज्ञानिक रूप सज्जा देने के साथ ही समीक्षा का एक ग्रत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रग भी बना लिया है। ग्रँगरेजी पाठो के सम्पादन के लिए प्राचीन ग्रभिजात पद्धतिया ग्रौर प्राचीन सम्पादन शलिया का ज्ञान डब्ल्यू० डब्ल्यू० ग्रेग की पुस्तक 'द कल्क्युलस ग्राव वरियण्टस' (१६२७) ग्रार पॉल माज की पुस्तक 'टेक्स्चुग्रल क्रिटिसिज्म' (जमन से ग्रनूदित, १६५८) कराती हैं। एलिजबेथन महत्त्वपूर्ण सामग्री के लिए ग्रँगरेज सम्पादको ने ए० ई० हाउसमन के मनीलियस (१८०३), जुवनल (१६०५), लूकन (१६२६) की भूमिकाग्रो ग्रौर उनकी 'दि ऐप्लिकेशन ग्राव थाट टु टेक्स्चुग्रल क्रिटिसिज्म' को ग्रत्यन्त उपादेय माना है। जान कार्टर द्वारा संपादित ए० ई० हाउसमन 'सलक्टेड प्रोज (१६६१) म ग्रतिम निबध की पुनरावृत्ति हुई है।

ग्रँगरेजी म ग्राधुनिक पाठालोचन का ग्रारम्भ ग्रार० बी० मकरो (McKerrow) द्वारा सम्पादित टामस नश के बहत सस्करण (पाच खडा म १६०४–१०) म होना है जिसम पहली बार 'कापी-टेक्स्ट' नामक पारिभाषिक शब्द-युग्म (ग्रौर सिद्धान्त) की उद्भावना हुई है। जब एफ० पी० विल्सन न इसका नवप्रकाशन सपूरक टिप्पणियो के साथ (पाच खडो म, १६५८ म) किया तब मकेरो के पुरान सहयोगी ग्रेग ने एक महत्त्वपूर्ण परिशिष्ट म उनके द्वारा समर्थित विचारो का विरोध किया। इसके पहले भी मकरो की 'प्रालेगामिना फार द ग्राक्सफोर्ड शेक्सपियर' (१८३८) ने ग्रेग को उस निर्जी 'प्रालेगामिना (उपोद्घात)' की रचना के लिए प्रेरित किया था, जो 'दि एडिटोरियल प्राब्लम इन शेक्सपियर' (१८४२, सशोधित १८५०) के ग्रारम्भ मे सयोजित है। पाठालोचन के सिद्धानादि के सबध म ग्रन्यान्य महत्त्वपूर्ण कृतियो म जे० डोवर विल्सन की पुस्तक 'द मैन्युस्क्रिप्ट ग्राव शेक्सपियस हैमलेट' (१८३४), एलिस वाकर की पुस्तक 'टेक्स्चुग्रल प्राब्लेम्स ग्राव द फस्ट फालियो' (१८५३), फ्रेन्सन बावर्ज की पुस्तकें 'ग्रान एडिटिंग शेक्सपियर एण्ड द एलिजाबेथन ड्रमेटिस्ट्स' (१८५५) 'टेक्स्चुग्रल एण्ड लिटररी क्रिटिसिज्म' (१८५६) ग्रौर 'बिब्लियोग्रैफी एण्ड टेक्स्चुग्रल क्रिटिसिज्म' (१८६४) तथा चार्ल्टन हिंमन की रचना 'द प्रिंटिंग एण्ड प्रूफ रीडिंग ग्राव द फस्ट फालियो ग्राव शेक्सपियर' (१८६३) उल्लेखनीय हैं। एलिजाबेथ-युगीन नाटकों के पाठ विषयक ग्रध्ययन

के प्रत्येक पक्ष पर बहुसंख्यक लेख 'स्टडीज इन बिब्लियोग्रफी' में मिलते हैं। इसके सम्पादन बावर्स करते हैं जो 'बिब्लियो-टेक्स्चुअल' शब्द के आविष्कार और इसी नाम से अभिहित पद्धति के आविर्भावक भी हैं। शेक्सपियर के अतिरिक्त जिन कवियों और लेखकों के संबंध में पाठालोचक व्यस्त रहे हैं, उनमें लंगलैंड चासर मलरी रॉचेस्टर पोप और ऐडिसन सर्वोपरि है। सन् १८६० में जी० ए० केन ने 'पीयर्स प्लाउमैन' के 'ए-टेक्स्ट'[1] का एक उच्चकोटि का संस्करण प्रकाशित किया और सन् १६४० में जे० एम० मैनली तथा एडिथ रिक्ट ने आठ खंडों में चॉसर के 'कैन्टरबरी टेल्स' की समी पाडुलिपियों और प्राचीन मुद्रित प्रतियों का सम्पादन किया। युजीन विनेवर ने मलरी की 'कृतियों' का, डा० एम० वीथ (Vieth) ने 'ऐट्रिब्युशन इन रेस्टोरेशन पोयट्री' (१६६३) का, एफ० डब्ल्यू० बेटसन ने 'एपिस्ल टु सैटरेस पर्सस' में 'जेनरल नोट ऑन द टेक्स्ट' का तथा डी० एफ० बाण्ड ने पाँच खंडों में ऐडिसन के 'स्पेक्टेटर' का प्रकाशन सम्पादन किया।

पाठालोचन-संबंधी अँगरेजी पुस्तकों में वा० ए० डीयरिंग की पुस्तकें 'मैनुअल आव टेक्स्चुअल क्रिटिसिज्म' (१६६०) तथा 'मेथड्स आव टेक्स्चुअल एडिटिंग' (क्लार्क मेमोरियल लाइब्रेरी, १६६२) विषय के सर्वांगीण सूक्ष्म एवं प्रामाणिक विवेचन के लिए ख्यात हैं।

हिंदी-पाठानुसंधान कार्य का इतिहास तथा उस पर पाश्चात्य प्रभाव

हिंदी-ग्रंथों के मुद्रण के साथ ही हिंदी-पाठानुसंधान कार्य का बीजवपन हुआ था। उस समय का तथाकथित सम्पादक वस्तुतः शोधक होता था जो अपनी रुचि और अपने ज्ञान के अनुसार पाडुलिपि में सुधार कर और कभी-कभी यथास्थान अपनी ओर से कुछ जोड़कर, उसे मुद्रित करा देता था। आरम्भिक मुद्रित ग्रंथों में प्रायः ही आवरण पर लिखा मिलता है—पंडितों द्वारा शुद्ध कराये, अमुक द्वारा शुद्ध कराये, आदि। निश्चय ही यह पाठशोध नहीं था, बल्कि इसमें पाठशोध की समस्या जटिलतर ही हुई किंतु हिंदी-पाठालोचन के इतिहास पर दृष्टि निक्षेप करते हुए इस अवस्था का विस्मरण नहीं किया जा सकता। पाश्चात्य

---

१ लंगलैंड अपनी कविता "पीयर्स प्लाउमैन" को यावज्जीवन संशोधित करता रहा। इन संशोधनों के फलस्वरूप उसकी कविता के तीन पाठ मिलते हैं जिनमें जिस पाठ की रचना पहले हुई वह ए-टेक्स्ट और अंतिम सी-टेक्स्ट कहलाया। बीचवाला पाठ बी-टेक्स्ट कहा जाता है।

पाठालोचन पर विचार करते हुए दिखाया गया है कि आरम्भ में वहाँ भी यही अवस्था थी।

भारत में पाठानुसंधान का आरम्भ संस्कृत ग्रंथों से हुआ जिसके मूल में पाश्चात्य प्रेरणा काम कर रही थी। भारतीय हिंदी-परिषद के नागपुर अधिवेशन में हुई निबंध-गोष्ठी के अध्यक्ष-पद से किए गए अपने भाषण में डॉ० धर्मेंद्र ब्रह्मचारी ने कहा था

> जैसी प्रगति आलोचना की अन्य दिशाओं में हुई है, संभवतः वैसी प्रगति प्राचीन ग्रंथों, प्राचीन कवियों और प्राचीन लेखकों-संबंधी शोध की दिशा में नहीं हुई है। हिंदी की अपेक्षा संस्कृत के विद्वानों ने इस दिशा में अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य किया है यद्यपि उन्होंने भी अपनी प्रेरणाएँ पाश्चात्य देशों के मोनियर विलियम्स, बूलर, कील-हॉर्न (Kielhorn) वेबर, पार्जिटर (Pargiter) पिटर्सन (Peterson) कनिंघम (Cunningham) आदि अन्वेषकों से ली। हिंदी में हस्तलिखित ग्रन्थों के संग्रह तथा उनके संबंध में सूचनाओं के प्रकाशन का व्यवस्थित रूप से कार्य आरंभ किया काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने जहाँ सन् १९०० ई० में श्री श्यामसुंदरदास के तत्त्वावधान में खोज विभाग की स्थापना हुई।[1]

इससे स्पष्ट है कि पाठालोचन की भारतीय परंपरा का सूत्रपात नवीन पाश्चात्य विद्वानों की प्रेरणा के फलस्वरूप ही हुआ है। पाठानुसंधान के क्षेत्र में काशी नागरी प्रचारिणी सभा का योगदान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। सभा के संचालकों का ध्यान सभा की स्थापना (सन १८९३ ई०) के अवसर पर ही हस्तलेखों की खोज की ओर आकृष्ट हुआ था। किंतु सभा अपनी प्रारम्भिक अवस्था में ऐसे महत्त्वपूर्ण एवं व्ययसाध्य कार्य का भार उठाने में सर्वथा असमर्थ थी। अतएव उसने भारत सरकार और बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी से संस्कृत की हस्तलिखित पुस्तकों की खोज और जाँच करते समय हिंदी की हस्त-लिखित पुस्तकों की भी जाँच करने और सूची प्रकाशित करने की प्रार्थना की।[2] एशियाटिक सोसाइटी ने ही हिंदी की भी कुछ सौ 'पुस्तकों की नोटिसें तैयार की

---

१ 'अवंतिका,' फरवरी १९५६ (वर्ष ४, खंड १, अंक २), पृ० २११।

२ नागरीप्रचारिणी पत्रिका, संवत २००९ (वर्ष ५७, अंक १), पृ० ९९।

३ नागरीप्रचारिणी पत्रिका, संवत २००९ (वर्ष ५७, अंक १), पृ० १००।

परतु दूसरे वष इस काम को करन म अपनी असमथता व्यक्त की। सभा न प्रातीय सरकार से ईपत् प्रोत्साहन पाकर अपने प्रधान स्तम्भ श्यामसुदरदास के निरीक्षण म खोज विभाग की सस्थापना की। सन् १८०६ म इसकी खोज की रिपोर्टें त्रैवार्षिक क्रम से लिखी जाने लगी। सरकार के आदेशानुसार हस्तलिखित हिंदी ग्रथो की खोज की समस्त 'रिपोर्टें सर जाज ग्रियसन क पास भेजी गया और उन पर उनकी सम्मति मागी गयी। ग्रियसन न रिपोर्टों की भूरिश प्रशसा तो की ही, साथ ही २२ सितबर १९१४ क पत्र म सभा को कुछ निर्देश भी दिये जिनके अनुसार प्रत्येक पुस्तक की नोटिस प्रस्तुत होनी चाहिए। केवल ग्रथो और ग्रथकर्ताओ की नामावली न हो। पुस्तक के विषय को विस्तार के साथ लिखना चाहिए तथा ग्रथकार क वश और उसके अभिभावक (आश्रयदाता) के वणन को पूरा-पूरा उद्धत करना चाहिए। साथ ही सन्-सवत जहा जहा हो उन्ह लिख देना चाहिए। रिपोट बहुत महत्त्व की होनी चाहिए। जिन जिन साहित्यिक, ऐतिहासिक तथा सामाजिक बातो का पता लगे उनका रिपोट म पूण विवेचन के साथ उल्लख होना चाहिए और यह स्पष्ट दिखाना चाहिए कि किन पुरान विचारो या सिद्धातो का किन बातो स (जिनका खोज से पता लगा है) समथन अथवा खडन होता है तथा कान सी बातें सदिग्ध जान पडती हैं।[1]

सन् १९२० म सभा द्वारा स्थापित उपसमिति न यह भी निश्चय किया कि 'हिंदी पुस्तको की खोज का जितना काम अब तक हुआ है उसका साराश डा० आफ्रेट के कटेलागस कटेलगरम के ढग पर तयार करवाकर प्रकाशित करवा दिया जाय ।'[2]

नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा किये गए प्रयासो के फलस्वरूप जो हस्तलिखित हिन्दी ग्रथ उपलब्ध हुए उनके आधार पर मिश्रबधु विनोद की रचना हुई। इस सदभ म रायबहादुर हीरालाल-द्वारा प्रस्तुत दसवी रिपोट (१९१७–१९१९ की खोजो पर) की भूमिका की निम्नलिखित पक्तिया उद्धरणीय है

> The information collected in respect of the authors and their works has inspired men with a critical turn of mind to write the History of Hindi literature At any rate two

---

१ उपरिवत, पृ० १०४ १०७ ।

२ उपरिवत, पृ० १०७ ।

> books of this class may be considered to be the direct outcome of the encouragement given by the United Provinces Government to a theme which was restricted only to classical languages like the Sanskrit. The first of these is a voluminous work by the Misra Bandhus who used the search information to the best advantage in their Vinoda and the other is an English work by Mr F E Keay contributed by him to the Heritage of India series This has been followed by Mr E Greaves Sketch of Hindi literature. The forerunner of all these was a Hindi work named Siva Simha Saroja followed by Sir George Grierson s Modern vernacular literature of Hindustan [1]

ग्रियर्सन जैसे अंग्रेज विद्वानों से प्रेरणा पाकर सभा ने पाठानुसंधान के क्षेत्र में अनेकानेक प्रस्तुत कार्य किये जिनमें हिंदी के प्रामाणिक साहित्येतिहास की रचना हुई। साहित्येतिहास के प्रारम्भिक लेखकों में ग्रियर्सन का स्थान बड़े महत्त्व का है। उनके इतिहास ने परवर्ती इतिहासों को तो प्रभावित किया ही है शुक्लजी जैसे आचार्यों की साहित्यिक अभिरुचि और दृष्टिकोण को भी अनुकूलित किया है। अपनी जायसी-ग्रन्थावली के प्रथम संस्करण में ग्रियर्सन का अनुकरण करते हुए शुक्लजी ने बिना किसी व्याख्या के ८४७ का पाठ छपवाया है और मूल प्रति की लिपि फारसी मान ली है। इतना ही नहीं पाश्चात्य विश्वविद्यालयों में ही सर्वप्रथम हिंदी पाठालोचन का अवतरण हुआ माना जा सकता है। यदि डॉ० हरवंशलाल शर्मा द्वारा प्रस्तुत सूचना में सच्चाई है (इसके विपरीत कोई अन्य सूचना इन पंक्तियों के लेखक को उपलब्ध नहीं हुई) तो मानना पड़ेगा कि 'संपादन के क्षेत्र में सबसे पहला कार्य डा० ग्रियर्सन का है। उन्होंने मलिक मुहम्मद जायसी

---

१ *The Tenth Report on the Search of Hindi Manuscripts* (Allahabad 1929) p iii

२ डॉ० सावित्री सिन्हा और डॉ० विजयेन्द्र स्नातक (सम्पा०), उल्लि० ग्रं०, पृ० १४।

कृत पद्मावत का सटिप्पण संपादन और अनुवाद (१६वीं शताब्दी की अवधी का अध्ययन)' नामक शोध विषय पर सन् १९४१ में लंदन से पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की थी। डॉ० हरवंशलाल शर्मा के साक्ष्यानुसार सन् १९१८ से आज तक जो अनुसंधान-कार्य हुआ है उसका आदर्श पाश्चात्य ही रहा है।[1]

रामचन्द्र शुक्ल : जायसी ग्रंथावली (१९२४) और हिंदी पाठ सम्पादन का प्रारंभ

शुक्लजी उन पाठालोचकों में हैं जो अर्थ बिठाने के लिए पाठों को विकृत किया जाना उचित नहीं समझते। उन्होंने सुधाकरजी और डा० ग्रियर्सन द्वारा सम्पादित 'पद्मावत' में पाठ को प्रामाणिक स्वीकार नहीं किया है और सुधाकर जी की उस प्रवृत्ति को हेय बताया है जिसके कारण वे कहीं-कहीं अर्थ बिठाने के लिए 'पद्मावत' के पाठ को विकृत कर देते हैं।

किंतु स्वयं शुक्लजी में 'पद्मावत' की सभी मुद्रित-हस्तलिखित प्रतियों के तुलनात्मक अध्ययन-परीक्षण के लिए न धैर्य था और न इस काम के लिए अवकाश ही। उन्होंने इस ग्रंथ के केवल चार संस्करण देखे थे और उनके पास इन प्रतियों के अतिरिक्त फ़ारसी लिपि में लिखी एक हस्तलिखित प्रति भी थी जिससे पाठचयन में उन्हें कुछ सहायता मिली। 'उर्दू लिपि के कारण पाठ-विकृति की संभावनाओं पर उन्होंने अवश्य कुछ ध्यान दिया था किंतु ग्रियर्सन ने भी इस प्रकार का ध्यान दिया था और दोनों में अन्तर अधिक नहीं है। ग्रियर्सन की भाँति ही शुक्लजी का ध्यान भी इस बात की ओर नहीं गया कि वास्तव में 'पद्मावत' की आदि

---

१ उपरिवत। इसी लेखक ने यह भी कहा है कि हिंदी साहित्य से संबद्ध अनुसंधान का "श्रीगणेश यूरोप के विश्वविद्यालयों में ही हुआ।" (उपरि० पृ० ३) तुलसी के धर्मदर्शन पर जे० एन० कारपेन्टर का शोधकार्य ही हिंदी का सर्वप्रथम शोधप्रबंध है जिस पर उन्हें सन् १९१८ ई० में लंदन विश्वविद्यालय से शोध-उपाधि प्राप्त हुई थी। १९३४ ई० में जनार्दन मिश्र ने "सूरदास का धार्मिक काव्य" शोधक प्रबंध पर सन् १९३४ ई० में कानिग्सबर्ग नामक जर्मन विश्वविद्यालय से "डॉक्टर ऑव फ़िलॉसफ़ी' की उपाधि प्राप्त की थी। *मध्यकालीन काव्यों की व्रजभाषा* और लोकजन्य व्रजभाषा पर सर्वप्रथम लिखा हुआ शोध प्रबंध डॉ० धीरेन्द्र वर्मा का है, जिस पर सन् १९३५ में पेरिस विश्वविद्यालय ने डी० लिट्० की उपाधि प्रदान की थी।

प्रति उन्‌ मे नही, नागरी लिपि मे थी। इसलिए वे भी उसी प्रकार मार्ग के बीच म ही रह गए जैसे ग्रियर्सन। जायसी की भाषा और छंद-योजना के स्वरूपों का भी ठीक-ठाक परिज्ञान उनके सस्करण म नहीं दिखाई पड़ता है।"[1]

इसम संदेह नही कि शुक्लजी उन पाठालोचकों म नहा हैं जो धैर्यपूर्वक प्रयोजनीय सामग्री का सचयन तथा एक ही ग्रथ की भिन्न भिन्न पाडुलिपियो के प्राप्त होन पर उनकी प्रामाणिकता प्रतिलिपि-काल और ग्रथकार का निर्धारण करत हैं। ऐसे काय के लिए उच्च कोटि की प्रखरता और श्रमशीलता की आवश्यकता होती है। हस्तलेखो के अनुसधान म तरह-तरह के संकटों और समस्याओं का सामना करना पडता है, ग्रथकार के उत्तराधिकारियों स अथवा उन लोगों स जिनके अधिकार म हस्तलेख होते हैं मिलकर हस्तलेखों की परीक्षा करनी पडती है साथ ही हस्तलेखों की खोज के लिए उच्च कोटि की उपलम्भन-योग्यता की अपेक्षा होती है।[2] शुक्लजी म सम्पादन-कला निपुण साहित्यकार की योग्यता अवश्य थी किंतु कई कारणों स उनके जैसे समालोचक प्रथम श्रेणी के तथा सर्वाधिक विश्वसनीय पाठ-सपादक न हो पाये। श्यामसुन्दरदास और लाला भगवानदीन के सबध मे भी यही बात कही जा सकती है।[3] इन आलोचकों ने कई प्राचीन ग्रथो के पाठ सम्पादित अवश्य किये, किंतु इन्होंने शुक्लजी की तरह पाठ चयन और सम्पादन म अपनी सामान्य बुद्धि स ही अधिक काम लिया, सभी

---

१ माताप्रसाद गुप्त, 'जायसी-ग्रंथावली' (हिंदुस्तानी एकेडेमी, १९५२), पृ० ११५।

२ In finding manuscript materials one has to meet problems of a purely practical nature, such as personal acquaintance with heirs of the writer one's own social prestige and financial restrictions and frequently some kind of detective skill. Rene Wellek and Austin Warren, *Theory of Literature* (New York, 1949) p 50

३ डा० धीरेन्द्र वर्मा की यह उक्ति ध्यातव्य है "जिस सामग्री पर यह पुस्तक श्यामसुदरदास तथा पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल लिखित 'गोस्वामी तुलसीदास' अधिकाश मे आधारित है वह सदिग्ध सिद्ध हो चुकी है और अनेक स्थलो पर सुधार की आवश्यकता थी।'
"प्रकाशकीय", 'गोस्वामी तुलसीदास' (हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, १९५२)।

प्राप्य हस्तलेखों का तुलनात्मक समीक्षण, वर्गीकरण आदि न किया। सन १८०२ में प्रकाशित 'रामचरितमानस' (इंडियन प्रेस) के सपादकों में प० सुधाकर द्विवेदी, बाबू राधाकृष्ण दास, बाबू कार्तिकप्रसाद और बाबू अमीरसिंह के अतिरिक्त डा० श्यामसुन्दर दास भी थे। इस ग्रंथ की भूमिका ग्रियर्सन की खोजों पर आधृत है और यद्यपि इसका सम्पादन बड़े परिश्रम से किया गया जान पड़ता है फिर भी इसमें अनेकानेक भूलें है।[1] इसी प्रकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लाला भगवानदीन और बाबू ब्रजरत्नदास द्वारा सम्पादित तुलसी-ग्रंथावली (सं० १९८०) में अनेक ऐसी पंक्तियां हैं जो प्रक्षिप्त हैं। इतना ही नहीं इसमें मानसेतर ग्रंथों का सपादन किसी छपे संस्करण के आधार पर हुआ है, न कि प्राचीन हस्तलेखों और छपी हुई प्रामाणिक प्रतियों के आधार पर।[2]

कभी कभी तो प्राचीन हिंदी-ग्रंथों के सम्पादक यह भी नहीं बताते कि उनके पाठ किस प्रति (या किन किन प्रतियों) के आधार पर प्रकाशित हुए हैं अथवा पाठसम्पादन में उन्हें कौन-कौन से हस्तलेख और प्रकाशित प्रतियां उपलब्ध रहीं हैं। ऐसे ग्रंथों के संबंध में प्रायः यही कहा जा सकता है कि ये प्रकाशित (और बहुधा अप्रामाणिक) प्रतियों की ही पुनरावृत्ति होते हैं। उदाहरणार्थ सन १८१० में प्रकाशित 'विद्यापति ठाकुर की पदावली' (इंडियन प्रेस प्रयाग) में इसके सम्पादक श्री नगेन्द्रनाथ गुप्त ने न तो अपने ग्रंथ की आधारभूत सम्पादन-पद्धति पर प्रकाश डाला है और न इस ग्रंथ के हस्तलेखों की चर्चा ही की है। ग्रंथ के प्रारम्भिक तेतालीस पृष्ठों पर कठिन शब्दों के अर्थ दिये गए हैं शेष पृष्ठों पर आये हुए शब्दों के नहीं। पुस्तक में भूमिका तक नहीं है।

तुलसी-ग्रंथावली के तीसरे भाग की भूमिका में उन पांडुलिपियों का उल्लेख है कि जिनके आधार पर ग्रंथावली के सम्पादकों ने तुलसी के ग्रंथों का संकलन-सम्पादन किया था। किंतु इस भूमिका से ही यह स्पष्ट है, कि 'मानस' आदि के ग्रंथ पाठ जो कुछ परिश्रम से ही उपलब्ध किये जा सकते थे, सम्पादकों को उपलब्ध नहीं हुए थे। उक्त 'ग्रंथावली' के प्रकाशन के चार वर्ष पूर्व बाबू श्यामसुन्दर दास द्वारा संपादित 'परमाल रासो' नामक ग्रंथ प्रकाशित हुआ था। बाबू साहब तथा शुक्लजी ने सर्वत्र एशियाटिक सोसाइटी, बंगाल और ग्रियर्सन की पाठ-चयन पद्धति का ही स्वेच्छानुसार अनुसरण किया है।

---

१ माताप्रसाद गुप्त, 'तुलसीदास' (प्रयाग, १९४२), पृ० ६ (भूमिका)।
२ उपरिवत, पृ० १५।

लाला भगवानदीन द्वारा सम्पादित 'बिहारी-बोधिनी' (स० १६०८), 'केशव-कामुदी' (स० १६८०), 'कवितावली' (स० १६८२), 'सूर-संग्रह' (१६८६) आदि ग्रंथ अपनी टीकाओं के लिए लोकप्रियता पा चुके हैं। वस्तुतः लाला जी कवि और टीकाकार थे पाठालोचक नहीं। 'उद्धव शतक' और 'गंगावतरण' के मनीषी कवि के संबंध में भी यही बात कही जा सकती है। 'बिहारी रत्नाकर' (१६२५) के प्राक्कथन में टीकाकार ने आज प्रियर्सन से उत्साहित होने की बात कही है[1] और पं० अंबिकादत्त व्यास की कतिपय पंक्तियां को उद्धृत किया है जिनसे स्पष्ट है कि टीकाकार ने पाठों को 'जहां तक हो सका बहुत ही शुद्ध' कर दिया है। जगन्नाथदास पाठालोचन की प्राचीन भारतीय परंपरा को पुनरुज्जीवित करना चाहते थे और उन्होंने अपना यह निश्चित सिद्धांत रखा था कि भावार्थ शुद्धि का पाठ शुद्धि से आंतरिक संबंध है।[2]

मिश्रबंधुओं ने 'भूषण-ग्रंथावली' (१६०७) के संपादन में जहां कई भारतीय इतिहासकारों के ग्रंथों से सहायता ली थी, वहीं उन्हें ग्रंट डफ, टाड, एलियट, हंटर, बर्नियर आदि पाश्चात्य लेखकों से भी प्रभूत सहायता मिली थी।[3] हिंदी पाठ-संपादन के क्षेत्र में मिश्रबंधुओं का योगदान प्रशस्य है किंतु समग्रतः शुक्लजी और श्यामसुंदरदास की रचनाओं की तरह उनकी कृतियों में भी पाठ-सम्पादन के सिद्धांतों का विवेचन नाममात्र का है।

बीसवीं शती का तीसरा दशक हिंदी-टीकाओं और टिप्पणियों का स्वर्ण-युग है। उदाहरणार्थ, इसी दशक में सन् १६२० ई० में, प्रतापगढ़ निवासी पं० शीतलाप्रसाद तिवारी ने तुलसीकृत दोहावली का सटिप्पण पाठ प्रकाशित किया। सन् १६२८ में विचारदास शास्त्री का 'त्रिरत्न-टीका और टिप्पणी-सहित सद्गुरु कबीर साहब का ग्रंथ बीजक' प्रकाशित हुआ और सन् १६२८ ई० में हिंदी साहित्य सम्मेलन प्रयाग द्वारा 'भूषण-ग्रंथावली'। इसी प्रकार माया शंकर याज्ञिक द्वारा 'रहीम-रत्नावली' का सटिप्पण प्रकाशन सन् १६२८ ई० में

---

१ "सन १८९६ ईसवी में लालचंद्रिका का जो संस्करण सर जार्ज ग्रियर्सन साहब ने प्रकाशित किया उसमें, कई स्थानों पर अपना नाम देखकर हमारा उत्साह और भी बढ़ा, और सन १८९० ई० में हमने उक्त विचार से सतसई के दोहों के भावार्थों की सामान्य टिप्पणियां भी, छपी हुई हरि-प्रकाश टीका की एक प्रति के पार्श्व में, लिख डालीं।"

२ बिहारी रत्नाकर (बनारस, १९५१), पृ० २ (प्राक्कथन)

३ भूषण ग्रंथावली (काशी, १९२६), पृ० ८३-८४।

ही हुआ था। इस दशक की कतिपय प्रमुख टीकाओं की प्रकाशन तिथि इस प्रकार है

'बिहारी-बोधिनी' (लाला भगवानदीन)—सन् १९२१ ई०,
'रामचन्द्रिका' (लाला भगवानदीन)—सन् १९२३ ई०,
'सूर-संग्रह' (लाला भगवानदीन)—सन् १९२८ ई०,
'बिहारी रत्नाकर' (जगन्नाथदास 'रत्नाकर')—सन् १९२८ ई०,
'बिहारी-दर्शन' (लोकनाथ द्विवेदी सिलाकारी)—सन् १९२७ ई०,[1]
'विनय-पत्रिका' (वियोगी हरि)—सन् १९२३ ई०

हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, द्वारा उद्घाटित सुलभ-साहित्य-माला की कई परीक्षोपयोगी टीकाएँ इसी दशक में प्रकाशित हुई थीं। इन टीकाओं के प्रणयन-प्रकाशन के लिए यथोचित प्रेरणा पाश्चात्य देशों से न आकर उच्च कक्षाओं के विद्यार्थियों से ही प्राप्त हुई होगी, फिर भी इस बात की संभावना बनी रहती है कि इन टीकाकारों और सम्पादकों में कुछ तो उन अँगरेजी ग्रंथों की टीकाओं और सम्पादन शैलियों से प्रभावित हुए होंगे जिनका प्रकाशन इस शती में या इसके पूर्व हो चुका था। वस्तुतः अँगरेजी साहित्येतिहास में भी ये दस वर्ष टीकाओं के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण दीखते हैं

१—एफ० टी० पाल्ग्रेव, 'द गोल्डेन ट्रेजरी आव द बेस्ट सांग्स एण्ड लिरिकल पोयम्स इन द इंगलिश लैंग्वेज' (१८६१, फुल्ली ऐनोटेटेड बाइ जे० एच० फाउलर, पाँच खंडों में, १९०१–२८)

२—दि आउल एण्ड द नाइटिंगेल' (लगभग १२००), जे० डब्ल्यू० एच० ऐटकिन्स द्वारा सम्पादित एवं अनूदित (१९२२)।

३—तेरहवीं शती की 'द ले आव हेवलाक' शीर्षक कविता। सम्पादक डब्ल्यू० डब्ल्यू० स्कीट (१८६८), अनुवादक ए० जे० वाइअट (१९१३)

४—रिचर्ड रोल (१३००–१३४८) के 'माइनर वर्क्स' का जी० ई० हाजसन (१९२३) द्वारा सम्पादन और अनुवाद। (विवेच्य दशक में ही रोल का जीवन-वृत्त और उसकी कृतियों का विवरण प्रकाशित हुआ। देखिए होप एमिली एलेन, १९२७ और फ्रांसिस एम० एम० कॉम्पर, १९२८)।

---

१ इसका प्रकाशन सन १९३६ ई० मे हुआ।

५—पॉ हमल्यिस 'सर जान मेण्डेविल' के 'ट्रेवल्स' नामक ग्रंथ का दो खडो म सपादन, (१९१३–२३)।

६—एच० इ० विन द्वारा जान विक्लिफ की रचनाओ का चयन और सम्पादन, १९२९। इसके साथ उपयोगी टिप्पणियाँ भी जोड दी गई हैं। हर्बर्ट बी० वकमन लिखित विक्लिफ का जीवन-चरित सन् १९२६ म दो खडो म प्रकाशित हुआ। विक्लिफाइट बाइबिल के लिए दे० मागरेट डानस्ली लिखित लोलार्ड बाइबिल (१९२०)।

७—विलियम लँगलड (१३३२–१४००)। डब्ल्यू० डब्ल्यू० स्कीट द्वारा छह खडो म सम्पादित, १८६३–८४।

८—जी० सी० मकॉले द्वारा जान गावर (१३३० ?–१४०८) की रचनाओ का सटिप्पण सम्पादन (१८९८–१९०२)

९—जे० आर० आर० टॉल्कीन और ई० वी० गॉर्डन द्वारा, 'सर गावन एण्ड द ग्रीन नाइट' का सम्पादन, (१९२५)

१०—विलियम कैक्सटन। दे० नेली एस० आनर १९२१ डब्ल्यू० जे० बी० क्रॉच (१९२८)

इनके अतिरिक्त और भी दजनो पुस्तकं बीसवी शती के प्रथम तीन दशको मे सम्पादित हुइ। इनम गोल्डेन ट्रेजरी ही एक ऐसा काव्य-सग्रह है जिसस भारतवर्ष के विश्वविद्यालय के अधिकाश छात्र परिचित रहे हैं।

हिंदी पाठालोचन के आधार स्तम्भ

हिन्दी म पाठान्वेषण की अपनी विशिष्ट समस्याएँ हैं जो अँगरेजी आदि भाषाओ मे नही मिलती। डा० विलियम तिवारी द्वारा सम्पादित (१९६६) हलधर-कृत सुदामा चरित्र के 'पुरोवाक' म आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा का यह कथन उल्लेखनीय है जिस समाज म अशिक्षा और तर्कहीन श्रद्धा के चलते पाडु-लिपियाँ पूजा की वस्तु मानी जाती हो और उनका दर्शन भी ईश्वर प्रत्यक्ष का प्रतिस्पर्धी हो, जहा की मिश्रणनिपुणता रातोरात इस कला स नकली पाडु लिपिया तयार कर दे कि उनम शताब्दियो की प्राचीनता का महज भ्रम हो जाय वहाँ काम की अन्तीस पाडुलिपिया प्राप्त कर लेना अपने आपम एक उपलब्धि है।[1] हिन्दी पाठान्वेषक की निम्नलिखित समस्याएँ ध्यातव्य हैं —

---

१ "सस्कृत मे पाठशोध और उसके द्वारा होनेवाले सदुपयोग की समस्या

सामग्री-सकलन के पूव

(क) हस्तलेख नही मिलते।

(ख) कुछ ऐसे पुस्तकालय है जहाँ से हस्तलेख बाहर नहीं जा सकते और जहाँ माइक्रोफिल्म की सुविधा नहा है। पाठालोचक को स्वय जाकर उद्दिष्ट हस्तलेख की प्रतिलिपि तयार करनी पडती है।

(ग) (इस समस्या की ओर आचाय देवेन्द्रनाथ शर्मा ने भी हमारा ध्यान आकृष्ट किया है।) हमारे समाज म कुछ ऐसे भी व्यक्ति है जो अपनी 'अशिक्षा और तर्कहीन श्रद्धा' के चलते धार्मिक कारणों से—हस्तलेखों को देखने तक नहीं देते।

(घ) (इस समस्या का सबध (ग) से है।) मन्दिरो म सुरक्षित हस्तलेख प्राय देखने को नहीं मिलते। यदि वे सुलभ भी हों तो मन्दिरो मे पाठालोचक अपनी सामग्री नही ले जा सकते जिससे हस्तलेखों के परीक्षण म कठिनाई होती है।

(ङ) प्रतिलिपि तयार करना या मूल पाठ का माइक्रोफिल्म प्राप्त करना द्रव्यसाध्य तथा साधारण व्यक्ति के लिए असभव है। लोक प्रचलित ग्रथो की इतनी अधिक प्रतिलिपियाँ मिलती है कि उन सबका सग्रह एक व्यक्ति के वश की बात नही रह जाती।

(च) ऐसी सर्वांगपूर्ण खोज रिपोर्ट नहीं निकली जिससे यह पता लग

उतनी विकट नहीं है जितनी हिंदी की। इसका वास्तविक कारण यह है कि प्राचीन ग्रथ के पाठशोध का काय हिंदी मे अभी नया नया चला है। इसलिए इस प्रकार के काय के लिए जितने आरभिक उपकरण ह उनकी साज सज्जा पूरी नहीं हुई है। हस्तलिखित ग्रथो मे विभिन्न प्रकार के अक्षरो के कभी कभी ऐसे रूप मिल जाते ह जिनका उल्लेख तक लिपिज्ञान की पुस्तको मे नहीं हुआ है। आज भी उन्हे कोई कुछ और कोई कुछ पढ लेता है और एक ही आधार होने पर भी यथास्थान भिन्न भिन्न पाठ हो जाते ह। जहाँ सशय हो, वहाँ पाठ का निर्णय करने मे शब्द प्रयोग की परपरा, छद के व्यवस्थित अर्थ आदि ही अपेक्षित सहायता करते ह। अभी तक इस क्षेत्र मे पाठो के अर्थिक पक्ष पर उतना अधिक ध्यान नहीं दिया गया है जितना अनिवाय था।" विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पद्माकर (ग्रथावली), नागरी प्रचारिणी सभा, स० २०१६, पृ० ८९।

जाय कि किसी ग्रंथ के कितने हस्तलेख हैं। इससे पाठ की प्रामाणिकता संदिग्ध रह जाती है और कभी भी किसी अपेक्षाकृत अधिक प्रामाणिक प्रति के निकल आने तथा इसके कारण निर्धारित पाठ पर पुनर्विचार करने की संभावनाएँ बनी रहती हैं।

सामग्री संकलन के पश्चात

(क) समस्त हस्तलेखों और प्रतिलिपियों के नहीं मिल पाने के कारण उनका शाखा निर्धारण प्रामाणिक और अंतिम नहीं होता। इसका असर पाठ-चयन पर पड़ता है। शाखा निर्धारण में पूर्णता नहीं होने के कारण पाठ-चयन में भूल हो जा सकती है।

(ख) प्रतिलिपियों की शाखा का निर्धारण करना बड़ा ही श्रमसाध्य है और अब तक जो आधार सामने आये हैं वे सभी ग्रन्थों के संबंध में लागू नहीं होते। पाठ-विकृतियों की प्रत्येक प्रति में खोजना कठिन कार्य है और वह भी जब सैकड़ों प्रतियाँ मिल जायें।

(ग) पाठचयन की कठिनाई प्राचीन ग्रन्थों के सर्वसम्मत पाठ सुलभ नहीं होने के कारण तत्कालीन अन्य ग्रन्थों के पाठ निर्धारण करने में सुविधा प्राप्त नहीं होती। हिंदी की यह विशेष समस्या है। जिन प्राचीन ग्रन्थों के पाठ-संपादन हुए भी हैं, उनके संबंध में पाठानुसंधान के विद्वानों में मतैक्य नहीं है।

(घ) बड़े-बड़े जमींदारों और देशी नरेशों के पुस्तकालय में सुरक्षित हस्तलेख साधारण व्यक्ति को सुलभ नहीं हो पाते थे। (रत्नाकरजी ने इस कठिनाई की ओर संकेत किया है।)

(ङ) जिस समय प्रेस भारत में आये ही थे उस समय हिंदी के जो ग्रन्थ मुद्रित हुए वे सब अब उपलब्ध नहीं हैं और उनके प्रकाशन वर्ष संस्करण आदि की सूचनाएँ भी अपूर्ण हैं जिनके परिणामस्वरूप विद्वानों में काफी मतभेद हो चुका है। (उदाहरणार्थ प्रेमचंद और किशोरीलाल गोस्वामी की कृतियों के प्रकाशन-वर्ष आदि को लेकर डा० माताप्रसाद गुप्त और डा० गोपाल राय का विवाद।)

(घ) अनतोगत्वा, ऐसे सम्पान्ति प्राचीन ग्रथो के प्रकाशन नही मिलते जिसके कारण पाठ सम्पादनक्षु साहित्यिको की सख्या अत्यल्प है।

इन समस्याओ पर सर्वाधिक विजय प्राप्त करनेवाले अनुसधाताओ म माताप्रसाद गुप्त और आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का स्थान ठीक ही, मधन्य है। माताप्रसाद गुप्त ने 'तुलसीदास' की भूमिका (१८४२) म एच० एच० विल्सन को तुलसी विषयक अध्ययन की नवीन परिपाटी का उदभावक और प्रवतक माना है। नाभादास जी के छप्पय और उस पर प्रियादास जी की टीका तथा कुछ जन-श्रुतियो के आधार पर विल्सन ने तुलसीदास का जीवन-वत्त प्रस्तुत किया था। इन जनश्रुतियो के सबध मे यह मानना पडता है कि उनसे पहले किसी विश्वस्त व्यक्ति द्वारा सकलित दूसरी जन-श्रुतियाँ इस समय अप्राप्त है।'[1]

विल्सन के पश्चात् गार्सां द तासी ने अपने 'इस्तवार द ला लिटेरत्योर इन्दुई ए इदुस्तानी' के प्रथम खड म हमारे महाकवि का परिचय दिया, जिसका आधार विल्सन का 'ए स्केच अव् दि रेलिजस सेक्टस अव दि हिंदूज' नामक निबध ही था। मार्स के आरम्भिक अध्ययनकर्ताओ मे एफ० एस० ग्राउस का भी नाम अविस्मरणीय हो चुका है। किंतु माताप्रसाद गुप्त के अनुसार 'यशस्वी स्वर्गीय सर जार्ज ए० ग्रियसन की सेवाओ की इस क्षेत्र मे तुलना नही हो सकती। जिस वैज्ञानिक दृष्टिकोण स आपने हमारे महाकवि के जीवन और रचनाओ के सबध म पहले पहल अनुसधान किया, यह दु ख का विषय है कि उसका परिचय आपके पीछे आनेवाले विद्वानो ने नही दिया।[2] तुलसीदास के समीक्षात्मक अध्ययन-अनुशीलन म ग्रियसन वस्तुत एक युग के विधायक' हुए।[3] अन्य पाश्चात्य लेखको मे जिन्होने तुलसीदास मे गभीर रुचि का प्रदर्शन किया है ई० ग्रीव्स इतालवी विद्वान एल० पी० टेसीटरी, पादरी जे० एन० कारपेण्टर और अँगरेज विद्वान् जे० एम० मेकफी अग्रणी हैं।

माताप्रसाद गुप्त की पाठालोचन पद्धति पाश्चात्य पाठालोचन विषयक सिद्धातो की सबल भूमिका पर अवस्थित है। उदाहरणाथ, 'तुलसीदास एक समीक्षात्मक अध्ययन म हस्तलेखो की परस्पर तुलना और उनके विश्लेषण के

---

१ तुलसीदास, (१९४२) प० २।
२ उपरिवत प० ३।
३ उपरिवत, प० ५।

जिन सिद्धातो का विवरण उपस्थित किया गया है, वे सवताभावेन पाश्चात्य हैं और उनमे विवेचन की भाषा मे भी पाश्चात्य प्रभाव प्रतिफलित हैं

(क) हस्तलेखो के मिलान मे पहली बात जो साधारणत देखी जाती है, वह है उनका 'साधारण स्वरूप' ('स्टाइल')। पृ० १६६

(ख) हस्तलेखो के विश्लेषण का एक और तरीका उनकी 'गति (मूवमट) की जाँच का है। (पृ० १६७)

(ग) हस्तलेखो के विश्लेषण का एक और तरीका उनमे व्यवहृत अक्षरो के 'नतो [और मोडो' (क्रमश 'स्ट्रोक्स' और 'कर्व्स') की जाच करने का है। (उपरि०)

(घ) एक और भी तरीका हस्तलेखो के विश्लेषण का उनके अक्षरो के 'आकार' ('साइज') की तुलना का है। (पृ० १६८)

(ङ) हस्तलेखो के विश्लेषण का और भी अन्य तरीका अक्षरो के बीच का फासला ('स्पेस') देखने का है। (उपरि०)

(च) हस्तलेखो के विश्लेषण का एक और भी तरीका यह देखना है कि लेखक शिरोरेखा के साथ अक्षरो का शेष भाग साधारणत कितने अश के कोण पर रखता है, जिसे झुकाव ('स्लैंट') कहते है। (पृ० १६९)

(छ) अत मे हस्तलेखो के विश्लेषण का सबसे अधिक प्रचलित और मान्य तरीका नमूनो मे से ऐसे शब्दो और अक्षरो को काटकर एकत्र आमने-सामने चिपकाने का है जिसे 'तुलनात्मक मानचित्र' (जक्स्टा पोज्ड चार्ट) तैयार करना कहते है। (उपरि०)

गुप्तजी की पद्धति मे हस्तलेखो के परस्पर सबध ('प्रतिलिपि-सबध'), वर्गीकरण, शाखा निर्धारण आदि का विशेष महत्त्व है। इस पद्धति का प्रवतन पश्चिम मे हुआ है और सर रिचर्ड सी० जेब, हॉल प्रभृति के निबधो और ग्रथो मे इसका विशेष पल्लवन और विशदीकरण हुआ है। तुलसीदास मे 'कृतियो का पाठ' आदि उपशीर्षक के अन्तर्गत जिन सिद्धातो का प्रतिपादन हुआ है, उनमे भी पाश्चात्य पाठालोचन के सिद्धातो का व्यावहारिक रूप देखने को मिलता है। प्रात स्मरणीय महाकवि तुलसीदासजी की कृतियो के हस्तलेखो और प्रतिलिपियो का परीक्षण पाश्चात्य पाठालोचना द्वारा प्रतिपादित सिद्धातो और उनके द्वारा प्रवर्तित शैलियो के आलोक मे हुआ है। सबसे पहले 'मानस' की हस्तलिखित प्रतियो का वर्णन है, फिर उनकी बहिरग परीक्षा की गई है,

पाठ-शोध विषयक ग्रन्थों में महत्त्वपूर्ण होते हुए भी पाश्चात्य प्रभावान्वेषण की दृष्टि से अनुल्लेखनीय ही है।

सूर समिति के तत्त्वावधान में आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी द्वारा सम्पादित 'सूरसागर' (सं० १९९३) पाश्चात्य प्रभावान्वेषण की दृष्टि से कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता। इस ग्रन्थ का सम्पादन जगन्नाथदास 'रत्नाकर' के निश्चित सिद्धान्तों के अनुसार हुआ है और इसमें 'सूरसागर' की उन प्रतियों की ओर संकेत किया गया है जिनसे सम्पादन-कार्य में सहायता ली गई थी। 'सूर-सुषमा' (सं० १९९८), 'सूर सदन' (प्रति० र०) आदि सम्पादित ग्रन्थों की भूमिकाएँ वाजपेयीजी की आलोचनात्मक प्रतिभा की द्योतक हैं उनके पाठालोचक की परिपक्वता एवं श्रमशीलता की नहीं। प्राचीन ग्रन्थों के सम्पादक जब उपलब्ध हस्तलेखों और प्राचीन मुद्रित प्रतियों का सर्वांगीण अध्ययन न कर ग्रन्थ की अन्तर्वस्तु का समीक्षण-परीक्षण करते हैं तब पाठालोचन के स्थान पर साहित्यालोचन मिलता है। विपिन बिहारी त्रिवेदी लिखित 'चंदवरदायी और उनका काव्य' (१९५२), उनके द्वारा सम्पादित 'रेवातट' (पृथ्वीराज रासो १९५३) डा० नारायणदास खन्ना रचित आचार्य भिखारीदास (१९५५), डा० विश्वनाथप्रसाद द्वारा सम्पादित मुरलीधर कविभूषण कृत 'छंदोहृदयप्रकाश' (१९५८) डा० सत्येन्द्र द्वारा सम्पादित जाहरपीर गुरु गुग्गा (१९५९) और उमाशंकर शुक्ल द्वारा सम्पादित नंददास (१९४२) आदि ग्रन्थ पाठालोचन से सम्बद्ध नहीं रखते। आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र की परम्परा में डा० किशोरीलाल गुप्त द्वारा सम्पादित नागरीदास ग्रन्थावली आदि पाठालोचन में परिगणित अवश्य हैं किन्तु उन पर पाश्चात्य प्रभाव नहीं पड़ा है।

हिन्दी पाठालोचन की डा० माताप्रसाद गुप्त वाली परम्परा, जिस पर कन्ने और विष्णु एस० सुकथंकर का प्रभाव है पाश्चात्य पाठान्वेषण परम्परा से प्रभावित है। स्वयं आचार्य सुकथंकर ने महाभारत के आदिपर्व की भूमिका में विंटरनित्स के योगदान का उल्लेख किया है जिससे यह स्पष्ट है कि महाभारत जैसे भारतीय ग्रन्थों के सम्पादन की प्रेरणा भी पश्चिम से ही आयी है। आचार्य सुकथंकर ने अपनी 'प्रोलेगामिना' में कहा है —

> The need of critical or (as it was sometimes called) a correct edition of the Mahabharata has been felt by Sanskritists for over half a century It was voiced however in a clear and emphatic manner for the first time by

Professor M Winternitz at the XI International Congeress of Orientalists held at Paris, in 1897 The ideas received a concrete shape in his proposal for the foundation of a sanskrit Epic Text Society which was laid before the very next sesion of the Oriental Congress (XIII) held in Rome (1899) Again three years later at the following session of the Congress (XIII) held in Hamburg (1902) Professor Winternitz reiterated his requisition and endeavoured to impress again upon the assembled savants that a critical edition of the Mahabharata was a sine qua non for all historical and critical research regarding the Great Epic of India [9]

प्रोफेसर विंटरनित्ज के परामर्श पर ही सर्वप्रथम किसी भारतीय आचार्य ने नहीं, प्रत्युत् एच० लूडर्स (Luders) ने महाभारत के 'आलोचनात्मक' संस्करण का एक आदर्श (स्पेसिमन) प्रस्तुत किया—
Druckprobe einer kritischen Mahabharata Leipzig 1908 और इसके लिए अपेक्षित अर्थ का प्रबंध भारतवर्ष में नहीं बल्कि पश्चिम में ko nigliche Gesellschaft der Wissenschaften in Gottingen हुआ।

प्राच्य साहित्य में पौरस्त्य पाठालोचकों समीक्षकों और साधारण अध्येताओं की रुचि का सूत्रपात राबर्ट द नोबिली (Robert de Nobili c 1620) से होता है। बर्फे और मैक्समूलर के अनुसार वही संस्कृत का पहला यूरोपीय विद्वान् था। उसके बाद अब्राहम रोजर ने भर्तृहरि का डच में अनुवाद किया (लगभग १६५१) और अर्नेस्ट हक्सलेडेन ने संस्कृत व्याकरण की रचना की। गेस्ता क्यूरडोज (Gaston Coeurdoux c 1767) ने सर्वप्रथम भारतीय तथा यूरोपीय भाषाओं में साम्य की ओर संकेत किया और सचमुच फ्रांसीसी एवं

---

9 'Prolegomena *The Adiparvan* (For the first time critically edited by Vishnu S Sukthankar) Poona, Bhandarkar Oriental Research Institute 1933 p I

डेमी (Academie Francaise) से इस विषय पर एक प्रश्न भी किया।[1] दुपेरों (Anaquetil du Perron) ने पेरिस के राजकीय पुस्तकालय (रायल लाइब्रेरी) में कुछ प्राचीन फारसी पाडुलिपियों को देखकर भारत आने का निश्चय किया और वह बम्बई पहुँचा। यहाँ ज्ञात हुआ कि उसने देखा कि इंगलैंड और फ्रांस में युद्ध छिड़ गया है जिसके कारण वह बनारस न जा सका जहाँ वह संस्कृत पढ़ना चाहता था। सूरत पहुँचकर उसने अवेस्ता और पहलवी का आलोडन मथन किया और सन् १७६१ में १८० हस्तलेखों और प्रचुर टिप्पणियों के साथ वह पेरिस लौट गया।

बंगाल में अँगरेजों ने इन्हीं दिनों संस्कृत का अध्ययन शुरू किया। चार्ल्स विल्किन्स ने १७८५ में गीता का और दो वर्ष बाद 'हितोपदेश' का अनुवाद प्रकाशित किया। तत्पश्चात् सर विलियम जोन्स (१७४६–८४) ने सन् १७८४ में बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना की और कालिदास की 'शकुन्तला' तथा 'ऋतुसंहार' नामक कृतियों का अनुवाद किया। उनके अन्यान्य अनूदित ग्रन्थों में 'हितोपदेश', जयदेव विरचित 'गीतगोविन्द', 'मनुस्मृति' और वेद की कतिपय ऋचाएँ उल्लेखनीय हैं। संस्कृत के संबंध में जोन्स ने कहा था "इट इज मोर पर्फेक्ट दैन द ग्रीक, मोर कॉपियस दैन द लैटिन, एण्ड मोर एक्सक्विजिट्ली रिफाइण्ड दैन आइदर"।[2] उनके बाद कोलब्रुक और अलेक्जंडर हैमिल्टन, बाप, रस्क, ग्रिम आदि विद्वान् हुए जिन्होंने संस्कृत में विशेष रुचि दिखलाई। हैमिल्टन (१७६५–१८२४) से जर्मन कवि फ्रीडरिख स्लेगिल ने संस्कृत पढ़ी थी जिसके फलस्वरूप सन् १८०८ में स्लेगिल का युगांतकारी ग्रंथ 'आन द लैंग्वेज एण्ड विजडम आव दि इण्डियन्स' प्रकाशित हुआ। एच० टी० कोलब्रुक ने वेदों पर एक निबंध तो लिखा ही, साथ ही 'डाइजेस्ट ऑव हिंदू लॉ' की भी रचना की। वेदों के गंभीर तत्त्वदर्शी अध्ययन के लिए राथ, राजेन और मैक्समूलर ख्यातिलब्ध हैं। भारतीय वाङ्मय में गंभीर रुचि का प्रदर्शन करनेवाले पाश्चात्य विद्वानों में होरेस हेमन विल्सन, जी० ए० ग्रियर्सन, मानियर विलियम्स, ए० ए० मैकडानेल, राल्फ टी० एच० ग्रिफिथ, ए० बी० कीथ, राल्फ

---

१ H G Rawlinson, A Century of Oriental Research in *Annals of the Bhandarkar Institute*, vol VI, Part I, July 1924 p 42

२ उपरिवत्।

एन० टर्नर, एच० डब्ल्यू० बेली, टी० बरो आदि भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं।[1]

निष्कर्षतः, अभी हिंदी में पाठ संपादन-पद्धति के दो निकाय बन गये हैं जिनमें एक का नेतृत्व पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र और दूसरे का डॉ० माताप्रसाद गुप्त कर रहे हैं। पं० मिश्र अंशतः और डॉ० गुप्त समग्रतः पाश्चात्य पाठालोचन से प्रभावित हैं।

---

1 Suniti Kumar Chatterji India and a New Renaissance Europe *Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute*, vol XXXIX 1958 p 151

उपसहार

प्रस्तुन शोध प्रवध वा समारम्भ हमन इस 'प्रतिज्ञा' के साथ किया था कि पश्चिम के समृद्ध सजनात्मक एव समीक्षात्मक साहित्य से हिंदी-आलोचका का घनिष्ठ सम्पक रहा है। प्रथम दो अध्याया म हमने हिंदी और, तत्पश्चात, यूरोपीय समीक्षा का सक्षिप्त ऐतिहासिक सर्वेक्षण प्रस्तुत करते हुए उस प्रशस्त एव बलिष्ठ भूमिका का निर्माण किया है जो इदयुगीन समीक्षा पर पाश्चात्य प्रभाव के विश्लेषण के लिए अत्यावश्यक थी। हिंदी-समीक्षा के ऐतिहासिक सर्वेक्षण म हमने यह देखा कि आधुनिक समीक्षा आरम्भ स ही पश्चिम से प्रभावित रही है। 'हिन्दी प्रदीप', 'सारसुधानिधि', 'सत्यसिन्धु' आदि पत्रिकाओ म प्रकाशित निबधा के साक्ष्य के अनुसार कहा जा सकता है कि भारतेन्दुयुगीन साहित्य से ही अँगरेजी भाषा-साहित्य के तलस्पर्शी प्रभाव के अनेक चिह्न दष्टिगत होने लगते हैं। तृतीय और चतुर्थ परिच्छेदो मे हमने इस 'प्रतिज्ञा' की सपूर्ति की है कि हिन्दी के अधिकाश समीक्षक पश्चिम स प्रभावित होकर भी पौरस्त्य परपराओ से विमुख नही हैं। परवर्ती अध्याया मे हिंदी की व्यावहारिक समीक्षा और पाठान्वेषण पर पाश्चात्य प्रभाव का सविस्तर विवेचन विश्लेषण प्रस्तुत है और यह दिखाया गया है कि पाठालोचन की भारतीय परपरा-पद्धति भी अत्यत सशक्त एव गौरवमयी है तथा इस परपरा के सवतोभावेन प्रमुख प्रतिनिधि आचाय विश्वनाथप्रसाद मिश्र हैं। पाठान्वेषण की पाश्चात्य पद्धति डा० माताप्रसाद गुप्त की सम्पादित कृतियो म रूपायित है।

प्रस्तुत विवेचन आधुनिक हिन्दी समीक्षको को निम्नाकित वर्गों मे विभाजित करता है। प्रथम वग उन आलोचका का है जो प्रत्यक्षत भारतीय काव्य शास्त्र की सुदीघ परपरा से अनुस्यूत हैं। इन भारतीय काव्यशास्त्रवादियो मे आचाय विश्वनाथप्रसाद मिश्र, प० रामदहिन मिश्र और आचार्य बल्देव उपाध्याय परिगणनीय हैं। इन आलोचको के लिए 'भारतीय काव्यशास्त्रवादी' अभिधा का प्रयोग विचारणीय है। ये सब भारतीय काव्यशास्त्र के नदीष्ण अध्येता हैं और इन्होने उसी के सिद्धाता प्रतिमानो और निष्कर्षों से हिंदी साहित्य को निरखा-परखा है यद्यपि हिन्दी साहित्य के सूक्ष्म अध्ययन के आधार पर मौलिक

प्रतिमाना और सिद्धाता क सजन-स्थापन का प्रयास भी इनम द्रष्टव्य है। यहाँ यह भी स्वीकार करना आवश्यक है कि इन सभी आलोचका का पाश्चात्य साहित्य शास्त्र से भी परिचय रहा है, पर वह परिचय की परिधि स आगे न बढ सका— प्रभाव के स्तर तक न आया। द्वितीय वग समन्वयवादिया का है जिनम डा० श्यामसुदरदास, आचाय रामचद्र शुक्ल, डा० गुलाबराय डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी डॉ० नगेद्र, आचार्य नददुलारे वाजपेयी और डॉ० सुधाशु मुख्य हैं। भारतीय काव्यशास्त्रवादिया और समन्वयवादिया का मुख्य अतर यह है कि प्रथम का पाश्चात्य साहित्य शास्त्र ज्ञान प्रभाव की सीमा तक न आया जब कि समन्वयवादी प्रभाव की परिधि म आ जाते हैं। इनकी मौलिकता इस बात म है कि भारतीय काव्यशास्त्र के अपने गहन अध्ययन के आलोक म इन्होंने पाश्चात्य साहित्यशास्त्र को ग्रहण किया है। प्रकारत ये सारे समीक्षक एक कोटि म रखे गए हैं किन्तु इनम प्रभाव का परिमाण भद स्पष्ट है जो आगे की तालिका से भी स्पष्ट होता है। इस परपरा का सूत्रपात साहित्यालोचन स हुआ और इसकी परिणति रस सिद्धात म हुई है। डा० श्यामसुदरदास म पाश्चात्य प्रभाव परिमाणत अधिक है— तिल-तण्डुल न्याय मे तिल या तण्डुल अधिक है। आचाय शुक्ल, इस दृष्टि से बाबू श्यामसुन्दरदास के समीप पडते बिलकुल समकक्ष नही। शुक्लजी का भारतीय काव्यशास्त्र स कही अधिक गहन अध्ययन मनोविज्ञान और पाश्चात्य रोमांटिक विक्टोरियन काव्य का प्रतीत होता है। उनके सारे आलोचनात्मक साहित्य का पढने पर एक ही धारणा बनती है कि वे पाश्चात्य साहित्यिक एव मनोवैज्ञानिक गतिविधिया के प्रति अत्यत सजग हैं परतु उनकी स्थिति यह है कि अपनी विशाल परपरा के मोह म वे पश्चिम को सर्वांगत स्वीकार नही कर सकते। उन्होंने न क्रोचे को अच्छी तरह समझा और न कमिंग्ज के प्रति न्याय ही किया। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी म यह समन्वय किंचित प्राकारिक भिन्नता भी रखता है। इनके समन्वय के त्रिकोण म एक बिंदु बगला भी है। इस समन्वयवादी परपरा की अतिम मानशिला डा० नगेन्द्र हैं जिनम यह समन्वयवाद नीर-क्षीर न्याय को चरितार्थ करता है। तृतीय वग माक्सवादिया का है जिनका मूलभूत सिद्धात बिलकुल पश्चिमी है। चतुथ वग म पाश्चात्य सह पौरस्त्यवादी आते हैं जिनम 'निराला' और पत प्रमुख हैं। इनके समान 'प्रसाद और महादेवी भी छायावादी कवि तथा आलोचक हैं किन्तु इनम पश्चिम का उतना प्रभाव नही जितना समचिंतन है। उपान्त्य वग पाश्चात्यवादिया का है जिनम डा० देवराज अज्ञेय नलिनजा मुक्तिबोध और देवीशकर अवस्थी के नाम लिये जा सकते हैं। पाश्चात्य प्रभाव से य समीक्षक पूणतया अभिभूत हैं और

अपनी कृतियों में वे उसी कलात्मक विधान से पाठकों को यथासाध्य आह्लादित करने का प्रयास करते हैं। इन सभी वर्गों के समीक्षकों में डॉ० धीरेन्द्र वर्मा विशिष्ट हैं। वे मूलतः और प्रधानतः भाषा-वैज्ञानिक तथा गवेषक तो हैं ही, हिन्दी कोश के जनक भी हैं।

पाश्चात्य प्रभाव के आलोक में हिन्दी-आलोचकों के द्वारा रस के समीक्षण क्रम में नये-नये तथ्य प्रकाशित हुए हैं, नयी-नयी स्थापनाएँ हुई हैं और अद्यावधि प्रचलित अनेकानेक भ्रान्तियाँ दूर की गई हैं। सर्वप्रथम यह स्थापित किया गया है कि होरेस के काव्य प्रयोजन संबंधी विचार इतालवी समीक्षकों की रचनाओं के माध्यम से पुनर्जागरणयुग को प्रभावित करते हुए सिडनी आदि लेखकों और स्वच्छन्दतावादी समीक्षकों के सनातन पृष्ठपोषण के फलस्वरूप हडसन, वर्सफोल्ड और डॉ० श्यामसुन्दरदास तक आ पहुँचे हैं। बाबू साहब में 'विक्टोरियन' मनीषिता और 'रोमांटिक' स्वच्छन्दतावादिता का युगपत् समाहार है तथा उनके द्वारा अनूदित पंक्तियों में भी उनकी सहज सारग्राही प्रतिभा का प्रभूत प्रतिबिंबन हुआ है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शैली संबंधी टिप्पणों से सर्वप्रथम यह सिद्ध होता है कि समीक्षक ने महाकवि की रचनाओं का समुचित आलोडन ही नहीं किया था, उनमें मनोनुकूल जीवन बोध की अभिव्यक्ति देखी थी और इससे अपनी धारणाओं तथा विचारों में स्थायित्व उत्पन्न किया था। क्वचित्-कदाचित् शैली के काव्य से ही शुक्लजी के साहित्य तथा जीवन-संबंधी कतिपय विचार निःसृत हुए थे। यह भी संभव है कि 'रिवोल्ट ऑव इस्लाम' की ओर शुक्लजी के आकर्षण का मूल कारण शैली का प्रभाव न होकर केवल भाव-सादृश्य हो। शैली की धारणाओं से मिलती-जुलती शुक्लजी की कतिपय पूर्वनिर्मित धारणाएँ रही हों। साहित्य-जगत् में ऐसी बात प्रायः देखने-सुनने को मिलती है। कोई लेखक यदि किसी की प्रशंसा करता है तो इसका यह अर्थ नहीं होता कि वह प्रशंसित व्यक्ति से प्रभावित ही हुआ है। समादर एवं श्रद्धा के मूल में विचार-सादृश्य ('लाइक माइण्डेडनेस') भी हो सकता है। उदाहरणार्थ, क्लाइव एक्सटन यदि स्ट्रीन्बर्ग की तथा जॉन आर्डेन ब्रेख्ट की प्रशंसा करता है तो इसका यह कारण नहीं कि एक्सटन तथा आर्डेन और ब्रेख्ट से प्रभावित ही हुए हैं। शुक्लजी का यह कथन कि 'वर्तमान कवियों में कमिंग्ज का नाम शायद ही कोई लेता हो' उपलब्ध तथ्यों के आलोक में न्यायसंगत नहीं दीखता। कमिंग्ज, पाउंड, हॉपकिन्स, ऑर्डेन, मलार्मे प्रभृति ने परंपरागत छन्दों, अलंकारों और शब्दों का यथाशक्य परित्याग कर इस विश्वास से कि वर्तमान युग की नव्यतम अनुभूतियों के अनुकूल ही भाषा-शैली, पद-विन्यास तथा विराम चिह्नों के

प्रयोग होने चाहिए, उन्हीं की तथाकथित कलाबाजी निरर्थक है। रॉबर्ट ग्रेव्ज ने कमिंग्ज की 'कलाबाजी' का पुरजोर समर्थन किया है और 'द पेपर होल' में लेरा जॉन प्रेस ने इस संदर्भ में कहा है कि मुद्रण तथा विराम चिह्न संबंधी कतिपय प्रयत्नों से हम इतना अभ्यस्त हो गए हैं कि उनके उल्लंघन होने पर हम पूर्णतया व्यग्र हो उठते हैं, घबरा जाते हैं।

डॉ० गुलाबराय की समीक्षाओं में समन्वयात्मक विचार का सबसे अधिक प्रभाव दीख पड़ता है। इस कारण उनका स्थान हिन्दी आलोचना में आचार्य शुक्ल से नीचे है पर उनकी समन्वयवादी दृष्टि निश्चय ही मार्मिक है। वे पराये भावों को तभी स्वीकार करते हैं जब उन्हें पूर्णतया आत्मसात कर लेते हैं। इस साधारणीकरण की प्रक्रिया में भारतीय-पाश्चात्य का समन्वय हो जाता है। उनके लेखन में डॉ० नगेन्द्र के रस सिद्धांत की पूर्वानुभूति होती है। आचार्य शुक्ल और बाबू जी डॉ० नगेन्द्र के पूर्वानुसाधकों में हैं। पं० रामदहिन मिश्र और डॉ० देवराज दोनों दो ध्रुवों पर खड़े लगते हैं। जहाँ एक मुख्यतः भारतीय सिद्धांतों का ही प्रस्तोता और प्रयोक्ता है वहाँ दूसरा पश्चिम की ओर ही अत्यधिक उन्मुख है। मिश्रजी सिद्धांततः समन्वयवादी हैं, व्यवहारतः संस्कृत साहित्यशास्त्र की ओर ही सर्वाधिक प्रवृत्त। आचार्य बलदेव उपाध्याय की कतिपय प्रारंभिक रचनाएँ उनकी हीन भावना की मूर्त प्रतीक हैं। 'हमारे देश में ऐसे लोगों की कमी नहीं है जिनकी दृष्टि आधुनिकता से मोहित और हीनभावना से ग्रस्त है।'[1] उपाध्यायजी प्रारंभ में पाश्चात्य वाङ्मय के चाकचिक्य में यदि तो पूर्णतः अभिभूत और यही भारतीय सांस्कृतिक जीवन पर उसके वर्तमान दुष्परिणामी प्रभाव के कारण आतंकित और क्षुब्ध हैं। वे पाश्चात्य समीक्षकों से नहीं, प्रत्युत पाश्चात्य गवेषकों, पुरातत्त्ववेत्ताओं और इतिहासकारों से प्रभावित हैं तथा पाश्चात्य आलोचना की गौरव गरिमा को स्वीकार करते हैं।

पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र के अनुसार भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य में एक तात्त्विक अंतर यह है कि जहाँ समस्त भारतीय साहित्य काव्य में संगीत तत्त्व को समधिक महत्त्व देता है वहाँ पाश्चात्य काव्य में संगीत का वैसा व्यापक स्वरूप कभी नहीं दिखलाई पड़ा। फलतः, संगीत के साथ खेल करने का जैसा स्वांग पश्चिम में रचा गया है यहाँ अब भी नहीं हो सका। यह अनिश्चय यहाँ तक बढ़ा कि कविताओं में जंतुओं की ध्वनियाँ निकाली जाने लगीं।' इन पंक्तियों में मिश्रजी के प्रकृत एवं अरोचकी समीक्षक के दर्शन नहीं होते। स्काट जेम्स

1 आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा, 'भाषाविज्ञान की भूमिका' (दिल्ली, १९६६), प्रस्तावना।

हडसन, ऐवरक्राम्बी प्रभृति के आधार पर ऐसे व्यापक मतवादों का व्यक्तीकरण अशोभन प्रतीत होता है। यह स्मरणीय है कि कमिन्ज आदि की रचनाओं का यही पक्ष सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है। मिश्रजी नव्य के प्रति यत्किंचित् अनुदार हैं, चाहे नव्यता पाश्चात्य काव्य में दीख पड़े या नये हिंदी आलोचकों में।

हिन्दी के सैद्धांतिक समीक्षकों में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ॰ नगेन्द्र और आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथा साम्प्रतिक हिंदी समीक्षा के आधार-स्तम्भ हैं, परन्तु जहाँ द्विवेदीजी मानवतावादी एवं गतिशील अभिजात्यवादी हैं वहीं डॉ॰ नगेन्द्र और आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी स्वच्छन्दतावादी हैं। इन तीनों में डॉ॰ नगेन्द्र की समीक्षा ही शब्द के सच्चे अर्थ में समन्वयवादी है और इन्होंने ही समय समय पर काव्यशास्त्र में प्रचलित भिन्न भिन्न सिद्धांतों में सद्‌भाव के संधान और उनके अन्तर्विरोधों को मिटाने का प्रयास किया है। इनकी समीक्षा कहीं भी उपरिष्ठ एवं पल्लवग्राही नहीं है—सर्वत्र सटीक उदाहरण प्रस्तुत किये गए हैं, विश्व वाङ्मय को आलोडित कर उससे पर्याप्त तथ्य एकत्र किये गए हैं। स्वच्छंदतावादी होने के कारण डॉ॰ नगेन्द्र मानव प्रकृति और मानव विकास की ऐतिहासिक प्रक्रिया एवं व्यक्ति के विकास के मूल में एक सावयविक एकता देखते हैं। साहित्य के क्षेत्र में इस एकता की अभिव्यक्ति विश्वजनीन रस सिद्धांत में हुई है। विश्व की अधिकांश साहित्यिक प्रवृत्तियाँ रसवादी हैं, क्योंकि मानव स्वभाव सर्वत्र आनंदकामी है। इसी व्यावहारिक अनुभूति पर डा॰ नगेन्द्र का रसवाद आधृत है। वाजपेयीजी को भी 'बुद्धिरस' का बाहुल्य अटपटा और अग्राह्य लगता है और वे कहते हैं कि नये रचनाकार काव्य की सहज और अंतरंग प्रेरणाओं से संचालित नहीं हैं। अठारहवीं शती के कवियों के संबंध में कीट्स के विचार ऐसे ही थे। आर्नल्ड ने अठारहवीं शती के नव्यशास्त्रवादी कवियों की आलोचना ऐसे ही शब्दों में की थी। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी पाश्चात्य साहित्य से उतना प्रभावित नहीं दीखते जितना पाश्चात्य विचार धाराओं और दर्शन चिंतन से। डार्विन की युगान्तरकारी उपपत्तियों और स्थापनाओं तथा शिलर स्पेंसर मार्क्स स्पेंगलर प्रभृति विचारकों के क्रांति मिमांसा-संबंधी विचारों से पूर्णतया अवगत हैं। पश्चिम (और अब पूर्व) में जिस प्रयोगात्मक कुंठाग्रस्त, बंजर-ऊसर काव्य का प्रचलन हो चला है उसके प्रति भी वे जागरूक हैं परंतु वे टवायनबी तथा स्पेंगलर-जैसे निराशावादियों की कोटि में अपने को, ठीक ही नहीं रखते। परिवर्तन के प्रति उनकी जागरूक मनोदृष्टि उनके निबंधों को विचारगत विराट एकता प्रदान करती और उन्हें परस्पर सूत्रित-ग्रथित करती है। पश्चिम में काल चेतना का आधिक्य (और आतंक) एलियट की रचनाओं

में मिलता है। द्विवेदीजी और इलियट, दोनों आलोचकों की भावना में परम्परा-प्रेम दीखता है। दोनों की इतिहास भावना में अतीत की, अतीतता का ही नहीं, उसकी वर्तमानता का भी अवबोध समाविष्ट है।

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, डॉ० बाबूराम सक्सेना, डॉ० उदयनारायण तिवारी आदि के भाषा विज्ञान विषयक अध्ययनों से हिन्दी भाषा-साहित्य अत्यन्त समृद्ध हुआ है और साथ ही इनके माध्यम से, पाश्चात्य भाषाविदों से प्रभावित भी। हिन्दी शोध के क्षेत्र में डॉ० धीरेन्द्र वर्मा का कार्य उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का है।

हिन्दी साहित्य और इसकी विविध विधाओं पर पाश्चात्य प्रभाव का आकलन करनेवाले अनुसंधित्सु प्रायः सर्वत्र प्रभाव-ही-प्रभाव देखते हैं। डॉ० रवीन्द्र सहाय वर्मा के संबंध में कहा गया है कि 'हिंदी-काव्य पर आंग्ल प्रभाव' नामक अपने शोध प्रबंध में वे प्रत्येक कवि पर किसी-न-किसी रूप में अंगरेजी का प्रभाव बताने पर तुले हुए हैं। जहाँ विचार-साम्य देखा गया है वहाँ प्रमाणों के अभाव में हठात् वर्माजी ने किसी समचिंतन के विवेचन से ही संतोष किया है।[1] प्रस्तुत प्रबंध में आधुनिक पाश्चात्य आलोचकों की अवहेलना नहीं की गई है और अमुक अमुक साहित्यकारों का प्रभाव भी आधुनिक हिन्दी समीक्षा पर पड़ा—ऐसा कहना ही पर्याप्त नहीं समझा गया है। उन सभी साहित्यकारों के नाम दिए गए हैं जिन पर पाश्चात्य प्रभाव बतलाया गया है और उन रचनाओं का उल्लेख भी हुआ है जिनके कारण हम इन निष्कर्षों पर पहुँचे हैं। हिंदी समीक्षा की निजी उपलब्धियों को देखने-परखने से ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे आधुनिक आलोचकों का एक वर्ग अपनी पिछली विरासत को नवोद्भूत परिस्थिति के अनुरूप गढ़ने की चेष्टा में दत्तचित्त है। समन्वयवादियों के वर्ग में डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० नगेन्द्र, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ० सुधांशु, डॉ० रामकुमार वर्मा प्रभृति समीक्षक मुख्य हैं। इनका प्रधान लक्षण है 'प्राचीन संस्कृति के समुद्र मंथन से प्राप्त तत्त्वामृतों की नई दृष्टि से निरख-परख तथा नई आवश्यकताओं के अनुकूल उनकी व्याख्या करने की प्रवृत्ति'[2]।

कुछ लोगों की धारणा है कि हमारी आलोचना का अधिकांश अँगरेजी समीक्षा

---

१ 'आलोचना', १६, १९५५, पृ० ९९ (डॉ० अनन्तकुमार "पाषाण" द्वारा "हिंदी-काव्य पर आंग्ल प्रभाव" की समीक्षा)।

२ 'हिंदी साहित्य का बृहत इतिहास' (नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० २०२२ वि०), पृ० ४।

का रूपांतर मात्र है। अब तक के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी के आधुनिक आलोचक पश्चिम की वरिष्ठ साहित्यिक परंपराओं सिद्धांतों और निकायों से प्रेरणा लेते रहे हैं परंतु आधुनिक हिन्दी आलोचना पाश्चात्य आलोचना का अविकल अनुवाद नहीं है। हमारे समीक्षक जहाँ आलोचना के नवीकरण के लिए प्रयासशील हैं, वहाँ वे भारत के सनातन काव्यशास्त्रीय परंपरा के प्रति भी जागरूक हैं और इस सुदृढ़ विश्वास के कारण कि आज के वैज्ञानिक युग में नव्य मानवों के उन्मायक उद्गम अपने देश काल तक ही सीमित नहीं रह सकते उनमें भिन्न भिन्न विचार-सरणियों को अपनाने की प्रवृत्ति क्रियाशील रही है। आखिर उनके पूर्वजों ने भी तो पश्चिम को कम प्रभावित नहीं किया था। जहाँ तक प्रभाव ग्रहण का सवाल है यह भी सवजनानुमोदित तथ्य है कि पाश्चात्य वाङ्मय में भी भिन्न भिन्न अन्यदेशीय तत्वों का संयोग हुआ है। नवजागरण काल से ही अँगरेजी समीक्षा पर जर्मनी और हालैंड के विचारों का तलस्पर्शी प्रभाव रहा है। रोमांटिक और प्रतीकवादी भावधारा पर फ्रांसीसी साहित्य चिंतन का, समाजवादी भावधारा पर टेन और मार्क्स का अस्तित्ववादी भावधारा पर कीर्केगार्ड और सार्त्र का तथा मनोविश्लेषणमूलक समीक्षा पर फ्रायड का प्रभाव साहित्येतिहास में सर्वविदित है।

यद्यपि हिन्दी की व्यावहारिक समीक्षा बहुत दिनों तक प्रभाववादी रही है फिर भी व्यावहारिक समीक्षा की भारतीय पद्धतियों के संयोग से एक अभिनव समीक्षा-पद्धति का आविर्भाव हो चला है। हिन्दी के शास्त्रनिष्णात समीक्षक भी यह अनुभव करने लगे हैं कि प्राचीन और नवीन साहित्य की मीमांसा पश्चिम और पूर्व के समन्वित मानदंडों से होनी चाहिए। नलिनजी जैसे प्रयोगवादी समीक्षक पाश्चात्य साहित्य की समीक्षा भारतीय दृष्टिकोण से, भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धांतों के अनुसार करना चाहते हैं। नलिनजी संस्कृत के साथ ही पाश्चात्य साहित्यालोचन की नवीनतम प्रवृत्तियों का समन्वय उपस्थित करना चाहते हैं। परन्तु, समग्रतः नलिनजी की समीक्षाओं में यह समन्वय मिलता है और न उनके सम्प्रदाय के अन्य समीक्षकों में ही। इस समन्वय के स्थान पर (कर्मिग्ज के लिए प्रयुक्त शुक्लजी के शब्दों में) 'शब्दों की कलाबाजी' मिलती है और हिन्दी आलोचना को पाश्चात्य लेखकों तथा उनकी कृतियों के नामों से भाराक्रांत कर दिया गया है। इसी शैली के प्रयोक्ताओं में डा० देवराज उपाध्याय, डा० देवराज, जगदीश पांडेय प्रभृति परिगणनीय हैं। अल्पाधिक परिमाण में ये सभी आलोचक पश्चिम से प्रभावित हैं। प्रभाव की दृष्टि से निम्नांकित आनुपातिक उपसंहृति ध्यातव्य है

समीक्षक	प्रभाव (प्रतिशत)			
	अँगरेजी	यूरोपीय	संस्कृत	अन्य
१—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी	२०	१०	५०	२०
२—डा० नगेन्द्र	४०	१०	४०	१०
३—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी	५०	५	२०	२५
४—डा० माताप्रसाद गुप्त	५५	४	२१	२०
५—डा० धीरेन्द्र वर्मा	२०	२०	५०	१०
६—डा० रामविलास शर्मा	४०	४०	१५	५

हिन्दी के कतिपय कवि समीक्षकों पर भी पश्चिम का उतना ही गहरा प्रभाव पड़ा है जितना शास्त्रीय, ऐकेडेमिक समीक्षकों पर। साथ ही यह भी उल्लेख्य है कि प्रसादजी जैसे कवि आलोचकों का मौलिक दर्शन चिंतन भारतीय है और भारतीय परंपराओं से प्रभावित भी। यहाँ तक कि जो स्थल पाश्चात्य विचारधारा से प्रभावित दीखते हैं, वे भी सूक्ष्म परीक्षण एवं अध्ययन के फलस्वरूप पौरस्त्य तत्वों से ही सपोषित प्रतीत होते हैं। संयोगवश जिस वर्ष 'कामायनी' का प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ था, उसी वर्ष—सन् १९३६ में युंग का सामूहिक अचेतन का सिद्धांत अँगरेजी में अनूदित होकर 'द जर्नल ऑव मेण्टल पार्थोलोजीज हास्पिटल' में प्रकाशित हुआ था। इसमें संदेह नहीं कि प्रसादजी ने अपने कलाविषयक सिद्धांत और अपनी काव्य परिभाषा आधुनिक मनोवैज्ञानिक शब्दावली में प्रस्तुत की है और जहाँ युंग ने 'सामूहिक अचेतन का—समष्टि अवचेतना का—उल्लेख किया है वहाँ प्रसादजी 'सामूहिक चेतनता' का प्रयोग करते हैं। फिर भी उपलब्ध सामग्री के बहुविध परीक्षण के अनंतर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रसादजी युंग के सिद्धांतों से, संभवतः, परिचित नहीं थे।

निरालाजी के गंभीर वक्तव्य में मिलकर जो अन्यदेशीय तत्व एकीभूत हो गए थे उनमें कुछ को उत्तर ह्विटमन तथा लारेंस की कृतियों में भी पाया जाता है। ये दोनों कवि आलोचक स्वच्छंदतावादी और निरालाजी की तरह 'कवित्व में पुरुष गर्व' के समर्थक हैं। ह्विटमन ने 'लीव्ज आव ग्रास' की भूमिका में मुक्त काव्य का वैसा ही स्तवन किया है जैसा 'परिमल' में निरालाजी ने। निरालाजी की समीक्षात्मक रचनाओं में उनकी भूमिकाओं में, अनेक ऐसे सूत्र मिलते हैं जिनमें जाज सन्टायाना के 'द एलिमेण्ट्स एण्ड फंक्शन आव पोयट्री' नामक निबंध की भावों की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है। पंतजी ने पाश्चात्य मनोविज्ञान और दर्शन का

श्रमसाध्य अध्ययन किया था, जो उनके द्वारा प्रयुक्त मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक तथ्यों और शब्दों से द्योतित होता है। 'उत्तरा' और 'आधुनिक कवि' की भूमिकाएँ तथा 'ऊर्ध्व चेतना' जैसे निबंध उनके गंभीर पाश्चात्य इतिहास-दर्शन के अध्ययन का द्योतन करते हैं। उन्होंने बार-बार इस देश की महान् विभूतियों और हिमालय-तुल्य उनके मन शिखर की प्रशंसा की है और अपने तरुण बुद्धिजीवियों का संकेत करते हुए कहा है कि उन्हें अन्य दर्शनों के साथ अपने देश के दर्शन का भी सांगोपांग तुलनात्मक अध्ययन करना चाहिए।

निष्कर्षरूपेण कहा जा सकता है कि हिन्दी समीक्षा में जो कुछ लिखा जा चुका है और जो लिखा जा रहा है, वह पाश्चात्य स्रोतों से ही नितांत उद्गमित नहीं है। भिन्न भिन्न हिन्दी समीक्षकों की रचनाओं के अनुशीलन से इसमें संदेह नहीं रह जाता कि उनमें पर्याप्त मौलिकता भी है। अतः यह भ्रम दूर हो जाना चाहिए कि हिन्दी का अपना मौलिक समीक्षाशास्त्र नहीं है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० नगेन्द्र, डा० धीरेन्द्र वर्मा, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० माताप्रसाद गुप्त, आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र प्रभृति साहित्यकारों के कर्तृत्व पर किसी भी साहित्य को अभिमान हो सकता है। दूसरी बात यह है कि राष्ट्रीयता के अंधमोह में हम यह न भूल बैठें कि पश्चिम के साहित्य-मनीषियों और विचारकों ने हिन्दी भाषा-साहित्य के विकास में अपूर्व योगदान किया है। विलियम जोन्स, मैक्समूलर, ग्रियर्सन, पिशल, कीथ प्रभृति पाश्चात्य विद्वानों द्वारा सम्पन्न महत्कार्यों को हम कभी विस्मृत नहीं कर सकते। शोधक्रम में यह भी पाया गया है कि हिन्दी-साहित्य में प्रचलित जिन विधाओं और वादों का उद्भव पश्चिम में हुआ है, उनके विवेचन में पाश्चात्य मानदंडों और पद्धतियों का प्रकृत्या आश्रय लिया जाता है।

समग्रतः यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि हिन्दी समीक्षकों ने पाश्चात्य वाङ्मय से मधुर पोष्य सामग्री ग्रहण करके भी अपने व्यक्तित्व को तिरोभूत होने नहीं दिया। वस्तुतः पश्चिमी योगदान हिन्दी समीक्षा के बहुविध विकास के लिए श्रेयस्कर ही नहीं हुआ वरन् इसके स्वरूप को निखारने-चमकाने तथा इसे व्याप्ति प्रदान करने में भी स्मरणीय रहा है।

सदर्भ-ग्रन्थ और पत्र-पत्रिकाएँ

१—हिंदी

अमृतराय
१—नई समीक्षा, हिन्दुस्तानी पब्लिशिंग हाउस, बनारस, जनवरी १९५०[1]
२—साहित्य में सयुक्त मोर्चा, हिन्दुस्तानी पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, प्र०ति०र०।

अयोध्यासिंह उपाध्याय
१—रस-कलस, पुस्तक भडार, लहेरियासराय और पटना, प्र०ति०र०।
२—रस-साहित्य तथा मीमासा, हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, काशी १९४६।
३—हिंदी भाषा और साहित्य का विकास पुस्तक भडार लहेरियासराय, स० १९९० वि०।

आनन्दप्रकाश दीक्षित
४—रस सिद्धात स्वरूप विश्लेषण राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९६० ई०।

इद्रनाथ मदान
१—आलोचना और साहित्य नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद १९६४।
२—प्रेमचद एक विवेचन, राजकमल प्रकाशन, १९५०।
३—महादेवी चिंतन और कला राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, १९६८।

---

१ डा० वेंकट शर्मा ने अपने आधुनिक हिंदी साहित्य में समालोचना का विकास (दिल्ली, १९६२) नामक शोधग्रंथ की ग्रंथसूची में इस पुस्तक के प्रथम संस्करण का प्रकाशन सं० २००० वि० माना है। वस्तुतः इस ग्रंथ के प्रथम संस्करण का प्रकाशन सन् १९५० में (तदनुसार सं० २००७ वि० में) हुआ था, न कि सं० २००० वि० में। शर्माजी ने मुद्रित प्रतियों की संख्या (२०००) को प्रकाशन वर्ष मान लेने की भूल की है।

उदयभानु सिंह	४—हिंदी कलाकार, हिन्दी भवन, लाहौर, १६४६
	महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग लखनऊ विश्वविद्यालय, सं० २००८ वि०।
एम० पी० खत्री	१—आलोचना इतिहास तथा सिद्धांत, राजकमल प्रकाशन, वि० सं० १८६४।
	२—काव्य की परख, साहित्य भवन, प्रयाग।
	३—नाटक की परख, साहित्य भवन, प्रयाग, १६४८।
	४—हास्य की रूपरेखा, हिंदी प्रचारक पुस्तकमाला, काशी १८५५।
ओंकारनाथ शर्मा	हिंदी निबंध का विकास, अनुसंधान-प्रकाशन कानपुर १८६८ ई०।
कन्हैया सिंह	पाठ-संपादन के सिद्धांत, महामना प्रकाशन मन्दिर इलाहाबाद १८६२ ई०।
किशोरीलाल गुप्त (अनु०)	डा० जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन कृत हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास, हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, १६६१ ई०।
कृष्ण देवझारी	रस-शास्त्र और साहित्य-समीक्षा, भारतेन्दु भवन, चण्डीगढ़, १६६५ ई०।
कृष्ण बिहारी मिश्र	देव और बिहारी, गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ चतुर्थावृत्ति, सं० २००६ वि०।
कृष्णवल्लभ जोशी	नव्य हिंदी समीक्षा, ग्रन्थम, कानपुर, १८६६ ई०।
गणपति चन्द्र गुप्त	आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी व्यक्तित्व एवं साहित्य, भारतेन्दु भवन, चंडीगढ़ १६६३ ई०।
गुलाब राय	१—अध्ययन और आस्वाद, आत्माराम
	२—आलोचना कुसुमांजली, रूपकमल
	३—काव्य के रूप आत्माराम, १६४७ ई०।
	४—कुछ उथले कुछ गहरे, शिवलाल, १६५५ ई०।
	५—नवरस आगरा, द्वि०सं० १६३४ ई०।
	६—मेरे निबंध आगरा, १६५५ ई०।

७—सिद्धांत और अध्ययन, छठा स० १९६५ ई०।
८—हिंदी नाट्य विमर्श।

गोपाल राय — हिंदी कथा साहित्य और उसके विकास पर पाठकों की रुचि का प्रभाव ग्रंथ निकेतन, पटना, १९६५ ई०।

गोविन्द त्रिगुणायत — शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धांत, भाग १-२, भारती साहित्य मंदिर, दिल्ली, १९६२ ई०।

गौरीशंकर हीराचंद ओझा — कोशोत्सव-स्मारक-संग्रह काशी नागरी प्रचारिणी सभा, १९८५ वि०।

जगदीश चन्द्र माथुर — ओ मेरे सपने, नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, १९५३ ई०।

जगन्नाथप्रसाद शर्मा — १—कहानी का रचना विधान, हिंदी प्रचारक, काशी, १९५६ ई०।
२—प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन, सरस्वती मंदिर बनारस, १९४३।
३—हिंदी गद्य के युगनिर्माता, नंदकिशोर ब्रदर्स, काशी।
४—हिंदी की गद्य शैली का विकास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, की ओर से प्रकाशक इंडियन प्रेस, प्रयाग, स० १९८० वि०।

जयचन्द्र राय — आचार्य रामचन्द्र शुक्ल सिद्धांत और साहित्य, भारती साहित्य मंदिर, दिल्ली, १९६५ ई०।

जयशंकर प्रसाद — काव्य और कला तथा अन्य निबंध, भारती भंडार, इलाहाबाद, स० १९९६।

दशरथ ओझा — १—समीक्षा-शास्त्र, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, १९५५ ई०।
२—हिंदी नाटक उद्भव और विकास राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, १९५८ ई०।

देवराज — १—आधुनिक समीक्षा लखनऊ १९५४ ई०।
२—छायावाद का पतन वाणी मन्दिर छपरा १९४८ ई०।
३—प्रतिक्रियाएँ राजकमल प्रकाशन, १९६६।

४—साहित्य चिंता, गौतम बुक डिपो, दिल्ली, १९५० ई०।

देवराज उपाध्याय
१—आधुनिक कथा-साहित्य और मनोविज्ञान, साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग, १९५६।
२—कथा के तत्त्व, ग्रंथमाला कार्यालय, पटना, १९५७।
३—साहित्य तथा साहित्यकार, मगध प्रकाशन, जयपुर, १९६०।

देवीशंकर अवस्थी
१—आलोचना और आलोचना, प्रज्ञा प्रकाशन, कानपुर, १९६१ ई०।
२—नयी कहानी संदर्भ और प्रकृति, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, १९६६ ई०।
३—विवेक के रंग, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, १९६५।

देवेंद्रनाथ शर्मा
१—छायावाद और प्रगतिवाद, ग्रंथमाला कार्यालय, पटना, सं० २००० वि०।
२—भाषा विज्ञान की भूमिका, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, १९६६ ई०।
३—राष्ट्रभाषा हिन्दी समस्याएँ और समाधान, राजकमल प्रकाशन १९६८ ई०।
४—ब्रजभाषा की विभूतियाँ मोतीलाल बनारसी दास, पटना, सं० २००६ वि०।
५—हिन्दी कविता का मूल्यांकन, मोतीलाल बनारसीदास, पटना, सं० १९५२ वि०।

धीरेन्द्र वर्मा
१—परिषद निबंधावली, भाग १ २।
२—विचारधारा, साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग सं० १९९८।
३—हिन्दी अनुशीलन (धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक, १९६०)

नंददुलारे वाजपेयी
१—आधुनिक साहित्य, भारती भंडार, इलाहाबाद, सं० २००७ वि०।
२—कवि निराला वाणी वितान प्रकाशन,

वाराणसी १८६५ ई० ।
३—नया साहित्य नये प्रश्न विद्यामंदिर, वाराणसी १८५५ ई० ।
४—प्रवीणिका, अनुसंधान प्रकाशन, कानपुर, १८६५ ई० ।
५—राष्ट्रभाषा की कुछ समस्याएँ, राजपाल एण्ड संस दिल्ली, १८६२ ई० ।
६—राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबंध, विद्यामंदिर, वाराणसी १६६२ ई० ।
७—सूर संदर्भ इंडियन प्रेस, प्रयाग प्र०ति०२०
८—सूर-सुषमा, इंडियन प्रेस प्रयाग १८८६ वि०
६—हिंदी साहित्य बीसवीं शताब्दी, इंडियन बुक डिपो लखनऊ १६४५ ई० ।
१—अनुसंधान और आलोचना, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १६६१ ई० ।
२—अरस्तू का काव्य शास्त्र, भारती भंडार, इलाहाबाद सं० २०१४ वि० ।
३—आधुनिक हिंदी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली, द्वि०सं० १६६२ ।
४—आधुनिक हिंदी नाटक साहित्यरत्न भंडार आगरा, तृ० सं० २००० वि० ।
५—आलोचक की आस्था, नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली १६६६ ई० ।
६—कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली द्वि०सं० १६६५ ई० ।
७—काव्य में उदात्त तत्व राजपाल एण्ड संस दिल्ली द्वि०सं० १८६१ ई० ।
८—देव और उनकी कविता गौतम बुक डिपो दिल्ली १६४६ ई० ।
८—भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली सं० २०१३ वि० ।

१०—भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, द्वि० स० १९६३ ई०।
११—रस-सिद्धांत, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९६४।
१२—रीति काव्य की भूमिका नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, पंचम स० १९६४ ई०।
१३—विचार और अनुभूति, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, द्वि० स० १९९१ वि०।
१४—विचार और विवेचन, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, द्वि० स० १९६४ ई०।
१५—विचार और विश्लेषण, नेशनल पब्लिशिंग हाउस द्वि० स० १९६१ ई०।
१६—साकेत एक अध्ययन, साहित्य-रत्न भंडार, आगरा एकादश स० स० २०२१ वि०।
१७—सुमित्रानंदन पंत साहित्य रत्न भंडार आगरा पंचम स० २००९ वि०।

नलिनविलोचन शर्मा
१—दृष्टिकोण, पुस्तक भंडार पटना, १९४७ ई०।
२—मानदंड, मोतीलाल बनारसीदास पटना, १९६३ ई०।
३—नकेन के प्रपद्य मोतीलाल बनारसीदास, पटना १९५६ ई०।
४—साहित्य का इतिहास दर्शन बिहार राष्ट्रभाषा परिषद पटना, १९६० ई०।

नामवर सिंह
१—आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ किताब महल प्रयाग १९५४ ई०।
२—इतिहास और आलोचना नया साहित्य प्रकाशन, काशी, १९६२ ई०।
३—कहानी नयी कहानी लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद १९६६ ई०।
४—छायावाद सरस्वती प्रेस, बनारस, १९५५ ई०।
५—हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग साहित्य

५—श्री शंकराचार्य, हिंद, एकेडेमी, १९५० ई० ।
६—संस्कृतविचर्या, १९६२ ई० ।

भगवत्स्वरूप मिश्र
हिंदी आलोचना उद्भव और विकास, साहित्य सदन, देहरादून, १९६१ ई० ।

भगीरथ मिश्र
१—अध्ययन, हिंदी-साहित्य भंडार, लखनऊ, १९६२ ई० ।
२—कला, साहित्य और समीक्षा, भारती साहित्य मंदिर, दिल्ली, १९६३ ई० ।
३—काव्यशास्त्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन गोरखपुर, वि० सं० १९६३ ई० ।
४—साहित्य-साधना और समाज, अवध पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ ।
५—हिंदी काव्यशास्त्र का इतिहास, लखनऊ विश्वविद्यालय, सं० २००५ वि० ।

महादेवी वर्मा
१—साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबंध लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, १९६६ ई० ।
२—यामा भारती भंडार इलाहाबाद १९३९ ई० ।
३—दीप शिखा भारती भंडार इलाहाबाद १९४२ ई० ।

महावीर प्रसाद द्विवेदी
१—आलोचनांजलि इंडियन प्रेस, १९२८ ई० ।
२—कालिदास और उनकी कविता, राष्ट्रीय हिंदी मंदिर, जबलपुर सं० १९७७ वि० ।
३—कालिदास की निरंकुशता, इंडियन प्रेस प्रयाग, १९११ ई० ।
४—नैषध चरित चर्चा हरिदास एण्ड कंपनी, कलकत्ता, १९१६ ई० ।
५—रसज्ञ रंजन साहित्यरत्न भंडार आगरा, सं० २००६ (सप्तम संस्करण) ।
६—रसाजलि, हिंदी पुस्तक एजेंसी, कलकत्ता सं० १९८५ वि० ।

७—विक्रमाङ्कदेवचरित चर्चा, इंडियन प्रेस, प्रयाग, १९०७ ई० ।
८—विचार विमर्श, भारती भंडार, काशी, सं० १९८१ वि० ।
९—समालोचना-समुच्चय, रामनारायणलाल, प्रयाग, १९३० ई० ।
१०—साहित्य-संदर्भ, गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ, सं० १९८५ वि० ।
११—साहित्य-सीकर, तरुण भारत ग्रंथावली, प्रयाग, १९४८ ई० ।
१२—सुकवि-संकीर्तन, गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ, प्र० सं० ।
१३—हिंदी कालिदास की आलोचना, काशी, १९०१ ई० ।

मिश्रबंधु — १—साहित्य-पारिजात, गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ ।
२—हिंदी नवरत्न, गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ ।
(संक्षिप्त हिंदी नवरत्न, गंगा पुस्तकमाला लखनऊ, सं० २००५ वि०, पंचमावृत्ति ।
३—मिश्रबंधुविनोद (४ भाग) गंगा पुस्तकमाला लखनऊ ।

रघुवंश — नाट्यकला नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली १९६१ ई० ।

रमाकान्त त्रिपाठी — हिन्दी-गद्य-मीमांसा मिनर्वा बुक हाउस कानपुर १९३२ ई० ।

रवीन्द्रसहाय वर्मा — १—पाश्चात्य साहित्यालोचन और हिन्दी पर उसका प्रभाव विश्वविद्यालय प्रकाशन गोरखपुर १९६० ई० ।
२—हिन्दी काव्य पर आंग्ल प्रभाव पद्मजा प्रकाशन कानपुर सं० २०११ वि० ।

रांगेय राघव — १—काव्य कला और शास्त्र विनोद पुस्तक मन्दिर आगरा १९५८ ई० ।
२—काव्य यथार्थ और प्रगति विनोद पुस्तक

मदिर, आगरा, स० २०१२ वि०
३—प्रगतिशील साहित्य के मानदड, सरस्वती पुस्तक सदन, आगरा, १९५४ ई० ।
४—महाकाव्य विवेचन विनोद पुस्तक मदिर, आगरा, १९५८ ई० ।
५—सगम और सघर्ष, किताब महल, इलाहाबाद, १९५३ ई० ।

रामकुमार वर्मा
१—कबीर का रहस्यवाद, साहित्य भवन, प्रयाग, १९३८ ई० ।
२—विचार-दर्शन प्रयाग, १९४८ ई० ।
३—सन्त कबीर, इलाहाबाद, १९५० ई० ।
४—साहित्यशास्त्र, राजकिशोर प्रकाशन, इलाहाबाद, १९५६ ई० ।
५—साहित्य-समालोचना, साहित्य-मदिर, प्रयाग स० १९८० वि० ।
६—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, रामनारायणलाल, इलाहाबाद १९३८ ई० ।
७—रिमझिम, शिवाजी आदि की भूमिकाएँ ।

रामचन्द्र द्विवेदी
१—तुलसी-साहित्य रत्नाकर सत साहित्य-प्रकाशन मडल पटना १९८६ वि० ।

रामचन्द्र शुक्ल
१—चिंतामणि भाग १ २ (भाग १–इडियन प्रेस भाग २–सरस्वती मदिर, काशी ।)
२—जायसी ग्रथावली, नागरी प्रचारिणी सभा २००३ वि० ।
३—त्रिवेणी नागरी प्रचारिणी सभा काशी १९९५ वि० ।
४—गोस्वामी तुलसीदास काशी नागरी प्रचारिणी सभा, स० २००८ वि० ।
५—रस मीमासा, काशी नागरी प्रचारिणी सभा २००६ वि० ।
६—सूरदास सरस्वती मदिर काशी ।
७—हिन्दी साहित्य का इतिहास नागरी प्रचारिणी

सभा, नवम संस्करण, २००८ वि०।

रामदहिन मिश्र
१—काव्य-दर्पण, ग्रन्थमाला कार्यालय, पटना, पटना, १९४० ई०।
२—काव्य में अप्रस्तुत योजना, ग्रंथमाला कार्यालय, पटना, १९४८ ई०।
३—काव्य विमर्श ग्रंथमाला कार्यालय, पटना।
४—काव्यालोक, ग्रंथमाला कार्यालय, पटना, सं० २००१ वि०।

रामधारी सिंह 'दिनकर'
१—काव्य की भूमिका, उदयाचल, पटना, १९५८ ई०।
२—चक्रवाल, उदयाचल, पटना।
३—नील कुसुम दिल्ली, १९५४ ई०।
४—पंत प्रसाद और मैथिलीशरण उदयाचल पटना, १९६५ ई०।
५—शुद्ध कविता की खोज उदयाचल पटना, १९६६ ई०।

रामनारायण पांडेय
भक्तिकाव्य में रहस्यवाद नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली १९६६ ई०।

राममूर्ति त्रिपाठी
रस विमर्श विद्यामंदिर वाराणसी, १९६५ ई०।

रामविलास शर्मा
१—आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना विनोद पुस्तक मंदिर आगरा वि० सं० १९५८ ई०।
२—निराला शिवलाल अग्रवाल एण्ड क०, आगरा तृ० सं० १९६२ ई०।
३—प्रगति और परंपरा, किताब महल, इलाहाबाद, सन १९४८ ई०।
४—प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ विनोद पुस्तक मंदिर आगरा १९५४ ई०।
५—प्रेमचन्द और उनका युग मेहरचंद मुंशीराम दिल्ली, वि० सं० १९५५ ई०।
६—भारतेन्दु युग विनोद पुस्तक मंदिर आगरा चतुर्थ सं० १९६३ ई०।

७—भारतेंदु हरिश्चन्द्र, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९५३ ई०, द्वि० स० १९६६ ई० ।
८—भाषा और समाज, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९६१ ई० ।
९—भाषा, साहित्य और संस्कृति, किताब महल, १९५४ ई० ।
१०—विराम चिह्न, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, १९५४ ई० ।
११—स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य, हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, १९५६ ई० ।
१२—लोक जीवन और साहित्य, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा ।
१३—संस्कृति और साहित्य, किताब महल इलाहाबाद, १९५९ ई० ।

लक्ष्मीनारायण सुधांशु — १—काव्य में अभिव्यंजनावाद, ज्ञानपीठ प्राइवेट लि०, पटना, चतुर्थ सं०, २०१६ वि० ।
२—जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धांत, ज्ञानपीठ प्रा० लि०, तृ० सं० १९६३ ई० ।
३—संपर्क भाषा हिंदी, दिल्ली, १९६५ ई० ।
४—साहित्यिक निबंध, राजकमल प्रकाशन, १९६४ ई० ।
५—हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, १९६५ ई० ।
६—हिंदी के दस प्रबंधकाव्य (संपादित), पराग प्रकाशन, पटना, १९६६ ई० ।

लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय — १—आधुनिक हिंदी साहित्य, हिन्दी परिषद् प्रयाग, प्रयाग विश्वविद्यालय, १९४१ ई० ।
२—आधुनिक हिंदी साहित्य की भूमिका, हिंदी परिषद् प्रयाग, प्रयाग विश्वविद्यालय १९५२ ई० ।
३—पाश्चिमी आलोचना शास्त्र हिन्दी समिति सूचना विभाग उत्तर प्र०, १९६५ ई० ।

४—फोर्ट विलियम कालेज, इलाहाबाद, सं० २००४ वि० ।

५—निबंध-नवनीत, विश्वविद्यालय प्रकाशन, गोरखपुर, १९५० ई० ।

६—भारतेंदु की विचारधारा, शक्ति कार्यालय, प्रयाग, १९४८ ई० ।

७—भारतेंदु हरिश्चन्द्र, साहित्य भवन (प्रा०) लि०, इलाहाबाद, वि० सं० १९५६ ई० ।

८—साहित्य चिंतन, बम्बई, १९४९ ई० ।

९—हिंदी साहित्य का इतिहास, मालवीय पुस्तक भवन, लखनऊ, १९५२ ई० ।

१०—हिंदुई साहित्य का इतिहास (अनुवाद) ।

लीलाधर गुप्त — पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धांत, हिंदुस्तानी एकेडेमी, उत्तर प्रदेश, १९५२ ई० ।

विजयेन्द्र स्नातक — १—आलोचक रामचन्द्र शुक्ल (डा० गुलाबराय और विजयेन्द्र स्नातक द्वारा संपादित), आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, वि०सं० १९६२ ई० ।

२—कामायनी दर्शन, दिल्ली, १९५२ ई० ।

३—चिंतन के क्षण, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९६६ ई० ।

४—समीक्षात्मक निबंध, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९५० ई० ।

विश्वनाथ प्रसाद मिश्र — १—बिहारी की वाग्विभूति, वाणी वितान प्रकाशन, द्वि० सं०, २०१६ वि० ।

२—वाङ्मयविमर्श, हिंदी साहित्य कुटीर वाराणसी, चतुर्थ सं० २०१८ वि० ।

३—हिंदी का सामयिक साहित्य, सरस्वती मन्दिर काशी, सं० २००८ वि० ।

४—हिंदी नाट्य साहित्य का विकास, साहित्य सेवक कार्यालय काशी सं० १९८९ वि० ।

५—हिंदी साहित्य का अतीत, वाणी-वितान ।

(पद्माकर-पचामृत, घनआनद-कवित्त, पद्माकर ग्रथावली, भूषण आदि सपादित ग्रन्थो की भूमिकाएँ)।

ब्रजरत्न दास

१—भारतेन्दु ग्रथावली (सपा०), काशी नागरी प्रचारिणी सभा, २००७ वि० प्रथम खड।

२—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, हिंदुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग १९४८ ई०।

३—हिन्दी नाट्य साहित्य, हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस, १९९५ वि०।

शचीरानी गुर्टू

१—कलादर्शन, साहनी प्रकाशन, दिल्ली, १९६६ ई०।

२—हिन्दी के आलोचक, आत्माराम एड सस, दिल्ली, १९५५ ई०।

शान्तिप्रिय द्विवेदी

१—आधान, हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, १९५० ई०।

२—कवि और काव्य, इडियन प्रेस, प्रयाग, १९३६ ई०।

३—ज्योति विहग हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, २००८ वि०।

४—युग और साहित्य इडियन प्रेस, प्रयाग, १९४१ ई०।

५—वृन्त और विकास, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५६।

६—साकल्य विद्या मदिर प्रेस, वाराणसी, १९५५ ई०।

७—साहित्यिकी, ग्रथमाला कार्यालय, बाँकीपुर १९३८ ई०।

८—सचारिणी इडियन प्रेस प्रयाग, १९४१ ई०।

९—सामयिकी ज्ञानमडल काशी २००१ वि०।

शान्तिस्वरूप गुप्त

पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के सिद्धात अगार प्रकाशन, दिल्ली १९६२ ई०।

शिवदान सिंह चौहान

१—आलोचना के मान रणजीत प्रिंटर्स एण्ड

पब्लिशर्स, दिल्ली, १९५९ ई०।

२—आलोचना के सिद्धांत, राजकमल प्रकाशन, १९६० ई०।

३—आलोचना इतिहास तथा सिद्धांत, राजकमल प्रकाशन, द्वितीय संशो० सं०, १९६४ ई०।

४—प्रगतिवाद, प्रदीप कार्यालय, मुरादाबाद, १९४६ ई०।

५—साहित्य की परख, इंडिया-पब्लिशर्स, प्रयाग, १९४८ ई०।

६—साहित्य की समस्याएँ, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, १९५८ ई०।

७—साहित्यानुशीलन, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, १९५५ ई०।

८—हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष, राजकमल प्रकाशन, वि० सं०, १९६१ ई०।

शिवनाथ

१—आचार्य रामचंद्र शुक्ल, सरस्वती मंदिर, बनारस, वि० सं० २००५ वि०।

२—हिंदी आलोचना की अर्वाचीन प्रवृत्तियाँ, राजकमल प्रकाशन, १९५३ ई०।

श्यामसुन्दरदास

१—गद्यकुसुमावली (प्रकाशक ? प्रकाशन तिथि ?) हीरालाल द्वारा लिखित प्रस्तावना, १९२५ ई०)।

२—गोस्वामी तुलसीदास, हिंदुस्तानी एकडेमी, प्रयाग, १९३१ ई०।

३—रूपक रहस्य, इंडियन प्रेस, प्रयाग, २००६ वि०।

४—साहित्यालोचन, इंडियन प्रेस, प्रयाग द्वि०सं० १९९४ वि०। (कई अन्य संस्करण भी उपलब्ध)।

५—हिन्दी भाषा और साहित्य, इंडियन प्रेस प्रयाग १९८० वि०।

६—हिन्दी साहित्य, इंडियन प्रेस, प्रयाग, द्वितीय

	स० २०१३ वि० ।
सच्चिदानद हीरानद वात्स्यायन "अज्ञेय"	१—आत्मनेपद, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९६० ई० ।
	२—आधुनिक हिन्दी साहित्य, अभिनव भारती ग्रन्थमाला, कलकत्ता, १९४० ई० ।
	३—तारसप्तक, भारतीय ज्ञानपीठ , वि स० १९६६ ई० ।
	४—त्रिशकु, सरस्वती प्रेस, बनारस, १९४५ ई० ।
	५—रूपाबरा (काशी, १९६०) की भूमिका । अगरेजी कन्टेम्परेरी इडियन लिटरेचर (साहित्य एकेडेमी, दिल्ली, १९५०) म 'हिंदी' शीर्षक निबध ।
सुमन झा	अज्ञेय का काव्य, कानपुर १९६४ ई० ।
सुमित्रानदन पत	१—उत्तरा (भूमिका) ।
	२—कला और सस्कृति, किताब महल, इलाहाबाद, १९६५ ई० ।
सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'	१—चाबुक, निरुपमा प्रकाशन, १९६२ ई० ।
	२—सग्रह, निरुपमा प्रकाशन प्रयाग, १९६३ ई० ।
हजारी प्रसाद द्विवदी	१—कबीर, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर बबई, चतुर्थ स० १९५२ ई० ।
	२—कालिदास की लालित्य योजना, नवद्य निकेतन वाराणसी, १९६५ ई० ।
	३—नाट्यशास्त्र की भारतीय परपरा और दश-रूपक, राजकमल प्रकाशन, १९६३ ई० ।
	४—विचार और वितक, साहित्य भवन (प्रा०) लि०, इलाहाबाद, १९६१ ई० ।
	५—साहित्य सहचर, नैवेद्य निकेतन, वाराणसी, १९६५ ई० ।
	६—सूर-साहित्य, हिंदी ग्रथ रत्नाकर (प्रा०) लि० बबई, स० स० १९६१ ई० ।
	७—हमारी साहित्यक समस्याएँ, अभिनव प्रकाशन पटना, १९४९ ई० ।

८—हिन्दी साहित्य, अतरचन्द कपूर एण्ड सन्स, देहली, अम्बाला, आगरा, सं० २००९ वि०।

९—हिन्दी साहित्य का आदिकाल, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद पटना, १९५२ ई०।

१०—हिंदी साहित्य की भूमिका, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बंबई, १९४० ई०।

२—अंग्रेजी
(Select Bibliography)

Atkins, J W H	English Literary Criticism 17th and 18th Centuries, London 1951
Bateson, F W	Wordsworth A Re interpretation London 1956
Bosanquet Bernard	A History of Aesthetic, London 1934
Bradley, A C	Oxford Lectures on Poetry, London 1962
Caudwell Christopher	1 Studies in a Dying Culture, London, 1951
Cohen J M	A History of Western Literature London 1961
Collingwood R G	The Principles of Art, Oxford 1963
Cooper Lane	The Poetics of Aristotle Its Meaning and Influence New York 1963
Cruttwell, Patrick	*The Shakespearean Moment*, New York, 1960
Daiches David	1 Literary Essays, London and Edinburgh. 1956
	2 A Study of Literature for Readers and Critics, Ithaca New York, 1948
Eisinger Chester E	Fiction of the Forties, Chicago and London, 1963

Eliot, T S	1 The Sacred Wood, London 1957 2 On Poetry and Poets, London, 1961
Frye, Northrop	Anatomy of Criticism, Princeton, 1957
Ghiselin, Brewster,	The Creative Process, A Mentor Book 1955
Gibson, Robert (ed)	Modern French Poets on Poetry, Cambridge 1961
Hadas Moses	A History of Literature, New York, 1960
Highet, Gilbert	The Classical Tradition, Oxford 1949
Holloway, John	The Charted Mirror, London 1960
Hudson, William Henry	An Introduction to the Study of Literature, London, 1958
Hyman, S E	The Armed Vision, New York, 1952
Jarrell	Poetry and The Age, New York 1962
Jones Edmund D	English Critical Essays, XIX Century The world s Classics 1945
Jung C G	Collected Works
Keats John	Selected Letters, The World s Classics, 1954
Kris Ernest	Psychoanalytic Explorations in Art, London 1953
Leavis F R (ed)	Scrutiny, Vols 1-19 Cambridge, 1963

Levin Harry (ed)	Perspectives of Criticism Cambridge 1950
Levy G R.	The Sword From the Rock, London 1953
Lieder Paul Robert and Withington, Robert	The art of Literary Criticism, New York, 1941
Maritain, Jacques	Creative Intuition in Art and Poetry, London 1953
Narasimhaiah C D	F R Leavis Some Aspects of His work, Mysore 1963
Neff Emery	A Revolution in European Poetry, 1660 1900 New York, 1940
Ogilvie R M	Latin and Greek, London, 1964
Orsini Gian N G	Benedetto Croce, Southern Illinois University Press, 1961
Orborne Harold	Aesthetic and Criticism, London, 1955
Philipson Morris	Aesthetics Today, Cleveland and New York 1961
Powell A E	The Romantic Theory of Poetry, London, 1926
Praz, Mario	The Romantic Agony, O U P 1933
Press John	The Chequer d Shade, London, 1958
Read Herbert	Wordsworth, London, 1959
Richards I A	Principles of Literary Criticism London 1947
Rickert Edith	Chaucer s World, New York and London, 1948

Roberts, W Rhys	Greek Rhetoric and Literary Criticism, New York, 1963
Robertson D W (Jr)	A Preface to Chaucer, Princeton, 1962
Sansom, Clive	The World of Poetry, London, 1959
Sartre, Jean Paul	1 What is Literature ? London, 1950 2 Essays in Aesthetics, London, 1964
Schorer Mark, Miles, Josephine and McKenzie	Criticism New York, 1958
Sparshott F E	The Structure of Aesthetics, Toronto and London 1963
Times Publishing Company, The	The Critical Moment London, 1964
Valery Paul	The Art of Poetry (tr by Denise Folliot) London, 1958
Wain John	Essays on Literature and Ideals, London, 1963
Weinberg, Bernard	A History of Literary Criticism in the Italian Renaissance, 2 Vols, Chicago, 1961
Wellek, Rene and Warren Austin	Theory of Literature, New York, 1949
Wellek Rene	1 A History of Modern Criticism 1750-1950 (The Romantic Age) London, 1955 2 Concepts of Criticism, New Haven and London, 1963
Wimsatt William K (Jr) and Cleanth Brooks	Literary Criticism A Short History, New York 1959

Worsfold W Basil — The Principles of Crikicism London, 1923

३—पत्र पत्रिकाएँ

१—प्रवतिका
२—आलोचना
३—कल्पना
४—माध्यम
५—हिमालय
६—हिन्दी अनुशीलन
७—नागरी प्रचारिणी पत्रिका
८—साहित्य
९—नई धारा
१०—द टाइम्स लिटरेरी सप्लिमेंट
११—द एनकाउन्टर
१२—एसेज इन क्रिटिसिज्म
१३—स्क्रूटिनी

Roberts, W Rhys	Greek Rhetoric and Literary Criticism, New York, 1963
Robertson D W (Jr)	A Preface to Chaucer, Princeton, 1962
Sansom, Clive	The World of Poetry, London, 1959
Sartre Jean Paul	1 What is Literature ? London, 1950 2 Essays in Aesthetics, London 1964
Schorer, Mark Miles Josephine and McKenzie	Criticism New York, 1958
Sparshott, F E	The Structure of Aesthetics, Toronto and London 1963
Times Publishing Company, The	The Critical Moment, London, 1964
Valery Paul	The Art of Poetry (tr by Denise Folliot) London, 1958
Wain John	Essays on Literature and Ideals, London, 1963
Weinberg, Bernard	A History of Literary Criticism in the Italian Renaissance, 2 Vols, Chicago, 1961
Wellek Rene and Warren, Austin	Theory of Literature, New York 1949
Wellek, Rene	1 A History of Modern Criticism 1750-1950 (The Romantic Age), London 1955 2 Concepts of Criticism, New Haven and London, 1963
Wimsatt William K (Jr) and Cleanth Brooks	Literary Criticism A Short History, New York, 1959

Worsfold W Basil — The Principles of Criticism London, 1923

३—पत्र-पत्रिकाएँ

१—अवंतिका
२—आलोचना
३—कल्पना
४—माध्यम
५—हिमालय
६—हिन्दी अनुशीलन
७—नागरी प्रचारिणी पत्रिका
८—साहित्य
९—नई धारा
१०—द टाइम्स लिटरेरी सप्लिमेंट
११—द एनकाउंटर
१२—एसेज इन क्रिटिसिज्म
१३—स्क्रूटिनी